श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण

अयोध्याकाण्ड

(हिन्दी अनुवाद सहित)

भाषान्तरकार

साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री

सस्ती साहित्य-पुस्तकमाला—आठवाँ पुष्प

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण

अयोध्याकाण्ड

(मूल संस्कृत हिन्दी अनुवाद सहित)
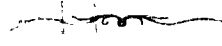
टीकाकार

अनेक ग्रन्थोंके प्रणेता

शिक्षा, शारदा आदि पत्र-पत्रिकाओंके सम्पादक

साहित्याचार्य स्वर्गीय पण्डित चन्द्रशेखर शास्त्री

प्रकाशक

सस्ती साहित्य-पुस्तकमाला कार्यालय

बनारस सिटी

द्वितीयावृत्ति] आश्विन, सं० १९९२ [मूल्य १॥)

प्रकाशक—
पन्नालाल गुप्त
सस्ती साहित्य-पुस्तकमाला कार्यालय
बनारस सिटी

हिन्दी संसारमें सबसे सस्ती साथ ही बिना दानकी यही पुस्तकमाला है

आप अपनी ग्राहक संख्या इस स्थानपर लिख लें, जिसमें आवश्यकता पड़नेपर काम दे।
ग्राहक संख्या ....

मुद्रक—
एन० पी० भारती
महाशक्ति प्रेस, बुलानाला,
बनारस सिटी

प्रकाशकीय निवेदन

प्रथमावृत्तिसे

सहृदय ग्राहकगण,

कई अनिवार्य अड़चनोंके आ पड़नेके कारण इस वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकांडके प्रकाशनमें अत्यधिक विलम्ब हो गया। हम जैसा कि बालकाण्डके अपने निवेदनमें लिख चुके हैं कि तीन-तीन महीनेके अन्तरसे एक-एक कांड प्रकाशित करेंगे, वैसा न कर सके। इसके लिए हम आपसे क्षमाप्रार्थी हैं। अब भविष्यमें इस विलम्बकी पूर्ति हम विशेष शीघ्रतासे कर देना चाहते हैं। आगे किष्किन्धा तथा सुन्दर दो कांड हम आपको ज्येष्ठमासमें देनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इतना हो जानेसे ही पिछले विलम्बकी पूर्ति हो जायगी। आप लोगोंने जिस उत्सुकतापूर्ण धैर्यके साथ इसकी इतने दिनोंतक प्रतीक्षा की है, वह स्तुत्य है। हम इसके लिए आपके बड़े कृतज्ञ हैं।

आपसे हमारा एक विशेष निवेदन है। जैसा कि हम बालकांडके अपने निवेदनमें कह चुके हैं, हम सभी धार्मिक पुस्तकें, महाभारत, पुराण, उपनिषद्आदि इसी रूपमें—ऊपर मूल तथा नीचे उसका हिन्दी अनुवाद देकर—सस्ती-से-सस्ती निकालना चाहते हैं, उसके लिए पर्याप्त संख्यामें ग्राहकोंकी आवश्यकता है। जब तक पर्याप्त ग्राहक हमारी इस मालाके न हो जायँगे, हम ये पुस्तकें सस्ती तथा जल्दी न निकाल सकेंगे। इसलिए आप सभी सज्जनोंसे प्रार्थना है कि आपलोग अधिक नहीं केवल दो-दो ग्राहक ही बनाकर हमारी सहायता करें। आप लोगोंके इतना कर देनेसे ही हम पुस्तकें खूब जल्दी-जल्दी प्रकाशित कर सकेंगे।

इस बार श्रीतोताकृष्णजी गैरोला तथा श्रीमथुराप्रसादजी खरेने हमारे बहुतसे ग्राहक बनाये हैं, इसके लिए हम उनके विशेष कृतज्ञ हैं। दो-चार उद्योगी मित्रोंने भी हमारे ग्राहक बनाये हैं, उनको भी धन्यवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

द्वितीय संस्करणका निवेदन

आज आठ वर्ष बाद अयोध्याकांडका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि इसे समाप्त हुये कई वर्ष हो गये, किन्तु पुनः प्रकाशित करनेका अवसर आजतक न आया। अयोध्याकांडके दूसरे संस्करणको कौन कहे, हम अपने प्रतिज्ञानुसार अन्य कांड भी ठीक समयपर न प्रकाशित कर सके। अंतिम, उत्तरकांड भी अभी ही प्रकाशित हो रहा है।

यद्यपि इसके बिक्रीसे जनताके अभिरुचिका ज्ञान होता है, तथापि वह संतोषप्रद नहीं है। क्योंकि जहाँ १४००००००० हिन्दी भाषा-भाषी हों वहाँ २१०० रामायणकी प्रतियाँ चार-पाँच वर्षमें बिके और वह भी इतनी सस्ती! यह देशके लिये लज्जाकी ही बात है! अतएव उदार हिन्दीप्रेमियोंसे सादर निवेदन है कि वे हमारे इस उद्योगमें सहायक होकर पूरे रामायणकी प्रतियाँ बिकवाकर हमारा बोझ हलका करें और हिन्दी प्रचारमें भागीदार बनें।

निवेदक—

काशी
माघनवमी
१६६२

पन्नालालगुप्त

स्थायी ग्राहकोंकी आवश्यकता

है, इसलिए कि दूकानदार, छोटे-बड़े, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध प्रायः सभी हमसे अधिक-से-अधिक कमीशन चाहते हैं। साधारण कमीशनपर बेचनेको तैयार नहीं हैं। इसलिए आपसे निवेदन है कि आप इस मालाके स्थायी ग्राहक अवश्य बनें।

हमारी मालाकी प्रत्येक पुस्तकका मूल्य एक रुपयेमें साधारण साइज़के ५१२ पृष्ठ-(रामायण साइज़के २५६ पृष्ठ) के हिसाबसे होता है। स्थायी ग्राहकोंको तो वह लगभग ७०० पृष्ठके पड़ जाता है।

और

इस मालामें वेदान्त, दर्शन, उपनिषद्, न्याय, धर्मशास्त्र, इतिहास, विज्ञान, वैद्यक, कला-कौशल, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, जीवनचरित्र, उपन्यास, नाटक, काव्य, भूगर्भशास्त्र आदि सभी विषयोंकी पुस्तकें प्रकाशित की जायँगी।

सस्ती साहित्य-पुस्तकमालाके स्थायी ग्राहक बननेका नियम

१—एक रुपया प्रवेश-शुल्क देकर प्रत्येक सज्जन स्थायी ग्राहक बन सकते हैं। यह शुल्क लौटाया नहीं जाता।

२—स्थायी ग्राहकोंको मालाकी प्रत्येक पुस्तककी एक-एक प्रति पौने मूल्यमें मिलती है।

३—मालाकी प्रत्येक पुस्तक लेने, न लेनेका अधिकार ग्राहकोंको है। इसमें हमारा किसी तरहका बन्धन नहीं है।

४—किसी पुस्तकके प्रकाशित होनेपर उसके मूल्य, विषय आदिकी सूचना ग्राहकोंको भेज दी जाती है। उसका उत्तर आनेपर पुस्तक वी० पी० से भेज दी जाती है।

५—जिन सज्जनको कोई पुस्तक न लेनी हो उन्हें सूचना पाते ही उत्तर देना चाहिए, जिसमें वी. पी. न भेजी जाय। वी. पी. लौटानेसे उनका नाम ग्राहक-श्रेणीसे पृथक् कर दिया जाता है। दुबारा नाम लिखानेके लिए वी. पी. खर्च, हानि आदि देना पड़ता है।

विशेष—ग्राहकोंको सूचनापत्रका उत्तर, चाहे उन्हें पुस्तकें मँगानी हो अथवा न मँगानी हो, अवश्य देना चाहिए। प्रत्येक पत्रमें अपनी ग्राहक-संख्या भी अवश्य लिखना चाहिए।

वाल्मीकीय रामायणकी विषयसूची

बालकाण्ड

अयोध्याकाण्ड

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे

अयोध्याकाण्डम्

प्रथमः सर्गः १

गच्छता मातुलकुलं भरतेन तदानघः । शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीतिपुरस्कृतः ॥ १ ॥
स तत्र न्यवसद्भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः । मातुलेनाश्वपतिना पुत्रस्नेहेन लालितः ॥ २ ॥
तत्रापि निवसन्तौ तौ तर्प्यमाणौ च कामतः । भ्रातरौ स्मरतां वीरौ वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ ३ ॥
राजापि तौ महातेजाः सस्मार प्रोषितौ सुतौ । उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ ॥ ४ ॥
सर्व एव तु तस्येष्टाश्चत्वारः पुरुषर्षभाः । स्वशरीराद्विनिर्वृत्ताश्चत्वार इव बाहवः ॥ ५ ॥
तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः । स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ॥ ६ ॥
स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः । अर्थितो-मानुषे लोके जज्ञे विष्णुःसनातनः ॥ ७ ॥

पिताकी आज्ञासे भरत अपने मामाके घर जाने लगे, निष्पाप शत्रुघ्नको भी (लक्ष्मणके छोटे भाई) अपनेमें प्रेम होनेके कारण साथ ले गये। जिस शत्रुघ्नने राग-द्वेष आदि नित्य शत्रुओंको जीत लिया था ॥१॥ अश्वपति (अश्वोंके पति, केकय देशके घोड़े उत्तम घोड़ोंमें समझे जाते हैं, इस विशेषणसे मालूम होता है कि भरतके मामा बहुत अधिक घोड़े रखते थे) मामा युधाजित्के उत्तम सत्कारोंसे सत्कृत होकर तथा उन्हींके द्वारा पुत्रस्नेहसे लालित होकर भरत अपने भाई शत्रुघ्नके साथ रहने लगे ॥ २ ॥ मामाके यहाँ रहते समय उन भाइयोंको किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता था, उनकी सभी इच्छाएँ पूरी होती थीं, जब जो चाहते थे तब वह मिलता था, फिर भी वे वीर वृद्ध राजा दशरथकी याद करते थे ॥ ३ ॥ महातेजस्वी राजा दशरथ भी घरसे बाहर गये, इन्द्र और वरुणकी समता रखनेवाले भरत और शत्रुघ्न अपने दोनों पुत्रोंका स्मरण किया करते थे ॥ ४ ॥ राजा दशरथके वे चारों पुरुषोत्तम, अपने शरीरसे निकली चार बाहुओंके समान प्रिय थे, इसी कारण राम लक्ष्मणके अयोध्यामें रहनेपर भी वे भरत शत्रुघ्नकी याद करते थे ॥ ५ ॥ पर उन चारोंमें महातेजस्वी राम पिताके अत्यन्त प्रिय थे, वे प्राणियोंमें ब्रह्माके समान अत्यन्त गुणवान् थे ॥ ६ ॥ बढ़े हुए रावणके वधकी इच्छा रखनेवाले देवताओंकी प्रार्थनासे स्वयं सनातन

कौशल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा । यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ॥ ८ ॥
स हि रूपोपपन्नश्च वीर्यवाननसूयकः । भूमावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशरथोपमः । ९ ॥
स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते । उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥१०॥
कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति । न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ॥११॥
शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः । कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥१२॥
बुद्धिमान्मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः । वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥१३॥
न चानृतकथो विद्वान्वृद्धानां प्रतिपूजकः । अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते ॥१४॥
सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः । दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः ॥१५॥
कुलोचितमतिः क्षात्रं स्वधर्मं बहु मन्यते । मन्यते परया प्रीत्या महत्स्वर्गफलं ततः ॥१६॥

विष्णु ही मनुष्यलोकमें रामरूपमें प्रकट हुए थे ॥ ७ ॥ अपरिमित पराक्रमवाले उस पुत्रसे कौशल्या बहुत अधिक सन्तुष्ट थीं, जिस प्रकार वज्रपाणि देवराज इन्द्रसे अदिति ॥८॥ वे कौशल्याके पुत्र बड़े सुन्दर थे, पराक्रमी थे, किसीके गुणोंमें दोष देखनेवाले न थे, किसीके गुणसे वे जलते न थे, पृथिवीमें उनके समान कोई दूसरा न था, वे गुणों—सत्यप्रतिज्ञत्व आदि गुणोंसे दशरथके समान थे ॥ ९ ॥ रामचन्द्रसे कोई कुछ कठोर वचन कह दे तो वे उसका कुछ उत्तर न देते थे, क्योंकि उनका चित्त शान्त था, वे अक्रोधी थे । इतनाही नहीं कि वे कठोर वचन बोलनेवालेको उत्तर न दें, किन्तु उससे प्रेमपूर्वक भाषण करते थे ॥१०॥ उनका कभी किसीने उपकार कर दिया, चाहे वह दिखावटी ही क्यों न हो, रामचन्द्र उसीसे सन्तुष्ट हो जाते, उनका कोई सैकड़ों अपकार करे तो भी वे उधर ध्यान नहीं देते, अपकारीके प्रति क्रोधकर वे बदला लेनेके लिए तैयार नहीं हो जाते, क्योंकि वे आत्मवान हैं, उनका अपने मनपर पूरा अधिकार है ॥११॥ अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षासे जो समय उनका बचता था उस समयमें भी वे चरित्रवान ज्ञानी तथा वृद्ध सज्जन पुरुषोंके साथ कथोपकथन करते थे । कभी चरित्रके सम्बन्धमें, कभी आत्मा-नात्माके सम्बन्धमें इन विषयोंके अभिज्ञोंसे वे विचार करते थे, तात्पर्य यह कि उनका समय सदा सत्कार्यमें ही जाता है ॥१२॥ वे बुद्धिमान् हैं, मधुर बोलनेका उनका स्वभाव है, अपने यहाँ आये हुए मनुष्योंसे वे पहले ही बोलते हैं और जो बोलते हैं, प्रिय बोलते हैं । वे पराक्रमी हैं, पर अपने बहुत बड़े पराक्रमका उनको अहंकार नहीं है ॥१३॥ श्रीरामचन्द्र कभी असत्य नहीं बोलते, वे विद्वान् हैं, असत्य बोलनेके बुरे परिणाम उनको मालूम हैं, चरित्र, ज्ञान और अवस्थामें अपनेसे बड़ोंका रामचन्द्र आदर करते हैं । रामचन्द्रका प्रजामें अनुराग है और प्रजा उनमें अनुराग करती है ॥१४॥ वे दुखियोंपर दया करते हैं, क्रोध उनको छू तक नहीं गया है, ब्राह्मणोंका सत्कार करते हैं, सङ्कटमें पड़े हुओंपर वे दया करते हैं, वे धर्मके रहस्योंको जाननेवाले हैं, अधर्मकी ओरसे सदा खिंचे रहते हैं, स्वयं पवित्र हैं तथा सबको शुद्ध करनेवाले हैं ॥१५॥ कुल-परम्पराके धर्मके पालनमें उनका अनुराग है, प्रजारक्षणरूप क्षात्रधर्मको वे अपना धर्म समझते हैं और उसका पालन करते हैं तथा वे यह भी जानते हैं कि क्षात्रधर्मसे

नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः। उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥१७॥
अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान्देशकालवित्। लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः ॥१८॥
स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः। बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥१९॥
सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्। इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥२०॥
कल्याणाभिजनः साधुरदीनः सत्यवागृजुः। वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥२१॥
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्। लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः ॥२२॥
निभृतः संवृताकारो गुप्तमन्त्रः सहायवान्। अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित् ॥२३॥

महान् कीर्ति और स्वर्ग मिलता है ॥१६॥ वे निष्फल काम नहीं करते, धर्म और शास्त्र-विरुद्ध विषयोंकी ओर उनका अनुराग नहीं रहता, वादविवादमें अपना पक्ष समर्थन करनेके लिए उत्तरोत्तर युक्तियाँ देनेमें वे बृहस्पतिके समान वक्ता हैं ॥ १७ ॥ वे निरोग हैं, किसी कारणविशेषसे होनेवाला कोई भी रोग उनको नहीं होता, वे तरुण हैं अर्थात् उनका यौवन स्थायी है। वक्ता हैं, उनका शरीर बड़ा ही सुन्दर है, देश और कालको जाननेवाले हैं, लौकिक और वैदिक कर्मोंके लिए कौनसा देश और कौनसा काल उचित है, इस बातको जाननेवाले हैं, वे श्रेष्ठ पुरुषोंको जाननेवाले हैं, गुणोंका आदर करनेवाले हैं। इन गुणोंसे युक्त वे उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् साधारण पुरुषोंके निर्माणसे उनका निर्माण भिन्न है, वे लोकोंमें एक ही हैं; उनके समान दूसरा नहीं है ॥ १८ ॥ ऊपर कहे गये तथा आगे कहे जानेवाले श्रेष्ठ गुणोंसे वे युक्त हैं, अतएव वे राजकुमार प्रजाके बाहरी प्राण हैं। पर भेद यह था कि यह बाहरी थे (प्राणोंके निकलते ही प्राणीकी मृत्यु होती है, ये प्राण होकर बाहर रहते हैं, यह इनकी विशेषता है। अतएव साधारण प्राणोंसे उत्कृष्ट हैं)। गुणोंके कारण ये प्रजाको प्रिय हैं ॥ १९ ॥ सब विद्यासमाप्तिके अनुसार नियत व्रतोंके लिए उन्होंने स्नान किया है अर्थात उन्होंने सब विद्याएँ पढ़ी हैं और विधिपूर्वक पढ़ी हैं, अङ्गोंके सहित वेदोंको वे यथावत् जानते हैं, वैदिक आदि क्रियाओंके अनुष्ठानकी रीति उनको मालूम हैं और अस्त्र-शस्त्र-विद्याओंमें तो वे भरतके बड़े भाई राम अपने पितासे भी बढ़े हैं ॥ २० ॥ वे कल्याणाभिजन हैं अर्थात् उनके माता-पिताका वंश विशुद्ध है इसी कारण वे साधु हैं, शुद्धस्वभाववाले हैं, वे अदीन हैं, कठिन-से-कठिन समयमें भी शास्त्र, कुल, धर्म तथा आत्मसम्मानके विरुद्ध काम करनेवाले नहीं हैं, सत्यवादी हैं, नम्र हैं अर्थात् अपने इन गुणोंका उन्हें अभिमान नहीं है, धर्म, अर्थ आदि पुरुषार्थोंकी तत्त्वतः वृद्ध ब्राह्मणोंके द्वारा उनकी शिक्षा हुई है ॥२१॥ अतएव वे धर्म, अर्थ और कामके तत्त्वोंको जाननेवाले हैं, किसके लिए कितना समय देना चाहिए, किसका अनुष्ठान किस प्रकार करना चाहिए इन बातोंको वे जाननेवाले हैं, उनकी स्मरणशक्ति ठीक है, अर्थात् सीखी हुई बात नहीं भूलते, किसीके साथ की गयी अपनी प्रतिज्ञाको भी नहीं भूलते और वे प्रतिभायुक्त हैं, वे अपनी प्रखर बुद्धिसे नई-नई बात सोच सकते हैं तथा उनका निर्णय कर सकते हैं, लौकिक कार्योंको सम्पादित करनेकी शक्ति रखनेवाले हैं, और धार्मिक आचरणोंमें तो विशारद ही हैं ॥ २२ ॥ वे विनयी हैं, राजकार्योंमें अपनी सफलता होनेपर भी उनको अहंकार नहीं होता, वे आकार छिपाना जानते हैं, मनमें उठनेवाले प्रबल-से-प्रबल विचारोंको

दृढभक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचः । निस्तन्द्रीरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित् ॥२४॥
शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः । यः प्रग्रहानुग्रहयोर्यथान्यायं विचक्षणः ॥२५॥
सत्संग्रहानुग्रहणे स्थानविन्निग्रहस्य च । आयकर्मण्युपायज्ञः संदृष्टव्ययकर्मवित् ॥२६॥
श्रैष्ठ्यं चास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च । अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः ॥२७॥
वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित् । आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम् ॥२८॥
धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसंमतः । अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः ॥२९॥

भी वे बाहरी आकार इङ्गितसे प्रकट होने नहीं देते । उनके मन्त्र गुप्त रहते हैं, फल-सिद्धि तक कोई भी यह नहीं जान पाता कि उन्होंने क्या निश्चय किया है, उनके सहायक हैं अर्थात उपकार तथा सद्व्यवहारके द्वारा उन्होंने दूसरोंको भी अपना सहायक बना लिया है । उनके क्रोध और प्रसन्नता निष्फल नहीं होते, किस समय किस वस्तुका त्याग करना चाहिए और किस समय किस वस्तुका ग्रहण करना चाहिए इस बातको वे जानते हैं ॥ २३ ॥ देवता, गुरु आदिमें दृढ़ भक्ति करनेवाले हैं, बुद्धि स्थिर है, वे जो निश्चय करते हैं उससे टलते नहीं, असद्ग्राही—बुरे उपायोंसे अथवा बुरी वस्तुओं या बुरे मनुष्योंके संग्रह करनेवाले नहीं है, उत्तेजित होनेपर भी वे कठोर वचन नहीं बोलते, वे आलस्य-रहित हैं, जिस समय और जितनी देरतक जो काम करना चाहिए वे उस कामको वैसा ही करते हैं, वे सदा सावधान हैं, अपने और दूसरोंके दोषोंको जाननेवाले हैं ॥ २४ ॥ वे शास्त्रोंके उपदेशोंके रहस्य जाननेवाले हैं, कृतज्ञ हैं, किसीके किये थोड़े उपकारको भी नहीं भूलते, मनुष्योंका अन्तर जाननेवाले हैं, उनके गुण-दोष वे जानते हैं, अथवा पुरुषोंको देखते ही उनके अभिप्राय जानलेनेवाले हैं, दण्ड और पुरस्कारकी व्यवस्था नियमपूर्वक करनेमें वे एक ही हैं ॥२५॥ सज्जनोंके संग्रह और संगृहीत सज्जनोंपर वे अनुग्रह करना जानते हैं, देश-विदेशोंसे योग्योंको बुलाकर वे अपने यहाँ रखते हैं, सपरिवार उनका पालन करते हैं । दण्ड देनेके स्थान (देश और काल) के जाननेवाले हैं, राज्यकी आमदनी बढ़ानेवाले उपायोंका उन्हें ज्ञान है, धर्म और राजनीति-शास्त्रके अनुसार कहाँ कितना व्यय करना चाहिए इस बातका उन्हें ज्ञान है ॥२६॥ अस्त्रोंमें उन्होंने श्रेष्ठता पायी है अर्थात अपने साथी अस्त्रज्ञानियोंमें वे सबसे श्रेष्ठ माने गये हैं । व्यामिश्रकमें भी अस्त्र-शस्त्र-सम्बन्धी फुटकल ज्ञानमें भी उन्होंने श्रेष्ठता पायी है, छोटी-मोटी बातें भी उनसे छूटने नहीं पायी हैं । (टीकाकारोंने व्यामिश्रकका अर्थ लिखा है संस्कृत प्राकृतादि भाषाका ज्ञान, और ऐसा करनेका कारण यह है कि अस्त्रोंके स्थानमें उन लोगोंने शास्त्रों समझा है, पर मूलमें 'अस्त्रसमूहेषु' है, 'शास्त्रसमूहेषु' नहीं) । अर्थ और धर्मकी सेवा करके वे सुखकी इच्छा करते हैं, वे आलसी नहीं हैं, अर्थ-धर्म आदि अपने कर्तव्योंके पालनमें वे आलसी नहीं हैं ॥२७॥ गीत-वाद्य आदि शिल्पोंके वे विज्ञाता हैं, इनके गुण-दोषोंका उन्हें ज्ञान है और धनका विभाग जाननेवाले हैं, प्रतिदिन स्वयं तथा स्वजनोंके लिए कितना-कितना अर्थ व्यय करना चाहिए इस विषयके विज्ञाता हैं । तात्पर्य यह कि गाने-बजानेमें उनका नियमित ही खर्च होता है । हाथी और घोड़ेकी सवारी करने तथा उनको शिक्षा देनेमें वे निपुण हैं ॥२८॥ धनुर्धारियोंमें प्रवीण, अतिरथोंके द्वारा सम्मानित, आक्रमण और प्रहार करने-

अप्रधृष्यश्च संग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः। अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी ॥३०॥
नावज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगः। एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ॥३१॥
संमतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः। बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये चापि शचीपतेः ॥
तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैः पितुः। गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥३३॥
तमेवं वृत्तसंपन्नमप्रधृष्यपराक्रमम्। लोकनाथोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥३४॥
एतैस्तु बहुभिर्युक्तं गुणैरनुपमैः सुतम्। दृष्ट्वा दशरथो राजा चक्रे चिन्तां परंतपः ॥३५॥
अथ राज्ञो बभूवैवं वृद्धस्य चिरजीविनः। प्रीतिरेषा कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति ॥
एषा ह्यस्य परा प्रीतिर्हृदि संपरिवर्तते। कदा नाम सुतं द्रक्ष्याम्यभिषिक्तमहं प्रियम् ॥
वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पकः। मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥३८॥
यमशक्रसमो वीर्ये बृहस्पतिसमो मतौ। महीधरसमो धृत्यां मत्तश्च गुणवत्तरः ॥३९॥

वाले अर्थात् आक्रमण और प्रहारके देशकालज्ञ, सेनाकी नीतिमें प्रवीण अर्थात् सेनाका सञ्चालन करना, उसको आगे बढ़ाना या पीछे हटाना, व्यूहरचना, समयानुसार व्यूहको बदलना आदि बातोंके वे विशेषज्ञ हैं ॥२९॥ देवता और राक्षस कोई क्रोध करके भी रणमें उनको हरा नहीं सकता, अर्थात् वे अजेय हैं, वे किसीसे ईर्ष्या नहीं करते, क्रोधको उन्होंने अपने वशमें कर रखा है, वे अहङ्कारी नहीं हैं और न दूसरोंकी बढ़तीसे द्वेष करनेवाले हैं ॥ ३० ॥ वे राजकुमार किसीसे अवज्ञेय (तिरस्करणीय) नहीं हैं, सभी उनका आदर करते हैं, उनके अनुचर कालके अधीन नहीं हैं अर्थात् समय-समयके लिए भिन्न-भिन्न नौकर उन्हें नहीं हैं, इस प्रकार वे श्रेष्ठ-गुणोंसे युक्त हैं ॥ ३१ ॥ श्रेष्ठ-गुण ये हैं—उनकी क्षमा पृथिवीकी क्षमाके समान है, बृहस्पतिकी बुद्धिके समान बुद्धि है और इन्द्रके पराक्रमके समान पराक्रम है, इस प्रकार वे तीनों लोकोंकी प्रजाके आदरणीय हैं ॥३२॥ सब प्रकारकी प्रजाके प्रिय तथा पिताको प्रसन्न करनेवाले गुणोंसे रामचन्द्र सुशोभित हैं जिस प्रकार किरणोंसे सूर्य सुशोभित होता है ॥३३॥ इस प्रकारके गुणोंसे युक्त तथा अप्रधृष्यपराक्रम (जिसकी शक्ति कहीं रुके नहीं) उनको जानकर पृथिवीने उनको स्वामीरूपमें पानेकी कामना की, क्योंकि वे लोकपालोंके गुणोंसे विभूषित थे ॥३४॥ शत्रुसन्तापी राजा दशरथने इस प्रकारके अनेक सुन्दर गुणोंसे पुत्रको विभूषित देखकर अपने मनमें विचार किया ॥३५॥ राजा दशरथ वृद्ध हो गये थे, राज्यपालनका ज्ञान भी उन्हें बहुत अधिक था, और भी अधिक दिनोंतक उन्हें जीना था तथापि रामचन्द्रके ऐसे गुणों और उनपर अपने प्रेमके कारण उन्होंने विचार किया कि मेरे जीवन-समयमें रामचन्द्र कैसे राजा हो सकेंगे, (सम्भव है राजा दशरथ केकयीके वरदानसे डरते हों) ॥३६॥ राजा दशरथके हृदयमें यह अभिलाष बार-बार उत्पन्न होता था कि कब मैं अपने प्रिय पुत्रको राज्यासनपर बैठा देखूँगा ॥३७॥ रामचन्द्र प्रजाकी वृद्धि चाहनेवाले हैं, सब प्राणियोंपर ये दया समानभावसे करते हैं, जल बरसानेवाले मेघके समान ये प्रजाको मुझसे भी अधिक प्रिय हैं, (मैं वृद्ध होनेके कारण असमर्थ हो गया हूँ, अतएव प्रजाके कल्याणमें कार्यतः भाग नहीं लेता, राजा दशरथके कहनेका यह मतलब है) ॥३८॥ ये पराक्रममें यम और इन्द्रके समान हैं, यमराजके समान धर्मपूर्वक

महीमहमिमां कृत्स्नामधितिष्ठन्तमात्मजम् । अनेन वयसा दृष्ट्वा यथा स्वर्गमवाप्नुयाम् ॥४०॥
इत्येवं विविधैस्तैस्तैरन्यपार्थिवदुर्लभैः । शिष्टैरपरिमेयैश्च लोके लोकोत्तमैर्गुणैः ॥४१॥
तं समीक्ष्य तदा राजा युक्तं समुदितैर्गुणैः । निश्चित्य सचिवैः सार्धं यौवराज्यममन्यत ॥४२॥
दिव्यन्तरिक्षे भूमौ च घोरमुत्पातजं भयम् । संचचक्षेऽथ मेधावी शरीरे चात्मनो जराम् ॥४३॥
पूर्णचन्द्राननस्याथ शोकापनुदमात्मनः । लोके रामस्य बुबुधे संप्रियत्वं महात्मनः ॥४४॥
आत्मनश्च प्रजानां च श्रेयसे च प्रियेण च । प्राप्ते काले स धर्मात्मा भक्त्यात्वरितवान्नृपः ॥
नानानगरवास्तव्यान्पृथग्जानपदानपि । समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान्पृथिवीपतिः ॥
तान्वेश्म नानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान् । ददर्शालंकृतो राजा प्रजापतिरिव प्रजाः ॥४७॥
न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः । त्वरया चानयमास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम् ॥
अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन्परपुरार्दने । ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसंमताः ॥४९॥

दण्डकी व्यवस्था करनेवाले और इन्द्रके समान प्रजाकी विपत्तियोंसे रक्षा करनेवाले हैं । बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् हैं, पर्वतके समान धीर हैं (बड़े-बड़े संकटके समयमें भी न घबड़ानेवाले हैं) और मुझसे भी अधिक गुणवान् हैं ॥३९॥ इस समय पृथिवीपर अपने पुत्रको शासन करते इस वृद्धावस्थामें देखकर मैं अपने कर्मोंके अनुसार स्वर्ग पाऊँ, राजा दशरथने यही विचार किया ॥४०॥ अन्य राजाओंमें न मिलने योग्य भिन्न-भिन्न प्रकारके उत्तम, परिमाणरहित, लोकमें अन्यत्र न मिलनेवाले गुण रामचन्द्रमें हैं और नारदादि मुनि भी उन गुणोंकी प्रशंसा करते हैं, यह देखकर तथा अपने मन्त्रियोंके साथ विचार करके राजा दशरथने रामचन्द्रको युवराज बनाना निश्चय किया ॥४१-४२॥ स्वर्ग, अन्तरिक्ष (स्वर्गके नीचेका भाग) और पृथिवीमें भयंकर उत्पात, भय तथा अपने शरीरमें वृद्धावस्थाका आगमन बुद्धिमान् राजाने मन्त्रियोंको बतलाया, अर्थात् मैं वृद्ध हूँ, अशकुन भी दिखाई पड़ते हैं, अतएव समय रहते रामचन्द्रको युवराज बना देना चाहिए—यह राजाने अपने मन्त्रियोंको बतलाया ॥४३॥ रामचन्द्र पूर्णचन्द्रानन हैं, उनके दर्शनसे लोग शान्ति पाते हैं । वे महाबुद्धिमान और लोकप्रिय हैं, राजाने इस कारण अपने शोकको दूर समझा । उनके मनसे उत्पात भय जाता रहा, क्योंकि रामचन्द्र लोकप्रिय और बुद्धिमान् हैं ॥४४॥ यौवराज्याभिषेकके समय राजा दशरथ प्रेमसे गद्-गद् हो गये और अपने तथा प्रजाके कल्याणके लिए उन्होंने अभिषेकमें शीघ्रता की, क्योंकि प्रजाका राममें अत्यन्त प्रेम था और उसके लिए विलम्ब असह्य था, राजाको खुद अनिष्टभय था, इस कारण उन्होंने शीघ्रता की ॥४५॥ राजाने अभिषेकमें सम्मिलित होनेके लिए भिन्न-भिन्न नगरोंमें रहनेवाले, भिन्न-भिन्न मण्डलोंके वासी राजाओंको अयोध्यामें निमन्त्रित किया ॥४६॥ उन समागत राजाओंको राजा दशरथने ठहरनेके लिए घर दिया और यथायोग्य अनेक प्रकारके आभूषणोंसे उनका सत्कार किया, पुनः स्वयं अलंकृत होकर राजा दशरथ उन लोगोंसे मिले । ब्रह्मा जिस प्रकार अपनी प्रजासे मिलते हैं ॥४७॥ शीघ्रताके कारण केकयराज (भरतके मामा) और राजा जनकको दशरथ नहीं बुला सके, और सोचा कि इस प्रिय उत्सवके समाप्त हो जानेपर उन लोगोंके यहाँ संवाद भेज दिया जायगा ॥४८॥ शत्रुविजयी राजा दशरथने जब आसन ग्रहण किया तब अन्य

अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च। राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः ॥५०॥
स लब्धमानैर्विनयान्वितैर्नृपैः पुरालयैर्जानपदैश्च मानवैः।
उपोपविष्टैर्नृपतिर्वृतो बभौ सहस्रचक्षुर्भगवानिवामरैः ॥५१॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः २

ततः परिषदं सर्वामामन्त्र्य वसुधाधिपः। हितमुद्धर्षणं चैवमुवाच प्रथितं वचः ॥१॥
दुन्दुभिस्वरकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना। स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन् ॥२॥
राजलक्षणयुक्तेन कान्तेनानुपमेन च। उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान् ॥३॥
विदितं भवतामेतद्यथा मे राज्यमुत्तमम्। पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत्परिपालितम् ॥४॥
सोऽहमिक्ष्वाकुभिः सर्वैर्नरेन्द्रैः प्रतिपालितम्। श्रेयसा योक्तुमिच्छामि सुखार्हमखिलं जगत् ॥
मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता। प्रजा नित्यमनिद्रेण यथाशक्त्याभिरक्षिताः ॥
इदं शरीरं कृत्स्नस्य लोकस्य चरता हितम्। पाण्डुरस्यातपत्रस्य च्छायायां जरितं मया ॥

राजाओंने वहाँ प्रवेश किया, जो राजा लोकसम्मत थे उन्हींको प्रवेशाधिकार मिला, लोकके द्वारा किसी प्रकार लाञ्छित राजाको वहाँ जानेका अधिकार न था ॥४९॥ राजा दशरथके दिये हुए भिन्न-भिन्न आसनोंपर राजागण उनके सामने बैठे, जिसके लिए जो आसन नियत था वह उसीपर बैठा ॥ ५० ॥ जो राजाके द्वारा सम्मानित हुए थे, राजसेवाके लिए अयोध्यामें ही रहा करते थे तथा भिन्न-भिन्न मण्डलोंसे आये हुए राजा दशरथके चारों ओर बैठे, उस समय देवताओंसे घिरे इन्द्रके समान राजा दशरथकी शोभा थी ॥५१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका पहिला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

तदनन्तर राजा दशरथ समस्त सभाको सम्बोधित करके हितकारी अतएव अत्यन्त हर्ष देनेवाला तथा सबके सुनने योग्य वचन इस प्रकार बोले ॥ १ ॥ भेरीके समान प्रतिध्वनित होनेवाले और अर्थयुक्त अपने वचनसे मेघके समान सभामण्डलको प्रतिध्वनित करते हुए राजा बोले ॥ २ ॥ राजा अपनी सरस वाणीसे सभामण्डपको गुञ्जाते हुए राजाओंसे बोले, उनके वचन राजाओंके समान सुन्दर और अनुपम थे ॥ ३ ॥ आप लोग जानते हैं कि यह हमारा राज्य कैसा उत्तम है, हमारे पूर्वजोंने पुत्रके समान इसका पालन किया है ॥ ४ ॥ इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके द्वारा प्रतिपालित अतएव समस्त जगत्को सुख पहुँचाने-की शक्ति रखनेवाले इस राज्यको और अधिक कल्याणभागी बनाना चाहता हूँ ॥ ५ ॥ आलस्यका त्याग-कर अपनी शक्तिभर पूर्वजोंकी पद्धतिपर मैंने भी प्रजाकी रक्षा की है ॥ ६ ॥ समस्त लोक (भेदभाव छोड़कर) का कल्याण-सम्पादन करता हुआ यह शरीर भी श्वेतछत्रकी छायामें अब बूढा हो गया, अर्थात् अपने अन्य सुखोंकी ओर ध्यान न देकर राज्यासनपर बैठकर प्रजाका कल्याण-सम्पादन किया

प्राप्य वर्षसहस्राणि बहून्यायूंषि जीवतः। जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये ॥
राजप्रभावजुष्टां च दुर्वहामजितेन्द्रियैः। परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन् ॥
सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते। संनिकृष्टानिमान्सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ।१०।
अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैः श्रेष्ठो ममात्मजः। पुरंदरसमो वीर्ये रामः परपुरंजयः ॥११॥
तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतांवरम्। यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रातः पुरुषपुंगवम् ।१२।
अनुरूपः स वो नाथो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणाग्रजः। त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम् ॥१३॥
अनेन श्रेयसा सद्यः संयोक्ष्येऽहमिमां महीम्। गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन्निवेश्य वै ॥१४॥
यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्। भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम्। अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया ॥
इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन्नृपा नृपम्। वृष्टिमन्तं महामेघं नदन्त इव बर्हिणः ॥१७॥

है ॥ ७ ॥ मैंने हजारों वर्षोंकी आयु पायी, जिसमें साधारण पुरुषोंकी बहुतसी आयु समाप्त होती है, अब यह शरीर वृद्ध हो गया अतएव विश्राम चाहता हूँ ॥ ८ ॥ यह लोकपालनका धर्मभार बड़ा ही गुरुतर है, जो जितेन्द्रिय नहीं हैं उनसे इसका पालन नहीं हो सकता, इसके पालनके लिये शूरता आदि राजोचित गुण चाहिए, मैं इस राज्य-भारको वहन करते-करते अब थक गया हूँ ॥ ९ ॥ अब मैं प्रजाके कल्याणके सम्पादनके लिए अपने पुत्रको अपने स्थानपर नियुक्त कर विश्राम चाहता हूँ, पर यह मैं तब चाहता हूँ, जब पास बैठे हुए अथवा हमारे अन्तरङ्ग इन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी आज्ञा हो ॥१०॥ मेरा बड़ा पुत्र समस्त गुणोंमें मेरे समानही है, वह इन्द्रके समान पराक्रमी और शत्रुओंपर विजय करनेवाला है, उसका नाम राम है ॥११॥ पुष्ययुक्त चन्द्रमाके तुल्य (यह योग सर्वार्थसिद्धिदायक है) धार्मिकोंमें श्रेष्ठ उस पुरुषोत्तमको प्रातःकाल युवराज बनाना चाहता हूँ ॥१२॥ वे आप लोगोंके योग्य स्वामी हैं, वे लक्ष्मणके बड़े भाई महातेजस्वी हैं, उनको स्वामी पाकर त्रिलोकवासी भी अपनेको, योग्य स्वामी पानेके कारण, धन्य समझ सकते हैं। त्रिलोकके शासनकी शक्ति रखनेवाला यदि केवल आप ही लोगोंका शासक बन जाय, उसकी समस्त शक्ति केवल आप ही लोगोंके कल्याण-चिन्तनमें लगे तो इससे अहोभाग्य और क्या होगा ! ॥१३॥ ऐसा स्वामीका पाना पृथिवीके लिए भी अहोभाग्यकी बात है, मैं अपनी पालित इस पृथिवीको शीघ्र ही इस कल्याणकी भागिनी बनाऊँगा अर्थात् रामचन्द्रको युवराज बनाऊँगा। उस पुत्रको राज्यभार देकर मैं सुखी हो जाऊँगा, राज्यपालनकी चिन्ताएँ छूट जायँगी ॥१४॥ मैंने जो यह विचार आप लोगोंके सामने रखा है वह यदि विचारपूर्ण है, और इससे आप लोगोंको भी लाभ है तो आप लोग मेरे इस विचारको स्वीकार करें। यदि इन दोनों बातोंसे कोई भी न हो अथवा एक हो, एक न हो तो आप लोग मुझे बतलावें मैं क्या करूँ ॥१५॥ रामचन्द्रको युवराज बनाना मैं चाहता हूँ, यह मुझे प्रिय है, पर इससे भिन्न अपने और राज्यके हितकी बात आप लोग सोच सकते हों तो सोचें, क्योंकि मेरा विचार एक पक्षका है, मध्यस्थका विचार दूसरा है, वह उत्तर-प्रत्युत्तरसे मँजा होनेके कारण अधिक उज्ज्वल होता है ॥१६॥ राजाके ऐसा कहनेपर राजसभामें उपस्थित राजा लोग बहुत प्रसन्न हुए और

स्निग्धोऽनुनादः संजज्ञे ततो हर्षसमीरितः । जनौघोद्घुष्टसंनादो मेदिनीं कम्पयन्निव ॥१८॥
तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः । ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ॥१९॥
समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः । ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥२०॥
अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव । स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिवम् ॥२१॥
इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् । गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम् ॥२२॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम् । अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत् ॥२३॥
श्रुत्वैतद्वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ । राजानः संशयोऽयं मे तदिदं ब्रूत तत्त्वतः ॥२४॥
कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति । भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम् ॥२५॥
ते तमूचुर्महात्मानः पौरजानपदैः सह । बहवो नृपकल्याणगुणाः सन्ति सुतस्य ते ॥२६॥
गुणान्गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः । प्रियानानन्दनान्कृत्स्नान्प्रवक्ष्यामोऽद्य ताञ्छृणु ॥

उन लोगोंने राजाके आनन्दके साथ अपना आनन्द प्रकाशित किया। जिस प्रकार बरसनेवाले मेघका गर्जन सुनकर मयूर भी उसी गर्जनध्वनिका अनुकरण अपने शब्दों द्वारा करते हैं ॥१७॥ राजा दशरथके विचार राजाओंने स्वीकार किये, तदनन्तर सभामण्डपमें उपस्थित अन्यवर्गके लोगोंने स्नेहसूचक स्वीकार-ध्वनि की वह ध्वनि हर्षसे की गयी थी और उस मङ्गल-मय ध्वनिसे पृथिवी भी कांप गयी। पृथिवीके कांपनेसे ध्वनिकी प्रबलता बतलायी गयी है ॥ १८ ॥ धर्म और अर्थ—वृद्धावस्थामें अपना कर्तव्य क्या है और प्रजाका कल्याण कैसे होगा इन बातोंके जाननेवाले राजा दशरथके अभिप्रायको ठीक-ठीक समझकर ब्राह्मण और सामन्त—राजाओंने नागरिक और राज्यके प्रजा-प्रतिनिधियोंसे मिलकर सलाह की। जब उन लोगोंमें एकमत हो गया तब उनलोगोंने स्वयं भी अपना-अपना विचार किया, पुनः आकर वृद्ध राजा दशरथसे वे बोले ॥ १९ ॥ २० ॥ राजन्, आप कई हजारवर्ष के बूढ़े हैं, रामचन्द्रमें पृथ्वीपालन करनेकी योग्यता है, आप उन्हें युवराज बनावें ॥ २१ ॥ महाराज हमलोग चाहते हैं कि महाबलवान्, महाबाहु रामचन्द्र युवराज बनाये जाँय, ये बड़े हाथीपर सवार होकर चलें और राज-छत्रसे इनका मुंह छिपा हो। बड़ा हाथी केवल महत्वसूचक है, इस प्रकार सब लोगोंने राजाके मतमें अपनी सम्मति दी ॥ २२ ॥ राजाने उन लोगोंके ये वचन सुने। ये वचन राजाको भी प्रिय थे, वे भी यही चाहते थे, फिर भी अनजानसा होकर और उन लोगोंका अभिप्राय जाननेके लिए वे बोले ॥ २३ ॥ राजागण, आपलोगोंने मेरा अभिप्राय होनेके ही कारण रामचन्द्रको युवराज बनानेके विषयमें अपना मत दिया है, या आपलोगोंका यथार्थ मत भी यही है—इन दोनों बातोंमें मुझे संशय है, यथार्थ बात आपलोग कहें ॥ २४ ॥ मैं तो धर्मपूर्वक पृथिवीका पालन करही रहा हूँ, फिर महाबलवान् एक युवराज देखनेकी इच्छा आपलोग क्यों करते हैं ॥ २५ ॥ उन राजाओंने नागरिक और राज्यवासी प्रजाओंकी ओरसे उत्तर दिया, राजन्, आपके पुत्रमें बहुत ही कल्याणकारी गुण हैं ॥ २६ ॥ राजन्, लोकोत्तरगुणी आप देवसमान शक्तिमान् अपने पुत्रके वे सब गुण सुनें, हमलोग कहते हैं। जो सबको

दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः । इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशांपते ॥
रामः सत्पुरुषो लोके सत्यः सत्यपरायणः । साक्षाद्रामाद्विनिर्वृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह ॥२९॥
प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः । बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः ॥
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च शीलवाननसूयकः । क्षान्तःसान्त्वयिताश्लक्ष्णःकृतज्ञोविजितेन्द्रियः ॥
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः । प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः ॥
बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता । तेनास्येहातुला कीर्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते ॥३३॥
देवासुरमनुष्याणां सर्वास्त्रेषु विशारदः । सम्यग्विद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ॥
गान्धर्वे च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः । कल्याणाभिजनः साधुरदीनात्मा महामतिः ॥
द्विजैरभिविनीतश्च श्रेष्ठैर्धर्मार्थनैपुणैः । यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा ॥३६॥
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते । संग्रामात्पुनरागत्य कुञ्जरेण रथेन वा ॥३७॥
पौरान्स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति । पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ॥३८॥

प्रिय तथा सबको आनन्द देनेवाले हैं ॥ २७ ॥ प्रजापति, रामचन्द्र अपने लोकोत्तर गुणोंके कारण इन्द्रके समान हैं, उनका पराक्रम सफल है, इक्ष्वाकुवंशी सब राजाओंसे वे श्रेष्ठ हैं ॥२८॥ लोकमें रामचन्द्र ही एक सत्पुरुष हैं, वे सत्यवादी और सत्य आचरणके करनेवाले हैं, अर्थके साथ धर्मको स्वयं रामने ही प्रतिष्ठित किया है ॥ २९ ॥ जिस प्रकार भेदभाव छोड़कर चन्द्रमा सब प्रकारकी प्रजाओंको सुखी करता है, उसी प्रकार रामचन्द्र भी सब प्रजाओंको सुखी रखते हैं, ये पृथवीके समान क्षमाशील, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् और इन्द्रके समान पराक्रमी हैं ॥ ३० ॥ रामचन्द्र धर्मके रहस्योंको जाननेवाले हैं, सत्यप्रतिज्ञ हैं, शीलवान् हैं, गुणियोंके गुणोंके आदर करनेवाले हैं, तृष्णारहित हैं, दुःखियोंके दुःख दूर करनेवाले हैं, प्रिय बोलनेवाले हैं, दूसरोंके किये उपकारोंको समझनेवाले हैं, और अपनी इन्द्रियोंपर उनका अधिकार है ॥३१॥ वे आसानीसे प्रसन्न किये जाते हैं, विकट परिस्थितिमें भी वे अपनी कही बातसे नहीं टलते, वे सदा दर्शनीय हैं, कोई दूसरा उनसे द्वेष नहीं करता । रामचन्द्र प्रियवादी और सत्यवादी हैं, वे सबसे प्रिय बोलते हैं, पर वह प्रिय सत्य होता है ॥ ३२ ॥ रामचन्द्र बहुश्रुतों, वृद्धों और ब्राह्मणोंकी सेवा करते हैं, उनके उपदेश सुनते हैं इसकारण उनके पराक्रम आदिकी कीर्ति, दान आदिका यश तथा तेज अतुलनीय है और वे दिनोंदिन बढ़ रहे हैं ॥ ३३ ॥ देवता, मनुष्य और राक्षस इन सबकी अस्त्रविद्याओंमें रामचन्द्र निपुण हैं, रामचन्द्रने विधिपूर्वक विद्या-ग्रहण करनेके व्रतोंका पालन करके स्नान किया है, गुरुमुखसे अंगोंके साथ उन्होंने वेदोंका अध्ययन किया है ॥ ३४ ॥ रामचन्द्र गानविद्यामें इस पृथ्वीमें सबसे श्रेष्ठ हैं, उनके माता और पिताके कुल शुद्ध हैं, वे स्वयं भी शुद्ध हैं, दुःखके समयमें भी वे घबड़ाते नहीं, वे बड़े बुद्धिमान् हैं ॥ ३५ ॥ धर्म और अर्थके ज्ञाता प्रसिद्ध द्विजोंसे उन्होंने शिक्षा पायी है । रामचन्द्र ग्रामके लिए या नगरके (राजधानी या राज्यके गाँव) लिए किसी युद्धमें लक्ष्मणके साथ जब जाते हैं, तब बिना विजय पाये नहीं लौटते । संग्रामसे विजय पाकर हाथोसे या रथसे लौटते हैं ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ उस समय अपने निजी आदमियोंके समान

निखिलेनानुपूर्व्या च पिता पुत्रानिवौरसान् । शुश्रूषन्ते च वः शिष्याः कच्चिद्धर्मेषु दंशिताः ॥३९॥
इति वः पुरुषव्याघ्रः सदा रामोऽभिभाषते । व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ॥
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति । सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ॥४१॥
स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मनाश्रितः । सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विगृह्य कथारुचिः ॥
उत्तरोत्तरयुक्तौ च वक्ता वाचस्पतिर्यथा । सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद्विष्णुरिव स्वयम् ॥
रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः । प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः ॥४४॥
शक्तस्त्रैलोक्यमप्येष भोक्तुं किं नु महीमिमाम् । नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन ॥
हन्त्येष नियमाद्वध्यानवध्येषु न कुप्यति । युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति ॥४६॥
दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम् । गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥४७॥
तमेवंगुणसंपन्नं रामं सत्यपराक्रमम् । लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ।४८॥
वत्सः श्रेयसि जातस्ते दिष्ट्यासौ तव राघवः । दिष्ट्या पुत्रगुणैर्युक्तो मारीच इव कश्यपः ॥४९॥

नगरवासियोंसे कुशल-संवाद सदा पूछते हैं । पुत्र, अग्निहोत्र, स्त्री, परिवार, भृत्य और शिष्योंका ॥३८॥ यथाक्रम वे कुशल-संवाद पूछते हैं, जिस तरह पिता अपने पुत्रोंसे पूछता है । वे ब्राह्मणोंसे पूछते हैं कि आपके शिष्य सावधानीसे आपकी सेवा तो करते हैं ॥ ३९ ॥ पुरुषश्रेष्ठ रामचन्द्र इसी प्रकार सबसे पूछते हैं । जो मनुष्य दुःखी होता है रामचन्द्र स्वयं उसके दुःखमें दुःखी होते हैं ॥ ४० ॥ उनकी प्रसन्नतामें रामचन्द्र स्वयं प्रसन्न होते हैं, जिस प्रकार पिता प्रसन्न होता है । वे सत्यवादी धनुर्धारी वृद्धों-की सेवा करनेवाले और जितेन्द्रिय हैं ॥ ४१ ॥ वे सदा प्रसन्न रहते हैं, हँसकर बातें करते हैं और सर्वात्मना धर्मको प्रधानता देते हैं, यथावत सभीके कल्याण करनेवाले हैं और झगड़ेकी बातचीतसे उन्हें प्रसन्नता नहीं होती, ऐसी बात न तो वे खुद कहते हैं और न दूसरोंकी कही पसन्द करते हैं ॥ ४२ ॥ पर युक्तियुक्त उत्तर प्रत्युत्तर करनेमें वे बृहस्पतिके समान वक्ता हैं; उनकी भौंहें सुन्दर हैं, आँखें बड़ी और लाल हैं, वे स्वयं विष्णुके समान हैं ॥ ४३ ॥ ये लोकप्रिय रामचन्द्र शौर्य (युद्धमें निर्भय रहना) वीर्य (स्वयं क्षुभित न होकर शत्रुको क्षुभित करना) और पराक्रम (युद्धमें शीघ्रता करना) से सदा प्रजा-पालनमें लगे रहते हैं, अनुरागके कारण उनकी इन्द्रियाँ मूढ़ नहीं हो गयी हैं, वे यथावत् कार्य करती हैं ॥ ४४ ॥ वे समस्त त्रिलोकका शासन कर सकते हैं, फिर इस राज्यकी कौन बात । इनका क्रोध और इनकी प्रसन्नता कभी व्यर्थ नहीं जाती ॥ ४५ ॥ ये राजनियमके अनुसार सदा अपराधियोंको ही दण्ड देते हैं, निरपराधियोंपर कभी क्रोध नहीं करते । रामचन्द्र जिसपर प्रसन्न होते हैं उसको धन देते हैं ॥ ४६ ॥ रामचन्द्रने अपने मनपर अधिकार किया है, उनके गुण समस्त प्रजाओंके हितकारी हैं और समस्त मनुष्योंको प्रसन्न करनेवाले हैं । किरणोंके द्वारा प्रदीप्त सूर्यके समान रामचन्द्र अपने इन गुणोंसे शोभित होते हैं ॥ ४७ ॥ इन पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त सत्यपराक्रम रामचन्द्रको लोकपालके समान पृथिवी भी अपना स्वामी बनाना चाहती है । पृथिवीका अर्थ है पृथिवीपर रहनेवाले मनुष्य ॥ ४८ ॥ आपके पुत्र रामचन्द्र प्रजाकी रक्षा (राज्यपालन) करनेमें समर्थ हो गये हैं यह हम लोगोंके भाग्यकी बात है,

बलमारोग्यमायुश्च रामस्य विदितात्मनः । देवासुरमनुष्येषु सगन्धर्वोरगेषु च ॥५०॥
आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा । आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ॥५१॥
स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः । सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः ॥
तेषां तद्याचितं देव त्वत्प्रसादात्समृद्ध्यताम् ॥५२॥
राममिन्दीवरश्यामं सर्वशत्रुनिबर्हणम् । पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम् ॥५३॥
तं देवदेवोपममात्मजं ते सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।
हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ॥५४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः ३

तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः । प्रतिगृह्याब्रवीद्राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥ १ ॥
अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम । यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ ॥ २ ॥
इति प्रत्यर्चितान्राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत् । वसिष्ठं वामदेवं च तेषामेवोपशृण्वताम् ॥ ३ ॥

मरीचि प्रजापतिके पुत्र कश्यपमें जिस प्रकार पुत्रके सभी गुण थे, वैसे ही गुणी रामचन्द्र भी हैं, इनमें भी पुत्रके गुण वर्तमान हैं ॥ ४९ ॥ आत्मसंयमी रामचन्द्रके बलवान्, नीरोग और दीर्घजीवी होनेकी कामना देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व और नागलोकके वासी सभी करते हैं ॥ ५० ॥ अन्य राज्यों तथा नगरोंके वासी, देव, मनुष्य, असुर आदि इनमें जो आभ्यन्तर शरीरसेवक, बाह्य उदासीन—सभी रामचन्द्रके दीर्घजीवन आरोग्य आदिकी कामना करते हैं ॥ ५१ ॥ बूढ़ी और युवती स्त्रियाँ सायंकाल और प्रातःकाल शुद्ध और स्वस्थ होकर मनस्वी रामचन्द्रके कल्याणके लिए देवताओंको नमस्कार करती हैं। तात्पर्य यह कि रामचन्द्र सर्वप्रिय हैं, उनको युवराज बनाकर आप, लोगोंके मनोरथ ही पूरे करेंगे ॥ ५२ ॥ हे राजश्रेष्ठ, सब प्रकारके शत्रुओंको दमन करनेवाले इन्दीवर श्याम (नील कमलके सदृश श्याम) आपके पुत्र रामचन्द्रको युवराजके पदपर हमलोग देखना चाहते हैं ॥ ५३ ॥ लोक-कल्याणमें लगेहुए विष्णुके समान अपने पुत्र रामचन्द्रका जिनके गुण उदार हैं—हम लोगोंके कल्याणके लिए—शीघ्र प्रसन्नतापूर्वक आपको राज्याभिषेक करना चाहिए ॥ ५४ ॥

आदिकाव्य वाल्मीकीयरामायणके अयोध्याकाण्डका दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

उन सबका मस्तकसे लगा हुआ अञ्जलिरूप कमल (स्वीकारोक्ति) ग्रहणकर (सुनकर) राजा उनलोगोंसे प्रिय और हितकारी वचन बोले ॥१॥ आप सबलोग मेरे ज्येष्ठ पुत्रको युवराज बनाना चाहते हैं इससे हमारे अतुल प्रभावका पता चलता है और हम इससे बहुत प्रसन्न हैं ॥ २ ॥ इस प्रकार उन सबका सत्कार करके राजा दशरथ वसिष्ठ, वामदेव आदि ब्राह्मणोंसे पुरवासी और जनपदवासियोंके

चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः । यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम् ॥ ४ ॥
राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत् । शनैस्तस्मिन्प्रशान्ते च जनघोषे जनाधिपः ॥ ५ ॥
वसिष्ठं मुनिशार्दूलं राजा वचनमब्रवीत् । अभिषेकाय रामस्य यत्कर्म सपरिच्छदम् ॥ ६ ॥
तदद्य भगवन्सर्वमाज्ञापयितुमर्हसि । तच्छ्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥ ७ ॥
आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान्युक्तान्कृताञ्जलीन् । सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन्सर्वौषधीरपि ॥ ८ ॥
शुक्लमाल्यानि लाजांश्च पृथक्च मधुसर्पिषी । अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि ॥ ९ ॥
चतुरङ्गबलं चैव गजं च शुभलक्षणम् । चामरव्यजने चोभे ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम् ॥१०॥
शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम् । हिरण्यशृङ्गमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च ॥११॥
यच्चान्यत्किंचिदेष्टव्यं तत्सर्वमुपकल्प्यताम् । उपस्थापयत प्रातरग्न्यागारे महीपतेः ॥१२॥
अन्तःपुरस्य द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च । चन्दनस्रग्भिरर्च्यन्तां धूपैश्च घ्राणहारिभिः ॥
प्रशस्तमन्नं गुणवद्दधिक्षीरोपसेचनम् । द्विजानां शतसाहस्रं यत्प्रकाममलं भवेत् ॥१४॥
सत्कृत्य द्विजमुख्यानां श्वः प्रभातेप्रदीयताम् । घृतंदधि च लाजाश्च दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः ॥
सूर्येऽभ्युदितमात्रेश्वो भविता स्वस्तिवाचनम् । ब्राह्मणाश्चनिमन्त्र्यन्तांकल्प्यन्तामासनानिच ॥

सामने बोले ॥ ३ ॥ यह चैत्रका महीना पवित्र और सुन्दर है, वन फूले हुए हैं, रामचन्द्रके अभिषेककी सब सामग्रियाँ आप एकत्र करें ॥ ४ ॥ राजा दशरथके ऐसा कहनेपर सबलोगोंने एक स्वरसे उनका अभिनन्दन किया, जिससे सभामें शोर हो गया । शोरके शान्त होनेपर राजा दशरथ ॥५॥ मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठसे बोले—रामचन्द्रके राज्याभिषेकके लिए जिन सामग्रियोंकी आवश्यकता हो ॥ ६ ॥ भगवन्, वे सब सामग्रियाँ आप आज ही बतलावें । मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठने राजाके वे वचन सुनकर ॥ ७ ॥ हाथ जोड़कर आगे आये हुए राजाके भृत्योंको आज्ञा दी, सुवर्ण आदि रत्न, देवोपहारकी सामग्रियाँ, सब ओषधियाँ ॥ ८ ॥ श्वेत पुष्प, लावा, पृथक्-पृथक् घी और मधु, नये वस्त्र, रथ और सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र, ॥९॥ चतुरङ्गिणी सेना, सुन्दर लक्षणोंसे युक्त हाथी, दो चामर और व्यजन (पंखा), ध्वजा और श्वेत छत्ता ॥ १० ॥ अग्निके समान चमकनेवाले सोनेके सौ घड़े, सोनेके सींगवाला (जिसकी सींग सोनेसे मढ़ी गयी हो) बैल और समूचा व्याघ्रचर्म ॥ ११ ॥ तथा अन्य जिन चीजोंकी जरूरत आपलोग समझें उन्हें एकत्र करें और राजाकी अग्निशालामें प्रातःकाल इन सब वस्तुओंको उपस्थित करें ॥ १२ ॥ अन्तःपुरके द्वार तथा नगरके सब द्वार चन्दन तथा मालासे सजाएँ जायँ और सुगन्धित धूप जलाया जाय ॥ १३ ॥ अच्छा स्वादिष्ट दही और दूधसे सींचा हुआ अन्न तैयार किया जाय जो सौ हजार ब्राह्मणोंके उपयोगके लायक हो ॥ १४ ॥ श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका सत्कार करके वह अन्न कल प्रातःकाल दिया जाय । घी, दही, लावा तथा भरपूर दक्षिणा भी दी जाय ॥ १५ ॥ कल प्रातःकाल सूर्योदय होनेके पश्चात् स्वस्तिवाचन होगा, उसके लिए ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करो और उनलोगोंके लिए आसनोंकी

आबध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिच्यताम्। सर्वे च तालापचरा गणिकाश्च स्वलंकृताः॥१७॥
कक्ष्यां द्वितीयामासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मनः। देवायतनचैत्येषु सान्नभक्ष्याः सदक्षिणाः॥१८॥
उपस्थापयितव्याः स्युर्माल्ययोग्याः पृथक्पृथक्। दीर्घासिबद्धगोधाश्च संनद्धा मृष्टवाससः॥१९॥
महाराजाङ्गनं शूराः प्रविशन्तु महोदयम्। एवं व्यादिश्य विप्रौ तु क्रियास्तत्र विनिष्ठितौ॥
चक्रतुश्चैव यच्छेषं पार्थिवाय निवेद्य च। कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य जगत्पतिम्॥२१।
यथोक्तवचनं प्रीतौ हर्षयुक्तौ द्विजोत्तमौ। ततः सुमन्त्रं द्युतिमान्राजा वचनमब्रवीत्।२२॥
रामः कृतात्मा भवता शीघ्रमानीयतामिति। स तथेति प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशासनात्॥२३॥
रामं तत्रानयांचक्रे रथेन रथिनां वरम्। अथ तत्र सहासीनास्तदा दशरथं नृपम्॥२४॥
प्राच्योदीच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः। म्लेच्छाश्चार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिनः॥
उपासांचक्रिरे सर्वे तं देवा वासवं यथा। तेषां मध्ये स राजर्षिर्मरुतामिव वासवः॥२६॥
प्रासादस्थो दशरथो ददर्शायान्तमात्मजम्। गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम्॥२७॥
दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम्। चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम्॥२८॥

व्यवस्था करो, उनके ठहरनेकी जगहोंपर आसन रखवा दो ॥१६॥ पताका लगवा दो सड़कें सिंचवा दो, सब बाजेवाले और नाचनेवालियाँ तयार होकर ॥ १७ ॥ राजाके दूसरे आँगनमें रहें, देव-मन्दिरों और चौराहोंपर अन्न (भात आदि), भक्ष्य (पूआ आदि) और दक्षिणा पाने योग्य ॥ १८ ॥ तथा मालासे अर्चित होने योग्य जो हैं वे अलग-अलग उपस्थित किये जाँय अर्थात् पहले देवपूजा करके ब्राह्मणोंको अन्न, मिठाई आदि दी जाय, पुनः चौराहोंपर दक्षिणा बाँटी जाय। लम्बी तलवार ढाल और कवच धारण किये हुए तथा श्वेत वस्त्र अलंकार आदि धारण किये हुए ॥ १९ ॥ शूर महाराजके आँगनमें जाँय, जहाँ उत्सव हो रहा है। इस प्रकार अधिकारियोंको आज्ञा देकर वशिष्ट और वामदेव ऋषियोंने अपना (पुरोहितका) काम प्रारम्भ किया ॥ २० ॥ उन लोगोंके करनेके जो काम बचे हुए थे, वे भी उन लोगोंने राजासे पूछकर किये और राजाके पास जाकर उन लोगोंने कहा कि "किया" ॥ २१ ॥ द्विजश्रेष्ठ वशिष्ठ और वामदेवने प्रसन्न होकर कहा कि जैसा आपने कहा वह सब किया गया। तब द्युतिमान् राजा दशरथने सुमन्त्रसे कहा ॥ २२ ॥ आपने रामचन्द्रको सुशिक्षित किया है, आप उन्हें शीघ्र यहाँ ले आवें। राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रने भी रामचन्द्रको राजसभामें ले आनेकी प्रतिज्ञा की ॥ २३ ॥ और रथपर चढ़ाकर रथिश्रेष्ठ रामचन्द्रको वहाँ ले आये। उस समय राजा दशरथके पास बैठे हुए ॥ २४ ॥ प्राच्य (पूर्व देशाधिपति), उदीच्य (उत्तरदेशके अधिपति), प्रतीच्य (पश्चिम देशके अधिपति), दाक्षिणात्य (दक्षिण देशके अधिपति) और भी म्लेच्छ आर्यराजा तथा वन पर्वतमें रहनेवाले राजा, महाराजा दशरथकी ॥ २५ ॥ सेवा करते थे, जिस प्रकार देवता इन्द्रकी सेवा करते हैं। उन राजाओंके बीचमें राजर्षि दशरथ देवताओंके मध्यमें इन्द्रके समान मालूम पड़ते थे ॥ २६ ॥ अटारीपर बैठे हुए राजा दशरथने आते हुए अपने पुत्रको देखा, जो गन्धर्वराजके समान था तथा लोकमें जिसके पौरुषकी प्रसिद्धि थी ॥ २७ ॥ वे दीर्घबाहु महापराक्रमी मतवाले हाथीके

रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम् । घर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः ॥२९॥
न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः । अवतार्य सुमन्त्रस्तु राघवं स्यन्दनोत्तमात् ॥३०॥
पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् । स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं रघुनन्दनः ॥३१॥
आरुरोह नृपं द्रष्टुं सहसा तेन राघवः । स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके ॥३२॥
नाम स्वं श्रावयन्रामो ववन्दे चरणौ पितुः । तं दृष्ट्वा प्रणतं पार्श्वे कृताञ्जलिपुटं नृपः ॥३३॥
गृहाञ्जलौ समाकृष्य सस्वजे प्रियमात्मजम् । तस्मै चाभ्युद्यतं सम्यङ्मणिकाञ्चनभूषितम् ॥३४॥
दिदेश राजा रुचिरं रामाय परमासनम् । तथासनवरं प्राप्य व्यदीपयत राघवः ॥३५॥
स्वयैव प्रभया मेरुमुदये विमलो रविः । तेन विभ्राजिता तत्र सा सभापि व्यरोचत ॥३६॥
विमलग्रहनक्षत्रा शारदी द्यौरिवेन्दुना । तं पश्यमानो नृपतिस्तुतोष प्रियमात्मजम् ॥३७॥
अलंकृतमिवात्मानमादर्शतलसंस्थितम् । स तं सुस्थितमाभाष्य पुत्रं पुत्रवतां वरः ॥३८॥
उवाचेदं वचो राजा देवेन्द्रमिव कश्यपः । ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः ॥
उत्पन्नस्त्वं गुणज्येष्ठो मम रामात्मजः प्रियः । त्वया यतः प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः ॥४०॥

समान चलनेवाले, चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाले प्रियदर्शन श्रीरामचन्द्रको ॥ २८ ॥ जो अपने सौंदर्यसे पुरुषोंकी आँखें तथा उदारता आदि गुणोंसे चित्त हरण करनेवाले हैं, घाममें तपी प्रजाको जैसे मेघ आह्लादित करता है ॥ २९ ॥ वैसे उन रामचन्द्रको आते देखकर राजा दशरथ तृप्त नहीं हुए अर्थात् रामचन्द्रको देखनेकी उनकी इच्छा बढ़ती गयी । सुमन्त्रने उत्तम रथसे रामचन्द्रको उतारा ॥ ३० ॥ रामचन्द्र पिताके पास चले और उनके पीछे-पीछे हाथ जोड़े सुमन्त्र चले । कैलास पर्वतके शिखरके समान कोठेपर रामचन्द्र ॥ ३१ ॥ पिताको देखनेके लिए सुमन्त्रके साथ चढ़े, पिताके समीप पहुँचकर हाथ जोड़कर और नम्र होकर ॥ ३२ ॥ अपना नाम लेकर रामचन्द्रने पिताके चरणोंको प्रणाम किया । हाथ जोड़कर साष्टांग प्रणाम किये हुए रामचन्द्रको देखकर राजा दशरथने ॥३३॥ प्रियपुत्रकी अञ्जली पकड़कर अपनी ओर खींचा और आलिङ्गन किया तथा मणि और काञ्चनसे सजा हुआ ॥ ३४ ॥ श्रेष्ठ और सुन्दर आसन उनको दिया । रामचन्द्रने उस आसनको शोभित किया ॥ ३५ ॥ जिस प्रकार निर्मल सूर्य अपनी प्रभासे उदयके समय मेरुको शोभित करते हैं । उस समय रामचन्द्रके द्वारा प्रकाशित वह सभा भी प्रकाशित हुई ॥ ३६ ॥ जिस प्रकार सुन्दर ग्रह नक्षत्रवाला शरद् ऋतुका आकाश चन्द्रमासे शोभित होता है । उस प्रिय पुत्रको देखते हुए राजा दशरथ प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥ दर्पणमें प्रतिबिम्बित अपने प्रतिबिम्बके समान अलंकृत रामचन्द्रको देखकर राजा दशरथ सन्तुष्ट हुए । पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ राजा दशरथ रामचन्द्रके यथास्थान बैठजानेपर उन्हें सम्बोधित करके ॥ ३८ ॥ यह वचन बोले, जैसे कश्यप (इन्द्रके पिता) इन्द्रसे बोलते हों । तुम मेरी बड़ी महारानीके, जो मेरे अनुरूप हैं, योग पुत्र हो ॥३९॥ राम, तुम मेरे औरस पुत्र हो, गुणोंसे श्रेष्ठ हो और मेरे प्रिय हो । तुमने अपने गुणोंसे हमारे राज्यकी

तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि । कामतस्त्वं प्रकृत्यैव निर्णीतो गुणवानिति ॥४१॥
गुणवत्यपितु स्नेहात्पुत्र वक्ष्यामि ते हितम् । भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जितेन्द्रियः ॥४२॥
कामक्रोधसमुत्थानि त्यजस्व व्यसनानि च । परोक्षया वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा ॥४३॥
अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रजाश्चैवानुरञ्जय । कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा संनिचयान्बहून् ॥
इष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम् । तस्यनन्दन्तिमित्राणिलब्ध्वामृतमिवामराः ॥
तस्मात्पुत्र त्वमात्मानं नियम्यैवं समाचर । तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः ॥
त्वरिताः शीघ्रमागत्य कौसल्यायै न्यवेदयन् । सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च ।४७।
व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा । अथाभिवाद्य राजानं रथमारुह्य राघवः ॥
ययौ स्वं द्युतिमद्वेश्म जनौघैः प्रतिपूजितः ॥ ४८ ॥
ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्तच्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु ।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा देवान्समानर्चुरभिप्रहृष्टाः ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

प्रजाको प्रसन्न किया है ॥ ४० ॥ अतएव जब पुष्य नक्षत्रमें चन्द्रमा आवें तब तुम युवराजका पद ग्रहण करो । अपनी इच्छासे ही प्रकृतिने (प्रजा, राजकर्मचारी आदि) तुम्हें गुणवान् बतलाया है, युवराजके योग्य समझा है ॥ ४१ ॥ पुत्र, तुम गुणवान् हो तथापि स्नेहके कारण तुम्हारे हितकी बातें कहता हूँ— और अधिक विनीत होकर सदा जितेन्द्रिय बने रहो ॥ ४२ ॥ काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले व्यसन, स्त्री, द्यूत आदिका त्याग करो । परोक्ष और प्रत्यक्ष वृत्तिसे प्रजाका न्याय करो । दूतोंके द्वारा प्राप्त सम्वाद परोक्ष वृत्ति है और स्वयं राजसभामें बैठकर प्रमाणों द्वारा निर्णय करना प्रत्यक्ष वृत्ति है ॥ ४३ ॥ आमात्य, सेनापति आदि तथा समस्त प्रजाको प्रसन्न रखो । धान्य-राशि अस्त्र-शस्त्र तथा हीरा आदि विविध रत्नोंका सञ्चय करो ॥ ४४ ॥ जो राजा, प्रजा राजकर्मचारी आदिको सन्तुष्ट रखकर (राजाका प्रेम उनमें और उनका प्रेम राजामें हो) राज्यशासन करता है उसके मित्र उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं जिस प्रकार अमृत पाकर देवता ॥ ४५ ॥ हे पुत्र, तुम अपनेको वश करके मेरे उपदेशके अनुसार काम करो । राजा दशरथके ये वचन सुनकर रामचन्द्रके प्रिय करनेवाले उनके मित्रोंने ॥४६॥ शीघ्रतापूर्वक आकर कौसल्यासे सब बातें बतलायीं । स्त्रियोंमें श्रेष्ठ कौसल्याने सोना, गौ तथा अनेक प्रकारके रत्न ॥ ४७ ॥ उन प्रियसम्वाद कहनेवालोंको दिये । रामचन्द्र राजाको प्रणामकर तथा रथपर चढ़कर अपने सुन्दर भवनमें गये । उस समय जनसमूहने उनकी पूजा की ॥ ४८ ॥ नगरवासियोंने भी राजा दशरथके वे वचन सुनकर उनकी प्रशंसा की और इष्टप्राप्तिके समान आनन्दित हुए । अपने-अपने घर जाकर प्रसन्नतापूर्वक उनलोगोंने देवताओंकी पूजा की ॥ ४९ ॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः ४

गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः। मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स निश्चयम् ॥१॥
श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः। रामो राजीवपत्राक्षो युवराज इति प्रभुः ॥२॥
अथान्तर्गृहमाविश्य राजा दशरथस्तदा। सूतमामन्त्रयामास रामं पुनरिहानय ॥ ३ ॥
प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सूतः पुनरुपाययौ। रामस्य भवनं शीघ्रं राममानयितुं पुनः ॥ ४ ॥
द्वाःस्थैरावेदितं तस्य रामायागमनं पुनः। श्रुत्वैव चापि रामस्तं प्राप्तं शङ्कान्वितोऽभवत् ॥ ५ ॥
प्रवेश्य चैनं त्वरितो रामो वचनमब्रवीत्। यदागमनकृत्यं ते भूयस्तद्ब्रूह्यशेषतः ॥ ६ ॥
तमुवाच ततः सूतो राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति। श्रुत्वा प्रमाणं तत्र त्वं गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥
इति सूतवचः श्रुत्वा रामोऽपि त्वरयान्वितः। प्रययौ राजभवनं पुनर्द्रष्टुं नरेश्वरम् ॥ ८ ॥
तं श्रुत्वा समनुप्राप्तं रामं दशरथो नृपः। प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम् ॥ ९ ॥
प्रविशन्नेव च श्रीमान्राघवो भवनं पितुः। ददर्श पितरं दूरात्प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥१०॥
प्रणमन्तं समुत्थाप्य संपरिष्वज्य भूमिपः। प्रदिश्य चासनं चास्मै रामं च पुनरब्रवीत् ॥११॥
राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा यथेप्सिताः। अन्नवद्भिः क्रतुशतैर्यथेष्टं भूरिदक्षिणैः ॥१२॥

राजसभासे पुरवासियोंके चले जानेपर राजाने मन्त्रियोंके साथ पुनः विचार किया। राजा दशरथ विचारके विधानको जानते हैं (कहाँ विचार करना चाहिए, किसके साथ विचार करना चाहिए आदि)। इस प्रकार विचारकरके राजाने निश्चय किया ॥ १ ॥ राजाने निश्चय किया कि कल ही पुष्ययोग होगा, कल ही मेरे पुत्रका अभिषेक किया जाय, कमलनयन कल ही युवराज बनाये जायँ ॥ २ ॥ अपना यह निश्चय प्रकाशित करके राजा दशरथ रानियोंके महलोंमें गये और उन्होंने सुमन्त्रको बुलाकर रामचन्द्रको अपने पास पुनः ले आनेके लिए कहा ॥३॥ राजाकी आज्ञा मानकर सारथि शीघ्र ही उनको पुनः ले आनेके लिए रामचन्द्रके भवनमें गया ॥४॥ द्वारपालने सारथिका पुनः आना बतलाया। सारथिका पुनः आना सुनकर ही रामचन्द्र शङ्कित हुए। अर्थात् शीघ्र ही पुनः बुलानेका कारण जाननेके लिए व्याकुल हुए ॥५॥ रामचन्द्रकी आज्ञासे सारथि उनके सामने गया, रामचन्द्रने कहा—तुम्हारे पुनः आनेका जो कारण हो वह आद्यन्त कह सुनाओ ॥६॥ सारथिने कहा—आपको राजा देखना चाहते हैं, इसके बाद जाने और न जानेके लिए आप स्वाधीन हैं ॥७॥ सारथिका यह वचन सुनकर रामचन्द्र भी शीघ्रता पूर्वक राजाको देखनेके लिए राजभवनमें गये ॥८॥ रामचन्द्र आ गये हैं यह जानकर राजा दशरथने अपने पास उन्हें बुलाया। वे रामचन्द्रसे उत्तम प्रिय संवाद कहना चाहते थे ॥९॥ राजभवनमें घुसते ही रामचन्द्रने दूरसे ही पिताको देखा और साष्टाङ्ग प्रणाम करके हाथ जोड़ा ॥१०॥ प्रणाम करते हुए पुत्रको राजाने उठाकर आलिङ्गन किया, बैठनेके लिए उनको आसन देकर पुनः वे बोले ॥ ११ ॥ रामचन्द्र मैं बूढ़ा हूँ बड़ी उमर मैंने पायी है, मनमाने भोग मैंने भोगे हैं। अन्नप्रचुर तथा पूरी दक्षिणावाले सैकड़ों यज्ञ

जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं भुवि । दत्तमिष्टमधीतं च मया पुरुषसत्तम ॥१३॥
अनुभूतानि चेष्टानि मया वीर सुखान्यपि । देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथात्मनः ॥१४॥
न किंचिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात् । अतो यत्त्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि ॥१५॥
अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम् । अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥१६॥
अपि चाद्याशुभान्राम स्वप्नान्पश्यामि राघव । सनिर्घाता दिवोल्काश्च पतन्ति हि महास्वनाः॥१७॥
अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः । आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः ॥१८॥
प्रायेण च निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे । राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां चापदमृच्छति ॥१९॥
तद्यावदेव मे चेतो न विमुह्यति राघव । तावदेवाभिषिञ्चस्व चला हि प्राणिनां मतिः ॥२०॥
अद्य चन्द्रोऽभ्युपगमत्पुष्यात्पूर्वं पुनर्वसुम् । श्वः पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते दैवचिन्तकाः ॥२१॥
तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम् । श्वस्त्वाहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परंतप ॥२२॥
तस्मात्त्वयाद्यप्रभृति निशेयं नियतात्मना । सह वध्वोपवस्तव्या दर्भप्रस्तरशायिना ॥२३॥
सुहृदश्चाप्रमत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः । भवन्ति बहुविघ्नानि कार्याण्येवंविधानि हि ॥२४॥
विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः । तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥२५॥

मैंने किये हैं ॥१२॥ संसारमें जिसके समान दूसरा नहीं है वैसा वाञ्छित पुत्र तुम उत्पन्न हुए हो । हे पुरुषश्रेष्ठ, मैंने दान किया है, यज्ञ किया है और अध्ययन किया है ॥१३॥ वीर, मैंने वाञ्छित सुख पाये हैं । देवता, ऋषि, पितर, ब्राह्मण तथा अपनेसे भी मैं उऋण हो चुका हूँ ॥१४॥ तुम्हारे अभिषेकको छोड़-कर मुझे और कुछ बाकी नहीं है, अतः जो मैं कहूँ वह तुम मेरे लिए करो ॥१५॥ आज प्रजा तथा राजकर्मचारी आदि सभी तुमको अपना राजा बनाना चाहते हैं, अतएव बेटा, मैं आज तुम्हारा युवराजके पदपर अभिषेक करूँगा ॥१६॥ पर रामचन्द्र, मैं आज अशुभ स्वप्न देख रहा हूँ । वज्रपातके साथ बड़े शब्दसे, आकाशसे, उल्काका गिरना मैंने देखा है ॥१७॥ मेरा जन्मनक्षत्र सूर्य मङ्गल और राहु इन दारुण ग्रहोंसे आक्रान्त हुआ है यह ज्योतिषियोंने बतलाया है ॥१८॥ प्रायः ऐसे निमित्तोंके उत्पन्न होनेपर या तो राजाकी मृत्यु होती है या और कोई बड़ी विपत्ति आती है ॥१९॥ अतएव जब तक मेरा चित्त तुम्हारे यौवराज्याभिषेकके संबन्धमें स्थिर बना रहे—उसके विरुद्ध दूसरा कोई विचार मेरे मनमें न आवे—रामचन्द्र, तभी तक तुम अपना अभिषेक करालो, क्योंकि मनुष्योंकी बुद्धि चञ्चल हुआ करती है ॥२०॥ आज पुष्यके पूर्ववर्ती पुनर्वसुमें चन्द्रमा आया है, अतः कल पुष्ययोग होना निश्चित है यह ज्योतिषीगण कहते हैं ॥२१॥ उसी पुष्ययोगमें अभिषेक करो ऐसा मेरा मन शीघ्रता कर रहा है । हे परन्तप, कल यौवराज्य पदपर मैं तुम्हारा अभिषेक करूँगा ॥२२॥ इस कारण इस समयसे लेकर यह समूची रात वधू सीताके साथ नियमपूर्वक बिताओ और पलँगपर कुश बिछाकर सोओ ॥२३॥ तुम्हारे मित्र सावधान होकर चारों ओरसे आज तुम्हारी रक्षा करें, क्योंकि ऐसे कामोंमें अनेक विघ्न हुआ करते हैं ॥ २४ ॥ जब तक भरत यहाँसे—इस नगरसे—विदेश गये हुए हैं उसी बीचमें तुम्हारा अभिषेक हो जाना

कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः। ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः॥२६॥
किं नु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतम्। सतां च धर्मनित्यानां कृतशोभि च राघव॥२७॥
इत्युक्तः सोऽभ्यनुज्ञातः श्वो भाविन्यभिषेचने। व्रजेति रामः पितरमभिभाष्याभ्ययाद्गृहम्॥२८॥
प्रविश्य चात्मनो वेश्म राज्ञादिष्टेऽभिषेचने। तत्क्षणादेव निष्क्रम्य मातुरन्तःपुरं ययौ॥२९॥
तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम्। वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम्॥३०॥
प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा। सीता चानायिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम्॥३१॥
तस्मिन्कालेऽपि कौसल्या तस्थावामीलितेक्षणा। सुमित्रयान्वास्यमाना सीतया लक्ष्मणेन च॥३२॥
श्रुत्वा पुष्ये च पुत्रस्य यौवराज्येऽभिषेचनम्। प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम्॥३३॥
तथा सनियमामेव सोऽभिगम्याभिवाद्य च। उवाच वचनं रामो हर्षयंस्तामिदं वरम्॥३४॥
अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि। भविता श्वोऽभिषेको मे यथा मे शासनं पितुः॥३५॥
सीतयाप्युपवस्तव्या रजनीयं मया सह। एवमुक्तमुपाध्यायैः स हि मामुक्तवान्पिता॥३६॥
यानि यान्यत्र योग्यानि श्वो भाविन्यभिषेचने। तानि मे मङ्गलान्यद्य वैदेह्याश्चैव कारय॥३७॥

मुझे उचित प्रतीत होता है*॥२५॥ तुम्हारा भाई भरत सज्जनोंके मार्गमें स्थिर है, अपने जेष्ठ भ्राताका अनुगमन करनेवाला है, धर्मात्मा है, दयालु और जितेन्द्रिय है ॥ २६ ॥ परन्तु मनुष्योंका मन स्थिर नहीं रहता है ऐसा मेरा मत है। धर्मात्मा सज्जनोंका मन परोपकार करनेके पश्चात् शोभता है ॥२७॥ ऐसा कहकर राजाने कल होनेवाले अभिषेकके लिए रामचन्द्रको जानेकी आज्ञा दी। रामचन्द्र पिताको प्रणाम करके अपने घर गये ॥ २८ ॥ राजासे अभिषेककी आज्ञा सुनकर रामचन्द्र अपने घरमें गये और वहाँसे शीघ्र ही निकलकर माताके महलोंमें गये ॥ २९ ॥ वहाँ रामचन्द्रने अपनी माताको देवभवनमें देखा, उस समय वे देवाराधन कर रही थीं, रेशमी वस्त्र पहने हुई थीं, मौन होकर देवताओंसे प्रजाके कल्याणकी प्रार्थना कर रही थीं ॥ ३० ॥ सुमित्रा और लक्ष्मण वहाँ पहलेसे ही आये हुए थे। और रामचन्द्रके अभिषेकका प्रिय संवाद सुनकर सीता भी बुलायी गयी थीं ॥ ३१ ॥ उस समय भी कौसल्याकी आँखें बन्द थीं, वे ध्यान कर रही थीं, सुमित्रा सीता और लक्ष्मण उनकी सेवा कर रहे थे ॥३२॥ पुष्ययोगमें पुत्र रामचन्द्रका राज्याभिषेक होगा इस संवादको सुनकर वे जनार्दन पुरुषका प्राणायामके द्वारा ध्यान कर रही थीं ॥ ३३ ॥ इस प्रकार नियममें बैठी हुई माता कौसल्याके पास जाकर रामचन्द्रने उन्हें प्रणाम किया, और उनको प्रसन्न करते हुए उनसे यह उत्तम वचन बोले ॥ ३४ ॥ माता, पिताने मुझे प्रजापालनके काममें नियुक्त किया है। पिताकी आज्ञासे कल मेरा राज्याभिषेक होगा ॥ ३५ ॥ सीताको भी मेरे साथ इस रातमें उपवास करना होगा, यह बात उपाध्यायोंने पितासे कही है और पिताने मुझसे कही है ॥ ३६ ॥ कल होनेवाले अभिषेकके लिए जो-जो

---

* राजा दसरथने कैकयीसे विवाह करनेके समय इस बातकी प्रतिज्ञा की थी कि मेरी इस रानीके गर्भसे उत्पन्न पुत्र मेरे राज्यका अधिकारी होगा। पर इस समय इस प्रतिज्ञाके विपरीत दूसरे पुत्रके राज्याभिषेककी वे तयारी करते हैं, अतएव भरतके आगमनसे वे डरते हैं। इसी बातको स्मरण करके राजाकी यह उक्ति है।

एतच्छ्रुत्वा तु कौसल्या चिरकालाभिकाङ्क्षितम् । हर्षबाष्पाकुलं वाक्यमिदं राममभाषत ॥३८॥
वत्स राम चिरं जीव हतास्ते परिपन्थिनः । ज्ञातीन्मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय॥३९॥
कल्याणे बत नक्षत्रे मया जातोऽसि पुत्रक । येन त्वया दशरथो गुणैराराधितः पिता ॥४०॥
अमोघं बत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे । येयमिक्ष्वाकुराज्यश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥४१॥
इत्येवमुक्तो मात्रा तु रामो भ्रातरमब्रवीत् । प्राञ्जलिं प्रह्वमासीनमभिवीक्ष्य स्मयन्निव ॥४२॥
लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुन्धराम् । द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता ॥४३॥
सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान्राज्यफलानि च । जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥४४॥
इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च । अभ्यनुज्ञाप्य सीतां च ययौ स्वं च निवेशनम् ॥४५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः ५

संदिश्य रामं नृपतिः श्वोभाविन्यभिषेचने । पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन । श्रेयसे राज्यलाभाय वध्वा सह यतव्रत ॥ २ ॥
तथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदां वरः । स्वयं वसिष्ठो भगवान्ययौ रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥
उपवासयितुं वीर मन्त्रविन्मन्त्रकोविदम् । ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय सुधृतव्रतः ॥ ४ ॥

मङ्गल-विधान उचित हों, वह सब मुझको और सीताको कराओ ॥ ३७ ॥ बहुत दिनोंसे चाहे हुए इस मनोरथको सुनकर कौसल्याकी आँखें आनन्दजलसे पूर्ण हो गयीं, वे रामचन्द्रसे बोलीं ॥ ३८ ॥ बेटा, राम, चिरंजीवी होओ, तुम्हारे शत्रुओंका नाश हो । तुम कल्याणसे युक्त होकर मेरे तथा सुमित्राके स्वजनोंको आनन्दित करो ॥ ३९ ॥ वत्स, श्रेष्ठ नक्षत्रमें तुम मेरे गर्भसे उत्पन्न हुए हो, इसी कारण तुमने अपने श्रेष्ठ गुणोंसे पिता दशरथको प्रसन्न किया है ॥ ४० ॥ पुण्डरीकाक्ष भगवान्की मेरी आराधना सफल हुई जिससे इक्ष्वाकु राजलक्ष्मी तुम्हें प्राप्त होगी ॥ ४१ ॥ माताकी ये बातें सुनकर रामचन्द्र उस भाईसे मुस्कराते हुए बोले जो हाथ जोड़े हुए था और विनीत था ॥ ४२ ॥ लक्ष्मण, मेरे साथ तुम इस पृथिवीका शासन करो, तुम मेरे दूसरे अन्तरात्मा हो, यह लक्ष्मी तुम्हें प्राप्त हुई है ॥४३॥ लक्ष्मण, वाञ्छित भोग और राज्यफल भोगो । मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे लिए है ॥४४॥ लक्ष्मणसे ऐसा कहकर तथा दोनों माताओंको प्रणामकर और सीताको आज्ञा देकर रामचन्द्र अपने भवनमें गये ॥४५॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

कल होनेवाले अभिषेककी सूचना रामचन्द्रको देकर राजाने पुरोहित वसिष्ठको बुलाकर उनसे यह कहा ॥१॥ हे नियमशील तपोधन, जाइए कल्याणके लिए और राज्यलाभके लिए सीताके साथ रामचन्द्र-को उपवास कराइए ॥२॥ वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठने राजाकी आज्ञा स्वीकार की और वे स्वयं रामचन्द्रके स्थानपर गये ॥३॥ मन्त्रवेत्ता तथा व्रतधारी वसिष्ठजी ब्राह्मणोंके चढ़ने योग्य रथपर चढ़कर मन्त्रज्ञ

स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम् । तिस्रः कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः ॥ ५ ॥
तमागतमृषिं रामस्त्वरन्निव ससंभ्रमम् । मानयिष्यन्समानार्हं निश्चक्राम निवेशनात् ॥ ६ ॥
अभ्येत्य त्वरमाणोऽथ रथाभ्याशं मनीषिणः । ततोऽवतारयामास परिगृह्य रथात्स्वयम् ॥ ७ ॥
स चैनं प्रश्रितं दृष्ट्वा संभाष्याभिप्रसाद्य च । प्रियार्हं हर्षयन्राममित्युवाच पुरोहितः ॥ ८ ॥
प्रसन्नस्ते पिता राम यत्त्वं राज्यमवाप्स्यसि । उपवासं भवानद्य करोतु सह सीतया ॥ ९ ॥
प्रातस्त्वामभिषेक्ता हि यौवराज्ये नराधिपः । पिता दशरथः प्रीत्या ययातिं नहुषो यथा ॥१०॥
इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतः । मन्त्रवत्कारयामास वैदेह्या सहितं शुचिः ॥११॥
ततो यथावद्रामेण स राज्ञो गुरुरर्चितः । अभ्यनुज्ञाप्य काकुत्स्थं ययौ रामनिवेशनात् ॥१२॥
सुहृद्भिस्तत्र रामोऽपि सहासीनः प्रियंवदैः । सभाजितो विवेशाथताननुज्ञाप्य सर्वशः ॥१३॥
हृष्टनारीनरयुतं रामवेश्म तदा बभौ । यथा मत्तद्विजगणं प्रफुल्लनलिनं सरः ॥१४॥
स राजभवनप्रख्यात्तस्माद्रामनिवेशनात् । निर्गत्य ददृशे मार्गं वसिष्ठो जनसंवृतम् ॥१५॥
वृन्दवृन्दैरयोध्यायां राजमार्गाः समन्ततः । बभूवुरभिसंबाधाः कुतूहलजनैर्वृताः ॥१६॥
जनवृन्दोर्मिसंघर्षहर्षस्वनवृतस्तदा । बभूव राजमार्गस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥१७॥
सिक्तसंमृष्टरथ्या हि तथा च वनमालिनी । आसीदयोध्या तदहः समुच्छ्रितगृहध्वजा ॥१८॥

रामचन्द्रको उपवास करानेके लिए उनके स्थानपर गये ॥४॥ श्वेतमेघके समान रामचन्द्रके भवनपर वे गये, मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी तीन द्वारतक रथपर ही गये ॥५॥ मुनि आये हैं, यह सुनकर शीघ्रताके साथ आदरपूर्वक उनका सम्मान करनेके लिए रामचन्द्र अपने घरसे निकले ॥६॥ शीघ्रतापूर्वक वसिष्ठके रथके समीप आकर हाथ-से-हाथ धरकर स्वयं उन्हें रथसे उतारा ॥७॥ विनीत रामचन्द्रको देखकर उनसे कुशल पूछकर प्रियवचनके योग्य रामचन्द्रको प्रसन्न करते हुए पुरोहित बोले ॥८॥ राम, तुम्हारे पिता तुमपर प्रसन्न हैं इसीसे तुम राज्य पा रहे हो, सीताके साथ आज तुम उपवास करो ॥९॥ कल प्रातःकाल पिता राजा दशरथ युवराजके पदपर तुम्हारा अभिषेक करेंगे, जिस प्रकार नहुषने ययातिका अभिषेक किया था ॥१०॥ ऐसा कहकर शुद्ध और संयमी गुरुने जानकीके साथ रामचन्द्रसे उपवासका संकल्प मन्त्र-पूर्वक कराया ॥११॥ राजा दशरथके गुरु वसिष्ठकी रामचन्द्रने विधिपूर्वक पूजा की, रामको यथावत उपदेश देकर वे उनके भवनसे गये ॥१२॥ रामचन्द्र भी प्रिय बोलनेवाले मित्रोंके साथ बैठे थे। मित्रोंने उनकी पूजा की, रामचन्द्र मित्रोंको जानेकी आज्ञा देकर अपने भवनमें गये ॥१३॥ प्रसन्न स्त्री-पुरुषोंसे रामचन्द्रका भवन उस समय उस तालाबके समान मालूम होता था जिसमें कमल खिले हों और पक्षि-गण प्रसन्न हों ॥१४॥ राजभवनके समान रामचन्द्रके उस भवनसे निकलकर वसिष्ठने मार्गको आदमियों-से घिरा देखा ॥१५॥ अभिषेक देखनेके कुतूहलवाले दल-के-दल पुरुषोंसे अयोध्याकी सभी सड़कें भर-गयी थीं, उनपर चलना कठिन होगया था ॥१६॥ तरङ्गके समान जनसमूहकी भीड़ और हर्षध्वनिसे सड़कें भर गयी थीं, अतएव वहाँ से समुद्रके समान ध्वनि निकलती थी ॥१७॥ उस दिन अयोध्याकी सड़कें

तदा ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः । रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षन्नुदयं रवेः ॥१९॥
प्रजालंकारभूतं च जनस्यानन्दवर्धनम् । उत्सुकोऽभूज्जनो द्रष्टुं तमयोध्यामहोत्सवम् ॥२०॥
एवं तज्जनसंबाधं राजमार्गं पुरोहितः । व्यूहन्निव जनौघं तं शनै राजकुलं ययौ ॥२१॥
सिताभ्रशिखरप्रख्यं प्रासादमधिरुह्य च । समीयाय नरेन्द्रेण शक्रेणेव बृहस्पतिः ॥२२॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजासनं नृपः । पप्रच्छ स्वमतं तस्मै कृतमित्यभिवेदयत् ॥२३॥
तेन चैव तदा तुल्यं सहासीनाः सभासदः । आसनेभ्यः समुत्तस्थुः पूजयन्तः पुरोहितम् ॥२४॥
गुरुणा त्वभ्यनुज्ञातो मनुजौघं विसृज्य तम् । विवेशान्तःपुरं राजा सिंहो गिरिगुहामिव ॥२५॥
तदग्र्यवेषप्रमदाजनाकुलं महेन्द्रवेश्मप्रतिमं निवेशनम् ।
व्यदीपयंश्चारु विवेश पार्थिवः शशीव तारागणसंकुलं नभः ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः ६

गतेपुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः । सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत् ॥१॥

सींची गयी थीं और बुहारी गयी थीं, शोभा बढ़ानेकेलिये घरोंपर वनमालाएँ लटकायीं गयी थीं, और ध्वजाएँ फहरायी गयी थीं ॥१८॥ उस दिन स्त्री, बाल, पुरुष सभी रामचन्द्रका राज्याभिषेक देखनेके लिए उत्सुक थे, सभी व्याकुल थे, अतएव वे चाहते थे कि शीघ्र सूर्योदय हो, क्योंकि सूर्योदय होनेपर ही रामाभिषेक होनेवाला था ॥१९॥ जिस उत्सवमें प्रजागण भूषित होंगे, जिस उत्सवको देखकर सभी आनन्दित होंगे, अयोध्याके उस महोत्सवको देखनेके लिए सभी उत्सुक हुए थे ॥२०॥ पुरोहित वसिष्ठजी उसी राज्यमार्गपर आये, जा मनुष्योंकी भीड़से भर गया था। पुरोहितने उस जनसमूहको व्यूहके रूपमें बनाया और वहाँसे वे धीरे-धीरे राजभवनमें गये ॥२१॥ हिमालयके समान ऊँची अटारीपर चढ़कर पुरोहित राजासे मिले, जैसे बृहस्पति इन्द्रसे मिले हों ॥२२॥ पुरोहितको आया देखकर राजाने उठकर उनसे पूछा, क्या आपने मेरा अभिप्राय सिद्ध किया, पुरोहितने उत्तर दिया हाँ किया ॥२३॥ उस समय राजाके साथ जो सभासद राजसभामें बैठे थे वे भी पुरोहितका सम्मान करनेके लिए अपने-अपने आसनोंसे उठे ॥२४॥ गुरुवसिष्ठकी आज्ञासे राजाने सब सभासदोंको जानेकी आज्ञा दी और वे स्वयं रनिवासमें गये, जैसे सिंह पर्वतकी कन्दरामें गया हो ॥२५॥ उस समय रनिवास सुन्दर वेश धारण करनेवाली स्त्रियोंसे भरा हुआ था, उस समय वह इन्द्रके महलके समान मालूम होता था, ताराओंसे भरे आकाशको जैसे चन्द्रमा शोभित करता है उसी प्रकार राजाने जाकर उस रनिवासको शोभित किया ॥२६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीयरामायणके अयोध्याकाण्डका पञ्चम सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

पुरोहितके जानेपर रामचन्द्रने सावधानचित्त होकर स्नान किया और विशालाक्षी पत्नीके साथ नारायणके समीप गये (टीकाकारोंने इसका अर्थ लिखा है कि वे नारायण बन गये अर्थात् वे

प्रगृह्य शिरसा पात्रीं हविषो विधिवत्ततः । महते दैवतायाज्यं जुहाव ज्वलितानले ॥ २ ॥
शेषं च हविषस्तस्य प्राश्याशास्यात्मनः प्रियम् । ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुशसंस्तरे ॥ ३ ॥
वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः । श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः ॥ ४ ॥
एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः । अलंकारविधिं सम्यक्कारयामास वेश्मनः ॥ ५ ॥
तत्र शृण्वन्सुखा वाचः सूतमागधवन्दिनाम् । पूर्वां संध्यामुपासीनो जजाप सुसमाहितः ॥ ६ ॥
तुष्टाव प्रणतश्चैव शिरसा मधुसूदनम् । विमलक्षौमसंवीतो वाचयामास स द्विजान् ॥ ७ ॥
तेषां पुण्याहघोषोऽथ गम्भीरमधुरस्तथा । अयोध्यां पूरयामास तूर्यघोषानुनादितः ॥ ८ ॥
कृतोपवासं तु तदा वैदेह्या सह राघवम् । अयोध्यानिलयः श्रुत्वा सर्वः प्रमुदितो जनः ॥ ९ ॥
ततः पौरजनः सर्वः श्रुत्वा रामाभिषेचनम् । प्रभातां रजनीं दृष्ट्वा चक्रे शोभयितुं पुरीम् ॥१०॥
सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च । चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वट्टालकेषु च ॥११॥
नानापण्यसमृद्धेषु वणिजामापणेषु च । कुटुम्बिनां समृद्धेषु श्रीमत्सु भवनेषु च ॥१२॥
सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च । ध्वजाः समुच्छ्रिताः साधु पताकाश्चाभवंस्तथा ॥१३॥
नटनर्तकसङ्घानां गायकानां च गायताम् । मनःकर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः ॥१४॥

मर्यादापुरुषोत्तम हैं इस बातका उन्होंने स्मरण किया) ॥१॥ उन्होंने विधिपूर्वक हविका पात्र लिया, उस पात्रसे घी लेकर जलती आगमें महान् देवताके उद्देश्यसे हवन किया ॥२॥ हवनसे बचे हविषका उन्होंने भोजन किया और अपनी मनोरथसिद्धिकी प्रार्थना की। नारायणदेवका ध्यान करके सुन्दर कुशके बिछौनेपर ॥३॥ मौनी और पवित्रचित्त होकर जानकीके साथ विष्णुके उत्तम बने हुए घरमें (यज्ञ-मण्डपमें) राजपुत्र रामचन्द्रने शयन किया ॥४॥ एक पहर रात रहते ही रामचन्द्र उठे और यथानियम घर सजानेकी उन्होंने आज्ञा दी ॥५॥ सूत, मागध और बन्दियोंके सुखद वचन सुनते हुए सावधान होकर उन्होंने प्रातःकालकी संध्या की और जप किया ॥६॥ सिरसे नम्र होकर उन्होंने मधुसूदनकी स्तुति की और शुद्ध रेशमी वस्त्र धारण किये हुए रामचन्द्रने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया ॥७॥ उन ब्राह्मणोंके द्वारा किया हुआ गम्भीर और मधुर पुण्याहवाचन तूर्य (एक बाजेका नाम) के शब्दके साथ मिलकर समस्त अयोध्यामें फैल गया ॥८॥ जानकीके साथ रामचन्द्रने उपवास किया है इस संवादको सुनकर अयोध्याके सभी निवासी प्रसन्न हुए ॥९॥ रामचन्द्रका अभिषेक होने जा रहा है, इसको सुनकर तथा रातको बीती जानकर सभी पुरवासी नगर सजानेको दृढ़संकल्प हुए ॥१०॥ हिमालयके समान ऊँची अटारियों, देवताके मन्दिरों, चौराहों, गलियों, चैत्यों (चैत्य बौद्धमन्दिरको कहते हैं। बौद्धधर्मके प्रचारक भगवान् बुद्धदेव रामचन्द्रसे बहुत पीछेके हैं। उस समय बौद्ध मन्दिरोंका होना सम्भव कैसे हो सकता है। अतएव चैत्य शब्दका अर्थ यहाँ बौद्धमन्दिर न समझकर भिन्नधर्मावलम्बियोंका ही मन्दिर समझना चाहिए, उस समय सनातनसे भिन्न धर्मका होना असम्भव नहीं है), बैठकोंमें ॥११॥ मूल्यवान् चीजें बेचनेवाले बनियोंके बाजारोंमें, गृहस्थोंके सुन्दर ऊँचे भवनोंमें ॥१२॥ सब प्रकारकी सभाओंमें दूरसे देखे जानेवाले वृक्षोंपर सुन्दर ध्वजा और पताकाएँ फहरायी गयीं ॥१३॥ नट नर्तकोंके दलकी तथा

रामाभिषेकयुक्ताश्च कथाश्चक्रुर्मिथो जनाः । रामाभिषेके संप्राप्ते चत्वरेषु गृहेषु च ॥१५॥
बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्घशः । रामाभिषवसंयुक्ताश्चक्रुरेव कथा मिथः ॥१६॥
कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः । राजमार्गः कृतः श्रीमान्पौरै रामाभिषेचने ॥१७॥
प्रकाशीकरणार्थं च निशागमनशङ्कया । दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः ॥१८॥
अलंकारं पुरस्यैवं कृत्वा तत्पुरवासिनः । आकाङ्क्षमाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम् १९
समेत्य सङ्घशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च । कथयन्तो मिथस्तत्र प्रशशंसुर्जनाधिपम् ॥२०॥
अहो महात्मा राजायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः । ज्ञात्वा वृद्धं स्वमात्मानं रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति।२१।
सर्वे ह्यनुगृहीताः स्म यन्नो रामो महीपतिः । चिराय भविता गोप्ता दृष्टलोकपरावरः ॥२२॥
अनुद्धतमना विद्वान्धर्मात्मा भ्रातृवत्सलः । यथा च भ्रातृषु स्निग्धस्तथास्मास्वपि राघवः॥२३॥
चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः । यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम् ॥२४॥
एवंविधं कथयतां पौराणां शुश्रुवुः परे । दिग्भ्यो विश्रुतवृत्तान्ताःप्राप्ता जानपदा जनाः ।२५।
ते तु दिग्भ्यः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेचनम् । रामस्य पूरयामासुः पुरीं जानपदा जनाः ॥२६॥
जनौघैस्तैर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निःस्वनः । पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥२७॥

गाते हुए गायकोंकी, मन और कानको सुख देनेवाली वाणी जनता सुनने लगी ॥१४॥ सभी आपसमें मिलकर रामाभिषेक-सम्बन्धी बातें करने लगे। रामाभिषेकका समय ज्यों निकट आया, चौराहों और घरोंमें रामाभिषेककी बातें वे करने लगे ॥१५॥ घरके द्वारोंपर दलबद्ध होकर खेलनेवाले लड़के भी रामचन्द्रके अभिषेककी ही बात आपसमें करते थे ॥१६॥ रामचन्द्रके अभिषेकके समय पुरवासियोंने सड़कोंपर फूलकी मालाएँ लटकायीं और धूप, गन्ध आदिसे उसे सुगन्धित बनाया ॥१७॥ रात होनेपर अन्धकारके भयसे उनलोगोंने प्रत्येक गलीमें प्रकाशके लिए वृक्षद्वीप बनाये ॥१८॥ इस प्रकार नगरको अलंकृत करके पुरवासी रामचन्द्रके यौवराज्याभिषेकके समयकी प्रतीक्षा करने लगे ॥१९॥ अड्डोंपर तथा सभाओंमें दल-के-दल एकट्ठे होकर वे आपसमें बातें करते और राजा दशरथकी प्रशंसा करते थे ॥२०॥ वे कहते—ये इक्ष्वाकुकुलनन्दन राजा बड़े महात्मा हैं, अपनेको बूढ़ा समझकर ये रामचन्द्रका युवराजके पदपर अभिषेक करेंगे ॥२१॥ हम सबलोगोंपर राजा दशरथका यह अनुग्रह ही होगा, जो रामचन्द्र हमलोगोंके राजा होंगे और वे बहुत दिनोंतक हमलोगोंका पालन करेंगे। रामचन्द्र संसारकी भलाई बुराई दोनों ही जानते हैं ॥२२॥ रामचन्द्रका मन उच्छृङ्खल नहीं है, वे विद्वान्, धर्मात्मा राजा दशरथ और अपने भाइयों-पर प्रेम करनेवाले हैं। रामचन्द्र अपने भाइयोंपर जैसा प्रेम रखते हैं वे हमलोगोंपर भी वैसा ही प्रेम रखते हैं ॥२३॥ अपने आश्रितोंके दुख दूर करनेवाले धर्मात्मा चिरजीवी हों, जिनकी कृपासे हमलोग रामचन्द्र-को राज्यपर अभिषिक्त देखेंगे ॥२४॥ रामचन्द्रके राज्याभिषेकका संवाद सुनकर, अन्य दिशाओंसे आये हुए जनसमूहने, आपसमें बात करते हुए पुरवासियोंकी ये बातें सुनी ॥२५॥ रामाभिषेक देखनेके लिए भिन्न-भिन्न दिशाओंसे आये हुए मनुष्योंने रामचन्द्रकी नगरीको भर दिया ॥२६॥ धीरे-धीरे चलते हुए उस जनसमूहने बड़ी ही ऊँची पूर्णिमाके दिन बढ़े हुए वेगवाले समुद्रकी ध्वनिके समान, ध्वनि सुनी ॥२७॥

ततस्तदिन्द्रक्षयसंनिभं पुरं दिदृक्षुभिर्जानपदैरुपाहितैः ।
समन्ततः सस्वनमाकुलं बभौ समुद्रयादोभिरिवार्णवोदकम् ॥२८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः ७

ज्ञातिदासी यतो जाता कैकेय्या तु सहोषिता । प्रासादं चन्द्रसंकाशमारुरोह यदृच्छया ॥ १ ॥
सिक्तराजपथां कृत्स्नां प्रकीर्णकमलोत्पलाम् । अयोध्यां मन्थरा तस्मात्प्रासादादन्ववैक्षत ॥ २ ॥
पताकाभिर्वराहाभिर्ध्वजैश्च समलंकृताम् । सिक्तां चन्दनतोयैश्च शिरःस्नातजनैर्युताम् ॥ ३ ॥
माल्यमोदकहस्तैश्च द्विजेन्द्रैरभिनादिताम् । शुक्लदेवगृहद्वारां सर्ववादित्रनादिताम् ॥ ४ ॥
संप्रहृष्टजनाकीर्णां ब्रह्मघोषनिनादिताम् । प्रहृष्टवरहस्त्यश्वां संप्रणर्दितगोवृषाम् ॥ ५ ॥
हृष्टप्रमुदितैः पौरैरुच्छ्रितध्वजमालिनीम् । अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता ॥ ६ ॥
सा हर्षोत्फुल्लनयनां पाण्डुरक्षौमवासिनीम् । अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा ॥ ७ ॥
उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणार्थपरा सती । राममाता धनं किं नु जनेभ्यः संप्रयच्छति ॥ ८ ॥
अतिमात्रं प्रहर्षः किं जनस्यास्य च शंस मे । कारयिष्यति किं वापि संप्रहृष्टो महीपतिः ॥ ९ ॥

इन्द्रभवनके समान सुन्दर उस नगरीको देखनेके लिए आये हुए जनपदवासियोंसे वह नगरी चारों ओरसे विक्षोभित हो उठी, जिस प्रकार समुद्रके जलजन्तुओंसे समुद्रका जल विक्षोभित हो जाता है ॥२८॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका छठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

केकयीके पिताके यहाँकी दासी मन्थरा थी, उसके जन्म आदिका पता न था, वह केकयीके ही साथ रहती थी, वह अपनी ही इच्छासे बिना किसी कारणके चन्द्रमाके समान धवल कोठेपर चढ़ी ॥१॥ उस कोठेपर चढ़कर मन्थराने देखा कि अयोध्याकी सभी सड़कें सींची गयी हैं और उनमें कमलपुष्प बिछाये गये हैं ॥२॥ श्रेष्ठ पताकाओं और ध्वजाओंसे नगरी शोभित की गयी है, चन्दन-सुवासित जलका छिड़काव किया गया है और उबटन आदि लगाकर स्नान किये मनुष्योंसे वह युक्त है ॥३॥ माल्य और मिष्टान्न हाथमें लिये हुए ब्राह्मणोंके शब्दोंसे वह मुखरित हो रही है, देवमन्दिरोंके द्वार श्वेत बनाये गये हैं, सब प्रकारके बाजे बज रहे हैं ॥४॥ प्रसन्न मनुष्योंसे वह नगरी भरी हुई है, चारों ओर वेद-घोषसे मुखरित हो रही है, अच्छी जातिके घोड़े और हाथी प्रसन्न हो रहे हैं, गौ और बैल गरज रहे हैं ॥५॥ हर्षित और प्रसन्न पुरवासियोंने ध्वजाओंकी माला बना रखी हैं, मन्थरा अयोध्याको इस रूपमें देखकर बहुत विस्मित हुई ॥६॥ उसने पास ही रामचन्द्रकी धायको देखकर उससे पूछा, प्रसन्नतासे धायकी आँखें खिल गयी थीं और पीला रेशमी वस्त्र वह पहने हुई थी ॥७॥ धनवती राममाता बड़ी प्रसन्नतासे लोगोंको धन क्यों दे रही हैं ? ॥८॥ ये सब लोग बहुत ही प्रसन्न हैं, इसका कारण मुझे बतलाओ, प्रसन्न होकर

विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री तु परया मुदा । आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवे श्रियम् ।।१०।।
श्वः पुष्येण जितक्रोधं यौवराज्येन चानघम् । राजा दशरथो राममभिषेक्ता हि राघवम् ।।११।।
धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता । कैलासशिखराकारात्प्रासादादवरोहत ।।१२।।
सा दह्यमाना क्रोधेन मन्थरा पापदर्शिनी । शयानामेव कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ।।१३।।
उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते । उपप्लुतमघौघेन नात्मानमवबुध्यसे ।।१४।।
अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे । चलं हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे ।।१५।।
एवमुक्ता तु कैकेयी रुष्टया परुषं वचः । कुब्जया पापदर्शिन्या विषादमगमत्परम् ।।१६।।
कैकेयी त्वब्रवीत्कुब्जां कच्चित्क्षेमं न मन्थरे । विषण्णवदनां हि त्वां लक्षये भृशदुःखिताम् ।।१७।।
मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेय्या मधुराक्षरम् । उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा ।।१८।।
सा विषण्णतरा भूत्वा कुब्जा तस्यां हितैषिणी । विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम् ।।१९।।
अक्षयं सुमहद्देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम् । रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ।।२०।।
सास्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता । दह्यमानानलेनेव त्वद्धितार्थमिहागता ।।२१।।
तव दुःखेन कैकेयि मम दुःखं महद्भवेत् । त्वद्वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेदिह न संशयः ।।२२।।

राजा क्या करनेवाले हैं ।।९।। वह धाय मारे हर्षके विदीर्णसी हो रही थी । उसने प्रसन्नतापूर्वक कुब्जा मन्थराको, रामचन्द्रको प्राप्त होनेवाले बड़े कल्याणका वृत्तान्त सुनाया ।।१०।। कल पुष्ययोग है, उसी समय क्रोधको वशमें रखनेवाले निष्पाप रामचन्द्रका राजा दशरथ युवराज पदपर अभिषेक करेंगे ।।११।। धायकी बातें सुनकर मन्थराको शीघ्र ही क्रोध आया, कैलासशिखरके समान ऊँचे उस कोठेसे वह नीचे उतरी ।।१२।। अनिष्टकी आशङ्का करनेवाली केकयीकी दासी क्रोधसे जलने लगी और उसने सोती हुई केकयीसे ऐसा वचन कहा ।।१३।। मूर्खे उठ, क्या सो रही है, तुमपर बड़ा सङ्कट आया है, पापकर्मोंके फल तुम्हारे सामने आये हैं और तुम्हें ज्ञान नहीं है ।।१४।। तुम राजाकी अप्रिय हो, राजाके द्वारा केवल कुछ धन पाती हो, और तुम्हें अपने सौभाग्यका-पतिप्रिया-होनेका गर्व है, तुम्हारा सौभाग्य अनिश्चित है, जिस प्रकार सूर्यके ग्रीष्म ऋतुमें जानेसे नदीका स्रोत अनिश्चित हो जाता है ।।१५।। अनिष्टकी आशङ्का करने वाली क्रोधित मन्थराकी ऐसी बातें सुनकर केकयी बहुत दुःखित हुई ।।१६।। उसने मन्थरासे कहा—कुब्जे, क्या मेरा कुछ अकल्याण हुआ है, क्योंकि तुम्हारा मुँह उतरा है और मैं तुम्हें दुःखित देख रही हूँ ।।१७।। केकयीकी मीठी बातें सुनकर बोलनेमें चतुर मन्थरा क्रोधसे बोली ।।१८।। केकयीका हित चाहनेवाली मन्थरा बहुत ही दुःखित होकर केकयीको दुःखित करती हुई तथा रामचन्द्रसे बिलगाव कराती हुई बोली ।।१९।। देवि, आपका विनाश होनेवाला है और वह वैसा विनाश जिसका प्रतीकार न हो सके । राजा दशरथ रामचन्द्रका युवराजके पदपर अभिषेक करेंगे ।।२०।। इससे मैं बहुत बड़े भयमें डूब गयी, मुझे बहुत ही दुःख और शोक हो रहा है, मैं मानों आगसे जली जा रही हूँ, अतएव तुम्हारा हित करनेके लिए मैं तुम्हारे पास आयी हूँ ।।२१।। केकयी, रामचन्द्रके अभिषेक होनेपर तुम्हारे दुःखसे मुझे भी अधिक दुःख होगा और

नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः । उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुद्ध्यसे ॥२३॥
धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः । शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसंधिता ॥२४॥
उपस्थितः प्रयुञ्जानस्त्वयि सान्त्वमनर्थकम् । अर्थेनैवाद्य ते भर्ता कौसल्यां योजयिष्यति ॥२५॥
अपवाह्य तु दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु । काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके ॥२६॥
शत्रुः पतिप्रवादेन मात्रेव हितकाम्यया । आशीविष इवाङ्केन बाले परिधृतस्त्वया ॥२७॥
यथा हि कुर्याच्छत्रुर्वा सर्पो वा प्रत्युपेक्षितः । राज्ञा दशरथेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता ॥२८॥
पापेनानृतसान्त्वेन बाले नित्यं सुखोचिता । रामं स्थापयता राज्ये सानुबन्धा हताह्यसि ॥२९॥
सा प्राप्तकालं कैकेयि क्षिप्रं कुरु हितं तव । त्रायस्व पुत्रमात्मानं मां च विस्मयदर्शने ॥३०॥
मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात्सा शुभानना । उत्तस्थौ हर्षसंपूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी ॥३१॥
अतीव सा तु संतुष्टा कैकेयी विस्मयान्विता । दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम् ॥३२॥
दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा । कैकेयी मन्थरां हृष्ट्वा पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥३३॥
इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम् । एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते ॥३४॥

तुम्हारी बढ़तीसे मेरी भी बढ़ती होगी, इसमें सन्देह नहीं ॥२२॥ तुम राजाके कुलमें उत्पन्न हुई हो और राजाकी महारानी भी हो, फिर राजधर्मोंकी कठोरता तुम क्यों नहीं समझती हो ? ॥२३॥ तुम्हारा पति धर्मयुक्त बातें कहता है पर है शठ, मीठी बातें करता है पर है कठोर, तुम उसकी बातोंको शुद्ध भावसे कही जानती हो, इसीसे इस प्रकार ठगी गयी हो ॥२४॥ तुम्हारा पति तुम्हारे पास रहता है, तुमसे प्रिय बातें करता है पर वह सब अनर्थक है, आज तुम्हारा पति कौसल्याकी अर्थसिद्धि करने जा रहा है ॥२५॥ उस दुष्टात्माने भरतको तुम्हारे भाईके यहाँ भेज दिया, इस प्रकार निष्कण्टक राजपर कल वह रामका अभिषेक करेगा ॥२६॥ तुमने पतिके नामसे अपना शत्रु पाया है, जिस प्रकार माता बनकर साँपके बच्चे-को पालनेवाली हितकी कामनासे उसे धारण करती है । पर साँपके बच्चेसे उसकी हितकामना व्यर्थ है । इसी प्रकार इस पतिरूपी शत्रुसे तुम्हारे मनोरथकी सिद्धि असम्भव है ॥२७॥ जिस प्रकार उपेक्षित शत्रु किसीका अपकार करता है अथवा साँप, आज राजा दशरथने पुत्रके साथ तुम्हारी भी वही दशा की ॥२८॥ सदा सुखमें रहनेवाली तुम, अपने नौकर-चाकरोंके साथ, रामचन्द्रको राज्यपर स्थापित करने वाले, पापी और झूठा प्रलोभन देनेवाले इस राजाके द्वारा मारी गयी हो ॥२९॥ केकयी, समय आ गया है, शीघ्र ही तुम अपना कल्याण कर लो । हे सामयिक कर्तव्यसाधन करनेमें चतुर अपनी, अपने पुत्रकी और मेरी रक्षा करो ॥३०॥ मन्थराकी बातें सुनकर सुन्दर मुँहवाली केकयी पलंगसे उठी, जिस प्रकार हर्षयुक्त शरदृतुकी चन्द्रलेखा उठो हो ॥३१॥ केकयी बहुत प्रसन्न हुई, बड़े हर्षकी बात सुननेसे उसे विस्मय हुआ, केकयीने एक दिव्य उत्तंग आभूषण कुब्जाको दिया ॥३२॥ कुब्जा मन्थराको आभूषण देकर स्त्रीश्रेष्ठ केकयी मन्थरासे प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार बोली ॥३३॥ मन्थरे, तुमने तो मुझे यह बड़ा ही प्रिय संवाद सुनाया है, इस प्रिय संवाद सुनानेके बदले मैं तुम्हारा और क्या उपकार करूँ ? ॥३४॥

रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये । तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥३५॥
न मे परं किंचिदितो वरं पुनः प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम् ।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं वरं परं ते प्रददामि तं वृणु । ३६॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः ८

मन्थरा त्वभ्यसूय्यैनामुत्सृज्याभरणं हि तत् । उवाचेदं ततो वाक्यं कोपदुःखसमन्विता ॥ १ ॥
हर्षं किमर्थमस्थाने कृतवत्यसि बालिशे । शोकसागरमध्यस्थं नात्मानमवबुध्यसे ॥ २ ॥
मनसा प्रसहामि त्वां देवि दुःखार्दिता सती । यच्छोचितव्ये हृष्टासि प्राप्य त्वं व्यसनं महत् ॥३॥
शोचामि दुर्मतित्वं ते का हि प्राज्ञा प्रहर्षयेत् । अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम् ॥ ४ ॥
भरतादेव रामस्य राज्यसाधारणाद्भयम् । तद्विचिन्त्य विषण्णास्मि भयं भीताद्धि जायते ॥५॥
लक्ष्मणो हि महाबाहू रामं सर्वात्मना गतः । शत्रुघ्नश्चापि भरतं काकुत्स्थं लक्ष्मणो यथा ॥ ६ ॥
प्रत्यासन्नक्रमेणापि भरतस्यैव भामिनि । राज्यक्रमो विसृष्टस्तु तयोस्तावद्यवीयसोः ॥ ७ ॥

राम और भरतमें मैं भेद नहीं देखती, इसीसे मैं प्रसन्न हूँ कि राजा कल रामचन्द्रका राज्याभिषेक करेंगे ॥३५॥ ऐ प्रिय बोलनेवाली, रामचन्द्रके राज्याभिषेक-संवाद सुननेसे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा नहीं है, ऐसा अमृतके समान सुखद वचन सभी नहीं सुना सकते, तुमने वह वचन सुनाया है, इसका पारितोषिक यदि तुम कुछ और चाहो तो माँगो, मैं तुम्हें देती हूँ ॥३६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

मन्थराने केकयीपर क्रोध किया, उसका दिया गहना फेंक दिया और वह क्रोध तथा दुःखसे युक्त होकर बोली ॥१॥ मूर्खे, बिना जरूरतके हर्ष क्यों प्रकाश कर रही है । तुम शोक-समुद्रके बीचमें पड़ी हो यह तुम्हें मालूम नहीं है ॥२॥ देवि, मैं भी तुम्हारे दुःखसे पीड़ित होकर मन-ही-मन दुःख सहती हूँ । इतने बड़े दुःखको पाकर तुम्हें शोक करना चाहिए था, पर तुम प्रसन्न हो ॥३॥ तुम्हारी मूर्खताका ही मुझे शोक है । भला शत्रु सौतका बेटा राज्य पा रहा हो तो इस संवादसे किस बुद्धिमानको प्रसन्नता होगी, यह तो मृत्युके समान भयदायी है ॥४॥ इस राज्यपर भरत और राम दोनोंका साधारण अधिकार है, साधारण योग्यता है, अतएव रामको भरतसे ही भय है, यह सोचकर मैं दुःखी हो रही हूँ, क्योंकि डरे हुए मनुष्यसे ही भय होता है ॥५॥ महाबाहु लक्ष्मण तो रामचन्द्रका अनुगत ही है, और शत्रुघ्न भरतका वैसा ही अनुगत है जैसा रामका लक्ष्मण ॥६॥ हे भामिनी, उत्पत्ति-क्रमसे भी भरतका ही राज्यपर अधिकार पहुँचता है । लक्ष्मण और शत्रुघ्न छोटे हैं, अतएव उनके राज्याधिकारकी चर्चा ही

विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः। भयात्प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम् ॥ ८ ॥
सुभगा किल कौसल्या यस्याःपुत्रोऽभिषेक्ष्यते। यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः ॥ ९ ॥
प्राप्तां वसुमतीं प्रीतिं प्रतीतां हतविद्विषम्। उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीवत्त्वं कृताञ्जलिः १०
एवं च त्वं सहास्माभिस्तस्याःप्रेष्या भविष्यसि। पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यत्वं हि गमिष्यति ॥११॥
हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः। अप्रहृष्टा भविष्यन्ति स्नुषास्ते भरतक्षये ॥१२॥
तां दृष्ट्वा परमप्रीतां ब्रुवन्तीं मन्थरां ततः। रामस्यैव गुणान्देवी कैकेयी प्रशशंस ह ॥१३॥
धर्मज्ञो गुणवान्दान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुचिः। रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥१४॥
भ्रातॄन्भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत्पालयिष्यति। संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥१५॥
भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात्परम्। पितृपैतामहं राज्यमवाप्स्यति नरर्षभः ॥१६॥
सा त्वमभ्युदये प्राप्ते दह्यमानेव मन्थरे। भविष्यति च कल्याणे किमिदं परितप्यसे ॥१७॥
यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः। कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु ॥१८॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा। मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातॄंस्तु राघवः ॥१९॥
कैकेय्या वचनं श्रुत्वा मन्थरा भृशदुःखिता। दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥२०॥

क्या! ॥७॥ रामचन्द्र विद्वान् हैं, सन्धि, विग्रह करनेमें निपुण हैं, समयोचित काम करनेमें दक्ष हैं। इन्हीं बातोंसे तुम्हारे पुत्रकी ओर देखकर मैं रामचन्द्रके भयसे डर रही हूँ। कहीं आगे वे कुछ अनर्थ न करें ॥८॥ कौसल्या ही सुभगा है, पतिकी प्रिया है, क्योंकि उसके पुत्रका अभिषेक होगा, कल पुष्य-योगमें श्रेष्ठ ब्राह्मण महान् युवराज पदपर अभिषेक करेंगे ॥९॥ कौसल्या राज्य पावेगी, प्रसन्न होगी, उसके शत्रु कमजोर होकर दब जायँगे, उसकी प्रसिद्धि होगी और तुम हाथ जोड़कर दासीके समान कौसल्याके सामने खड़ी होगी ॥१०॥ इस प्रकार हम लोगोंके साथ तुम कौसल्याकी दासी बनोगी, और तुम्हारा पुत्र रामचन्द्रका भृत्य बनेगा ॥११॥ रामकी स्त्रीकी सखियाँ प्रसन्न होंगी और भरतके नाश (दरिद्र) हो जानेसे आपकी बहू अप्रसन्न होगी ॥ १२ ॥ इस प्रकार परम प्रसन्नतापूर्वक मन्थराको बोलती देखकर देवी केकयी रामचन्द्रके गुणोंकी ही प्रशंसा करने लगीं ॥१३॥ केकयीने कहा—रामचन्द्र धर्मज्ञ, गुणवान्, संयत, सत्यप्रिय और शुद्धचरित्र हैं, वे राजाके बड़े पुत्र हैं अतएव युवराज होनेका उन्हें अधिकार है ॥१४॥ दीर्घायु रामचन्द्र अपने भाइयों और भृत्योंका पिताके समान पालन करेंगे। कुब्जे, रामचन्द्रका अभिषेक सुनकर तू क्यों दुःख पा रही है ॥१५॥ भरत भी रामचन्द्रके सौ वर्षोंके बाद अवश्य ही पिता पितामहके द्वारा आया हुआ राज्य पावेगा ॥१६॥ मन्थरे, यह तो अभ्युदयका समय है तू जल क्यों रही है, भावी कल्याणमें तू दुःख क्यों करती है ॥१७॥ मुझे भरत जैसा मान्य है, राम उससे भी अधिक मान्य है, क्योंकि रामचन्द्र कौसल्यासे अधिक मेरी सेवा करता है ॥१८॥ राम-चन्द्रको यदि राज्य मिलता है तो वह भरतको भी मिला ही समझना चाहिए, क्योंकि रामचन्द्र भाइयोंको अपने ही समान समझते हैं ॥१९॥ केकयीकी बातें सुनकर मन्थरा बहुत अधिक दुःखित हुई, लम्बी और

अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुद्ध्यसे । शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे ॥२१॥
भविता राघवो राजा राघवस्य च यः सुतः । राजवंशात्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते ॥२२॥
नहि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि । स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ॥२३॥
तस्माज्ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः । स्थापयन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेष्वपि ॥२४॥
असावत्यन्तनिर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति । अनाथवत्सुखेभ्यश्च राजवंशाच्च वत्सले ॥२५॥
साहं त्वदर्थे संप्राप्ता त्वं तु मां नावबुद्ध्यसे । सपत्निवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमर्हसि ॥२६॥
ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम् । देशान्तरं नाययिता लोकान्तरमथापि वा ॥२७॥
बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया । सन्निकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेष्विव ॥२८॥
भरतानुवशात्सोऽपि शत्रुघ्नस्तत्समं गतः । लक्ष्मणो हि यथा रामं तथायं भरतं गतः ॥२९॥
श्रूयते हि द्रुमः कश्चिच्छेत्तव्यो वनजीवनैः । संनिकर्षादिषीकाभिर्मोचितः परमाद्भयात् ॥३०॥
गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः । अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥३१॥
तस्मान्न लक्ष्मणे रामः पापं किंचित्करिष्यति । रामस्तु भरते पापं कुर्यादेव न संशयः ॥३२॥

गर्म साँस लेकर वह केकयीसे बोली ॥२०॥ अपनी मूर्खतावश तुम अपनी बुराई नहीं समझ रही हो, शोक और दुःखके समुद्रमें तुम डूब रही हो, पर तुम्हें अपना ज्ञान नहीं ॥२१॥ जब रामचन्द्र राजा होंगे, तब उनके बाद उनका पुत्र राजा होगा, राज्याधिकारसे भरत सदाके लिए च्युत हो जायगा ॥२२॥ भामिनी, राजाके सभी लड़के राज्याधिकार नहीं पाते, यदि सभीको राज्याधिकार दिया जाय तो महान अन्याय हो ॥२३॥ इस कारण हे सुन्दरि केकयी, राजा लोग बड़े पुत्रको ही राज्य देते हैं, अथवा गुण-वान् किसी अन्य पुत्रको । बड़ा गुणवान् न हुआ तो गुणवान् दूसरे पुत्रको राज्य दिया जाता है ॥२४॥ प्रिये, तुम्हारा यह पुत्र रामके अभिषेक हो जानेपर राजवंश तथा सुखसे भी दूर हटा दिया जायगा, वह अनाथ हो जायगा ॥२५॥ इस कारण मैं तुम्हारे लिए आयी हूँ और तुम मेरी बात सुनती ही नहीं, तुम तो सौतकी बढ़ती सुनकर मुझे वरदान देना चाहती हो ॥२६॥ यह निश्चय है कि निष्कण्टक (शत्रु-हीन) राज्य पाकर रामचन्द्र भरतको किसी दूसरे देशमें भेज देंगे अथवा दूसरे लोकमें भेज देंगे ॥२७॥ बाल्यावस्थामें ही तुमने भरतको मामाके घर भेज दिया, यह बुरा किया, यहाँ रहता तो राजाका उसपर प्रेम होता । साथ रहनेसे अचेतनपर भी मनुष्योंका प्रेम हो जाता है ॥२८॥ शत्रुघ्न भी भरतका अनुगत होकर भरतके ही समान रामचन्द्रका द्वेषभाजन हो गया । लक्ष्मण जैसे रामचन्द्रका अनुगामी है, शत्रुघ्न भी भरतका वैसा ही अनुगामी है ॥२९॥ सुना जाता है कि कोई वनवासी एक वृक्ष काटता था, पर उस वृक्षके पास कुछ कटीली घास थीं, जिन्होंने उस वृक्षकी इस बड़े भयसे रक्षा की थी । इसी प्रकार लक्ष्मण रामकी रक्षा करता है ॥३०॥ लक्ष्मण रामकी रक्षा करता है और राम लक्ष्मणकी रक्षा करते हैं, उन दोनों भाइयोंका प्रेम अश्विनीकुमारोंके प्रेमके समान प्रसिद्ध है ॥३१॥ इस कारण रामचन्द्र लक्ष्मण-की कोई भी बुराई नहीं करेंगे, पर रामचन्द्र भरतका तो अवश्य अनिष्टाचरण करेंगे, इसमें सन्देह

तस्माद्राजगृहादेव वनं गच्छतु राघवः। एतद्धि रोचते मह्यं भृशं चापि हितं तव ॥३३॥
एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति। यदि चेद्भरतो धर्मात्पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति ॥३४॥
स ते सुखोचितो बालो रामस्य सहजो रिपुः। समृद्धार्थस्य नष्टार्थो जीविष्यति कथं वशे ॥३५॥
अभिद्रुतमिवारण्ये सिंहेन गजयूथपम्। प्रच्छाद्यमानं रामेण भरतं त्रातुमर्हसि ॥३६॥
दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया। राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत् ॥३७॥

यदा च रामः पृथिवीमवाप्स्यते प्रभूतरत्नाकरशैलसंयुताम्।
तदा गमिष्यस्यशुभं पराभवं सहैव दीना भरतेन भामिनि ॥३८॥
यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यते ध्रुवं प्रनष्टो भरतो भविष्यति।
अतो हि संचिन्तय राज्यमात्मजे परस्य चैवास्य विवासकारणम् ॥३९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः ९

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना। दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम्। यौवराज्येन भरतं क्षिप्रमद्याभिषेचये ॥ २ ॥

नहीं ॥३२॥ इस कारण मुझे तो यही अच्छा लगता है कि रामचन्द्र इस राजभवनको ही छोड़कर वनमें चले जाँय, मुझे यही सबसे अच्छा उपाय मालूम पड़ता है और इसीमें तुम्हारा हित है ॥३३॥ यदि धर्मपूर्वक भरत पिताका राज्य पावें तो तुम्हारे भाई-बन्धुओंका, तुम्हारे आश्रितोंका भी कल्याण होगा ॥३४॥ सुख पानेका अधिकारी तुम्हारा पुत्र रामका स्वाभाविक शत्रु है। रामचन्द्र समृद्धि पावेंगे, भरतकी समृद्धि नष्ट होगी, भला वह भरत रामके वशमें कैसे रह सकेगा ॥३५॥ रामने भरतपर आक्रमण किया है, जिस प्रकार वनमें भगे हुए हाथियोंके यूथपतिपर सिंह आक्रमण करता है। तुम उसकी रक्षा करो ॥३६॥ तुमने पहले अपने पतिप्रिया होनेके गर्वसे राम-माता कौसल्याका तिरस्कार किया है, कौसल्या तुम्हारी सौत है, भला वह तुम्हारे बैरका बदला क्यों न ले ॥३७॥ अनेक समुद्र और पर्वतोंवाली पृथिवीपर जब रामचन्द्रका अधिकार हो जायगा, भामिनी! तब तुम्हारा बुरा पराभव होगा, तुम भरतके साथ दुःखी हो जाओगी ॥३८॥ जब पृथिवीपर रामचन्द्रका अधिकार हो जायगा तो अवश्य ही भरतका नाश होगा। इस कारण कुछ ऐसा उपाय सोचो जिससे तुम्हारे पुत्रको राज्य मिले और रामचन्द्र यहाँसे निकाले जाँय ॥३९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका आठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

मन्थराकी बातें सुनकर केकयीका मुँह क्रोधसे जलने लगा, लम्बी और गर्म साँस लेकर मन्थरासे ऐसा बोली ॥१॥ आज यहाँसे शीघ्र ही मैं रामको वन भेजूँगी और युवराजके पदपर भरतका अभिषेक

इदं त्विदानीं संपश्य केनोपायेन साधये । भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ३ ॥
एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी । रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥
हन्तेदानीं प्रपश्य त्वं कैकेयि श्रूयतां वचः । यथा ते भरतो राज्यं पुत्रःप्राप्स्यति केवलम् ॥ ५ ॥
किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगूहसे । यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥
मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि । श्रूयतामाभिधास्यामि श्रुत्वा चैतद्विधीयताम् ॥ ७ ॥
श्रुत्वैवं वचनं तस्या मन्थरायास्तु कैकयी । किंचिदुत्थाय शयनात्स्वास्तीर्णादिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥
कथयस्व ममोपायं केनोपायेन मन्थरे । भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ९ ॥
एवमुक्ता तदा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी । रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥१०॥
पुरा देवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः । आगच्छत्त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत् ॥११॥
दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान्प्रति । वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः ॥१२॥
स शम्बर इति ख्यातः शतमायो महासुरः । ददौ शक्रस्य सङ्ग्रामं देवसङ्घैरनिन्दितः ॥१३॥
तस्मिन्महति सङ्ग्रामे पुरुषान्क्षतविक्षतान् । रात्रौ प्रसुप्तान्घ्नन्तिस्म तरसापास्य राक्षसाः ॥१४॥
तत्राकरोन्महायुद्धं राजा दशरथस्तदा । असुरैश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः ॥१५॥
अपवाह्य त्वया देवि सङ्ग्रामान्नष्टचेतनः । तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ॥१६॥

कराऊँगी ॥२॥ अब यह सोचो कि किस उपायसे मैं अपना यह मनोरथ सिद्ध करूँ, किस प्रकार भरतको राज्य मिले और रामको न मिले ॥३॥ देवी केकयीके द्वारा ऐसा कहा जानेपर बुरी बातोंमें तीव्र बुद्धि रखनेवाली मन्थरा, रामचन्द्रके अभ्युदयसे द्वेष करती हुई बोली ॥४॥ खुशीकी बात है केकयी, अब तुम देखो, मेरी बात सुनो, जिस उपायसे केवल तुम्हारा पुत्र भरत ही राज्य पावे ॥५॥ केकयी, क्या तुम्हें स्मरण नहीं है, या स्मरण होनेपर भी तुम छिपा रही हो, जो उपाय तुम्हें कहना चाहिये वह क्या तुम मुझसे सुनना चाहती हो ? ॥६॥ विलासिनी, यदि तुम मेरे ही द्वारा वह उपाय सुनना चाहती हो तो सुनो, और सुनकर उसके अनुसार कार्य करो ॥७॥ मन्थराकी यह बात सुनकर, केकयी अपने अच्छे पलँगसे थोड़ा उठकर यह बोली ॥८॥ मन्थरे, मेरे लिये उपाय बतलाओ, किस उपायसे भरत राज्य पावेगा और राम राज्य न पावेंगे ॥९॥ उस समय देवी केकयीके द्वारा ऐसा कही गयी, अनिष्ट देखनेवाली मन्थरा, रामके मनोरथको नष्ट करती हुई, केकयीसे ऐसा बोली ॥१०॥ पहले—देवासुर-संग्राममें—अन्य राजर्षियोंके साथ इन्द्रकी सहायताके लिए, तुम्हारा पति तुमको लेकर गया था ॥११॥ केकयी, दक्षिण दिशामें दण्डक वनमें—वैजयन्त नामक प्रसिद्ध नगर है, जहाँ तिमिध्वज असुर रहता था ॥१२॥ उसका शंबर भी दूसरा नाम था, वह अनेक प्रकारकी माया जानता था, वह बड़ा भारी असुर था । देवताओंके द्वारा पराजित न हुआ और वह इन्द्रसे लड़नेके लिए तयार हुआ ॥१३॥ उस बहुत बड़े युद्धमें क्षत-विक्षत पुरुषोंको, रातमें सोते समय राक्षसगण जबरदस्ती बिछौनेसे खींचकर मारते थे ॥१४॥ वहाँ महाबाहु राजा दशरथने राक्षसोंके साथ घनघोर युद्ध किया और वे घायल हुए ॥१५॥ राजा बेहोश हो गये, उस

तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने । स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदिच्छेयं तदा वरम् ॥१७॥
गृह्णीयां तु तदा भर्तस्तथेत्युक्तं महात्मना । अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथितं पुरा ॥१८॥
कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया । रामाभिषेकसंभारान्निगृह्य विनिवर्तय ॥१९॥
तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् । प्रव्राजनं च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश ॥२०॥
चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् । प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति ॥२१॥
क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते । शेष्वानन्तर्हितायां त्वं भूमौ मलिनवासिनी ॥२२॥
मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः । रुदन्ती पार्थिवं दृष्ट्वा जगत्यां शोकलालसा ॥२३॥
दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः । त्वत्कृते च महाराजो विशेदपि हुताशनम् ॥२४॥
न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम् । तव प्रियार्थं राजा तु प्राणानपि परित्यजेत् ॥२५॥
न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः । मन्दस्वभावे बुध्यस्व सौभाग्यबलमात्मनः ॥२६॥
मणिमुक्तासुवर्णानि रत्नानि विविधानि च । दद्याद्दशरथो राजा मास्म तेषु मनः कृथाः ॥२७॥
यौ तौ देवासुरे युद्धे वरौ दशरथो ददौ । तौ स्मारय महाभागे सोऽर्थो न त्वाक्रमेदति ॥२८॥
यदा तु ते वरं दद्यात्स्वयमुत्थाप्य राघवः । व्यवस्थाप्य महाराजं त्वमिमं वृणुया वरम् ॥२९॥

समय तुम उनको संग्राम-स्थानसे दूर ले गयी, और शस्त्रोंसे घायल अपने पतिकी तुमने इस प्रकार रक्षा की ॥१६॥ शुभदर्शने, उस समय प्रसन्न होकर राजाने तुमको दो वर दिये । तुमने पतिसे कहा कि जब चाहूँगी तब वर ले लूँगी ॥१७॥ महात्मा राजाने भी तुम्हारी बात मान ली । देवि, मुझे यह बात मालूम न थी, तुम्हींने पहले कही थी ॥१८॥ तुम्हारे प्रति—प्रेमके कारण मैंने यह बात आज तक याद रखी है । पहले राजासे प्रतिज्ञा करालो, फिर उन्हें रामचन्द्रके राज्याभिषेकसे रोको ॥१९॥ उन दोनों वरोंको माँगो, एकसे भरतके लिए राज्य और दूसरेसे रामचन्द्रके लिए चौदह वर्षका वनवास ॥२०॥ चौदह वर्षके लिए रामचन्द्र जब वनमें चले जायँगे, तब पालन करनेके कारण प्रजाका तुम्हारे पुत्रपर स्थिर स्नेह हो जायगा ॥२१॥ हे अश्वपतिकी कन्या, क्रोधितके समान तुम कोपभवनमें जाओ और विना बिछौनेके भूमिपर मैले वस्त्र पहनकर सो जाओ ॥२२॥ राजाकी ओर न देखना, उनसे बातें न करना, राजाको देखकर रोने लगना, शोकित होकर केवल भूमिपर पड़े रहना ॥२३॥ तुम महाराजकी बड़ी प्यारी हो इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है, मैं जानती हूँ महाराज तुम्हारे लिए आगमें भी घुस सकते हैं ॥२४॥ राजा तुम्हें क्रोधित नहीं कर सकते और तुम्हें न क्रोधित देख सकते हैं, तुम्हारा प्रिय काम करनेके लिये राजा अपने प्राणोंको भी छोड़ सकते हैं ॥२५॥ राजा तुम्हारी बात टाल नहीं सकते । अरे आत्मापमानिन तू अपने सौभाग्यका बल देख ॥२६॥ राजा दसरथ तुमको मणि, मुक्ता, सुवर्ण तथा अनेक प्रकारके रत्न देंगे, पर तुम उनकी ओर मन न करना ॥२७॥ राजा दसरथने देवासुर संग्राममें तुम्हें जो दो वर दिये थे वे दोनों वर तुम उन्हें स्मरण कराना और अपना मतलब न भूल जाना, भरतको राज्याभिषेक और रामको वनवास यह न भूलना ॥२८॥ यदि राजा तुम्हें स्वयं उठाकर वर दें, तब तुम उनकी प्रशंसा

रामप्रव्राजनं दूरं नव वर्षाणि पञ्च च । भरतः क्रियतां राजा पृथिव्यां पार्थिवर्षभ ॥३०॥
चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् । रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः ॥३१॥
रामप्रव्राजनं चैव देवि याचस्व तं वरम् । एवं सेत्स्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थास्तव कामिनी ॥३२॥
एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति । भरतश्च गतामित्रस्तव राजा भविष्यति ॥३३॥
येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति । अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति ॥३४।
संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्मवान् । प्राप्तकालं नु मन्येऽहं राजानं वीतसाध्वसा ॥३५॥
रामाभिषेकसंकल्पान्निगृह्य विनिवर्तय । अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तया ॥३६॥
हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् । सा हि वाक्येन कुब्जायाः किशोरीवोत्पथंगता ३७
कैकेयी विस्मयं प्राप्य परं परमदर्शना । प्रज्ञां ते नावजानामि श्रेष्ठे श्रेष्ठाभिधायिनी ॥३८॥
पृथिव्यामसि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये । त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥३९॥
नाहं समवबुद्ध्येयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम् । सन्ति दुःसंस्थिताः कुब्जे वक्राःपरमपापिकाः ।४०।
त्वं पद्ममिव वातेन संनता प्रियदर्शना । उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत्स्कन्धात्समुन्नतम् ४१

करके उनसे इस प्रकार वर माँगना ॥२९॥ चौदह वर्षके लिए रामचन्द्र दूर वनमें जाँय, और भरत पृथिवीके राजा बनाये जाँय ॥३०॥ चौदह वर्षके लिए यदि रामचन्द्र वनमें भेज दिये जायँगे, तो तुम्हारा पुत्र जम जायगा, प्रजाओंपर उसका दबदबा हो जायगा, आगे वह आनन्दसे रह सकेगा ॥३१॥ देवि, वरमें रामचन्द्रका वनवास माँगो । इस प्रकार तुम्हारे पुत्रके सभी मनोरथ पूर्ण होंगे ॥३२॥ इस प्रकार वनवास हो जानेपर रामचन्द्र प्रजाके अप्रिय हो जायँगे, उन्हें प्रजा भूल जायगी और शत्रुके न रहनेसे तुम्हारा पुत्र राजा हो जायगा ॥३३॥ जिस समय रामचन्द्र वनसे लौटकर आवेंगे, उस समय तक तुम्हारे पुत्रकी राज्यके भीतर और बाहर जड़ जम जायगी ॥३४॥ भरत भी आत्मवान् है, वह अपने मित्रोंके साथ प्रजाके लोगोंको प्रसन्न करके अपने पक्षमें मिला लेगा । इस समयका उचित कर्तव्य मैं यही समझती हूँ कि तुम भय छोड़कर राजासे वर देनेके लिए वचन लो ॥३५॥ फिर उन्हें रामचन्द्रके अभिषेक करनेके विचारसे हटाओ । इस प्रकार मन्थराने बुराई, भलाईके रूपमें केकयीको समझायी ॥३६॥ हर्षित और विश्वस्त होकर केकयीने मन्थरासे यह कहा । मन्थराकी वातोंसे केकयी किशोरी बालिकाके समान अनुचित काम करनेके लिये तयार हो गयी ॥३७॥ सुन्दरी मन्थरे श्रेष्ठे, सुन्दर बोलनेवाली मैं तुम्हारी बुद्धिका तिरस्कार नहीं करती हूँ अर्थात् तुम्हारे उपदेशके अनुसार मैं काम करूँगी ॥३८॥ कार्य-सिद्धिके लिए उपाय बतलानेमें तुम इस पृथिवीकी सब कुब्जाओंसे बढ़कर हो, तुम्हीं मेरी हितैषिणी हो और हितके कामोंमें सदा तत्पर रहती हो ॥३९॥ कुब्जे, राजा क्या करना चाहते हैं यह मेरी समझमें नहीं आता, तुम्हारे अतिरिक्त और लोग भी हैं, पर उनके अभिप्राय बुरे हैं, वे भी स्वयं कुटिल हैं, अतएव उनका देखना भी पाप है ॥४०॥ तुम तो वायुके द्वारा तोड़े कमलके समान सुन्दर मालूम होती हो, कन्धे

अधस्ताच्चोदरं शान्तं सुनाभमिव लज्जितम् । प्रतिपूर्णं च जघनं सुपीनौ च पयोधरौ ॥४२॥
विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे । जघनं तव निर्मृष्टं रशनादामभूषितम् ॥४३॥
जङ्घे भृशमुपन्यस्ते पादौ च व्यायतावुभौ । त्वमायताभ्यां सक्थिभ्यां मन्थरे क्षौमवासिनी ॥४४॥
अग्रतो मम गच्छन्ती राजसेऽतीव शोभने । आसन्याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे ॥४५॥
हृदये ते निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः । तदेव स्थगु यद्दीर्घं रथघोणमिवायतम् ॥४६॥
मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते । अत्र तेऽहं प्रमोक्ष्यामि मालां कुब्जे हिरण्मयीम् ४७
अभिषिक्ते च भरते राघवे च वनं गते । जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टप्तेन सुन्दरि ॥४८॥
लब्धार्था च प्रतीता च लेपयिष्यामि ते स्थगु । मुखे च तिलकं चित्रं जातरूपमयं शुभम् ॥४९॥
कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च । परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि ॥५०॥
चन्द्रमाह्वयमानेन मुखेनाप्रतिमानना । गमिष्यसि गतिं मुख्यां गर्वयन्ती द्विषज्जने ॥५१॥
तवापि कुब्जाः कुब्जायाः सर्वाभरणभूषिताः । पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥५२॥
इति प्रशस्यमाना सा कैकेयीमिदमब्रवीत् । शयानां शयने शुभ्रे वेद्यामग्निशिखामिव ॥५३॥
गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते । उत्तिष्ठ कुरु कल्याणं राजानमनुदर्शय ॥५४॥

तक ऊँचा तुम्हारा उरस्थल भी सुन्दर है ॥४१॥ उरस्थलके नीचे उदर शान्त (पतला) है, लज्जितके समान उसमें नाभि छिपी हुई है, तुम्हारे जघन देखनेमें सुन्दर और स्तन मोटे हैं ॥४२॥ निर्मल चन्द्रमाके समान तुम्हारा मुँह है, तुम बड़ी सुन्दर हो, तुम्हारे जघन मोटे और चिकने हैं तथा करधनीसे शोभित हैं ॥४३॥ तुम्हारी जाँघ सटी हुई हैं, दोनों पैर लम्बे हैं, रेशमी वस्त्र धारण करनेवाली मन्थरे, तुम अपनी लम्बी ऊरुओंसे बड़ी भली मालूम होती हो ॥४४॥ तुम जब मेरे आगे-आगे चलती हो तब बड़ी भली मालूम पड़ती हो, असुरराज शम्बरासुरमें जितनी माया थी, ॥४५॥ वे सब तुम्हारे पेटमें हैं और उनके अतिरिक्त और भी हजारों मायाएँ तुम जानती हो, इसी कारण रथके आगेवाले भागके समान तुम्हारी छाती लम्बी और बड़ी हो गयी है ॥४६॥ तुम्हारे पेटमें बुद्धि, वीरता और माया निवास करती है, कुब्जे, मैं तुम्हारे गलेमें सोनेकी माला डालूँगी ॥४७॥ जब भरतका राज्याभिषेक हो जायगा और रामचन्द्र वन चले जायँगे । उत्तम जातिके सोनेकी माला मैं तुम्हारे गलेमें डालूँगी ॥४८॥ जब मेरा मनोरथ सिद्ध हो जायगा और मैं सन्तुष्ट हो जाऊँगी, तब तुम्हारी छाती ढँक दूँगी, सोनेके गहनोंसे या चन्दनसे और तुम्हारे मुँह पर सुन्दर सोनेका तिलक लगवा दूँगी ॥४९॥ कुब्जे तुम्हारे लिये उत्तम-उत्तम गहने बनवा दूँगी, तुम अच्छे वस्त्र पहनकर देवताके समान घूमना ॥५०॥ चन्द्रमासे बराबरी करनेवाले अपने मुँहसे बड़ी सुन्दर मालूम पड़ती हो, तुम्हें प्रधान पद मिलेगा और अपने द्वेष रखनेवालोंके सामने तुम अहङ्कार कर सकोगी ॥५१॥ जिस प्रकार तुम सदा मेरी सेवा किया करती हो, उसी प्रकार दूसरी कुब्जाएँ भी गहनोंसे सजी हुई तुम्हारी चरणसेवा करेंगी ॥५२॥ इस प्रकार प्रशंसित मन्थरा केकयीसे बोली । केकयी सुन्दर पलंग पर वेदीपर अग्निशिखाके समान सोयी हुई थी ॥५३॥ कल्याणि, जलके चले

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह । क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥५५॥
अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना । अवमुच्य वरार्हाणि शुभान्याभरणानि च ॥५६॥
तदा हेमोपमा तत्र कुब्जावाक्यवशंगता । संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ॥५७॥
इह वा मां मृतां कुब्जे नृपायावेदयिष्यसि । वनं तु राघवे प्राप्ते भरतः प्राप्स्यते क्षितिम् ॥५८॥
सुवर्णेन न मे ह्यर्थो न रत्नैर्न च भोजनैः । एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥५९॥

अथो पुनस्तां महिषीं महीक्षितो वचोभिरत्यर्थमहापराक्रमैः ।
उवाच कुब्जा भरतस्य मातरं हितं वचो राममुपेत्य चाहितम् ॥६०॥
प्रपत्स्यते राज्यमिदं हि राघवो यदि ध्रुवं त्वं ससुता च तप्स्यसे ।
ततो हि कल्याणि यतस्व तत्तथा यथा सुतस्ते रतोऽभिषेक्ष्यते ॥६१॥
तथातिविद्धा महिषीति कुब्जया समाहता वागिषुभिर्मुहुर्मुहुः ।
विधाय हस्तौ हृदयेऽतिविस्मिता शशंस कुब्जां कुपिता पुनः पुनः ॥६२॥
यमस्य वा मां विषयं गतामितो निशम्य कुब्जे प्रतिवेदयिष्यसि ।
वनं गते वा सुचिराय राघवे समृद्धकामो भरतो भविष्यति ॥६३॥
अहं हि नैवास्तरणानि न स्रजो न चन्दनं नाञ्जनपानभोजनम् ।
न किंचिदिच्छामि न चेह जीवनं न चेदितो गच्छति राघवो वनम् ॥६४॥

जानेपर बाँध नहीं बाँधा जाता। उठो और जैसा मैंने बतलाया है वैसा करो, सज्जनोंका कल्याण करो, राजाके सामने जाओ ॥५४॥ विशालाक्षी और सौभाग्यके अहंकारसे गर्वित केकयी इस प्रकार प्रोत्साहित किये जानेपर मन्थराके साथ कोपभवनमें गयी ॥५५॥ केकयीने सैकड़ोंहजार रुपयेका मुक्ताहार निकालकर फेंक दिया और भी दामी और सुन्दर गहने उसने निकालकर फेंक दिये ॥५६॥ सोनेके समान वर्णवाली केकयी कुब्जा मन्थराके कहनेमें पड़कर जमीनपर बैठ गयी और मन्थरासे ऐसा बोली ॥५७॥ कुब्जे, मैं यहाँ कोपभवनमें मर गयी हूँ यह बात राजासे कहना। रामचन्द्रके वन जानेपर भरत पृथिवी पावेंगे अर्थात् यहाँ मैं मर ही जाऊँगी या अपना मनोरथ सिद्ध करूँगी ॥५८॥ सोना, रत्न तथा भोजनसे भी मुझे कोई मतलब नहीं है, यदि रामचन्द्रका राज्याभिषेक हुआ तो मेरा प्राणान्त अवश्य होगा ॥५९॥ पुनः महाराजकी महारानी और भरतकी माताको मन्थराने बड़े प्रभावशाली शब्दोंमें भरतका कल्याण और रामचन्द्रका अकल्याण समझाया ॥६०॥ मन्थराने कहा यदि रामचन्द्रको राज्य मिला तो अवश्य ही तुम अपने पुत्रके साथ सन्ताप पाओगी, अतएव हे कल्याणि, ऐसा प्रयत्न करो जिससे तुम्हारा पुत्र भरत राज्य पावे ॥६१॥ महारानी मन्थराके द्वारा वचनरूपी वाणसे बारबार चुटैल हुई और बेधी गयीं, उन्होंने अपना हाथ हृदयपर रखा और बड़ी विस्मित हुई, विस्मयका कारण था उनके प्रति राजाका कुव्यवहार। वे क्रोधकरके कुब्जासे बोली ॥६२॥ कुब्जे, केकयी कोपभवनसे यमराजके घरगयी, मरगयी, यह सुनकर राजासे कहना या रामचन्द्रके वन जानेपर भरतको पूर्णमनोरथ देखना ॥६३॥ मैं बिछौना, माला,

अथैवमुक्त्वा वचनं सुदारुणं निधाय सर्वाभरणानि भामिनी।
असंस्कृतामास्तरणेन मेदिनीं तदाधिशिश्ये पतितेव किंनरी ॥६५॥
उदीर्णसंरम्भतमोवृताननना तदावमुक्तोत्तममाल्यभूषणा।
नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा तमोवृता द्यौरिव मग्नतारका ॥६६॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ६ ॥

दशमः सर्गः १०

विदर्शिता यदा देवी कुब्जया पापया भृशम्। तदा शेते स्म सा भूमौ दिग्धविद्धेव किंनरी ॥१॥
निश्चित्य मनसा कृत्यं सा सम्यगिति भामिनी। मन्थरायै शनैः सर्वमाचचक्षे विचक्षणा ॥२॥
सा दीना निश्चयं कृत्वा मन्थरावाक्यमोहिता। नागकन्येव निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च भामिनी ॥३॥
मुहूर्तं चिन्तयामास मार्गमात्मसुखावहम्। सा सुहृच्चार्थकामा च तं निशम्य विनिश्चयम् ॥४॥
बभूव परमप्रीता सिद्धिं प्राप्येव मन्थरा। अथ सा रुषिता देवी सम्यक्कृत्वा विनिश्चयम् ॥५॥
संविवेशाबला भूमौ निवेश्य भ्रुकुटिं मुखे। ततश्चित्राणि माल्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥६॥
अपविद्धानि कैकेय्या तानि भूमिं प्रपेदिरे। तया तान्यपविद्धानि माल्यान्याभरणानि च ॥७॥

चन्दन, अञ्जन, पान भोजन कुछ भी नहीं चाहती हूँ, मैं जीना भी नहीं चाहती हूँ, यदि रामचन्द्र यहाँसे वन न जाय ॥६४॥ ऐसा कठोर वचन कहकर केकयीने अपने सब आभरण रख दिये और उस जमीनपर सो गयी जहाँ बिछौना नहीं था, पुण्यके क्षीण होनेके कारण स्वर्गसे गिरी किन्नरीके समान वह मालूम पड़ती थी ॥६५॥ बढ़े हुए क्रोधरूपी अन्धकारसे केकयीका मुँह छिप गया था। उसने अपने उत्तम माल्य और आभूषण निकाल दिये थे, राजाकी पत्नी उस समय तारकाहीन और तमोवृत आकाशके समान उदासीन मालूम पड़ती थी ॥६६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका नवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

पापिनी कुब्जाने जब इस प्रकार देवी केकयीको समझाया, तब वे विष बुझे बाणसे विद्ध किन्नरीके समान जमीनपर सोगयीं ॥१॥ उन्होंने मन-ही-मन अपना सब कर्तव्य ठीक-ठीक निश्चित करलिया, पुनः बुद्धिमती केकयीने मन्थराको सब धीरे-धीरे बतलाया। अर्थात् तुम्हारे उपदेशको इस प्रकार मैंने सफल करनेको सोचा है यह कहा ॥२॥ केकयी नागकन्याके समान लम्बी और गर्म सांस लेकर (मनोरथ सिद्धिमें अनेक विघ्नोंकी आशङ्कासे) मन्थराके वचनोंसे मोहित दीन केकयीने निश्चय करके (मन्थराके उपदेशके अनुसार काम करूँगी) ॥३॥ थोड़ी देर अपने सुखके लिए उसने उपाय सोचा। केकयीने ऐसा निश्चय किया है यह जानकर उसकी हितैषिणी और मित्र ॥४॥ मन्थरा बहुत ही प्रसन्न हुई, मानो कार्यसिद्धि ही हो गयी हो। केकयीने भी क्रोधपूर्वक दृढ़ निश्चय किया ॥५॥ केकयी जमीनपर पड़ी रही, भौंहे मुँहकी ओर चढ़ालीं। अद्भुत मालाएँ और दिव्य गहने ॥६॥ (जो केकयीने उतार दिये थे, वे)

अशोभयन्त वसुधां नक्षत्राणि यथा नभः । क्रोधागारे च पतिता सा बभौ मलिनाम्बरा ॥८॥
एकवेणीं दृढां बद्ध्वा गतसत्त्वेव किंनरी । अज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम् ॥९॥
उपस्थानमनुज्ञाप्य प्रविवेश निवेशनम् । अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान् ॥१०॥
प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी । स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः ॥११॥
पाण्डुराभ्रमिवाकाशं राहुयुक्तं निशाकरः । शुकबर्हिसमायुक्तं क्रौञ्चहंसरुतायुतम् ॥१२॥
वादित्ररवसंघुष्टं कुब्जावामनिकायुतम् । लतागृहैश्चित्रगृहैश्चम्पकाशोकशोभितैः ॥१३॥
दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् । नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिरुपशोभितम् ॥१४॥
दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः । विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ॥१५॥
उपपन्नं महार्हैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम् । स प्रविश्य महाराजः स्वमन्तःपुरमृद्धिमत् ॥१६॥
न ददर्श स्त्रियं राजा कैकेयीं शयनोत्तमे । स कामबलसंयुक्तो रत्यर्थी मनुजाधिपः ॥१७॥
अपश्यन्दयितां भार्यां पप्रच्छ विषसाद च । नहि तस्य पुरा देवी तां वेलामत्यवर्तत ॥१८॥
न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन । ततो गृहगतो राजा कैकेयीं पर्यपृच्छत ॥१९॥

जमीनपर पड़े रहे । उसके द्वारा फेंके गहने और मालाएँ ॥७॥ पृथिवीपर वैसे ही शोभते थे जैसे आकाशमें नक्षत्र शोभते हैं । वह मलिन वस्त्र पहनकर कोपभवनमें पड़ गयी ॥८॥ मजबूत एक चोटी उसने बनाली, वह मृतक किन्नरीके समान मालूम पड़ती थी । महाराज दसरथ वसिष्ठको रामचन्द्रके अभिषेककी सामग्रियाँ ।९॥ एकत्र करनेकी आज्ञा देकर रनिवासमें गये । आज ही रामचन्द्रका राज्याभिषेक निश्चय हुआ है, इसकी खबर रानियोंको अभी तक नहीं मालूम हुई, यह बात राजा दसरथने जानी ॥१०॥ रानियोंमें श्रेष्ठ केकयीको यह प्रिय संवाद सुनानेके लिए जितेन्द्रिय राजा रनिवासमें गये । पहले यशस्वी राजा केकयीके ही प्रशंसित घरमें गये ॥११॥ जिस प्रकार पीले बादलसे ढके हुए आकाशमें राहुसे घिरा चन्द्रमा जाता हो । उस घरमें शुक, मयूर पले थे, हंस सारस बोल रहे थे ॥१२॥ बाजे बज रहे थे, कुब्जा और वामनी (रनिवासकी रक्षा करनेवाली) उपस्थित थीं । लताओंका घर था, तथा चित्रोंसे शोभित था, वहाँ चम्पक और अशोक लगे थे ॥१३॥ हाथीदाँत चाँदी और सोनेकी वेदियाँ बनी हुई थीं, प्रतिदिन फल पुष्प देनेवाले वृक्ष थे और वापियाँ थीं ॥१४॥ हाथीदाँत, चांदी और सोनेके आसन बिछे हुए थे । तरह-तरहके अन्नपान तथा अनेक प्रकारकी भोजनकी सामग्रियाँ वहाँ रखी हुई थीं ॥१५॥ वहाँ बहुतसे दामी गहने रखे हुए थे, जिनसे वह गृह स्वर्गके समान मालूम पड़ता था । महाराजने ऐसे ऐश्वर्ययुक्त अपने घरमें जाकर ॥१६॥ उत्तम पलँगपर महारानी केकयीको नहीं देखा । वहाँ जाकर राजाके मनमें काम उत्पन्न हुआ और वे रति चाहनेलगे ॥१७॥ प्रिय भार्याको वहाँ न देखकर राजाने पूछा और वे दुःखी हुए । राजाके इस समयको देवी केकयीने आजतक भी नहीं लाँघा, अर्थात् ऐसा कभी नहीं हुआ कि राजा अपने समयपर महारानीके यहाँ आवें और महारानीको न पावें ॥१८॥ सूने घरमें राजाने आजतक कभी प्रवेश नहीं किया था, अतएव घरमें आकर राजा केकयीका पता पूछने लगे ॥१९॥

यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपण्डिताम् । प्रतिहारी त्वथोवाच संत्रस्ता तु कृताञ्जलिः ॥२०॥
देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता । प्रतीहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः ॥२१॥
विषसाद पुनर्भूयो लुलितव्याकुलेन्द्रियः । तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथोचिताम् ॥२२॥
प्रतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः । स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् २३
अपापः पापसंकल्पां ददर्श धरणीतले । लतामिव विनिष्कृत्तां पतितां देवतामिव ॥२४॥
किंनरीमिव निर्धूतां च्युतामप्सरसं यथा । मायामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम् । २५॥
करेणुमिव दिग्धेन विद्धां मृगयुना वने । महागज इवारण्ये स्नेहात्परमदुःखिताम् ॥२६॥
परिमृज्य च पाणिभ्यामभिसंत्रस्तचेतनः । कामी कमलपत्राक्षीमुवाच वनितामिदम् ॥२७॥
न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम् । देवि केनाभियुक्तासि केन वासि विमानिता ॥२८॥
यदिदं मम दुःखाय शेषे कल्याणि पांसुषु । भूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि ॥२९॥
भूतोपहतचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनि । सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥३०॥
सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनि । कस्य वापि प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम् ३१

अविवेकिनी केकयी स्वार्थ-साधन करना चाहती है, भरतको राज्य दिलवाना चाहती है, यह बात राजाको मालूम न थी, अतएव उन्होंने पहलेके ही समान एक प्रतिहारीसे पूछा । प्रतिहारी डरती हुई हाथ जोड़कर बोली ॥२०॥ देव, देवी बहुत क्रुद्ध हैं और वे कोपभवनमें चली गयी हैं । प्रतिहारीकी बात सुनकर राजा बहुत ही दुःखी हुए ॥२१॥ केकयीको न देखकर ही राजा दुःखी हुए थे, अब उनके क्रोधकी बात सुनकर वे और अधिक दुःखी हुए, उनकी इन्द्रियाँ चञ्चल हो गयीं । कोपभवनमें अनुचित अवस्थामें केकयीको राजाने जमीनपर पड़ी देखा ॥२२॥ वृद्ध राजाको वह युवती स्त्री प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय थी । दुःखसे जलकर राजाने उसे उस अवस्थामें देखा ॥२३॥ कपटहीन राजाने कपटी केकयीको भूमिपर पड़ी कटी लताके समान अथवा आकाशसे गिरे देवताके समान देखा ॥२४॥ तिरस्कृत किन्नरीके समान, स्वर्ग-भ्रष्ट अप्सराके समान असफल मायाके समान, बंधी हुई अप्सराके समान ॥२५॥ व्याधके द्वारा विषबुझे वाणसे विद्ध हथिनीके समान, अत्यन्त दुःखिनी केकयीको महाराजने जङ्गलमें हाथीके समान देखा ॥२६॥ कामी राजा घबड़ा गया, उसने केकयीको हाथसे पोंछा और उससे कहा कमलनेत्रे ॥२७॥ हमारे ऊपर तुम्हारा क्रोध है यह बात मैं नहीं जानता था, देवि किसने तुम्हारा तिरस्कार किया है या किसने तुम्हारी निन्दा की है ॥२८॥ जिससे मुझे दुःख पहुँचानेके लिए तुम धूलमें सोरही हो । हे सुन्दर हृदयवाली, मेरे रहते तुम जमीनपर क्यों सो रही हो ॥२९॥ तुम भूत-बाधासे व्याकुलसी जान पड़ती हो, अतएव मेरे चित्तको दुःख हो रहा है । मेरे यहाँ बड़े निपुण वैद्य हैं, वे सब प्रकारसे मुझपर प्रसन्न हैं, उनसे किसी प्रकारके अनिष्टकी आशंका नहीं है ॥३०॥ भामिनि, रोग बतलाओ, वे तुमको आराम कर देंगे । या तुम किसीका कुछ उपकार करना चाहती हो अथवा किसीने तुम्हारा अपकार किया है, तुम्हारी इच्छाके विरुद्ध काम किया है ॥३१॥ बतलाओ कौन अपना मनोरथ पावे और कौन संकटमें फँसे । किसीका

कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम् । मा रौत्सीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि संपरिशोषणम् ३२
अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम् । दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान्वाप्यकिंचनः ३३
अहं च हि मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः । न ते कंचिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥३४॥
आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसि स्थितम् । बलमात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ॥३५॥
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे । यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुंधरा ॥३६॥
द्राविडाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः। वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः ३७
तत्र जातं बहु द्रव्यं धनधान्यमजाविकम् । ततो वृणीष्व कैकेयि यद्यत्त्वं मनसेच्छसि ॥३८॥
किमायासेन ते भीरु उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शोभने । तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम् ।
तत्ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिव रश्मिवान् ॥ ३९ ॥
तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम् । परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे ॥४०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे दशमः सर्गः ॥१०॥

प्रिय करना चाहती हो तो बतलाओ मैं उसका प्रिय करूँ, यदि तुम किसीका अप्रिय करना चाहती हो तो वह भी कहो मैं उसका अप्रिय करूँ । देवि, मत रोओ और अपने शरीरको कष्ट मत दो ॥३२॥ किस अवध्यका तुम वध करना चाहती हो, अथवा किस वध्यको तुम मुक्त करना चाहती हो, किस दरिद्रको धनवान् बनाना चाहती हो अथवा किस धनीको दरिद्र बनाना चाहती हो ॥३३॥ मैं और मेरा जो कुछ है वह सब तुम्हारे अधीन है, तुम्हारी इच्छाको अपूर्ण करना मैं नहीं चाहता ॥३४॥ तुम्हारे मनमें जो हो वह कहो, मैं अपने प्राणोंसे भी उसे सिद्ध करूँगा । तुम अपना बल जानती हो, अर्थात् मुझपर तुम्हारा कितना अधिकार है यह बात तुम्हें मालूम है, फिर तुम्हें मुझपर शंका नहीं करनी चाहिए ॥३५॥ मैं धर्मसे शपथ करके कहता हूँ कि तुम्हारा प्रिय मैं करूँगा, तुम जैसे प्रसन्न होगी वह मैं करूँगा, सूर्यका चक्र जहाँ तक घूमता है अर्थात् जहाँ तक सूर्यका प्रकाश है वहाँ तक भूमि मेरी है, उस भूमिपर मेरा अधिकार है ॥३६॥ द्रविड़, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिण देश, वंग, अंग, मगध, मत्स्य तथा धनधान्यसे भरे पूरे काशी और कोशल ये सब मेरे हैं ॥३७॥ उन देशोंमें उत्पन्न धनधान्य, बकरी, भेंड़ आदि सब मेरी हैं, जो तुम चाहो वह इनमेंसे ले सकती हो ॥३८॥ भीरु, तुम क्यों तकलीफ कर रही हो, उठो, शोभने उठो, बात क्या है वह मुझसे कहो जिससे तुम इतना डरी हो, जिस प्रकार सूर्य कुहरेको नष्ट करता है उसी प्रकार मैं तुम्हारे भयके कारणको नष्ट कर दूँगा ॥३९॥ राजाकी ऐसी बातें सुनकर केकयी आश्वस्त हुई, उसकी घबड़ाहट दूर हुई, वह अपना अभिप्राय जो राजाको अप्रिय था कहनेके लिए तैयार हुई और राजाको पुनः पीड़ा देने लगी (भूमिपर पड़ी रहने, कुछ उत्तर न देने आदि चेष्टाओंसे) ॥४०॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका दसवाँ सर्ग समाप्त ॥१०॥

एकादशः सर्गः ११

तं मन्मथशरैर्विद्धं कामवेगवशानुगम् । उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणं वचः ॥ १ ॥
नास्मि विप्रकृता देव केनचिन्नावमानिता । अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तमिच्छामि त्वया कृतम्॥ २ ॥
प्रतिज्ञां प्रतिजानीष्व यदि त्वं कर्तुमिच्छसि । अथ ते व्याहरिष्यामि यथाभिप्रार्थितं मया ॥ ३ ॥
तामुवाच महाराजः कैकेयीमीषदुत्स्मयः । कामी हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु भुवि स्थिताम् ॥ ४ ॥
अवलिप्ते न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम । मनुजा मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते ॥ ५ ॥
तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना । शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेप्सितम् ॥ ६ ॥
यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवे तमहं ध्रुवम् । तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ७ ॥
आत्मना चात्मजैश्चान्यैर्वृणे य मनुजर्षभम् । तेन रामेण कैकेयी शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ८ ॥
भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्योद्धरस्व मे । एतत्समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत्साधु मन्यसे ॥ ९ ॥
बलमात्मनि पश्यन्ति न विशङ्कितुमर्हसि । करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ॥१०॥
सा तदर्थमना देवी तमभिप्रायमागतम् । निर्माध्यस्थ्याच्च हर्षाच्च बभाषे दुर्वचं वचः ॥११॥
तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमात्मनः । व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम् ॥१२॥

राजा दसरथ कामवाणोंसे विद्ध थे, अतएव वह कामके अधीन हो गये थे, केकयी उनसे कठोर वचन बोली ॥१॥ देव, किसीने मुझे क्रोध नहीं दिलाया है और न किसीने मेरा अपमान ही किया है, मेरा कुछ मतलब है, मैं चाहती हूँ कि आप उसे पूरा करें ॥२॥ यदि आप मेरी बात पूरी करना चाहते हों तो करनेकी प्रतिज्ञा करें, वचन दें, तब मैं अपना मतलब आपको सुनाऊँ ॥३॥ केकयीकी बातोंसे कामी राजाको थोड़ी हँसी आयी, वे जमीनमें पड़ी केकयीके बाल अपने हाथोंसे सुलझाते हुए बोले ॥४॥ अभिमानिनि, क्या तुम नहीं जानती कि मनुष्यश्रेष्ठ रामचन्द्रको छोड़ कर तुमसे बढ़कर मुझे दूसरा मनुष्य प्रिय नहीं है ? ॥५॥ उन अजेय, जीवनसे भी श्रेष्ठ महात्मा रामचन्द्रकी शपथ मैं तुम्हारे लिए करता हूँ । कहो तुम्हारे मनमें क्या है, तुम क्या चाहती हो ॥६॥ जिस रामचन्द्रको एक मुहूर्त भी बिना देखे मैं नहीं जी सकता, केकयी, उन रामचन्द्रकी शपथ मैं तेरे लिए करता हूँ, तुम जो कहोगी वह मैं करूँगा ॥७॥ अपनेसे तथा अपने अन्यपुत्रोंके बदलेमें जिस रामचन्द्रको मैं वरण करता हूँ केकयी, उन्हीं रामचन्द्रकी शपथ मैं तेरे लिए करता हूँ, तुम जो कहोगी वह मैं करूँगा ॥८॥ भद्रे, इस शपथ करनेसे मेरे हृदयकी अवस्था जान लो और मेरा उद्धार करो, मैं जो कहता हूँ वही करता हूँ यह जानकर, केकयी ! जो तुम्हारा मनोरथ हो वह कहो ॥९॥ अपने बलका विचार करके तुम्हें अपनी मनोरथसिद्धिमें शंका नहीं करनी चाहिए (मुझपर तुम्हारा बहुत अधिक प्रभाव है, और वह तुम्हारा बड़ा बल है) । मैं अपने धर्मकी शपथ करके कहता हूँ कि मैं तुम्हें प्रसन्न करूँगा, तुम जो चाहती हो वह करूँगा ॥१०॥ अपना अभिप्राय मनमें रखती हुई केकयीको मालूम हुआ कि मनोरथसिद्धिका अवसर आया है । उसका भरतपर पक्षपात हो गया था, अतएव प्रसन्नता पूर्वक उसने कठोर वचन कहे ॥११॥ दसरथके तीन बार

यथाक्रमेण शपसे वरं मम ददासि च । तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद्देवाः सेन्द्रपुरोगमाः ॥१३॥
चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः । जगच्च पृथिवी चेयं सगन्धर्वाः सराक्षसाः ॥१४॥
निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः । यानि चान्यानि भूतानि जानीयुर्भाषितं तव ॥१५॥
सत्यसन्धो महातेजा धर्मज्ञः सत्यवाक्शुचि । वरं मम ददात्येष सर्वे शृण्वन्तु दैवताः ॥१६॥
इति देवी महेष्वासं परिगृह्याभिशस्य च । ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ॥१७॥
स्मर राजन्पुरा वृत्तं तस्मिन्देवासुरे रणे । तत्र त्वां च्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥१८॥
तत्र चापि मया देव यत्त्वं समभिरक्षितः । जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ ॥१९॥
तौ दत्तौ च वरौ देव निक्षेपौ मृगयाम्यहम् । तवैव पृथिवीपाल सकाशे रघुनन्दन ॥२०॥
तत्प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद्दास्यसि मे वरम् । अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता ॥२१॥
वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशं कृतः । प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः ॥२२॥
ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् । वरौ देयौ त्वया देव तदा दत्तौ महीपते ॥२३॥
तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि शृणु मे वचः । अभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः ॥२४॥
अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम् । यो द्वितीयो वरो देव दत्तः प्रीतेनमे त्वया ॥२५॥

शपथ करनेके कारण केकयी बहुत प्रसन्न हो गयी थी और समीप आये हुए यमराजके समान उसने अपना कठोर अभिप्राय प्रकाशित किया ॥१२॥ उसने कहा जिस प्रकार आप शपथ कर रहे हैं तथा मुझे वरदान देनेको कहते हैं, वह इन्द्रप्रभृति तेंतीस देवता सुनें, अर्थात् वे भी इसके साक्षी बनें ॥१३॥ चन्द्रसूर्य, आकाश, ग्रह, रात, दिन, दिशाएँ जगत यह पृथिवी, गन्धर्व और राक्षस, निशाचर, भूत, घरके देवता इनके अतिरिक्त और जो कोई प्राणी हों वे आपकी बात सुनें ॥ १४ ॥ १५ ॥ सत्यप्रतिज्ञ महातेजस्वी, धर्मात्मा, सत्यवादी, और शुद्ध राजा मुझे वर दे रहे हैं, यह सब देवता सुनें, अर्थात् सब देवता उसके साक्षी रहें ॥१६॥ इस प्रकार धनुर्धारी राजाको अपने जालमें फांस कर तथा अपनी कार्य-सिद्धिके लिए उनकी प्रशंसा कर देवी केकयी वर देनेको उत्सुक काममोहित राजासे बोली ॥१७॥ महाराज, देवासुर-संग्राम - जो पहले हुआ था उसे आप स्मरण करें। शत्रुने आपको पराक्रमहीन बना दिया था, केवल आपके प्राण नहीं लिये थे ॥१८॥ देव, उस समय मैंने जागकर आपकी रक्षा की थी, आपके प्राणोंको बचानेके लिए यत्न किया था, अतएव आपने उस समय दो वर मुझे दिये थे ॥१९॥ महाराज, वे दोनों वर आपके ही पास न्यास रूपमें रख दिये गये थे, मैं उन्हीं वरोंको ढूँढ़ती हूँ अर्थात् चाहती हूँ ॥२०॥ इस प्रकार आप धर्मपूर्वक प्रतिज्ञा करके यदि मुझे वे दोनों वर न देंगे तो आपके द्वारा तिरस्कृत होकर मैं आपही अपने प्राण दे दूंगी ॥२१॥ वचनोंके द्वारा केकयीके वशमें हुए राजा अपने विनाशके लिये मृगके समान पाशके पास गये॥२२॥ तदनन्तर काममोहित राजासे केकयी पुनः बोली, महाराज, पहलेके दिये हुए वे दोनों वर आप दें ॥२३॥ वे दोनों वर मैं आजही कहूँगी, आप सुनें। आपने रामचन्द्रका अभिषेक करने का निश्चय किया है ॥२४॥ इन्हीं अभिषेककी सामग्रियोंसे आप मेरे भरत का अभिषेक करें, देव,

तदा देवासुरे युद्धे तस्य कालोऽयमागतः । नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ॥२६॥
चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः । भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ॥२७॥
एष मे परमः कामो दत्तमेव वरं वृणे । अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वने ॥२८॥
स राजराजो भव सत्यसंगरः कुलं च शीलं च हि जन्म रक्ष च ।
परत्र वासे हि वदन्त्यनुत्तमं तपोधना सत्यवचो हितं नृणाम् ॥२९॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्ड एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः १२

ततः श्रुत्वा महाराजः कैकेय्या दारुणं वचः । चिन्तामभिसमापेदे मुहूर्तं प्रतताप च ॥ १ ॥
किं नु मेऽयं दिवास्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम । अनुभूतोपसर्गो वा मनसो वाप्युपद्रवः ॥ २ ॥
इति संचिन्त्य तद्राजा नाध्यगच्छत्तदा सुखम् । प्रतिलभ्य ततः संज्ञां कैकेयीवाक्यतापितः ॥ ३ ॥
व्यथितो विक्लवश्चैव व्याघ्रीं दृष्ट्वा यथा मृगः । असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन् ॥ ४ ॥
मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः । अहो धिगिति सामर्षो वाचमुक्त्वा नराधिपः ॥ ५ ॥
मोहमापेदिवान्भूयः शोकोपहतचेतनः । चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः ॥ ६ ॥

प्रसन्न होकर जो दूसरा वर आपने ॥२५॥ उस देवासुरसंग्राममें दिया है उसका समय आगया है। चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्य वनमें जाकर, ॥२६॥ वल्कल चर्म धारण कर धीर रामचन्द्र तपस्वी बनें और भरत शत्रुहीन यौवराज्यपदका भोग करें ॥२७॥ यही मेरा सर्वश्रेष्ठ मनोरथ है, आपका दिया हुआ ही वर मैं माँगती हूँ । मैं आज ही रामचन्द्रको वनमें जाते हुए देखना चाहती हूँ ॥२८॥ राजाधिराज, आप सत्यप्रतिज्ञ बनें और इस प्रकार अपने कुल शील और जन्मकी रक्षा करें । तपस्वी लोग, परलोकमें सत्य ही मनुष्योंका सर्वोत्तम हितकारी है, ऐसा कहते हैं ॥२९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥

केकयीके इस कठोर वचनको सुनकर राजा बहुत ही चिन्तित हुए और एक मुहूर्तके लिए मूर्च्छित होगये ॥१॥ राजा दसरथ सोच रहे थे, क्या यह मेरा दिनका स्वप्न है, या मुझे चित्तमोह हो गया है अर्थात गर्मी से चित्तभ्रम हो गया है, या पूर्वजन्मके अनुभूत किसी बातका स्मरण हो रहा है, अथवा यह कोई मानसिक विकार हो रहा है, उन्माद रोग हो रहा है ॥२॥ केकयीके वचनोंसे पीड़ित राजा इस प्रकार सोच कर कुछ निश्चित न कर सके और मूर्छित हो गए । तदनन्तर होश आनेपर, ॥३॥ व्यथित और व्याकुल राजा जिस प्रकार बाघिनको देखकर मृग व्याकुल होता है, बिना बिछौनेकी जमीनपर बैठकर दीर्घ उच्छ्वास लेने लगे ॥४॥ मन्त्रप्रयोगके द्वारा मण्डलमें घिरा महाविषधर सर्पके समान बड़े क्रोधसे राजाने कहा—धिक्कार है ॥५॥ पुनः वे मूर्च्छित हो गये, क्योंकि शोकसे उनकी बुद्धि मारी गयी

कैकेयीमब्रवीत्क्रुद्धो निर्दहन्निव तेजसा । नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि ॥ ७ ॥
किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयापि वा । सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघवः ॥ ८ ॥
तस्यैनं त्वमनर्थाय किंनिमित्तमिहोद्यता । त्वं मयात्मविनाशाय भवनं स्वं निवेशिता ॥ ९ ॥
अविज्ञानान्नृपसुता व्याला तीक्ष्णविषा यथा । जीवलोको यदा सर्वो रामस्याह गुणस्तवम् ॥१०॥
अपराधं कमुद्दिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम् । कौसल्यां च सुमित्रां च त्यजेयमपि वा श्रियम् ।११।
जीवितं चात्मना रामं नत्वेव पितृवत्सलम् । परा भवति मे प्रीतिर्दृष्ट्वा तनयमग्रजम् ॥१२॥
अपश्यतस्तु मे रामं नष्टं भवति चेतनम् । तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना ॥१३॥
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् । तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये ॥१४॥
अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येष प्रसीद मे । किमर्थं चिन्तितं पापे त्वया परमदारुणम् ॥१५॥
अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये । अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति ॥१६॥
स मे ज्येष्ठसुतः श्रीमान्धर्मज्येष्ठ इतीव मे । तत्त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥१७॥
तच्छ्रुत्वा शोकसंतप्ता संतापयसि मां भृशम् । आविष्टासि गृहे शून्ये सा त्वं परवशं गता ॥१८॥

थी, बहुत देरके बाद उन्हें होश आया और वे बड़े दुःखित हुए ॥६॥ राजाने क्रोधपूर्वक केकयीसे कहा, मानो उसे अपने तेजसे जला रहे हों। अरे क्रूर दुष्ट चरित्रवाली तथा इस कुलका नाश करनेवाली, पापिन, रामचन्द्रने तेरा क्या अपराध किया है अथवा मैंने ही क्या अपराध किया है ? रामचन्द्र तो सदा तेरे साथ माताका सा व्यवहार करते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥ उसीका नाश करनेके लिए तू आज किस कारण तयार हुई है, मैंने अपने नाशके लिए तुझे अपने घरमें स्थान दिया है ॥९॥ तेरे दुर्गुणोंको जानकर राजकन्याके भ्रमसे विषधर सांपिनके समान मैंने तुम्हें अपने घरमें स्थान दिया है । सभी लोग रामचन्द्रके गुणोंकी स्तुति कर रहे हैं, उनकी प्रशंसा कर रहे हैं ॥१०॥ फिर अपने प्रियपुत्रका किस अपराधसे मैं त्याग करूँ । कौसल्या, सुमित्रा तथा इस राज्यका भी मैं त्याग कर सकता हूँ ॥११॥ पर, अपनी योग्यतासे मेरे जीवनके समान बने हुए पितृभक्त रामचन्द्रका त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्रको देखनेसे मेरी प्रसन्नता बहुत अधिक बढ़ जाती है ॥१२॥ रामचन्द्रको जब मैं नहीं देखता तब मेरी चेतना नष्ट हो जाती है । सूर्यके बिना संसार बना रहे, पानीके बिना धान ठहरा रहे, ॥१३॥ पर रामचन्द्रके बिना मेरे शरीरमें क्या प्राण ठहरे रहेंगे, नहीं । अतएव, बुरा निश्चय करनेवाली, तू अपना यह (रामचन्द्रको वन भेजनेका) निश्चय छोड़ दे ॥१४॥ मैं तेरे चरणोंपर अपना सिर रखता हूँ, तू प्रसन्न हो जा । अरे पापिन, तूने ऐसी भयानक बात किसलिए सोची ॥१५॥ यदि तू यह जानना चाहती हो कि राजा भरतपर प्रेम करते हैं या नहीं, तो अच्छा है, भरतके सम्बन्धमें तुमने जो पहले कहा है वही हो, अर्थात् भरतका ही अभिषेक हो ॥ १६ ॥ तुमने पहले मुझसे कहा है कि रामचन्द्र मेरे ज्येष्ठ पुत्र हैं, वे धर्मसे बड़े हैं, यह शायद प्रिय बोलनेवाली तुमने मुझे खुश करनेके ही लिए कहा हो, नहीं तो आज उन्हें बनवास देनेके लिए तयार क्यों होती ॥१७॥ अतएव रामचन्द्रके अभिषेकका संवाद सुनकर तुम दुःखित हो गयी हो और मुझे भी दुःखित बना रही हो,

इक्ष्वाकूणां कुले देवि संप्राप्तः सुमहानयम् । अनयो नयसंपन्ने यत्र ते विकृता मतिः ॥१९॥
नहि किंचिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम । अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधामि ते ॥२०॥
ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना । बहुशो हि स्म बाले त्वं कथाः कथयसे मम ॥२१॥
तस्य धर्मात्मनो देवि वने वासं यशस्विनः । कथं रोचयसे भीरु नव वर्षाणि पञ्च च ॥२२॥
अत्यन्तसुकुमारस्य तस्य धर्मे कृतात्मनः । कथं रोचयसे वासमरण्ये भृशदारुणे ॥२३॥
रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने । तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम् ॥२४॥
रामो हि भरताद्भूयस्तव शुश्रूषते सदा । विशेषं त्वयि तस्मात्तु भरतस्य न लक्षये ॥२५॥
शुश्रूषां गौरवं चैव प्रमाणं वचनक्रियाम् । कस्तु भूयस्तरं कुर्यादन्यत्र पुरुषर्षभात् ॥२६॥
बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम् । परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते ॥२७॥
सान्त्वयन्सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा । गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवासिनः ॥२८॥
सत्येन लोकाञ्जयति द्विजान्दानेन राघवः । गुरूञ्छुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥२९॥
सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम् । विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥३०॥

दूसरोंके समझानेसे इस सूने घरमें (कोपभवनमें) बैठी हो ॥१८॥ नीतियुक्त इक्ष्वाकुकुलमें यह बहुत बड़ा नीतिविरुद्ध काम होने जा रहा है । (बड़ेके रहते छोटेको राज्याभिषेक), क्योंकि इस समय तुम्हारी बुद्धि विकृत हो गयी है, तुम्हें मर्यादाका ध्यान नहीं है ॥१९॥ विशालाक्षी, आजतक तुमने मेरा कुछ भी अपराध नहीं किया है, मेरी कोईभी बुराई नहीं की है, अतएव तुम्हारी इन बातोंपर विश्वास नहीं होता, भरतके लिए राज्य और रामके लिए वनवास, तुम्हारी इस बातको मैं सत्य नहीं समझता ॥२०॥ पहले बहुत बार बातचीतमें तुमने कहा है कि मुझे जैसे महात्मा भरत प्रिय हैं वैसेही राम ॥२१॥ भीरु, उन्हीं धर्मात्मा और यशस्वी रामचन्द्रका चौदह वर्षोंके लिए वनमें रहना कैसे अच्छा समझती हो ॥२२॥ धीर रामचन्द्र अत्यन्त सुकुमार हैं तथा धर्ममें श्रेष्ठ हैं, उनका भयानक वनमें रहना तुम कैसे अच्छा समझती हो ॥२३॥ सुनयने, जो रामचन्द्र तुम्हारी सेवा करते हैं उनको देशनिकाला देना, तुम क्यों पसन्द करती हो ॥२४॥ रामचन्द्र भरतसे अधिक तुम्हारी सेवा करते हैं, रामचन्द्रकी अपेक्षा अधिक भरत तुम्हारी सेवा करता है यह नहीं देखा गया है ॥२५॥ तुम्हारी सेवा, तुम्हारी प्रतिष्ठा, तुम्हारी श्रेष्ठता और तुम्हारे वचनोंका पालन पुरुषश्रेष्ठ रामचन्द्रके अतिरिक्त दूसरा कौन करेगा ॥२६॥ हजारों स्त्रियाँ हैं और अनेक नौकर हैं पर रामचन्द्रके सम्बन्धमें कोई भी परिवाद (सकारण निन्दा) या (निष्कारण निन्दा) नहीं सुना गया है ॥२७॥ रामचन्द्र सब प्राणियोंके साथ शुद्धचित्तसे व्यवहार करते हैं, और देशवासियोंका अभीष्ट पूरा करके उन्हें अपने वशमें करते हैं ॥२८॥ रामचन्द्र सत्यके द्वारा लोकको जीतते हैं, ब्राह्मणोंको दान द्वारा जीतते हैं, गुरुओंको (अपने बड़ोंको) सेवाके द्वारा तथा युद्धक्षेत्रमें शत्रुओंको धनुषके द्वारा जीतते हैं ॥२९॥ सत्य, दान (पारलौकिक कल्याणके लिए)

तस्मिन्नार्जवसंपन्ने देवि देवोपमे कथम् । पापमाशंससे रामे महर्षिसमतेजसि ॥३१॥
न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः । स कथं त्वत्कृते रामं वक्ष्यामि प्रियमप्रियम् ॥३२॥
क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता । अप्यहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम ॥३३॥
मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः । दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि ॥३४॥
पृथिव्यां सागरान्तायां यत्किंचिदधिगम्यते । तत्सर्वं तव दास्यामि मा च त्वं मृत्युमाविश ॥३५॥
अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते । शरणं भव रामस्य माऽधर्मो मामिह स्पृशेत् ॥३६॥
इति दुःखाभिसंतप्तं विलपन्तमचेतनम् । घूर्णमानं महाराजं शोकेन समभिप्लुतम् ॥३७॥
पारं शोकार्णवस्याशु प्रलपन्तं पुनः पुनः । प्रत्युवाचाथ कैकेयी रौद्रा रौद्रतरं वचः ॥३८॥
यदि दत्त्वा वरौ राजन्पुनः प्रत्यनुतप्यसे । धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि ॥३९॥
यदा समेता बहवस्त्वया राजर्षयः सह । कथयिष्यन्ति धर्मज्ञ तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि ॥४०॥
यस्याःप्रसादे जीवामि या च मामभ्यपालयत् । तस्याःकृता मया मिथ्या कैकेय्या इति वक्ष्यसि ॥४१॥
किल्बिषं त्वं नरेन्द्राणां करिष्यसि नराधिप । यो दत्त्वा वरमद्यैव पुनरन्यानि भाषसे ॥४२॥
शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ । अलर्कश्चक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥४३॥

तथा त्याग, मित्रता, शुद्धि ऋजुता, विद्या, गुरुशुश्रूषा ये रामचन्द्रमें अचल भावसे हैं ॥३०॥ देवि, फिर विनययुक्त देवोपम, महर्षियोंके समान तेजस्वी रामचन्द्रके विषयमें इस बुराईकी कामना क्यों करती हो, रामचन्द्रका अभिषेक न हो यह क्यों चाहती हो ॥३१॥ मुझे स्मरण नहीं है कि मैंने किसीको अप्रिय बात कही हो, फिर तुम्हारे लिए प्रिय रामचन्द्रको अप्रिय बात कैसे कहूँगा ॥३२॥ जिसमें क्षमा, तप, त्याग, सत्य, धर्म, कृतज्ञता और प्राणियोंकी अहिंसा वर्तमान है उस रामचन्द्रके बिना मेरी गति क्या है, मेरा रक्षक क्या (कौन) है ॥३३॥ केकयी, मैं वृद्ध हूँ मेरा समय भी अब समाप्त हुआ, मेरी अवस्था शोचनीय है, मैं तुम्हारे सामने गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करता हूँ, तुम मुझपर दया करो ॥३४॥ समुद्र पर्यन्त इस पृथिवीमें जो कुछ प्राप्त हो सकता है वह सब मैं तुम्हें दूँगा, तुम मृत्युकी ओर पैर न बढ़ाओ (अर्थात् तुम्हारे कहनेके अनुसार काम करनेपर तुम्हारी भी हानि होगी) ॥३५॥ केकयी मैं हाथ जोड़ता हूँ, तुम्हारे पैर छूता हूँ, रामचन्द्रकी रक्षा करो, जिससे मुझे अधर्म (प्रतिज्ञाभंग करनेका पाप) न हो ॥३६॥ इस प्रकार दुःखसे व्याकुल होकर राजा विलाप करते हैं, बेहोश हो जाते हैं, मनही मन कर्तव्य निश्चय करते हुए भ्रान्त हो रहे हैं, महाराज शोकसे विह्वल होगये हैं ॥३७॥ इस शोकके समुद्रके पार उतरनेकी बार-बार प्रार्थना करते हैं। उस समय भयंकर केकयी उनसे भयंकर वचन बोली ॥३८॥ राजन्, वर देकर अब आप पश्चाताप कर रहे हैं, फिर वीर, आप पृथिवीमें धार्मिक कैसे कहे जायेंगे ॥३९॥ जब अनेक राजर्षि आकर तुम्हारे साथ मिलेंगे और वे तुमको धर्मज्ञ कहेंगे, उस समय उनको क्या उत्तर दोगे ॥४०॥ "जिसकी कृपासे मैं जीता हूँ, जिसने मेरी रक्षा की, उस केकयीसे जो मैंने प्रतिज्ञा की थी उसका पालन नहीं किया" क्या ऐसा कहोगे ॥४१॥ राजन्, तुम अपने वंशज राजाओंके यशमें कलङ्क लगाओगे, क्योंकि आज ही वर देकर तुम उससे उलटा बोल रहे हो ॥४२॥ बाज और

सागरः समयं कृत्वा न वेलामतिवर्तते । समयं मानृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥४४॥
स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च । सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते ॥४५॥
भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम् । यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥४६॥
अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः । पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते ॥४७॥
एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम् । अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम ॥४८॥
भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप । यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात् ॥४९॥
एतावदुक्त्वा वचनं कैकेयी विरराम ह । विलपन्तं च राजानं न प्रतिव्याजहार सा ॥५०॥
श्रुत्वा तु राजा कैकेय्या वाक्यं परमशोभनम् । रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च ॥५१॥
नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्तं व्याकुलेन्द्रियः । प्रैक्षतानिमिषो देवीं प्रियामप्रियवादिनीम् ॥५२॥
तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम् । दुःखशोकमयीं श्रुत्वा राजा न सुखितोऽभवत् ॥५३॥
स देव्या व्यवसायं च घोरं च शपथं कृतम् । ध्यात्वा रामेऽतिनिःश्वस्य छिन्नस्तरुरिवापतत् ॥५४॥
नष्टचित्तो यथोन्मत्तो विपरीतो यथातुरः । हृततेजा यथा सर्पो बभूव जगतीपतिः ॥५५॥
दीनयातुरया वाचा इति होवाच कैकयीम् । अनर्थमिममर्थाभं केन त्वमुपदेशिता ॥५६॥

कबूतरकी लड़ाईमें राजा शिविने अपना माँस दिया था और अलर्कने अपनी आँखें देकर उत्तम गति पायी थी ॥४३॥ समुद्रोंकी मर्यादा है, इस कारण वे अपने तटका अतिक्रमण नहीं करते, तुमने भी प्रतिज्ञा की है, पहलेकी बातें स्मरण करके अपनी प्रतिज्ञा मत तोड़ो ॥४४॥ दुर्बुद्धि, तुम धर्म छोड़कर रामको राज्याभिषेक करके कौशल्याके साथ सदा रमण करना चाहते हो ॥४५॥ चाहे जो हो, धर्म हो या अधर्म, सत्य हो या असत्य, तुमने मुझसे जो प्रतिज्ञा की है उसमें रद्दोबदल नहीं हो सकता ॥४६॥ यदि तुमने रामचन्द्रका राज्याभिषेक किया तो यहीं तुम्हारे सामने तुम्हारे देखतेही देखते बहुतसा विष पीकर मर जाऊँगी ॥४७॥ रामकी माता राजमाता होनेपर सब लोगोंके प्रणामकी अञ्जलि ग्रहण करेगी, और मैं अकेली देखा करूँगी, इससे तो मेरा मरजाना ही अच्छा है ॥४८॥ महाराज, भरत और आपकी शपथ करके कहती हूँ कि रामचन्द्रके निर्वासनके बिना और किसी वस्तुसे मैं प्रसन्न नहीं हो सकूँगी ॥४९॥ ऐसा वचन बोलकर केकयी चुप हो गयी, राजा विलाप करते ही रहे, पर उसने कुछ उत्तर न दिया ॥५०॥ 'रामचन्द्रका वनवास और भरतका राज्याभिषेक' यह केकयीका परम अनुचित वचन सुनकर राजा ॥५१॥ थोड़ी देर तक केकयीसे कुछ भी न बोल सके, क्योंकि उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयी थीं, अपनी प्रिय पर अप्रियवादिनी, केकयीको एकटक देखते रहे ॥५२॥ हृदयको अप्रिय, दुःख शोकमयी वज्रके समान उस वाणीको सुनकर राजाने रामके सम्बन्धमें श्वाँस छोड़ा, दुःख प्रकाश किया और पुनः वे कटे वृक्षके समान गिर पड़े ॥५४॥ राजाके मनकी चेतना जाती रही, वे उन्मत्तके समान हो गये, रोगीके समान विपरीत प्रकृति और तेजहीन सर्पके समान वे हो गये ॥५५॥ दीन और आतुर वचनसे राजाने केकयीसे

भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे। शीलव्यसनमेतत्ते नाभिजानाम्यहं पुरा ॥५७॥
बालायास्तत्त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत्। कुतो वा ते भयं जातं या त्वमेवंविधं वरम् ॥५८॥
राष्ट्रे भरतमासीनं वृणीषे राघवं वने। विरमैतेन भावेन त्वमेतेनानृतेन च ॥५९॥
यदि भर्तुः प्रियं कार्यं लोकस्य भरतस्य च। नृशंसे पापसंकल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणि ॥६०॥
किं नु दुःखमलीकं वा मयि रामे च पश्यसि। न कथंचिदृते रामाद्भरतो राज्यमावसेत् ॥६१॥
रामादपि हितं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्। कथं वक्ष्यसि रामस्य वनं गच्छेति भाषिते ॥६२॥
मुखवर्णं विवर्णं तु यथैवेन्दुमुपप्लुतम्। तां तु मे सुकृतां बुद्धिं सुहृद्भिःसह निश्चिताम् ।६३।
कथं द्रक्ष्याम्यपावृत्तां परैरिव हतां चमूम्। किंमां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्भ्यःसमागताः ६४
बालो बतायमैक्ष्वाकश्चिरं राज्यमकारयत्। यदा हि बहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः ॥६५॥
परिप्रक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामीह कथं तदा। कैकेय्या क्लिश्यमानेन पुत्रःप्रव्राजितो मया ॥६६॥
यदि सत्यं ब्रवीम्येतत्तदसत्यं भविष्यति। किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते ६७
किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम्। यदा यदा च कौसल्या दासीव चसखीव च ।६८।
भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति। सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ॥६९॥

पूछा, तुमको इस अनर्थको किसने अर्थ बतलाया, इस अनिष्टको किसने इष्ट बतलाया ॥५६॥ भूत लगेके समान तुम मेरे सामने ऐसी बातें बोल रही हो, लज्जित नहीं होती हो, तुम्हारे शीलका इतना नाश हुआ है यह बात मैं पहले नहीं जानता था ॥५७॥ बाल्यावस्थामें तो तुम बड़ी शीलवती थी, पर इस समय वह सब उलटा देख रहा हूँ, तुम्हें किस बातसे आशङ्का हुई जिससे ऐसा वर माँग रही हो ॥५८॥ भरतको राज्यपर बैठाना और रामचन्द्रको वनमें भेजना चाहती हो। इस भावको त्याग करो इससे मुझे झूठा बनना पड़ेगा। क्योंकि मैं तुम्हारे कहनेके अनुसार काम न करूँगा ॥५९॥ अरे क्रूर, पाप चाहनेवाली, ओछे विचारोंवाली पापिन यदि तू अपने पतिका, लोकका और भरतका कल्याण चाहती है तो अपने इस विचारको छोड़ ॥६०॥ रामचन्द्रमें या मुझमें तू कौनसा दुःखका कारण या अपराध देखती है। रामचन्द्रके विना भरत कभी राज्य-ग्रहण न करेगा ॥६१॥ क्योंकि वह रामचन्द्रसे भी बढ़कर धर्मात्मा है। 'वन जाइये' यह वाक्य तुम भी रामचन्द्रसे कैसे कह सकोगी ॥६२॥ 'वन जाइये' यह कहनेपर राहुग्रस्त चन्द्रमाके समान अपना उतरा मुँह मैं कैसे देखूँगा। बहुत विचारके पश्चात् मैंने यह निश्चय किया है, मित्रोंसे भी सम्मति ले ली है, अब यदि मैं हटूँ तो रणक्षेत्रसे भागी सेनाके समान देशदेशान्तरोंसे आये हुए राजा मेरी बुद्धिको क्या कहेंगे। वे तो यही कहेंगे न कि इसकी बुद्धि और यह दोनों ही नष्ट हैं ॥६३–६४॥ बालक रामचन्द्र कैसा राज्य-पालन करते हैं, गुणवान् और बहुश्रुत अनेक वृद्ध आकर हमसे रामचन्द्रके सम्बन्धमें पूछेंगे तो मैं क्या कहूँगा? यही न कि केकयीके आग्रहसे मैंने पुत्रको वन भेज दिया है ॥६५–६६॥ यदि मैं यह सत्य कहूँ तो मेरी पहलेकी बात असत्य होगी, मैंने पहले रामचन्द्रको राज्य देनेका निश्चय किया था यदि रामचन्द्र वन जायँ तो कौशल्या मुझे क्या कहेगी ॥६७॥ उसका इतना अप्रिय काम करके मैं उसे क्या उत्तर दूँगा, वह दासीके समान, मित्रके समान, स्त्रीके

न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव । इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं त्वयि ॥७०॥
अपथ्यव्यञ्जनोपेतं भुक्तमन्नमिवातुरम् । विप्रकारं च रामस्य संप्रयाणं वनस्य च ॥७१॥
सुमित्रा प्रेक्ष्य वै भीता कथं मे विश्वसिष्यति । कृपणं बत वैदेही श्रोष्यति द्वयमप्रियम् ॥७२॥
मां च पञ्चत्वमापन्नं रामं च वनमाश्रितम् । वैदेही बत मे प्राणाञ्छोचन्ती क्षपयिष्यति ॥७३॥
हीना हिमवतः पार्श्वे किंनरेणेव किंनरी । नहि राममहं दृष्ट्वा प्रवसन्तं महावने ॥७४॥
चिरं जीवितुमाशंसे रुदन्तीं चापि मैथिलीम् । सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥७५॥
सतीं त्वामहमत्यन्तं व्यवस्याम्यसतीं सतीम् । रूपिणीं विषसंयुक्तां पीत्वेव मदिरां नरः ॥७६॥
अनृतैर्बत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे । गीतशब्देन संरुध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ॥७७॥
अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायकं ध्रुवम् । विकरिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा ॥७८॥
अहो दुःखमहो कृच्छ्रं यत्र वाचः क्षमे तव । दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुरा कृतमिवाशुभम् ॥७९॥
चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता । अज्ञानादुपसंपन्ना रज्जुरुद्बन्धनी यथा ॥८०॥

समान और माताके समान सदा व्यवहार करती आयी है, सर्वाधिक पुत्रको प्रिय समझनेवाली और प्रिय बोलनेवाली कौशल्याने सदा मेरे प्रिय काम किये हैं ॥६८–६९॥ देवी कौशल्या सत्कार करनेके योग्य हैं, पर तुम्हारे कारणसे तुम्हारे भयसे मैंने उनका सत्कार नहीं किया और तुम्हारा सत्कार किया । आज इतना मुझे इस बातसे कष्ट हो रहा है ॥७०॥ अपथ्य साग–तरकारीके साथ अन्न खानेसे रोगीका रोग दूसरा रूप धारण करता है, उसी प्रकार तुम्हारा सम्मान करनेहीके कारण आज रामचन्द्रको वनजाना पड़ता है ॥७१॥ सुमित्रा भी डर जायगी और मुझपर विश्वास नहीं करेगी, और सीता कष्टकी दो बातें सुनेगी– ॥७२॥ एकतो मेरी मृत्यु और दूसरी रामचन्द्रका वन जाना । सीता मुझे प्राणोंसे भी प्रिय है, वह शोकके कारण दुर्बल हो जायगी ॥७३॥ जिस प्रकार हिमवानकी तराईमें अपने स्वसुर किन्नरसे हीन किन्नरीकी दशा होती है वैसीही उसकी दशा हो जायगी । वन जानेके लिए प्रस्थान करते हुए रामचन्द्रको देखकर ॥७४॥ और रोती हुई सीताको देखकर मैं बहुत दिनोंतक अपने जीनेकी आशा नहीं करता । उस समय तुम विधवा होकर अपने पुत्रसे राज चलवाओगी ॥७५॥ पापिनी, तुमको मैंने सती समझा, तुम्हारा रूप देखकर मैंने तुम्हें सदा अपने पास रखा, जिस प्रकार विष मिली मदिरा पीकर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है और निर्णय करनेमें गलती करता है, उसी प्रकार ॥७६॥ झूठे प्रलोभनके वचनोंसे मुझे भुलावा देनेके लिऐ तुम बातें किया करती थी, जिस प्रकार व्याध मधुर गीतके द्वारा मृगाको लुभाकर मार डालता है, उसी प्रकार तुमने भी मुझे मारा ॥७७॥ आर्य-श्रेष्ठ चरित्रवाले अवश्य मुझे अनार्य कहेंगे, क्योंकि मैंने पुत्र बेचकर स्त्रीसुख पाया है । शराब पीनेवाले ब्राह्मणको जिस तरह मार्गमें लोग चिढ़ाते हैं उसी तरह मुझे भी चिढ़ावेंगे ॥७८॥ ओह, दुःख है, जो वरके विषयमें मैंने तुम्हारी बात मान ली । पूर्वजन्मके कृत पापके फल-स्वरूप यह दुःख मुझे आज प्राप्त हुआ है ॥७९॥ मुझ पापीने बहुत दिनोंसे पापिनी तुम्हारी रक्षा की और अज्ञानके कारण गले लगाया, आज वही तुम फाँसीकी रस्सी हो

रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये । बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम् ॥८१॥
तं तु मां जीवलोकोऽयं नूनमाक्रोष्टुमर्हति । मया ह्यपितृकः पुत्रः स महात्मा दुरात्मना ॥८२॥
बालिशो बत कामात्मा राजा दशरथो भृशम् । स्त्रीकृते यः प्रियं पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति ॥८३॥
वेदैश्च ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्शितः । भोगकाले महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते ॥८४॥
नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम् । स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति ॥८५॥
यदि मे राघवः कुर्याद्वनं गच्छेति चोदितः । प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वत्सः करिष्यति ॥८६॥
राघवे हि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम् । मृत्युरक्षमणीयं मां नयिष्यति यमक्षयम् ॥८७॥
मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुंगवे । इष्टे मम जने शेषे किं पापं प्रतिपत्स्यसे ॥८८॥
कौसल्यां मां च रामं च पुत्रौ च यदि हास्यति । दुःखान्यसहती देवी मामेवानुगमिष्यति ॥८९॥
कौसल्यां च सुमित्रां च मां च पुत्रैस्त्रिभिः सह । प्रक्षिप्य नरके सा त्वं कैकेयी सुखिता भव ॥९०॥
मया रामेण च त्यक्तं शाश्वतं सत्कृतं गुणैः । इक्ष्वाकुकुलमक्षोभ्यमाकुलं पालयिष्यसि ॥९१॥
प्रियं चेद्भरतस्यैतद्रामप्रव्राजनं भवेत् । मा स्म मे भरतः कार्षीत्प्रेतकृत्यं गतायुषः ॥९२॥

गयी हो ॥८०॥ मैं तुम्हारे साथ रमण किया करता था, पर तुम मेरी मृत्यु हो, यह नहीं जानता था, जिस प्रकार बालक एकान्तमें काले साँपसे खेलकर अपनी मृत्यु बुलाता है उसी प्रकार मैंने भी तुम्हारा साथ किया ॥८१॥ तुममें अनुराग रखनेके कारण यह समस्त संसार अवश्यही मेरी निन्दा करेगा, कहेगा कि दुरात्मा दसरथने अपने महात्मा पुत्रको पितृहीन बना दिया, स्वयं रहकर भी पिताका कर्तव्य न किया ॥८२॥ और कहेगा, राजा दसरथ मूर्ख है और कामी है, जिसने स्त्रीके लिए अपने प्रिय पुत्रको वन भेजा ॥८३॥ रामचन्द्र बड़े कठिन ब्रह्मचर्यके नियमों और व्रतोंके पालनसे बहुत दुर्बल हो गये हैं, अब भोगके समय, गृहस्थ बननेके समय, पुनः उन्हें इतना बड़ा कष्ट सहना पड़ा ॥८४॥ मेरा पुत्र रामचन्द्र मेरी बातोंके उत्तरमें कोई दूसरी बात नहीं कहता, मैं जो कहता हूँ वह मान लेता है । वन जानेके लिए जब मैं कहूँगा तब वह अवश्य ही मेरी बात मान लेगा ॥८५॥ यदि मैं रामचन्द्रसे कहूँ कि वनजाओ और वह मेरी यह बात न माने तो उसका यह कार्य मुझे प्रिय हो, पर मेरा बेटा ऐसा करेगा नहीं ॥ ८६ ॥ रामचन्द्रके वन जानेपर सब लोग मुझे धिक्कारेंगे, और इस अपमानको न सह सकनेके कारण मृत्यु मुझे यमराजके घर ले जायगी ॥८७॥ मेरे मरनेपर और पुरुषश्रेष्ठ रामचन्द्रके वन जानेपर बचे हुए मेरे प्रिय जनोंपर तुम कैसा-कैसा अत्याचार करोगी ॥८८॥ मुझसे और पुत्र रामचन्द्रसे कौशल्या हीन हो जायगी और सुमित्रा अपने दोनों पुत्रोंसे हीन हो जायगी, इस दुःखको न सह सकनेके कारण वे दोनों कौशल्या और सुमित्रा, मेराही अनुगमन करेंगी अर्थात् मर जायँगी ॥८९॥ राम लक्ष्मण और शत्रुघ्न तीनों पुत्रोंके साथ कौशल्या और सुमित्रा और मुझे नरकके समान दुःखमें डालकर केकयी तुम सुखी होओ ॥९०॥ कुल-परंपरासे आया हुआ, और गुणवानोंके द्वारा प्रशंसित तथा सुव्यवस्थित इस इक्ष्वाकु कुलका पालन जो मेरे और रामचन्द्रके अभावमें अव्यवस्थित हो गया है तुम पालन करोगी ॥९१॥ रामचन्द्रका यह

मृते मयि गते रामे वनं पुरुषपुंगवे । सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥९३॥
त्वं राजपुत्रि दैवेन न्यवसो मम वेश्मनि । अकीर्तिश्चातुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे ॥
सर्वभूतेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा ॥९४॥
कथं रथैर्विभुर्यात्वा गजाश्वैश्च मुहुर्मुहुः । पद्भ्यां रामो महारण्ये वत्सो मे विचरिष्यति ॥९५॥
यस्य चाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः । अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रसन्नाः पानभोजनम् ॥९६॥
स कथं नु कषायाणि तिक्तानि कटुकानि च । भक्षयन्वन्यमाहारं सुतो मे वर्तयिष्यति ॥९७॥
महार्हवस्त्रसंवद्धो भूत्वा चिरसुखोचितः । काषायपरिधानस्तु कथं रामो भविष्यति ॥९८॥
कस्येदं दारुणं वाक्यमेवंविधमपीरितम् । रामस्यारण्यगमनं भरतस्याभिषेचनम् ॥९९॥
धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपरायणाः । न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम् ॥१००॥

अनर्थभावेऽर्थपरे नृशंसे ममानुतापाय निवेशितासि ।
किमप्रियं पश्यसि मन्निमित्तं हितानुकारिण्यथवापि रामे ॥१०१॥
परित्यजेयुः पितरोऽपि पुत्रान्भार्याः पतींश्चापि कृतानुरागाः ।
कृत्स्नं हि सर्वं कुपितं जगत्स्याद्दृष्ट्वैव रामं व्यसने निमग्नम् ॥१०२॥
अहं पुनर्देवकुमाररूपमलंकृतं तं सुतमाव्रजन्तम् ।
नन्दामि पश्यन्निव दर्शनेन भवामि दृष्ट्वैव पुनर्युवेव ॥१०३॥

वन जाना यदि भरतको भी प्रिय हो तो मेरी मृत्युके पश्चात् भरत मेरा प्रेतकृत्य न करे ॥९२॥ मेरे मरनेपर और रामचन्द्रके वन जानेपर विधवा तुम पुत्रके साथ राज्य करना ॥९३॥ राजपुत्रि, दैववश तुमने मेरे घरमें निवास किया, अतएव लोकमें मेरा अयश और मेरा परिभव होगा और पापियोंके समान सब प्राणियोंमें मेरा तिरस्कार होगा ॥९४॥ रामचन्द्र रथ घोड़े और हाथीपर आजतक चलते रहे अब वे ही वत्स रामचन्द्र भयानक वनमें पैदल विचरण करेंगे ॥९५॥ जिसके भोजनके लिए कुण्डल धारण करनेवाले पाचक प्रसन्नता पूर्वकपरस्पर उत्साहसे पान और भोजनकी सामग्री तयार करते थे ॥९६॥ वेही मेरे बेटे रामचन्द्र, कसैले, तीते और कड़ुए बनैला भोजन करके समय बितावेंगे ॥९७॥ रामचन्द्र दामी वस्त्र पहनते थे और वे सदा सुख पानेके योग्य हैं भी, वेही रामचन्द्र गेरुए वस्त्र कैसे धारण करेंगे ॥ ९८ ॥ रामको वन जाना होगा और भरतका अभिषेक होगा ऐसा कठोर वचन कहनेका उपदेश तुम्हें किसने किया ॥९९॥ स्वार्थ-परायण शठ स्त्री जातिको धिक्कार ! मैं, केवल भरतकी माताके सम्बन्धमें ही ऐसा कहता हूँ सभी स्त्रियोंके लिए नहीं ॥१००॥ केकयी, तुम स्वार्थिन हो और अनर्थ करने पर तयार हुई हो अर्थात् तुम जो काम करना चाहती हो उससे औरोंको तो लाभ होगा नहीं, तुम्हें भी लाभ न होगा। तुम बड़ीही क्रूर हो । मुझे दुःख देनेहीके लिए तुम्हारे मनमें यह बात आयी है । तुम मेरी हितकारिणी बनती हो । मेरे कारण तुम्हें क्या कष्ट हो रही है, अथवा रामचन्द्रमें ही तुम्हें कौन बुराई दीख पड़ती है, बोलो ॥१०१॥ रामचन्द्रको दुःखमें पड़ा देखकर जगत्के सब लोग क्रोध करेंगे, स्नेह रखनेवाले पिता भी अपने पुत्रोंको छोड़ देंगे, और स्त्रियाँ अपने-अपने पति छोड़ देंगी ॥१०२॥ देवकुमारोंके समान सुन्दर

विना हि सूर्येण भवेत्प्रवृत्तिरवर्षता वज्रधरेण वापि।
रामं तु गच्छन्तमितः समीक्ष्य जीवेन्न कश्चित्त्विति चेतना मे ॥१०४॥
विनाशकामामहिताममित्रामावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम्।
चिरं बताङ्केन धृतासि सर्पी महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात् ॥१०५॥
मया च रामेण सलक्ष्मणेन प्रशास्तु हीनो भरतस्त्वया सह।
पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान्ममाहितानां च भवाभिभाषिणी ॥१०६॥
नृशंसवृत्ते व्यसनप्रहारिणि प्रसह्य वाक्यं यदिहाद्य भाषसे।
न नाम ते तेन मुखात्पतन्त्यधो विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा ॥१०७॥
न किंचिदाहाहितमप्रियं वचो न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम्।
कथं तु रामे ह्यभिरामवादिनि ब्रवीषि दोषान्गुणनित्यसंमते ॥१०८॥
प्रताम्य वा प्रज्वल वा प्रणश्य वा सहस्रशो वा स्फुटितां महीं व्रज।
न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं समाहितं केकयराजपांसने ॥१०९॥
क्षुरोपमां नित्यमसत्प्रियंवदां प्रदुष्टभावां स्वकुलोपघातिनीम्।
न जीवितुं त्वां विषहेऽमनोरमां दिधक्षमाणां हृदयं सबन्धनम् ॥११०॥

तथा अलंकारोंसे भूषित मतवाले हाथीके समान आते हुए रामचन्द्रको जब मैं सोचता हूँ, जब उनका ध्यान करता हूँ, तब बड़ाही आनन्दित होता हूँ, और जब मैं उन्हें देखता हूँ तब पुनः युवाके समान हो जाता हूँ ॥१०३॥ सूर्यके बिना भी लोकव्यवहार हो सकता है और वृष्टिके बिना भी लोकव्यवहार हो सकता है, पर रामचन्द्र अयोध्यासे वनमें जारहे हैं, यह देखकर कोई भी अयोध्यावासी न जीयेगा, ऐसी मेरी धारणा है ॥१०४॥ तुम मेरा नाश चाहनेवाली हो, अहित चाहनेवाली हो, तुम मेरी शत्रु हो, मैंने तुमको मृत्युके समान अपने घरमें रखा, भयङ्कर विषवाली साँपिनको मैंने अज्ञानसे अङ्कमें धारण किया और इसी कारण आज मैं मारा जाता हूँ ॥१०५॥ मेरे राम और लक्ष्मणके अभावमें भरत तुम्हारे साथ नगर और राज्यका शासन करें। तुम अपने बान्धवोंको मारकर मेरे शत्रुओंसे अनुराग करो ॥१०६॥ अरे क्रूर व्यवहार करनेवाली और विपत्तिके समय प्रहार करनेवाली, तुम हमारी स्त्री हो इस बातको भूलकर बलपूर्वक जो बातें कह रही हो, उससे तुम्हारे दाँत हजारों टुकड़े होकर तुम्हारे मुँहसे नहीं गिरजाते इसीका आश्चर्य है ॥१०७॥ रामचन्द्र कठोर वचन बोलना जानते ही नहीं, अतएव विरुद्ध और अप्रिय वचन उन्होंने नहीं कहा है। प्रिय बोलनेवाले गुणवान् रामचन्द्रको तुम क्यों दोष देती हो ॥१०८॥ तुम चाहे जितना दुख करो, आगसे जलो, फाँसी लगाकर मरो, सिर फोड़ो या गढ़ा खोदकर पृथ्वीमें जाओ पर ऐ केकयराजकी कलङ्कभूते, मैं तुम्हारा यह कठोर वचन कभी न करूँगा ॥१०९॥ छूरेके समान साथ रहनेवालेको तुम काटनेवाली हो, तुम दुर्जन हो और प्रिय बोलनेवाली हो तुम्हारे भाव दुष्ट

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं विनात्मजेनात्मवतां कुतो रतिः ।
मर्माहितं देवि न कर्तुमर्हसि स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे ॥१११॥
स भूमिपालो विलपन्ननाथवत्स्त्रिया गृहीतो हृदयेऽतिमात्रया ।
पपात देव्याश्चरणौ प्रसारितावुभावसंप्राप्य यथातुरस्तथा ॥११२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥१२॥

त्रयोदशः सर्गः १३

अतदर्हं महाराजं शयानमतथोचितम् । ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात्परिच्युतम् ॥१॥
अनर्थरूपसिद्धार्था ह्यभीता भयदर्शिनी । पुनराकारयामास तमेव वरमङ्गना ॥२॥
त्वं कत्थसे महाराज सत्यवादी दृढव्रतः । मम चेदं वरं कस्माद्विधारयितुमिच्छसि ॥३॥
एवमुक्तस्तु कैकेय्या राजा दशरथस्तदा । प्रत्युवाच ततः क्रुद्धो मुहूर्तं विह्वलन्निव ॥४॥
मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुंगव । हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा सुखिनी भव ॥५॥
स्वर्गेऽपि खलु रामस्य कुशलं दैवतैरहम् । प्रत्यादेशादभिहितं धारयिष्ये कथं बत ॥६॥

हैं और तुम अपने कुलकाही नाश करनेवाली हो, मैं तुम्हारा जीवित रहना नहीं चाहता, क्योंकि तुम मनको प्रिय नहीं हो और बन्धनके साथ मेरे हृदयको जला रही हो ॥११०॥ अपनेसे प्रेम रखनेवाले पुत्रके बिना मेरा जीना सम्भव नहीं, फिर सुखकी आशा कैसी और तुम्हारे प्रति अनुरागकी ही कौन बात? देवि तुम मेरा अकल्याण न करो, मैं तुम्हारे चरण छूता हूँ, मुझपर प्रसन्न होओ ॥१११॥ दृढ़ निश्चयवाली स्त्रीने राजाका कलेजा इस प्रकार पकड़ा था कि वे अनाथके समान विलाप करने लगे, और फैलाये हुए केकयीके चरण न पाकर आतुरके समान वे गिर पड़े ॥११२॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥१२॥

राजा दसरथ जमीनपर पड़े थे, पर यद्यपि यह उनके योग्य न था, और न उस प्रकारके शोकका अनुभव करना ही उनके योग्य था, फिर भी वे उस दशामें थे, पुण्यके समाप्त हो जानेसे देवलोकसे गिरे ययातिके समान वे मालूम पड़ते थे ॥१॥ ऐसे राजाको लक्ष्य करके केकयी पुनः बोली। वह राजाके इच्छाके विरुद्ध अपना मनोरथ सिद्ध करना चाहती थी, पर उसका मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ था, वह अपने मनोरथकी सिद्धिके लिए सब कुछ करनेको तयार थी, उसे किसी प्रकारका भय न था, यदि कोई भय था तो रामचन्द्रसे भरतके अनिष्ट होनेका भय था ॥२॥ महाराज, आप सत्यवादी हैं, अपनी प्रतिज्ञा पालन करनेमें दृढ़ हैं, इस बातको सब लोग जानते हैं, फिर आपने जो वर मुझे दे रक्खे हैं, उन्हें रोक रखना क्यों चाहते हैं ॥३॥ केकयीने राजा दसरथसे जब यह कहा तब वे पुनः थोड़ी देरके लिए मूर्च्छितसे होकर बड़े क्रोधसे बोले ॥४॥ मैं जब मर जाऊँगा और पुरुषश्रेष्ठ रामचन्द्र जब वनमें चले जाँयगे, उस समय तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा, क्योंकि तुम उत्तम विचारवाली नहीं हो और मेरी शत्रु हो, उस समय तुम सुखी होना ॥५॥ मेरे स्वर्ग जानेपर देवता रामचन्द्रकी कुशल मुझसे पूछेंगे,

कैकेय्याः प्रियकामेन रामः प्रव्राजितो वनम् । यदि सत्यं ब्रवीम्येतत्तदसत्यं भविष्यति ॥ ७ ॥
अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान् । रामो लब्धो महातेजाः स कथं त्यज्यते मया ॥ ८ ॥
शूरश्च कृतविद्यश्च जितक्रोधः क्षमापरः । कथं कमलपत्राक्षो मया रामो विवास्यते ॥ ९ ॥
कथमिन्दीवरश्यामं दीर्घबाहुं महाबलम् । अभिराममहं रामं स्थापयिष्यामि दण्डकान् ॥१०॥
सुखानामुचितस्यैव दुःखैरनुचितस्य च । दुःखं नामानुपश्येयं कथं रामस्य धीमतः ॥११॥
यदि दुःखमकृत्वा तु मम संक्रमणं भवेत् । अदुःखार्हस्य रामस्य ततः सुखमवाप्नुयाम् ॥१२॥
नृशंसे पापसंकल्पे रामं सत्यपराक्रमम् । किं विप्रियेण कैकेयि प्रियं योजयसे मम ॥१३॥
अकीर्तिरतुला लोके ध्रुवं परि भविष्यति । तथा विलपतस्तस्य परिभ्रमितचेतसः ॥१४॥
अस्तमभ्यागमत्सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत । सा त्रियामा तदार्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता ॥१५॥
राज्ञो विलपमानस्य न व्यभासत शर्वरी । सदैवोष्णं विनिःश्वस्य वृद्धो दशरथो नृपः ॥१६॥
विललापार्तवद्दुःखं गगनासक्तलोचनः । न प्रभातं त्वयेच्छामि निशे नक्षत्रभूषिते ॥१७॥
क्रियतां मे दया भद्रे मयायं रचितोऽञ्जलिः । अथवा गम्यतां शीघ्रं नाहमिच्छामि निर्घृणाम्॥१८॥

उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ? रामचन्द्रको मैंने चौदह वर्षों के लिए वनवास दिया है, ऐसा कहूँगा तो इसके बाद देवता इस सम्बन्धमें मुझसे जो कहेंगे उसको कैसे सह सकूँगा ॥६॥ यदि मैं यह कहूँ कि केकयीको प्रसन्न करनेके लिए मैंने रामचन्द्रको वन भेजा है, मेरा यह उत्तर सत्य होगा पर दूसरी बात असत्य हो जायगी, अर्थात् अभिषेककी प्रतिज्ञा करके भी मैंने अभिषेक नहीं किया ॥७॥ मैं पुत्रहीन था, बड़े परिश्रमसे रामचन्द्रके समान तेजस्वी श्रेष्ठ पुत्र मैंने पाया, उस रामका त्याग मैं कैसे कर सकता हूँ ॥ ८ ॥ रामचन्द्र शूर हैं, विद्वान् हैं, क्रोध करनेके स्थानमें भी क्रोध नहीं करते, दयावान् हैं, उन कमलनयन रामचन्द्रका निर्वासन मैं कैसे कर सकूँगा ॥९॥ नील-कमलके समान श्यामवर्ण, आजानुबाहु, महाबली और आँखों तथा मनको प्रिय रामचन्द्रको मैं दण्डकारण्य कैसे भेजूँगा ॥१०॥ रामचन्द्र किसी प्रकार भी दुःख पानेके योग्य नहीं हैं, किन्तु उन्हें सब प्रकारसे सुख मिलना चाहिए, फिर बुद्धिमान् रामचन्द्रका दुःख मैं कैसे देखूँगा ॥११॥ रामचन्द्र दुःख पानेके योग्य नहीं हैं उनको बिना दुःख दिये ही यदि मैं यहाँसे स्वर्ग चला जाऊँ तो मैं सुखी होऊँगा ॥१२॥ अरे झूठ और बुरे अभिप्राय रखनेवाली केकयी, सत्य पराक्रमी रामचन्द्र मेरे प्रिय है, तू उनसे मेरा वियोग क्यों करा रही है ॥१३॥ रामचन्द्र-का राज्याभिषेक प्रतिज्ञा करके भी न करनेसे संसारमें बड़ी अकीर्ति होगी, लोग स्त्रीजित कहकर मेरी निन्दा करेंगे । राजा दसरथ इसी प्रकार विलाप करने लगे, उनका चित्त व्याकुल हो गया ॥१४॥ उसी समय सूर्यास्त हुआ और रात आयी, वह रात्रि चन्द्रमाके प्रकाशसे प्रकाशित थी, फिर भी दुःखी ॥१५॥ और विलाप करते हुए राजाके लिए प्रकाशमान न थी । राजा दसरथ बराबर गरम-गरम सांसे ले रहे थे ॥१६॥ किसी बड़े रोगसे पीड़ित मनुष्यके समान राजा दसरथ दुःखपूर्वक विलाप कर रहे थे, वे आकाशकी ओर देख रहे थे, राजाने रातको सम्बोधन करके कहा—हे नक्षत्रोंसे सुशोभित रात्रि, मैं नहीं चाहता कि तुम्हारी समाप्तिके बाद प्रातःकाल हो ॥१७॥ मैं हाथ जोड़ता हूँ, मुझपर कृपा करो,

नृशंसां केकयीं द्रष्टुं यत्कृते व्यसनं मम । एवमुक्त्वा ततो राजा कैकेयीं संयताञ्जलिः ॥१९॥
प्रसादयामास पुनः कैकेयीं राजधर्मवित् । साधुवृत्तस्य दीनस्य त्वद्गतस्य गतायुषः ॥२०॥
प्रसादः क्रियतां भद्रे देवि राज्ञो विशेषतः । शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुपाहृतम् ॥२१॥
कुरु साधुप्रसादं मे बाले सहृदया ह्यसि । प्रसीद देवि रामो मे त्वद्दत्तं राज्यमव्ययम् ॥२२॥
लभतामसितापाङ्गे यशः परमवाप्स्यसि । मम रामस्य लोकस्य गुरूणां भरतस्य च ॥
प्रियमेतद्गुरुश्रोणि कुरु चारुमुखेक्षणे ॥२३॥

विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा दीनस्य ताम्राश्रुकलस्य राज्ञः ।
श्रुत्वा विचित्रं करुणं विलापं भर्तुर्नृशंसा न चकार वाक्यम् ॥२४॥
ततः स राजा पुनरेव मूर्च्छितः प्रियामतुष्टां प्रतिकूलभाषिणीम् ।
समीक्ष्य पुत्रस्य विवासनं प्रति क्षितौ विसंज्ञो निपपात दुःखितः ॥२५॥
इतीव राज्ञो व्यथितस्य सा निशा जगाम घोरं श्वसतो मनस्विनः ।
विबोध्यमानः प्रतिबोधनं तदा निवारयामास स राजसत्तमः ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

अथवा तुम जाओ, और शीघ्र जाओ, मैं निर्दय केकयीको, ॥१८॥ इस क्रूर केकयीको देखना नहीं चाहता, जिस केकयीके कारण इस समय मुझे यह दुःख उठाना पड़ रहा है । इतना कहकर हाथ जोड़कर पुनः केकयीको ॥१९॥ राजधर्म जाननेवाले राजा प्रसन्न करने लगे । देवि, भद्रे, जिसने छलकपट नहीं किया, जो दीन है और इस समय तुम्हारे वशमें है और जिसकी आयु भी बहुत थोड़ी अवशिष्ट है ॥२०॥ उस राजापर तुम प्रसन्न होओ । मैंने यह जो कुछ कहा है वह शून्यमें नहीं कहा है, किन्तु तुमसे कहा है और तुमको चाहिए कि मैंने जो कुछ कहा है उसपर उदारतासे विचार करो, यह राजा दशरथका अभिप्राय है ॥२१॥ बाले, तुमतो सहृदय हो, दूसरोंके दुःख-सुख समझनेवाली हो, अतः तुम मुझपर प्रसन्न हो जाओ । जो राज्य मैंने तुमको दिया है वह अचल राज्य रामको मिल जाय ॥२२॥ असितापाङ्गे (काली पपनीवाली) इस तरह तुम्हारी बड़ी कीर्ति होगी, हे सुन्दरमुख और आँखोंवाली, हे गुरुश्रोणि (गुरुका यहाँ विशाल अर्थ है और श्रोणिका अर्थ है कमरके नीचेका भाग) मेरा, रामका, प्रजाका, वशिष्ठ आदि गुरुओंका तथा भरतका यही प्रिय है और तुम यह करो ॥२३॥ दुष्ट अभिप्राय रखनेवाली और झूठी केकयीने छलकपट-रहित दीन तथा अत्यन्त विलाप करनेसे लाल, आँसूसे भरी आँखोंवाले पतिका अद्भुत और दयनीय विलाप सुनकर भी उनके वचनका पालन नहीं किया ॥२४॥ केकयी अब भी प्रसन्न न हुई, वह प्रतिक्षण बोलती ही रही, रामचन्द्रको वन भेजनेकी जिद उसने नहीं छोड़ी, इससे वे मूर्च्छित होकर, चेष्टारहित होकर पृथिवीपर गिर पड़े ॥२५॥ इस प्रकार मनस्वी, पर इस समय दुःखी राजा दशरथने उस भयानक रातको साँस लेते हुए बड़े दुःखसे बिताया । प्रातःकाल राजाको जगानेके लिए गान-वाद्य जब होने लगा तब राजाने उसे रोक दिया ॥२६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥१३॥

चतुर्दशः सर्गः १४

पुत्रशोकार्दितं पापा विसंज्ञं पतितं भुवि । विचेष्टमानमुत्प्रेक्ष्य ऐक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
पापं कृत्वेव किमिदं मम संश्रुत्य संश्रवम् । शेषे क्षितितले सन्नः स्थित्यां स्थातुं त्वमर्हसि ॥ २ ॥
आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः । सत्यमाश्रित्य च मया त्वं धर्मं प्रतिचोदितः ॥ ३ ॥
संश्रुत्य शैब्यः श्येनाय स्वां तनुं जगतीपतिः । प्रदाय पक्षिणे राजा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४ ॥
तथा ह्यलर्कस्तेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे । याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ ॥ ५ ॥
सरितां तु पतिः स्वल्पां मर्यादां सत्यमन्वितः । सत्यानुरोधात्समये वेलां स्वां नातिवर्तते ॥ ६ ॥
सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः । सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम् ॥ ७ ॥
सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः । स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सत्तम ॥ ८ ॥
धर्मस्यैवाभिकामार्थं मम चैवाभिचोदनात् । प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम् ॥ ९ ॥
समयं च ममार्येमं यदि त्वं न करिष्यसि । अग्रतस्ते परित्यक्ता परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १० ॥
एवं प्रचोदितो राजा कैकेय्या निर्विशङ्कया । नाशकत्पाशमुन्मोक्तुं बलिरिन्द्रकृतं यथा ॥ ११ ॥
उद्भ्रान्तहृदयश्चापि विवर्णवदनोऽभवत् । स धुर्यो वै परिस्पन्दन्युगचक्रान्तरं यथा ॥ १२ ॥

पुत्र-शोकसे दुःखी राजा दशरथ बेहोश होकर जमीनपर पड़े थे, वे छटपटा रहे थे, राजाको इस अवस्थामें देखकर पापिन केकयी बोली ॥१॥ दो वर देनेकी प्रतिज्ञा की और इस समय दुःखी होकर आप पृथिवीपर पड़े हुए हैं, क्या आप इसे पाप समझ रहे हैं? आपकोही चाहिए कि सत्यकी मर्यादा पालन करनेके लिए आप स्थिर रहें ॥२॥ धर्म-रहस्य जाननेवाले मनुष्य सत्यको ही श्रेष्ठ धर्म कहते हैं और उसी सत्यरूप धर्मके पालनके लिए ही मैं आपसे आग्रह कर रही हूँ ॥३॥ राजा शिविने अपना शरीर श्येन पक्षीको देनेकी प्रतिज्ञा की और उन राजाने शरीर देकर उत्तम गति पायी ॥४॥ इसी प्रकार तेजस्वी अलर्कने वेदपराग ब्राह्मणको अपने दोनों नेत्र देनेकी प्रतिज्ञा की, क्योंकि उसने उनके नेत्र माँगे थे। राजाने प्रसन्नता पूर्वक उसको अपने नेत्र दे दिये ॥५॥ समुद्रकी मर्यादा भी सत्य ही है, अतएव सत्यके अनुरोधसे वह अपनी तीर भूमिका थोड़ा भी अतिक्रम नहीं करता ॥६॥ एकपद ॐकार रूप ब्रह्म सत्य है, सत्यमें ही धर्म वर्तमान रहता है, ये अक्षय वेद सत्य ही हैं और सत्यसे ही ब्रह्म-स्वरूप परमपद प्राप्त होता है ॥७॥ यदि तुम्हारा धर्ममें विश्वास है तो तुम सत्यका पालन करो, जो वर तुमने दिया है उसे कार्यरूपमें परिणत करो, क्योंकि तुम श्रेष्ठ वर देनेवाले हो ॥८॥ धर्मकी वृद्धिके लिए तथा मेरे कहनेसे तुम पुत्र रामचन्द्रको वन भेजो, यह बात मैं तीन बार करती हूँ अर्थात् इसमें किसी प्रकारके परिवर्तनकी आशा मत रखो ॥९॥ हे आर्य, यदि तुम इस प्रतिज्ञाका पालन न करोगे और इस प्रकार मेरा त्याग करोगे तो तुम्हारे सामने ही मैं प्राण छोड़ दूँगी ॥१०॥ निर्विशङ्क होकर केकयीने जब राजासे ऐसी प्रार्थना की, तब वे सत्यपाशके बन्धनसे अपनेको अलग नहीं कर सके, जिस प्रकार बलि इन्द्रके पाशसे अपनेको अलग न कर सका था ॥११॥ राजाका हृदय व्याकुल हो गया, मुँह सूख गया, दो पहियोंके बीचमें

विकलाभ्यां च नेत्राभ्यामपश्यन्निव भूमिपः । कृच्छ्राद्धैर्येण संस्तभ्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥१३॥
यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः । संत्यजामि स्वजं चैव तव पुत्रं सह त्वया ॥१४॥
प्रयाता रजनी देवि सूर्यस्योदयनं प्रति । अभिषेकाय हि जनस्त्वरयिष्यति मां ध्रुवम् ॥१५॥
रामाभिषेकसंभारैस्तदर्थमुपकल्पितैः । रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ॥१६॥
सपुत्रया त्वया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया । व्याहन्तास्यशुभाचारे यदि रामाभिषेचनम् ॥१७॥
न शक्तोऽद्यास्म्यहं द्रष्टुं दृष्ट्वा पूर्वं तथासुखम् । हतहर्षं तथानन्दं पुनर्जनमवाङ्मुखम् ॥१८॥
तां तथा ब्रुवतस्तस्य भूमिपस्य महात्मनः । प्रभाता शर्वरी पुण्या चन्द्रनक्षत्रमालिनी ॥१९॥
ततः पापसमाचारा कैकेयी पार्थिवं पुनः । उवाच परुषं वाक्यं वाक्यज्ञा रोषमूर्च्छिता ॥२०॥
किमिदं भाषसे राजन्वाक्यं गररुजोपमम् । आनाययितुमक्लिष्टं पुत्रं राममिहार्हसि ॥२१॥
स्थाप्य राज्ये मम सुतं कृत्वा रामं वनेचरम् । निःसपत्नां च मां कृत्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥२२॥
स तुन्न इव तीक्ष्णेन प्रतोदेन हयोत्तमः । राजा प्रचोदितोऽभीक्ष्णं कैकेय्या वाक्यमब्रवीत् २३
धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि नष्टा च मम चेतना । ज्येष्ठं पुत्रं प्रियं रामं द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम् ॥२४॥
ततः प्रभातां रजनीमुदिते च दिवाकरे । पुण्ये नक्षत्रयोगे च मुहूर्ते च समागते ॥२५॥

धूमनेत्राले धुरेके समान उनकी दशा हो गयी ॥१२॥ राजाकी आँखें विकल हो गयीं, उनकी देखनेकी शक्ति जाती रही, उन्होंने धैर्यसे अपनेको किसी तरह सम्भाला और वे केकयीसे बोले ॥१३॥ पापिन, विधिवत स्थापित अग्निके समीप मन्त्रोंसे शुद्ध जो मैंने तुम्हारा पाणिग्रहण किया था उसका मैं त्याग करता हूँ और मेरे द्वारा उत्पन्न पुत्रका तथा तुम्हारा भी त्याग करता हूँ ॥१४॥ रात बीत गयी सूर्योदय हो रहा है, लोग मुझे अभिषेकके लिए शीघ्रता करनेको कहेंगे ॥१५॥ बुरा चाहनेवाली यदि रामचन्द्रके अभिषेकमें तुमने विघ्न किया तो रामचन्द्रके अभिषेकके लिए जो सामग्रियाँ एकत्र की गयी हैं उन्हीं सामग्रियोंसे रामचन्द्र मुझे जल देंगे अर्थात् मरनेके बादकी क्रिया करेंगे, अपने बेटेके साथ तू मेरा श्राद्ध आदि न कराना ॥१६॥१७॥ मैंने रामचन्द्रका प्रसन्न मुख देखा है, अब आज उन्हीं रामचन्द्रका उदास निष्प्रभ और नीचे किया हुआ मुख मैं कैसे देख सकूंगा ॥१८॥ महात्मा राजा दसरथ इस तरह बोलते रहे और चन्द्रमा तथा नक्षत्रोंकी माला धारण करनेवाली पवित्र रात भी समाप्त हो गयी ॥१९॥ बुरे अभिप्राय रखनेवाली और क्रोधसे दीप्त केकयी राजासे पुनः कठोर वाक्य बोली, वह इस कलामें प्रवीण थी ॥२०॥ राजन, जहर और बर्छीके समान दुःख देनेवाले ऐसे वचन क्यों बोल रहे हो। प्रसन्नता पूर्वक तुमको यहाँ रामचन्द्रको बुलवाना चाहिए ॥२१॥ मेरे पुत्रका राज्याभिषेक करके, रामचन्द्रको वनमें भेजकर और मुझे शत्रुहीन बनाकर तुम कृतकृत्य हो सकोगे, सुखी हो सकोगे ॥२२॥ तीक्ष्ण कोड़ेसे प्रेरित अच्छे घोड़ेके समान, राजा केकयीके बारबार प्रार्थना करनेपर बोले ॥२३॥ मैं धर्मपाशसे बँधा हुआ हूँ अर्थात् तुमने मुझे धर्मपाशमें बाँध लिया है, मेरी बुद्धि नष्ट हो गयी है। ज्येष्ठ पुत्र धार्मिक और प्रिय रामचन्द्रको मैं देखना चाहता हूँ ॥२४॥ तदन्तर रात बीत गयी, सूर्योदय होगया, शुभ नक्षत्र योग और

वसिष्ठो गुणसंपन्नः शिष्यैः परिवृतस्तथा । उपगृह्याशु संभारान्प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥२६॥
सिक्तसंमार्जितपथां पताकोत्तमभूषिताम् । संहृष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम् ॥२७॥
महोत्सवसमायुक्तां राघवार्थे समुत्सुकाम् । चन्दनागुरुधूपैश्च सर्वतः परिधूमिताम् ॥२८॥
तां पुरीं समतिक्रम्य पुरंदरपुरोपमाम् । ददर्शान्तःपुरं श्रीमान्नानाध्वजगणायुतम् ॥२९॥
पौरजानपदाकीर्णं ब्राह्मणैरुपशोभितम् । यष्टिमद्भिः सुसंपूर्णं सदश्वैः परमार्चितैः ॥३०॥
तदन्तःपुरमासाद्य व्यतिचक्राम तं जनम् । वसिष्ठः परमप्रीतः परमर्षिभिरावृतः ॥३१॥
स त्वपश्यद्विनिष्क्रान्तं सुमन्त्रं नाम सारथिम् । द्वारे मनुजसिंहस्य सचिवं प्रियदर्शनम् ॥३२॥
तमुवाच महातेजाः सूतपुत्रं विशारदम् । वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्व नृपतेर्मामिहागतम् ॥३३॥
इमे गङ्गोदकघटाः सागरेभ्यश्च काञ्चनाः । औदुम्बरं भद्रपीठमभिषेकार्थमाहृतम् ॥३४॥
सर्वबीजानि गन्धाश्च रत्नानि विविधानि च । क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥३५॥
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः । चतुरश्वो रथः श्रीमान्निस्त्रिंशो धनुरुत्तमम् ॥३६॥
वाहनं नरसंयुक्तं छत्रं च शशिसंनिभम् । श्वेते च वालव्यजने भृङ्गारं च हिरण्मयम् ॥३७॥
हेमदामपिनद्धश्च ककुद्मान्पाण्डुरो वृषः । केसरी च चतुर्दंष्ट्रो हरिश्रेष्ठो महाबलः ॥३८॥

मुहूर्त भी आगया, यह देखकर ॥२५॥ सर्वगुणयुक्त वसिष्ठने अभिषेककी सब सामग्री लेकर शिष्योंके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥२६॥ उस नगरके रास्तेमें जलका छिड़काव किया गया था और बुहारी की गयी थी, अच्छी-अच्छी पताकाओंसे वह नगर सुशोभित था, वहाँके मनुष्य बड़े ही प्रसन्न थे, बाजारकी गलियाँ और बाजार खूब सजे हुए थे ॥२७॥ वह नगर महोत्सवमय हो रहा था, वहाँके लोग रामचन्द्रके लिए उत्सुक हो रहे थे, चन्दन, अगुरु और धूपसे समस्त नगर सुगन्धित हो रहा था ॥२८॥ इन्द्रकी नगरीके समान सुन्दर उस नगरीमें जाकर वसिष्ठजीने राजाके महल देखे, जिनके चारो ओर कई ध्वजाएँ लगी हुई थीं ॥२९॥ वहाँ नगरवासी तथा राज्यके लोग भरे हुए थे, दण्डधारी ब्राह्मण भी अपने आगमनसे उस स्थानको सुशोभित कर रहे थे और राजे घोड़े वहाँ भरे हुए थे ॥३०॥ महर्षि वसिष्ठ बड़ी प्रसन्नतासे राजमहलके भीतर गये, उनके साथ अनेक ऋषि भी गये ॥३१॥ वसिष्ठजीने मनुष्यसिंह राजा दसरथके द्वारपर महलसे निकलकर आये हुए सचिव और सारथि प्रियदर्शन (जिसके दर्शनसे प्रसन्नता हो, जो देखनेमें प्रिय हो) सुमन्त्रको देखा ॥३२॥ महातेजस्वी वसिष्ठने सूतपुत्र सुमन्त्रसे कहा कि मैं यहाँ आया हूँ, यह राजासे जाकर शीघ्र कहो ॥३३॥ ये सोनेके घड़े जिसमें गङ्गाजल तथा समुद्रका जल है मैं लाया हूँ अभिषेकके लिए गूलरकी लकड़ीका पीढ़ा भी मैं लाया हूँ ॥३४॥ सब प्रकारके बीज, गन्ध, विविध रत्न, मधु, दही, घी, लावा, कुश, पुष्प, दूध, ॥३५॥ आठ कन्याएँ, मत्त हाथी, चार घोड़ेवाला रथ, सुन्दर तलवार, उत्तम धनुष, ॥३६॥ सवारी (आदमीसे ढोयी जानेवाली), चन्द्रमाके समान मनोहर छत्र, श्वेत चँवर, सोनेका गिलास, ॥३७॥ सोनेका माला पहना हुआ पीला साँढ़ (जिसकी पीठपर ककुद है)

सिंहासनं व्याघ्रतनुः समिधश्च हुताशनः । सर्वे वादित्रसङ्घाश्च वेश्याश्चालंकृताः स्त्रियः ॥३९॥
आचार्या ब्राह्मणा गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः। पौरजानपदश्रेष्ठो नैगमाश्च गणैः सह ॥४०॥
एते चान्ये च बहवः प्रीयमाणाः प्रियंवदाः । अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः । ४१॥
त्वरयस्व महाराजं यथा समुदितेऽहनि । पुष्ये नक्षत्रयोगे च रामो राज्यमवाप्नुयात् ॥४२॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा सूतपुत्रो महाबलः । स्तुवन्नृपतिशार्दूलं प्रविवेश निवेशनम् ॥४३॥
तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राजसंमताः । न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥४४॥
स समीपस्थितो राज्ञस्तामवस्थामजज्ञिवान् । वाग्भिः परमतुष्टाभिरभिष्टोतुं प्रचक्रमे ॥४५॥
ततः सूतो यथापूर्वं पार्थिवस्य निवेशने । सुमन्त्रः प्राञ्जलिर्भूत्वा तुष्टाव जगतीपतिम् ॥४६॥
यथा नन्दति तेजस्वी सागरो भास्करोदये । प्रीतः प्रीतेन मनसा तथा नन्दय नस्ततः ॥४७॥
इन्द्रमस्यां तु वेलायामभितुष्टाव मातलिः । सोऽजयद्दानवान्सर्वांस्तथा त्वां बोधयाम्यहम् ४८
वेदाः सहाङ्गा विद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं प्रभुम् । ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य तथा त्वां बोधयाम्यहम् ।४९।
आदित्यः सह चन्द्रेण यथाभूतधरां शुभाम् । बोधयत्यद्य पृथिवीं तथा त्वां बोधयाम्यहम् ॥५०॥
उत्तिष्ठ सुमहाराज कृतकौतुकमङ्गलः । विराजमानो वपुषा मेरोरिव दिवाकरः ॥५१॥

चार दाँतवाला सिंह, उत्तम बलवान घोड़ा, ॥३८॥ सिंहासन, व्याघ्रचर्म, लकड़ी, अग्नि सब प्रकारका बाजा, वेश्याएँ तथा शृङ्गार की हुई स्त्रियाँ, ॥३९॥ आचार्य, ब्राह्मण, गौ और पवित्र पशुपक्षी, प्रजाके प्रतिनिधि, अपने दलके साथ बनिए, ॥४०॥ ये तथा और भी रामचन्द्रके अभिषेकसे प्रसन्न होकर आये हैं और राजाओंके साथ खड़े हैं, ये सभी प्रिय बोलनेवाले हैं, अर्थात् रामचन्द्रकी मङ्गल कामना करनेवाले हैं ॥४१॥ महाराजसे शीघ्रता करनेके लिए कहो जिससे सूर्योदय होते ही पुष्य नक्षत्रमें रामचन्द्रका राज्याभिषेक हो जाय ॥४२॥ वसिष्ठजीके ये वचन सुनकर महाबली सूतपुत्र सुमन्त्र राजश्रेष्ठ दसरथकी स्तुति करते हुए महलमें गये ॥४३॥ सुमन्त्रको द्वारपालने रोका नहीं, क्योंकि उन्हें पहलेसे ही राजाकी आज्ञा थी कि इस वृद्धको न रोकना । वे द्वारपाल राजाकी आज्ञा माननेवाले तथा उनका प्रिय करनेवाले थे ॥४४॥ सुमन्त्र राजाके समीप गये, पर उन्हें राजाकी वर्तमान अवस्थाका ज्ञान नहीं हुआ, अतएव प्रसन्नता प्रकट करनेवाली वाणीके द्वारा उन्होंने राजाकी स्तुति करनी प्रारम्भ की ॥४५॥ राजाके घरमें सारथि सुमन्त्र हाथ जोड़कर पहलेके समान राजाकी स्तुति करने लगे ॥४६॥ जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर समुद्र आनन्दित होता है उसी प्रकार प्रसन्न होकर प्रसन्न मनसे आप हमलोगोंको आनन्दित करें ॥४७॥ मातलिने इसी समयमें (प्रातःकालमें) इन्द्रकी स्तुति की थी, और उठकर इन्द्रने दानवोंको जीता था, मैं आपको उसी प्रकार जगा रहा हूँ ॥४८॥ अङ्गोंके सहित वेद तथा अन्य विद्याएँ आत्मयोनि प्रभुब्रह्माको जगाती हैं उसी प्रकार मैं भी आपको जगा रहा हूँ ॥४९॥ जिस प्रकार सूर्य चन्द्रमाके साथ होकर प्राणियोंके धारण करनेवाली इस पृथ्वीको आज भी जगाते हैं, उसी प्रकार मैं भी आपको जगा रहा हूँ ॥५०॥ महाराज ! उठिए जिस प्रकार सूर्य मेरुसे उठता है । उत्सवके योग्य वस्त्रआदि धारणकर

उदतिष्ठत रामस्य समग्रमभिषेचनम् । पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः ॥५२॥
अयं वसिष्ठो भगवान्ब्राह्मणैः सह तिष्ठति । क्षिप्रमाज्ञाप्यतां राजन्राघवस्याभिषेचनम् ॥५३॥
यथा ह्यपालाः पशवो यथा सेना ह्यनायका । यदा चन्द्रं विना रात्रिर्यथा गावो विना वृषम् ॥५४॥
एवं हि भविता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते । एवं तस्य वचः श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमिवार्थवत् ॥५५॥
अभ्यकीर्यत शोकेन भूय एव महीपतिः । ततस्तु राजा तं सूतं सन्नहर्षः सुतं प्रति ॥५६॥
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुद्वीक्ष्योवाच धार्मिकः । वाक्यैस्तु खलु मर्माणि मम भूयो निकृन्तसि ॥५७॥
सुमन्त्रः करुणं श्रुत्वा दृष्ट्वा दीनं च पार्थिवम् । प्रगृहीताञ्जलिः किंचित्तस्माद्देशादपाक्रमत् ॥५८॥
यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः । तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह ॥५९॥
सुमन्त्र राजा रजनीं रामहर्षसमुत्सुकः । प्रजागरपरिश्रान्तो निद्रावशमुपागतः ॥६०॥
तद्गच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम् । राममानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा ॥६१॥
अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि । तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणो वाक्यं राजा मन्त्रिणमब्रवीत् ६२
सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम् । स मन्यमानः कल्याणं हृदयेन ननन्द च ॥६३॥
निर्जगाम च स प्रीत्या त्वरितो राजशासनात् । सुमन्त्रश्चिन्तयामास त्वरितं चोदितस्तया ॥६४॥

शरीरको अलंकृत कीजिए ॥५१॥ रामचन्द्रके अभिषेककी सब सामग्रियाँ तयार हैं, पुरवासी प्रजा और वणिक् आदि समुदाय आया हुआ है ॥५२॥ भगवान् वसिष्ठ भी ब्राह्मणोंके साथ तयार हैं, अब आप रामचन्द्रके अभिषेककी शीघ्र आज्ञा दें ॥५३॥ बिना पालकके पशुओंकी, बिना सेनापतिके सेनाकी, चन्द्रमाके बिना रात्रिकी और बिना साँड़के गौओंकी जो दशा होती है ॥५४॥ वही दशा राजाके बिना राज्यकी भी हो जाती है । सुमन्त्रके अर्थवान् और कोमल ऐसे वचन सुनकर ॥५५॥ राजा पुनः शोकसे व्याकुल हुए, पुत्रके राज्याभिषेकके सम्बन्धसे जो उनकी प्रसन्नता थी वह नष्ट हो चुकी थी । वे सुमन्त्रसे बोले ॥५६॥ धार्मिक राजाकी आँखें शोकसे लाल हो गयी थीं, वे सुमन्त्रकी ओर देखकर बोले—इन वचनोंसे तुम मेरे हृदयको क्यों छेद रहे हो ॥५७॥ सुमन्त्र राजाके ऐसे दयनीय वचन सुनकर तथा उनको नितान्त दुःखी देखकर हाथ जोड़ेहो वहाँसे थोड़ी दूर हट आये ॥५८॥ जब राजा अधिक दुःख होनेके कारण बोल न सके, तब अपनी कार्य-सिद्धिके लिए बोलनेमें चतुर केकयी सुमन्त्रसे बोली ॥५९॥ सुमन्त्र, रामचन्द्रके अभिषेककी प्रसन्नतामें राजा समूची रात जागते रहे, इस जागरणसे वे थक गये हैं और इस समय सो रहे हैं ॥६०॥ इस कारण सूत, शीघ्र जाओ, यशस्वी राजपुत्र रामचन्द्रको यहाँ ले आओ, इस बातमें विचार मत करो ॥६१॥ सुमन्त्रने कहा, महारानी, बिना राजाकी आज्ञाके मैं कैसे जाऊँ ? मंत्रीकी यह बात सुनकर राजा उससे बोले ॥६२॥ सुमन्त्र, मैं सुन्दर रामचन्द्रको देखना चाहता हूँ, शीघ्र तुम उन्हें ले आओ । राजा दसरथ इस समय रामचन्द्रके दर्शनसे अपनी भलाई समझते थे, इसीसे वे मनही मन प्रसन्न हुए ॥६३॥ राजाकी आज्ञासे सुमन्त्र शीघ्रही राजमहलसे निकले । केकयीने सुमन्त्रको रामचन्द्रके यहाँ जानेमें शीघ्रता करनेके लिए कहा था इससे उनके मनमें चिन्ता हुई ॥६४॥

व्यक्तं रामाभिषेकार्थे इहायास्यति धर्मराट् । इति सूतो मतिं कृत्वा हर्षेण महता पुनः ॥६५॥
निर्जगाम महातेजा राघवस्य दिदृक्षया । सागरह्रदसंकाशात्सुमन्त्रोऽन्तःपुराच्छुभात् ॥६६॥
ततः पुरस्तात्सहसा विनिःसृतो महीपतेर्द्वारगतान्विलोकयन् ।
ददर्श पौरान्विविधान्महाधनानुपस्थितान्द्वारमुपेत्य विष्ठितान् ॥६७॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ ७ ॥

पञ्चदशः सर्गः १५

ते तु तां रजनीमुष्य ब्राह्मणा वेदपारगाः । उपतस्थुरुपस्थानं सह राजपुरोहिताः ॥ १ ॥
अमात्या बलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च । राघवस्याभिषेकार्थे प्रीयमाणाः सुसंगताः ॥ २ ॥
उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि । लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥ ३ ॥
अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रैरुपकल्पितम् । काञ्चना जलकुंभाश्च भद्रपीठं स्वलंकृतम् ॥ ४ ॥
रथश्च सम्यगास्तीर्णो भास्वता व्याघ्रचर्मणा । गङ्गायमुनयोः पुण्यात्संगमादाहृतं जलम् ॥ ५ ॥
याश्चान्याः सरितः पुण्या ह्रदाः कूपाः सरांसि च । प्राग्वहाश्चोर्ध्ववाहाश्च तिर्यग्वाहाश्च क्षीरिणः ॥६॥
ताभ्यश्चैवाहृतं तोयं समुद्रेभ्यश्च सर्वशः । क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ७ ॥

सुमन्त्रने सोचा अवश्यही रामाभिषेककी तयारी आदिमें लगे रहनेके कारण धर्मराज राजा दसरथ थक गये हैं । यह सोचकर पुनः बड़ी प्रसन्नतासे ॥६५॥ महातेजस्वी सुमन्त्र समुद्रके मध्यवर्ती तालाबके समान राजमहलसे रामचन्द्रको देखनेके लिए निकले ॥६६॥ सुमन्त्रने राजमहलसे निकलकर आगे राजमहलके द्वारपालोंको देखा, पुनः उन्होंने बड़े-बड़े धनी पुरवासियोंको राजाके द्वारपर आये हुए देखा ॥६७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥१४॥
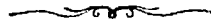
उस रातको बिताकर, वे वेदपारंग ब्राह्मण राजपुरोहितोंके साथ राजाके द्वारपर उपस्थित हुए ॥१॥ दीवान, सेनापति, वणिक-समुदायके प्रतिनिधि ये सब प्रसन्नतापूर्वक रामचन्द्रके अभिषेकके लिए राजद्वार-पर उपस्थित हुए ॥२॥ सूर्योदय होनेपर दिनमें पुष्यनक्षत्रमें रामके जन्मकालस्थ कर्कट लग्नके आनेपर राज्याभिषेक होगा ॥३॥ रामचन्द्रके अभिषेकके लिए ब्राह्मणोंने सब सामग्रियाँ एकत्र करली है, जलपूर्ण सोनेके घड़े लाये गये हैं भद्रपीठ (मङ्गल चिह्नसे चिह्नित) भी लाया गया है ॥४॥ रथपर चमकीला व्याघ्र-चर्म बिछा दिया गया है, गङ्गा-जमुनाके पवित्र संगमसे जल लाया गया है ॥५॥ और भी जो पवित्र नदियाँ जो पूर्वकी ओर बहती है, ऊँचे बहती हैं, उत्तर-दक्खिनकी ओर बहती हैं, जो ह्रद हैं, कूएँ हैं, तालाब हैं ॥६॥ उन सबसे जल लाया गया है, सब समुद्रोंसे भी जल लाया गया है । मधु, दही, घी, लावा, कुश,

अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः। सजलाः क्षीरिभिश्छन्ना घटाः काञ्चनराजताः ॥८॥
पद्मोत्पलयुता भान्ति पूर्णाः परमवारिणा। चन्द्रांशुविकचप्रख्यं पाण्डुरं रत्नभूषितम् ॥९॥
सज्जं तिष्ठति रामस्य वालव्यजनमुत्तमम्। चन्द्रमण्डलसंकाशमातपत्रं च पाण्डुरम् ॥१०॥
सज्जं द्युतिकरं श्रीमदभिषेकपुरःसरम्। पाण्डुरश्च वृषः सज्जः पाण्डुराश्वश्च संस्थितः ॥११॥
वादित्राणि च सर्वाणि बन्दिनश्च तथापरे। इक्ष्वाकूणां यथा राज्ये संभ्रियेताभिषेचनम् ॥१२॥
तथाजातीयमादाय राजपुत्राभिषेचनम्। ते राजवचनात्तत्र समवेता महीपतिम् ॥१३॥
अपश्यन्तोऽब्रुवन्को नु राज्ञो नः प्रतिवेदयेत्। न पश्यामश्च राजानमुदितश्च दिवाकरः ॥१४॥
यौवराज्याभिषेकश्च सज्जो रामस्य धीमतः। इति तेषु ब्रुवाणेषु सर्वांस्तांश्च महीपतीन् ॥१५॥
अब्रवीत्तानिदं वाक्यं सुमन्त्रो राजसत्कृतः। रामं राज्ञो नियोगेन त्वरया प्रस्थितो ह्यहम् ॥१६॥
पूज्या राज्ञो भवन्तश्च रामस्य तु विशेषतः। अयं पृच्छामि वचनात्सुखमायुष्मतामहम् ॥१७॥
राज्ञः संप्रतिबुद्धस्य चानागमनकारणम्। इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारमाजगाम पुराणवित् ॥१८॥
सदा सक्तं च तद्वेश्म सुमन्त्रः प्रविवेश ह। तुष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य स विशांपतेः ॥१९॥
शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत। सोऽत्यासाद्य तु तद्वेश्म तिरस्करणिमन्तरा ॥२०॥

फूल और दूध लाये गये हैं ॥७ सुन्दरी आठ कन्याएँ, हाथी, सोने और चाँदीके घड़े जो दूधवाले वृक्षोंके पत्तोंसे ढँके हुए हैं, ॥८॥ वे घड़े पद्म और उत्पल (पद्म और उत्पल दोनों कमलको ही कहते हैं, पर यहाँ दोनों साथ कहे गये हैं इससे उत्पलका अर्थ कमल भेद समझना चाहिए) से युक्त हैं और जलसे भरे हुए हैं, अतएव बड़े सुन्दर मालूम पड़ते हैं। चन्द्रमाकी किरणोंके समान जिसकी दीप्ति फैल रही है, जो श्वेत वर्णका है, जिसमें रत्न जड़े हुए हैं ॥९॥ वैसा रामचन्द्रके लिए पंखा और दो चँवर तयार हैं। चन्द्र-मण्डलके समान छत्र भी ॥१०॥ तयार है जो द्युतिमान है, मूल्यवान है और अभिषेककी सामग्रियोंमें सबसे प्रधान है। श्वेत बैल और श्वेत घोड़ा भी तयार रखा हुआ है ॥११॥ सब प्रकारके बाजे तथा गुणगान करनेवाले वन्दी आये हुए हैं। इक्ष्वाकुवंशमें अभिषेकके लिए जितनी सामग्रियाँ एकत्र की जाती हैं ॥१२॥ उसी प्रकारकी, राजपुत्रके अभिषेककी सामग्री लेकर राजाकी आज्ञासे ये राजा आये हैं ॥१३॥ राजा दसरथको न देखकर वे कहते हैं कि कौन हम लोगोंके आनेकी खबर राजाको देगा। हमलोग यहाँ राजाको नहीं देख रहे हैं, सूर्योदय भी हो गया ॥१४॥ बुद्धिमान रामचन्द्रके अभिषेककी सब सामग्रियाँ तयार हैं, इस प्रकार कहते हुए उन सब राजाओंसे ॥१५॥ राजाके द्वारा सम्मानित सुमन्त्रने उन राजाओंसे कहा, राजाकी आज्ञासे रामचन्द्रको लानेके लिए मैं शीघ्रतापूर्वक जा रहा हूँ ॥१६॥ आप लोग राजाके विशेषकर रामचन्द्रके पूज्य हैं। आयुष्यमान् आप लोगोंकी आज्ञासे मैं ॥१७॥ जागे हुए राजासे उनके यहाँ न आनेका कारण पूछता हूँ, ऐसा कहकर पुराणविन् (सूत) राजमहलके द्वारपर आये ॥१८॥ सुमन्त्रका राजमहलमें बे-रोकटोक प्रवेश था, वे राजभवनमें चले गये और वहाँ जाकर राजाके वंशकी स्तुति करने लगे ॥१९॥ सुमन्त्र राजाके सोनेवाले घरमें गये, वे राजाके पास तक चले

आशीर्भिर्गुणयुक्ताभिरभितुष्टाव राघवम् । सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ॥२१॥
वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते । गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥२२॥
बुद्ध्यस्व राजशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् । ब्राह्मणा बलमुख्याश्च नैगमाश्चागतास्त्विह ॥२३॥
दर्शनं तेऽभिकाङ्क्षन्ते प्रतिबुद्ध्यस्व राघव । स्तुवन्तं तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥२४॥
प्रतिबुद्ध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत् । राममानय सूतेति यदस्यभिहितोऽनया ॥२५॥
किमिदं कारणं येन ममाज्ञा प्रतिवाह्यते । न चैव संप्रसुप्तोऽहमानयेहाशु राघवम् ॥२६॥
इति राजा दशरथः सूतं तत्रान्वशात्पुनः । स राजवचनं श्रुत्वा शिरसा प्रतिपूज्यतम् ॥२७॥
निर्जगाम नृपावासान्मन्यमानः प्रियं महत् । प्रपन्नो राजमार्गं च पताकाध्वजशोभितम् ॥२८॥
हृष्टः प्रमुदितः सूतो जगामाशु विलोकयन् । स सूतस्तत्र शुश्राव रामाधिकरणाः कथाः ।२९॥
अभिषेचनसंयुक्ताः सर्वलोकस्य हृष्टवत् । ततो ददर्श रुचिरं कैलाससदृशप्रभम् ॥३०॥
रामवेश्म सुमन्त्रस्तु शक्रवेश्मसमप्रभम् । महाकपाटपिहितं वितर्दिशतशोभितम् ॥३१॥
काञ्चनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमतोरणम् । शारदाभ्रघनप्रख्यं दीप्तं मेरुगुहासमम् ॥३२॥
मणिभिर्वरमाल्यानां सुमहद्भिरलंकृतम् । मुक्तामणिभिराकीर्णं चन्दनागुरुभूषितम् ॥३३॥
गन्धान्मनोज्ञान्विसृजद्दार्दुरं शिखरं यथा । सारसैश्च मयूरैश्च विनदद्भिर्विराजितम् ॥३४॥

गये, बीचमें चिक रह गयी ॥२०॥ वे मङ्गलमय आशीर्वादोंसे दसरथकी स्तुति करने लगे । काकुत्स्थ, चन्द्रमा, सूर्य, शिव, कुवेर, ॥२१॥ वरुण, अग्नि और इन्द्र आपको विजय दें । भगवती रात्रि व्यतीत हुई, कल्याणमय दिन हुआ ॥२२॥ राजश्रेष्ठ उठिए, ब्राह्मण सेनापति और वणिक्-समाजके प्रतिनिधि आये हैं, अब आगेका अभिषेक सम्बन्धी काम कीजिए ॥२३॥ ये सब लोग आपका दर्शन चाहते हैं, अब आप उठें । राज्यकी भीतरी बातें जाननेवाले सारथि सुमन्त्रकी स्तुति सुनकर ॥ २४ ॥ राजा उठे और उससे बोले— इसने तो तुम्हें रामचन्द्रको लानेके लिए कहा था ॥२५॥ क्या कारण है कि मेरी आज्ञा इस तरह उठायी जाती है, मैं सोया हुआ नहीं हूँ, शीघ्र रामचन्द्रको यहाँ ले आयो ॥२६॥ इस प्रकार राजा दसरथने सुमन्त्रको पुनः आज्ञा दी । राजाके वचन सुनकर और सिरसे उन्हें प्रणाम करके ॥२७॥ राजाके महलसे प्रसन्न होते हुए सुमन्त्र निकले और ध्वजा-पताकासे शोभित सड़कपर आये ॥२८॥ हृष्ट और प्रसन्न सुमन्त्र सबको देखते हुए शीघ्रतापूर्वक चले, उन्होंने वहाँ रामके सम्बन्धकी अनेक कथाएँ सुनीं ॥२९॥ जो रामचन्द्रके अभिषेकसे सम्बन्ध रखनेवाली थीं और हृष्ट मनुष्योंके द्वारा कही गयी थीं । तदन्तर उन्होंने कैलासके समान ऊँचा और सुन्दर ॥३०॥ और इन्द्रके घरके समान मनोहर रामचन्द्रका घर देखा । उसमें बड़े-बड़े किवाड़ लगे थे, सैकड़ों वेदिकाएँ बनी हुई थीं ॥३१॥ सर्वत्र सोनेकी तस्वीरें जड़ी हुई थीं, मणि और मूँगेका तोरण लगा हुआ था, शरदके मेघके समान स्वच्छ मेरुकी गुहाके समान ॥३२॥ सोनेकी मालाओंसे जिनमें बड़े-बड़े मणि लगे हुए थे अलंकृत मोतियोंसे भरा हुआ, चन्दन और अगुरुसे शोभित ॥३३॥ दर्दुर (मलय पर्वतके समीपकी भूमि, जो चन्दनके लिए मशहूर

सुकृतेहामृगाकीर्णमुत्कीर्णं भक्तिभिस्तथा । मनश्चक्षुश्च भूतानामाददत्तिग्मतेजसा ॥३५॥
चन्द्रभास्करसंकाशं कुबेरभवनोपमम् । महेन्द्रधामप्रतिमं नानापक्षिसमाकुलम् ॥३६॥
मेरुशृङ्गसमं सूतो रामवेश्म ददर्श ह । उपस्थितैः समाकीर्णं जनैरञ्जलिकारिभिः ॥३७॥
उपादाय समाक्रान्तैस्तदा जानपदैर्जनैः । रामाभिषेकसुमुखैरुन्मुखैः समलंकृतम् ॥३८॥
महामेघसमप्रख्यमुदग्रं सुविराजितम् । नानारत्नसमाकीर्णं कुब्जकैरपि चावृतम् ॥३९॥

स वाजियुक्तेन रथेन सारथिः समाकुलं राजकुलं विराजयन् ।
वरूथिना राजगृहाभिपातिना पुरस्य सर्वस्य मनांसि हर्षयन् ॥४०॥
ततः समासाद्य महाधनं महत्प्रहृष्टरोमा स बभूव सारथि ।
मृगैर्मयूरैश्च समाकुलोल्बणं गृहं वराहस्य शचीपतेरिव ॥४१॥
स तत्र कैलासनिभाः स्वलंकृताः प्रविश्य कक्ष्यास्त्रिदशालयोपमाः ।
प्रियान्वरान्राममते स्थितान्बहून्व्यपोह्य शुद्धान्तमुपस्थितो रथी ॥४२॥
स तत्र शुश्राव च हर्षयुक्ता रामाभिषेकार्थकृतां जनानाम् ।
नरेन्द्रसूनोरभिमङ्गलार्थाः सर्वस्य लोकस्य गिरः प्रहृष्टाः ॥४३॥

है) पर्वतके शिखरके समान जिससे मनको लुभानेवाली गन्ध निकल रही है, बोलते हुए सारस और मयूरोंसे जो सुशोभित हैं ॥३४॥ जिसकी दीवारपर और खम्भोंपर उत्तम भेड़िएकी तस्वीर बनायी गयी है, जगह-जगह बेलबूटे बने हुए हैं, रामचन्द्रका वह घर प्राणियोंके मन आँख दोनोंको अपने प्रखर तेजसे तृप्त करता था ॥३५॥ चन्द्रमा और सूर्यकी किरणें उसपर प्रतिबिंबित होकर दूनी होजाती थीं, वह कुबेरके घरके समान था और इन्द्रके भवनके समान था, वहाँ अनेक पक्षी थे, ॥३६॥ मेरुके शिखरके समान रामचन्द्रके उस घरको सुमन्त्रने देखा । उस समय रामचन्द्रका वह घर अञ्जलिकारी—प्रणाम करनेवालोंसे भरा था ॥३७॥ प्रजागण जो भेंट लेकर रामचन्द्रके अभिषेकोत्सवके लिए आये थे, वे बाहर ही रोक लिए गये थे और वे रामचन्द्रके घरकी शोभा ऊपर मुँह करके देख रहे थे, उनसे वह घर बड़ा सुन्दर मालूम पड़ता था ॥३८॥ वह घर महामेघके समान बड़ा ही ऊँचा था, खूब सजा हुआ था, अनेक तरहके रत्न उसमें लगे हुए थे, कुबड़े भी खड़े थे (पहले राजमहलोंमें हँसीके लिए कुबड़े रखे जाते थे) ॥३९॥ सुमन्त्र घोड़ेके रथपर चढ़कर लोगोंकी भीड़से सकची हुई सड़कको शोभित करते हुए और नगरवासियोंके मन प्रसन्न करते हुए राजगृहकी ओर चले ॥४०॥ उस समृद्धिमान् घरमें जाकर सारथि बहुत प्रसन्न हुए, हर्षसे उन्हें रोमाञ्च हो आया, उस घरमें पशुपक्षी, मयूर आदि थे, वहाँके लोगोंकी आकुलतासे वह घर ही विशेष व्याकुलसा दीख पड़ता था, उत्तम वस्तुओंके संग्रह करनेवाले इन्द्रके घरके समान उस घरकी शोभा थी ॥४१॥ कैलासके समान ऊँचा और स्वर्गके समान मनोहर तीन खण्डोंको लाँघकर तथा रामचन्द्रके अनुगत अतएव श्रेष्ठ अनेक मनुष्यको बीचमें ही छोड़कर (अर्थात् उनसे बातचीत किये बिनाही) रामचन्द्रके महलमें सुमन्त्र पहुँचे ॥४२॥ सुमन्त्रने वहाँ अभिषेकके काम करनेवाले

महेन्द्रसद्मप्रतिमं च वेश्म रामस्य रम्यं मृगपक्षिजुष्टम् ।
ददर्श मेरोरिव शृङ्गमुच्चं विभ्राजमानं प्रभया सुमन्त्रः ॥४४॥
उपस्थितैरञ्जलिकारिभिश्च सोपायनैर्जानपदैर्जनैश्च ।
कोट्या परार्ध्यैश्च विमुक्तयानैः समाकुलं द्वारपदं ददर्श ॥४५॥
ततो महामेघमहीधराभं प्रभिन्नमत्यङ्कुशमत्यसह्यम् ।
रामोपवाह्यं रुचिरं ददर्श शत्रुंजयं नागमुदग्रकायम् ॥४६॥
स्वलंकृतान्साश्वरथान्सकुञ्जरानमात्यमुख्यांश्च ददर्श वल्लभान् ।
व्यपोह्य सूतः सहितान्समन्ततः समृद्धमन्तःपुरमाविवेश ह ॥४७॥
ततोऽद्रिकूटाचलमेघसंनिभं महाविमानोपमवेश्मसंयुतम् ।
अवार्यमाणः प्रविवेश सारथिः प्रभूतरत्नं मकरो यथार्णवम् ॥४८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

षोडशः सर्गः १६

स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम् । प्रविविक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित् ॥ १ ॥
प्रासकार्मुकबिभ्रद्भिर्युवभिर्मृष्टकुण्डलैः । अप्रमादिभिरेकाग्रैः स्वानुरक्तैरधिष्ठिताम् ॥ २ ॥

मनुष्योंकी प्रसन्नतामयी वाणी सुनी, वे रामचन्द्रके मङ्गलके उद्देश्यसे कही गयी थीं ॥४३॥ रामचन्द्रका रमणीय घर इन्द्रके घरके समान था, वहाँ तरह-तरहके पशु और पक्षी थे, मेरुके शिखरके समान वह ऊँचा था। अपनी प्रभासे सुशोभित उस घरको सुमन्त्रने देखा ॥४४॥ सुमन्त्रने देखा कि राजभवनके द्वारपर प्रणाम और आशीर्वाद करनेवाले भेंट लेकर आये हुए प्रजाजन करोड़ोंकी संख्यामें हैं, वे अपनी सवारीसे उतरकर रामचन्द्रके द्वारपर खड़े हैं ॥४५॥ इसके बाद सुमन्त्रने रामचन्द्रके शत्रुञ्जय नामक हाथीको देखा, इसका शरीर बड़ा ही विशाल था, वह उस पर्वतके समान था जिसके शिखरपर बड़े-बड़े मेघ हों, उसके मद चू रहा था, उसका अंकुश और अंकुशोंसे विलक्षण था और वह चलनेमें तेज था ॥४६॥ पुनः रामचन्द्रके प्रिय प्रधान अमात्योंको सुमन्त्रने देखा, वे सजे हुए थे, तथा घोड़ा, रथ और हाथीपर सवार थे, सुमन्त्रको देखकर वे इनके पास आये, पर सुमन्त्र उनको वहीं छोड़कर भीतर राजमहलमें चले गये ॥४७॥ जिस प्रकार मगर समुद्रमें घुस जाता है, उसका पता ही नहीं लगता, उसी प्रकार सुमन्त्र उस राजभवनमें पैठे। वह राजमहल उस पर्वतके समान था जिसके शिखरपर निश्चल मेघ हों, उस महलमें अनेक महाविमान घर थे (सतमहले मकानको विमान कहते हैं)। सुमन्त्र बिना रोके वहाँ गये ॥४७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥१५॥

मनुष्योंसे पूर्ण राजमहलके द्वारको लाँघकर सुमन्त्र उस खण्डमें गये, जहाँ आदमियोंकी बहुत भीड़ न थी ॥१॥ सुन्दर कुण्डल धारण करनेवाले, सदा सावधान रहनेवाले, तत्पर और रामचन्द्रमें प्रेम

अत्र काषायिणो वृद्धान्वेत्रपाणीन्स्वलंकृतान्। ददर्श विष्ठितान्द्वारि स्त्र्यध्यक्षान्सुसमाहितान् ।३।
ते समीक्ष्य समायान्तं रामप्रियचिकीर्षवः। सहसोत्पतिताः सर्वे ह्यासनेभ्यः ससंभ्रमाः ॥ ४ ॥
तानुवाच विनीतात्मा सूतपुत्रः प्रदक्षिणः। क्षिप्रमाख्यात रामाय सुमन्त्रो द्वारि तिष्ठति ॥ ५ ॥
ते राममुपसंगम्य भर्तुः प्रियचिकीर्षवः। सहभार्याय रामाय क्षिप्रमेवाचचक्षिरे ॥ ६ ॥
प्रतिवेदितमाज्ञाय सूतमभ्यन्तरं पितुः। तत्रैवानाययामास राघवः प्रियकाम्यया ॥ ७ ॥
तं वैश्रवणसंकाशमुपविष्टं स्वलंकृतम्। ददर्श सूतः पर्यङ्के सौवर्णे सोत्तरच्छदे ॥ ८ ॥
वराहरुधिराभेण शुचिना च सुगन्धिना। अनुलिप्तं परार्ध्येन चन्दनेन परंतपम् ॥ ९ ॥
स्थितया पार्श्वतश्चापि वालव्यजनहस्तया। उपेतं सीतया भूयश्चित्रया शशिनं यथा ॥१०॥
तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं स्वतेजसा। ववन्दे वरदं बन्दी विनयज्ञो विनीतवत् ॥११॥
प्राञ्जलिः सुमुखं दृष्ट्वा विहारशयनासने। राजपुत्रमुवाचेदं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ॥१२॥
कौसल्या सुप्रजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति। महिष्यापि हि कैकेय्या गम्यतां तत्र मा चिरम् ।१३।
एवमुक्तस्तु संहृष्टो नरसिंहो महाद्युतिः। ततः संमानयामास सीतामिदमुवाच ह ।१४॥
देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे। मन्त्रयेते ध्रुवं किंचिदभिषेचनसंहितम् ॥१५॥

रखनेवाले युवक माला और धनुष लेकर वहाँ खड़े थे ॥२॥ वहाँ सुमन्त्रने गेरुआ वस्त्र धारण करनेवाले बूढ़े तथा हाथमें बेंत रखनेवाले स्त्रियोंकी रक्षा करनेवालोंको देखा। वे वस्त्र-आभूषणसे सजे हुए थे, बड़े सावधान थे और द्वारपर बैठे हुए थे ॥३॥ रामचन्द्रके प्रिय करनेवाले वे सुमन्त्रको आते देखकर शीघ्रतापूर्वक आदरमें अपने-अपने आसनसे उठे ॥४॥ सेवामें निपुण सुमन्त्र विनयपूर्वक उनसे बोले, शीघ्र जाकर रामचन्द्रसे कहो कि सुमन्त्र द्वारपर आया हुआ है ॥५॥ अपने स्वामीका प्रिय करनेवाले वे शीघ्र ही रामचन्द्रके पास गये और राम तथा सीतासे उनलोगोंने वह बात कही ॥६॥ द्वारपालोंके कहनेपर पिताके अन्तरङ्ग सुमन्त्रको रामने वहीं बुलवाया जिससे सुमन्त्र प्रसन्न हों ॥७॥ सुमन्त्रने देखा कि सोनेके पलँगपर जिसपर गद्दा और चादर बिछे हुए हैं, रामचन्द्र वस्त्र-आभूषणोंसे सजकर बैठे हैं, रामचन्द्र कुबेरके समान असीम ऐश्वर्यशाली मालूम पड़ते थे ॥८॥ शत्रु-तापन रामचन्द्रने बहुत ही लाल (मूलमें लिखा है कि सूअरके रुधिरके समान लाल, क्योंकि सूअरका रुधिर बहुत ही लाल होता है, ऐसी प्रसिद्धि है), पवित्र सुगन्धित और उत्तम चन्दनका लेप किया था ॥९॥ उनके पास ही बगलमें बैठकर सीता चँवर डुला रही थीं, चित्राके योगसे चन्द्रमाके समान उस समय रामचन्द्रकी शोभा हो गयी थी ॥१०॥ रामचन्द्र सूर्यके समान अपने तेजसे तप रहे थे, विनय जाननेवाले सुमन्त्रने उनको नमस्कार किया ॥११॥ प्रसन्न तथा पलंगपर बैठे रामचन्द्रसे हाथ जोड़कर राजसम्मानित सुमन्त्र बोले ॥१२॥ आपको उत्पन्न करके कौशल्या सुपुत्र उत्पन्न करनेवाली हुई हैं, आपको पिता देखना चाहते हैं, महारानी केकयी भी वहीं है, आप शीघ्र वहाँ चलें ॥१३॥ नरसिंह महाद्युतिमान रामचन्द्र सुमन्त्रकी बात सुनकर प्रसन्न हुए और सीताका आदर करके वे उनसे बोले ॥१४॥ देवि, पिता और देवी केकयी अवश्य ही मेरे अभिषेकके

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा । संचोदयति राजानं मदर्थमसितेक्षणा ॥१६॥
सा प्रहृष्टा महाराजं हितकामानुवर्तिनी । जननी चार्थकामा मे केकयाधिपतेः सुता ॥१७॥
दिष्ट्या खलु महाराजो महिष्या प्रियया सह । सुमन्त्रं प्राहिणोद्दूतमर्थकामकरं मम ॥१८॥
यादृशी परिषत्तत्र तादृशो दूत आगतः । ध्रुवमद्यैव मां राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥१९॥
हन्त शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम् । सह त्वं परिवारेण सुखमास्व रमस्व च ॥२०॥
पतिसंमानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा । आ द्वारमनुवव्राज मङ्गलान्यभिदध्युषी ॥२१॥
राज्यं द्विजातिभिर्जुष्टं राजसूयाभिषेचनम् । कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्येव लोककृत् ॥२२॥
दीक्षितं व्रतसंपन्नं वराजिनधरं शुचिम् । कुरङ्गशृङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम् ॥२३॥
पूर्वां दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः । वरुणः पश्चिमामाशां धनेशस्तूत्तरां दिशम् ॥२४॥
अथ सीतामनुज्ञाप्य कृतकौतुकमङ्गलः । निश्चक्राम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात् ॥२५॥
पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरिगुहाशयः । लक्ष्मणं द्वारि सोऽपश्यत्प्रह्वाञ्जलिपुटं स्थितम् ॥२६॥

सम्बन्धमें कुछ विचार कर रही हैं ॥१५॥ अभिषेकके सम्बन्धमें राजाका अभिप्राय जानकर समर्थ केकयी राजाको मेरे अभिषेकके लिए प्रेरित कर रही होंगी, अर्थात् राजाने पूछा होगा कि भरत नहीं है, ऐसी दशामें रामचन्द्रके अभिषेक करनेमें तुम्हारी क्या राय है। राजाका यह अभिप्राय सुनकर रानी कहती होंगी, आप शीघ्र अभिषेक करें, भरत आ जायगा तो सुन लेगा, भरतके लिये इस मङ्गल कार्यमें विलम्ब करना उचित नहीं ॥१६॥ वह सदा प्रसन्न रहनेवाली केकयी राजाका हित चाहनेवाली है, वह केकय-राजकी कन्या मेरी माता मेरे कल्याणकी कामना करती है ॥१७॥ यह प्रसन्नताकी बात है कि महाराज और महारानी दोनोंने मेरे मनोरथ सिद्ध करनेवाले सुमन्त्रको ही दूत बनाकर मेरे पास भेजा है ॥१८॥ जैसी वहाँ सभा है वैसा ही दूत आया है, वहाँकी सभा मेरे अनुकूल है अतएव यह दूत भी मेरे अनुकूल ही आया है। इससे यह निश्चय मालूम पड़ता है कि राजा आज ही यौवराज्य पदपर मेरा अभिषेक करेंगे ॥१९॥ अब मैं शीघ्र ही यहाँसे जाकर राजाका दर्शन करता हूँ, तब तक तुम अपनी सहेलियोंके साथ यहीं रहो और मन बहलाओ ॥२०॥ पतिके द्वारा सम्मानित सीता द्वारतक उनके मङ्गलकी कामना करती हुई गयी ॥२१॥ सीताने कहा राज्य ब्राह्मणोंके द्वारा सेवित है अर्थात् इस राज्यमें बहुत ब्राह्मण रहते हैं। अतएव राजा आपका राजसूय यज्ञके लिए अभिषेक कर सकते हैं, जिस प्रकार इन्द्रका अभिषेक ब्रह्मा करते हैं। मतलब यह कि राजसूयके अभिषेक होनेके लिये आपको चाहिये कि आप दिग्विजय करें ॥२२॥ जब मैं देखूँगी कि आपने यज्ञके लिये दीक्षा ली है, व्रत धारण किया है, उत्तम और शुद्ध मृगचर्म धारण किया है, हाथमें मृगाकी सींग ले रखी है, उस समय मैं आपका स्वागत करूँगी ॥२३॥ पूर्व दिशामें इन्द्र, दक्षिण दिशामें यमराज, पश्चिम दिशामें वरुण और उत्तर दिशामें कुबेर आपकी रक्षा करें ॥२४॥ अनन्तर इस प्रकार सीताको आदेश देकर और राजाके यहाँ जाने योग्य वस्त्र-आभूषण धारण करके सुमन्त्रके साथ रामचन्द्र अपने घरसे निकले ॥२५॥ गिरि-कन्दरामें रहनेवाला सिंह जिस प्रकार पर्वतसे निकलता है उसी प्रकार अपने महलसे निकलकर रामचन्द्रने द्वारपर हाथ जोड़े लक्ष्मणको खड़ा देखा ॥२६॥

अथ मध्यमकक्ष्यायां समागच्छत्सुहृज्जनैः। स सर्वानर्थिनो दृष्ट्वा समेत्य प्रतिनन्द्य च ॥२७॥
ततः पावकसंकाशमारुरोह रथोत्तमम्। वैयाघ्रं पुरुषव्याघ्रो राजितं राजनन्दनः ॥२८॥
मेघनादमसंबाधं मणिहेमविभूषितम्। मुष्णन्तमिव चक्षूंषि प्रभया मेरुवर्चसम् ॥२९॥
करेणुशिशुकल्पैश्च युक्तं परमवाजिभिः। हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवाशुगम् ॥३०॥
प्रययौ तूर्णमास्थाय राघवो ज्वलितः श्रिया। स पर्जन्य इवाकाशे स्वनवानभिनादयन् ॥३१॥
निकेतान्निर्ययौ श्रीमान्महाभ्रादिव चन्द्रमाः। चित्रचामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः ॥३२॥
जुगोप भ्रातरं भ्राता रथमास्थाय पृष्ठतः। ततो हलहलाशब्दस्तुमुलः समजायत ॥३३॥
तस्य निष्क्रममाणस्य जनौघस्य समन्ततः। ततो हयवरा मुख्या नागाश्च गिरिसंनिभः ॥३४॥
अनुजग्मुस्तथा रामं शतशोऽथ सहस्रशः। अग्रतश्चास्य संनद्धाश्चन्दनागुरुभूषिताः ॥३५॥
खड्गचापधराः शूरा जग्मुराशंसवो जनाः। ततो वादित्रशब्दाश्च स्तुतिशब्दाश्चबन्दिनाम् ३६
सिंहनादाश्च शूराणां ततः शुश्रुविरे पथि। हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूषिताभिः समन्ततः ॥३७॥
कीर्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिंदमः। रामं सर्वानवद्याङ्ग्यो रामपिप्रीषया ततः ॥३८॥
वचोभिरग्र्यैर्हर्म्यस्थाः क्षितिस्थाश्च ववन्दिरे। नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृनन्दन ॥३९॥

वहाँसे रामचन्द्र बीचवाले खण्डसे आये और सब प्रकारके प्रार्थियोंसे वे मिले और उनका समाधान किया ॥२७॥ तदनन्तर पुरुषसिंह राजपुत्र रामचन्द्र अग्निके समान दीप्तिमान श्रेष्ठ रथपर बैठे, जो बाघके चमड़ेसे मढ़ा हुआ था ॥२८॥ उस रथका शब्द मेघके शब्दके समान होता था, उसके सामने भीड़ न थी, मणि और सोना उस रथमें लगे हुए थे, वह मेरुपर्वतके समान दीप्तिमान था, वह अपनी दीप्तिसे देखनेवालोंकी आँखें अपनी ओर खींचता था ॥२९॥ उस रथमें हाथीके बच्चोंके समान घोड़े जुते हुए थे। जिस प्रकार घोड़ेजुते शीघ्र चलनेवाले रथपर चढ़कर इन्द्र चलते हैं ॥३०॥ उसी प्रकार अत्यन्त शोभायमान रामचन्द्र उस रथपर चढ़कर चले। आकाशमें गर्जनेवाले मेघके समान वे रथके शब्दसे दिशाओंको ध्वनित करते हुए चले ॥३१॥ जिस प्रकार बड़े भारी मेघसे चन्द्रमा निकलते हैं उसी प्रकार रामचन्द्र अपने महलसे निकले। रामचन्द्रके छोटे भाई लक्ष्मण छत्र और चमर लेकर ॥३२॥ रथके पीछे बैठकर अपने भाईकी रक्षा करने लगे। उस समय तुमुल शब्द हुआ ॥३३॥ रामचन्द्रके निकलनेके पश्चात् मनुष्योंकी बड़ी भारी भीड़ निकली, उसके पश्चात् घोड़े और पर्वतके समान हाथी निकले ॥३४॥ और ये सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें रामचन्द्रके पीछे-पीछे चले। उनके आगे कवच धारण किये हुए चन्दन तथा अगरुसे विभूषित ॥३५॥ तलवार और धनुष धारण करनेवाले वीर चले और रामचन्द्रके गुणोंकी प्रशंसा करनेवाले भी चले। तदनन्तर बाजेवाले और गुण गानेवाले बन्दी थे ॥३६॥ मार्गमें वीरोंका सिंहनाद भी सुन पड़ता था। चारों ओर कोठेकी खिड़कियोंपर बैठी ॥३७॥ स्त्रियाँ रामचन्द्रपर फूलोंकी वर्षा करती थीं, उन्हींके बीच रामचन्द्र चले। रामचन्द्रको प्रसन्न करनेके लिये सुडौल अंगवाली ॥३८॥ कोठेपर बैठी हुई तथा नीचे खड़ी हुई स्त्रियोंने सुन्दर वचनोंसे, हे मातृनन्दन कौशल्या तुम्हारे कारण अवश्य

पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमुपस्थितम्। सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीता सीमन्तिनी वरा ४०
अमन्यन्त हि ता नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम्। तया सुचरितं देव्या पुरा नूनं महत्तपः ॥४१॥
रोहिणीव शशाङ्केन रामसंयोगमाप या। इति प्रासादशृङ्गेषु प्रमदाभिर्नरोत्तमः।
शुश्राव राजमार्गस्थः प्रिया वाच उदाहृताः ॥४२॥

स राघवस्तत्र तदा प्रलापाञ्शुश्राव लोकस्य समागतस्य।
आत्माधिकारा विविधाश्च वाचः प्रहृष्टरूपस्य पुरे जनस्य ॥४३॥
एष श्रियं गच्छति राघवोऽद्य राजप्रसादाद्विपुलां गमिष्यन्।
एते वयं सर्वसमृद्धकामा येषामयं नो भविता प्रशास्ता ॥४४॥
लाभो जनस्यास्य यदेष सर्वं प्रपत्स्यते राष्ट्रमिदं चिराय।
न ह्यप्रियं किंचन जातु कश्चित्पश्येन्न दुःखं मनुजाधिपेऽस्मिन् ॥४५॥
स घोषवद्भिश्च हयैः सनागैः पुरःसरैः स्वस्तिकसूतमागधैः।
महीयमानः प्रवरैश्च वादकैरभिष्टुतो वैश्रवणो यथा ययौ ॥४६॥
करेणुमातङ्गरथाश्वसंकुलं महाजनौघैः परिपूर्णचत्वरम्।
प्रभूतरत्नं बहुपण्यसंचयं ददर्श रामो विमलं महापथम् ॥४७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

ही भाग्यवती है, ऐसा कहकर उनको प्रणाम किया ॥३९॥ जिसकी यात्रा सफल हो गयी है, और जिसे पिताका राज्य प्राप्त हो रहा है, ऐसे अपने पतिको देखनेवाली सीता अवश्य ही सब स्त्रियोंसे बड़ी है ॥४०॥ ऐसा उन स्त्रियोंने रामचन्द्रकी प्रिय सीताको समझा। अवश्य ही उस देवीने पहले बड़ा तप किया है ॥४१॥ जिससे रोहिणीको जैसे चन्द्रमा मिले वैसे ही सीताको रामचन्द्र मिले। कोठेपर स्त्रियोंकी इस प्रकारकी बातें मार्गमें जाते हुए रामचन्द्रने सुनी ॥४२॥ उस समय रामचन्द्रने वहाँ आये हुए प्रसन्न मनुष्योंकी अनेक प्रकारकी बातें सुनीं, जिनका सम्बन्ध स्वयं उनसे था ॥४३॥ ये राजाकी प्रसन्नतासे विपुल लक्ष्मी पानेके लिये पिताके घर जा रहे हैं, अब हमलोगोंके सब मनोरथ पूर्ण हुए, क्योंकि अब ये हमलोगोंके शासक होंगे ॥४४॥ यह हमलोगोंके लिये बड़ा लाभ है कि रामचन्द्रके हाथोंमें राष्ट्रभार बहुत दिनोंके लिए आ रहा है, इनके राजा रहनेपर कोई अप्रिय न देख सकेगा, किसीको दुःख भोगना न पड़ेगा ॥४५॥ आगे चलनेवाले स्वस्तिक, सूत और मागधों (मंगल प्रयोग करनेवाले स्वस्तिक, पुराण वाचनेवाले सूत और वंश वर्णन करनेवाले मागध कहे जाते हैं) से प्रशंसित तथा श्रेष्ठ बाजा बजानेवालोंसे स्तुत रामचन्द्र घोड़ों और हाथियोंके साथ कुबेरके समान चले ॥४६॥ रामचन्द्रने राजमार्ग देखा, हथिनी, हाथी, रथ और घोड़ोंसे वह भरा हुआ था, चौराहे मनुष्योंसे भरे थे, अनेक प्रकारकी बिकनेवाली चीजोंकी तथा रत्नोंकी जहाँ ढेर लगी हुई थी ॥४७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥१६॥

सप्तदशः सर्गः १७

स रामो रथमास्थाय संप्रहृष्टसुहृज्जनः । पताकाध्वजसंपन्नं महार्हागुरुधूपितम् ॥ १ ॥
अपश्यन्नगरं श्रीमान्नानाजनसमन्वितम् । स गृहैरभ्रसंकाशैः पाण्डुरैरुपशोभितम् ॥ २ ॥
राजमार्गं ययौ रामो मध्येनागुरुधूपितम् । चन्दनानां च मुख्यानामगुरूणां च संचयैः ॥ ३ ॥
उत्तमानां च गन्धानां क्षौमकौशाम्बरस्य च । अविद्धाभिश्च मुक्ताभिरुत्तमैः स्फाटिकैरपि ॥४॥
शोभमानमसंबाधं तं राजपथमुत्तमम् । संवृतं विविधैः पुष्पैर्भक्ष्यैरुच्चावचैरपि ॥ ५ ॥
ददर्श तं राजपथं दिवि देवपतिर्यथा । दध्यक्षतहविर्लाजैर्धूपैरगुरुचन्दनैः ॥ ६ ॥
नानामाल्योपगन्धैश्च सदाभ्यर्चितचत्वरम् । आशीर्वादान्बहूञ्शृण्वन्बहुभिः समुदीरितान् ॥७॥
यथार्हं चापि संपूज्य सर्वानेव नरान्ययौ । पितामहैराचरितं तथैव प्रपितामहैः ॥ ८ ॥
अद्योपादाय तं मार्गमभिषिक्तोऽनुपालय । यथा स्म पोषिताः पित्रा यथा सर्वैः पितामहैः ।
ततः सुखतरं सर्वे रामे वत्स्याम राजनि ॥ ९ ॥
अलमद्य हि भुक्तेन परमार्थैरलं च नः । यदि पश्याम निर्यान्तं रामं राज्ये प्रतिष्ठितम् ॥१०॥
ततो हि नः प्रियतरं नान्यत्किंचिद्भविष्यति । यथाभिषेको रामस्य राज्येनामिततेजसः ॥११॥

जिनके मित्र प्रसन्न हैं ऐसे रामचन्द्रने रथपर चढ़कर ध्वजा-पताकासे शोभित और दामी अगरुसे धूपित ॥१॥ नगर देखा। अनेकविध मनुष्योंसे वह नगर पूर्ण था। मेघके समान ऊँचे स्वच्छ घरोंसे उसकी शोभा बढ़ रही थी ॥२॥ रामचन्द्र सड़कके बीचसे जा रहे थे, वहाँ अगरुका धूप दिया गया था, उत्तम जातिके चन्दन अगरु ॥३॥ तथा अन्य उत्तम गन्धकी वस्तुओंके समूहसे रेशमी और ऊनी वस्त्रोंके समूहसे, अनविधे मोतियों और उत्तम स्फटिकोंसे ॥४॥ वह राजमार्ग शोभित हो रहा था, वह राज्यमार्ग बड़ा चौड़ा था, विविध पुष्पों तथा अनेक प्रकारकी भोजनकी वस्तुओंसे वह राज्यमार्ग शोभित था ॥५॥ यह सब देखते हुए रामचन्द्र उस मार्गसे चले, जैसे इन्द्र स्वर्गमें चलते हैं। उस राज्यमार्गके चौराहेपर, दधि, अक्षत, हवि, लावा, धूप, अगरु, चन्दन ॥६॥ तथा अनेक प्रकारकी मालाएँ और गन्धकी चीजोंसे पूजा होती थी। अनेक मनुष्योंसे कहे, अनेक प्रकारके आशिर्वादोंको सुनते हुए रामचन्द्र उस राजमार्गसे चले ॥७॥ जो जैसा था उसके प्रति वैसा सम्मान दिखाते हुए रामचन्द्र उस राजमार्गसे चले। रामचन्द्रके उद्देश्यसे प्रजाके लोग कहते थे, तुम्हारे पिता, पितामह, प्रपितामह आदिने जिस नीतिमार्गका अनुसरण किया है ॥८॥ उसी मार्गपर चलकर आप भी हमलोगोंका पालन करें। इनके पिता और पितामहके समयमें जिस प्रकार हमलोगोंका पालन हुआ है, जैसे सुखसे हमलोग रहे हैं, उससे अधिक सुख रामचन्द्रके राज्यकालमें हमलोगोंका होगा ॥९॥ राज्यपर प्रतिष्ठित रामचन्द्रको पिताके भवनसे निकलते यदि हम लोग देखें तो हमलोगोंको ऐहिक सुख भोगोंसे क्या मतलब और परमार्थके कृत्योंसे भी कौन लाभ अर्थात् रामचन्द्रको राजा देखना सब सुखोंसे बढ़कर है ॥१०॥ इससे बढ़कर प्रिय हमलोगोंका दूसरा न होगा कि अमित-

एताश्चान्यश्च सुहृदामुदासीनः शुभाः कथाः। आत्मसंपूजनीः शृण्वन्ययौ रामो महापथम् ॥१२॥
नहि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात् । नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ॥१३॥
यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति । निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥१४॥
सर्वेषु स हि धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम् । चतुर्णां हि वयःस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ॥१५॥
चतुष्पथान्देवपथांश्चैत्यांश्चायतनानि च । प्रदक्षिणं परिहरञ्जगाम नृपतेः सुतः ॥१६॥
स राजकुलमासाद्य मेघसङ्घोपमैः शुभैः । प्रासादशृङ्गैर्विविधैः कैलासशिखरोपमैः ॥१७॥
आवारयद्भिर्गगनं विमानैरिव पाण्डुरैः । वर्धमानगृहैश्चापि रत्नजालपरिष्कृतैः ॥१८॥
तत्पृथिव्यां गृहवरं महेन्द्रसदनोपमम् । राजपुत्रः पितुर्वेश्म प्रविवेश श्रिया ज्वलन् ॥१९॥
स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभिः । पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः ॥२०॥
स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः । संनिवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान्तःपुरमत्यगात् ॥२१॥

तस्मिन्प्रविष्टे पितुरन्तिकं तदा जनः स सर्वो मुदितो नृपात्मजे ।
प्रतीक्षते तस्य पुनः स्म निर्गमं यथोदयं चन्द्रमसः सरित्पतिः ॥२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

तेजः रामचन्द्रका राज्याभिषेक हो ॥११॥ ये तथा इसी प्रकारकी अनेक बातें जो रामचन्द्रकी प्रशंसामें कही गयी थीं। अपने शुभेच्छुओंकी, उदासीनभावसे सुनते हुए रामचन्द्र राजमार्गसे चले ॥१२॥ उन नरश्रेष्ठ रामचन्द्रसे कोई भी मनुष्य अपना मन और आँखें उनके दूर चले जानेपर भी हटा नहीं सका ॥१३॥ जिसने रामको नहीं देखा और रामने जिसको नहीं देखा उसकी लोकमें निन्दा हुई और वह स्वयं भी अपनेको निन्दित समझने लगा ॥१४॥ रामचन्द्र सब वर्णों, प्राणियों तथा वृद्धोंपर दया करते थे, इस कारण वे रामचन्द्रके अनुगामी थे ॥१५॥ राजपुत्र रामचन्द्र चौराहे, देवमार्ग, ग्रामदेवस्थान, पाठशाला आदिकी दाहिनी ओरसे अपनेको बचाकर गये अर्थात् इन स्थानोंकी बाँई ओरसे वे गये ॥१६॥ रामचन्द्र राजद्वारपर पहुँचे। मेघके समान विशाल और कैलाश-शिखरके समान ऊँचे सुन्दर अनेक प्रकारके प्रासादके शिखरोंसे ॥१७॥ वे गृह आकाशको रोक रहे थे, जैसे श्वेत विमान आकाशमें फैल जाते हैं। वहाँ रत्नोंके बने जाल लगे हुए थे, जिससे कोई पक्षी आदि न आ जाय, अनेक क्रीड़ाघर भी बने हुए थे ॥१८॥ वह उत्तम गृह पृथिवीमें इन्द्रके गृहके समान था। अपनी कान्तिसे सुशोभित राजपुत्र पिताके उस घरमें गये ॥१९॥ तीन खण्ड तो वे घोड़ेपर चढ़ गये जिनकी रक्षा धनुर्धारी करते थे, नरश्रेष्ठ रामचन्द्र दूसरे दो खण्ड पैदल गये ॥२०॥ दसरथपुत्र रामचन्द्र सब खण्डोंको इस प्रकार लाँघकर और अपने साथके सब आदमियोंको लौटाकर महलमें गये ॥२१॥ उस समय राजपुत्रके पिताके समीप जानेपर सब लोग बहुत ही प्रसन्न हुए और उनके आनेकी प्रतीक्षा करने लगे, जिस प्रकार समुद्र चन्द्रमाके उदयकी प्रतीक्षा करता है ॥२२॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः १८

स ददर्शासने रामो विषण्णं पितरं शुभे । कैकेय्या सहितं दीनं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥
स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतवत् । ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः ॥ २ ॥
रामेत्युक्त्वा तु वचनं बाष्पपर्याकुलेक्षणः । शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम् ॥ ३ ॥
तदपूर्वं नरपतेर्दृष्ट्वा रूपं भयावहम् । रामोऽपि भयमापन्नः पदा स्पृष्ट्वेव पन्नगम् ॥ ४ ॥
इन्द्रियैरप्रहृष्टैस्तं शोकसंतापकर्शितम् । निःश्वसन्तं महाराजं व्यथिताकुलचेतसम् ॥ ५ ॥
ऊर्मिमालिनमक्षोभ्यं क्षुभ्यन्तमिव सागरम् । उपप्लुतमिवादित्यमुक्तानृतमृषिं यथा ॥ ६ ॥
अचिन्त्यकल्पं नृपतेस्तं शोकमुपधारयन् । बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि ॥ ७ ॥
चिन्तयामास चतुरो रामः पितृहिते रतः । किंस्विदद्यैव नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति ॥ ८ ॥
अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति । तस्य मामद्य संप्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते ॥ ९ ॥
स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः । कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत् ॥१०॥
पराद्धिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता । कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय ॥११॥
अप्रसन्नमनाः किं नु सदा मां प्रति वत्सलः । विषण्णवदनो दीनः सदा मां प्रतिभाषते ॥१२॥

रामचन्द्रने अपने पिताको सुन्दर आसन पर देखा, वे बड़े दुःखी थे, दीन थे, उनका मुँह सूखा हुआ था, केकयी भी वहीं थीं ॥१॥ रामचन्द्रने पहले अपने पिताके चरणोंको विनयपूर्वक प्रणाम किया, तदनन्तर उन्होंने खूब सावधान होकर केकयीको प्रणाम किया ॥२॥ राजाने "राम" कहा, आगे वे कुछ बोल न सके, उनकी आँखें आँसूसे भर आयीं । दुःखी राजा न तो रामचन्द्रकी ओर देख सके और न वे उनसे कुछ बोल सके ॥३॥ राजाका वह भयानक रूप देखकर रामचन्द्रको भी भय हुआ, जैसे पैरसे साँपके छू जानेसे मनुष्य भयभीत होता है ॥४॥ राजाकी इन्द्रियाँ दुःखी हो गयी थीं शोक और सन्तापसे वे कृश हो गये थे, उनका चित्त व्यथित और व्याकुल हो गया था, वे लम्बी साँस ले रहे थे ॥५॥ कभी क्षुभित न होनेवाले ऊर्मिमाली (जिसमें अधिक तरंगें उठती हों) समुद्र यदि क्षुभित हो जाय उसके समान, राहुग्रस्त सूर्यके समान, और झूठ बोले हुए ऋषिके समान राजाको देखकर रामचन्द्र भयभीत हुए ॥६॥ राजाके वैसा दुःखी होनेका कारण न था, फिर भी वे दुःखी हैं इसका क्या कारण है, इस बातको सोचनेसे रामचन्द्र बहुत ही व्याकुल हुए, जैसे पूर्णिमाको समुद्र क्षुभित होता है ॥७॥ सदा पिताका हित करनेवाले रामचन्द्रने सोचा कि आज ही राजा मेरा आदर नहीं कर रहे हैं ॥८॥ और समय राजा क्रोधित भी रहते थे तो मुझे देखकर प्रसन्न हो जाते थे, उसी राजाको आज मुझे देखकर दुःख क्यों हो रहा है ॥९॥ इस विचारसे रामचन्द्रका मुँह कुम्हिला गया, वे दीन और शोकार्तके समान केकयीको प्रणाम करके बोले ॥१०॥ मैंने अज्ञानसे भी महाराजका कोई अपराध नहीं किया है अतएव पिता जिस कारणसे कुपित हुए हैं, वह तुम कहो और तुम्हीं इनको मुझपर प्रसन्न करो ॥११॥ महाराज सदाही मुझपर प्रसन्न रहा करते थे, पर वे आज अप्रसन्न हैं, वे आज दुःखी होकर मुझसे बोलते

शारीरो मानसो वापि कच्चिदेनं न बाधते । संतापो वाभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम् ॥१३॥
कच्चिन्न किंचिद्भरते कुमारे प्रियदर्शने । शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातॄणां वा ममाशुभम् ॥१४॥
अतोषयन्महाराजमकुर्वन्वा पितुर्वचः । मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे ॥१५॥
यतोमूलं नरः पश्येत्प्रादुर्भावमिहात्मनः । कथं तस्मिन्न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ॥१६॥
कच्चित्ते परुषं किंचिदभिमानात्पिता मम । उक्तो भवत्या रोषेण येनास्य लुलितं मनः ॥१७॥
एतदाचक्ष्व मे देवि तत्त्वेन परिपृच्छतः । किंनिमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे ॥१८॥
एवमुक्ता तु कैकेयी राघवेण महात्मना । उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः ॥१९॥
न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किंचन । किंचिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नानुभाषते ॥२०॥
प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्य प्रवर्तते । तदवश्यं त्वया कार्यं यदनेनाश्रुतं मम ॥२१॥
एष मह्यं वरं दत्त्वा पुरा मामभिपूज्य च । स पश्चात्तप्यते राजा यथान्यः प्राकृतस्तथा ॥२२॥
अतिसृज्य ददानीति वरं मम विशांपतिः । स निरर्थं गतजले सेतुं बन्धितुमिच्छति ॥२३॥
धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि । तत्सत्यं न त्यजेद्राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा ॥२४॥
यदि तद्वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाऽशुभम् । करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम् ।२५।

हैं ॥१२॥ शरीर-सम्बन्धी सन्ताप और मन-सम्बन्धी कोई अभिताप तो इनको दुःख नहीं दे रहा है, क्योंकि सदा सुखी रहना सम्भव नहीं है ॥१३॥ प्रियदर्शन कुमार भरत, बलवान् शत्रुघ्न अथवा माताओंके सम्बन्धमें तो कोई अशुभ घटना नहीं हुई है ? ॥१४॥ महाराजको बिना प्रसन्न किये, पिताकी आज्ञाका बिना पालन किये और राजाके क्रोधित रहते मैं एक मुहूर्त भी जीना नहीं चाहता ॥१५॥ मनुष्य जिसके कारण अपना प्रादुर्भाव (जन्म) देखता है, उस प्रत्यक्ष देवताके अनुकूल वह क्यों न चलेगा ॥१६॥ क्या आपने अभिमानसे मेरे पिताको कुछ कठोर कह दिया है या क्रोधसे ही आपने इन्हें कुछ कह दिया है जिससे इनका मन दुःखी हो गया है ॥१७॥ देवि, आप यह ठीक-ठीक बतलावें, मैं पूछ रहा हूँ, महाराजके इस अद्भुत रोगका क्या कारण है ? ॥१८॥ महात्मा रामचन्द्रके ऐसा कहनेपर निर्लज्ज और ढीठ केकयी अपने मतलबकी बात बोली ॥१९॥

राम, राजा कुपित नहीं हुए हैं और न इन्हें कोई रोग ही हुआ है, इनके मनमें कुछ है जो तुम्हारे डरसे ये नहीं कह रहे हैं ॥२०॥ तुम इनके प्रिय हो, तुमसे अप्रिय कहनेके लिए इनका मुँह नहीं खुलता । अतएव तुमको वह काम अवश्य ही करना चाहिए जिसके लिए इन्होंने मेरे सामने प्रतिज्ञा की है ॥२१॥ इन्होंने पहले मुझे वर दिया था और उस वरदानसे मुझे प्रसन्न किया था, पर जब उस वरके अनुसार काम करनेका समय आया तब वे पश्चाताप करते हैं, जैसे कि साधारण मनुष्य करते हैं ॥२२॥ "वर देता हूँ" ऐसी प्रतिज्ञा करके राजा अब उसके विपरीत काम करना चाहते हैं, पर वह व्यर्थ है जलके निकल जानेपर नदीमें बाँध बाँधनेके समान है ॥२३॥ सत्य धर्मका मूल है यह बात सज्जनोंको मालूम है । तुम्हारे कारण मुझपर क्रोध करके राजा उस सत्यसे विचलित न होने पावें, ऐसा तुम उपाय करो ॥२४॥ महाराज तुम्हें जो कहें, वह अच्छा हो या बुरा, उससे तुम्हारी भलाई हो या बुराई, यदि तुम

यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते । ततोऽहमभिधास्यामि नह्येष त्वयि वक्ष्यति ॥२६॥
एतत्तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या समुदाहृतम् । उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसंनिधौ ॥२७॥
अहो धिङ्नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः । अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥२८॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे । नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥२९॥
तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम् । करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥३०॥
तमार्जवसमायुक्तमनार्या सत्यवादिनम् । उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम् ॥३१॥
पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव । रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे ॥३२॥
तत्र मे याचितो राजा भरतस्याभिषेचनम् । गमनं दण्डकारण्ये तव चाद्यैव राघव ॥३३॥
यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि । आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु ॥३४॥
संनिदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम् । त्वयारण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥३५॥
भरतश्चाभिषिच्येत यदेतदभिषेचनम् । त्वदर्थे विहितं राज्ञा तेन सर्वेण राघव ॥३६॥
सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः । अभिषेकमिदं त्यक्त्वा जटाचीरधरो भव ॥३७॥
भरतः कोसलपतेः प्रशास्तु वसुधामिमाम् । नानारत्नसमाकीर्णां सवाजिरथसंकुलाम् ॥३८॥
एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारुण्येन समाप्लुतः । शोकैः संक्लिष्टवदनो न शक्नोति निरीक्षितुम् ॥३९॥

उसका करना स्वीकार करो तो मैं सब तुमसे कहूँ ॥२५॥ यदि राजाका कहा हुआ तुम्हारे सामने व्यर्थ न हो तो मैं कहूँ, स्वयं राजा न कहेंगे ॥२६॥ केकयीका कहा हुआ ऐसा वचन सुनकर राजाके सामने रामचन्द्र दुःखी होकर केकयीसे बोले ॥२७॥ देवि, धिक्, तुमको मुझसे ऐसी बातें न कहनी चाहिए, राजाकी आज्ञासे मैं आगमें भी कूद सकता हूँ, ॥२८॥ तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ, यदि अपने गुरु, पिता, राजा और हितकारीकी आज्ञा पाऊँ ॥ २९ ॥ देवि, आप वह बात कहे जो राजा चाहते हैं, मैं वह काम अवश्य करूँगा, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, राम दो बार नहीं बोलता ॥३०॥ विनयी और सत्यवादी रामचन्द्रसे अनार्या केकयी बहुत ही कठोर वचन बोली ॥३१॥ राम, पहले देवासुर-युद्धमें तुम्हारे पिताको बाण लग गया था और उस समय मैंने उनकी रक्षा की थी, उस समय उन्होंने मुझे दो वर देनेको कहा था ॥३२॥ वे वर मैंने राजासे माँगे, एक तो यह कि भरतको राज्याभिषेक हो और दूसरा तुमको दण्डकारण्यमें भेजा जाय ॥३३॥ राम, यदि तुम अपने पिताकी प्रतिज्ञा सत्य करना चाहते हो और अपनेको भी सत्यवादी सिद्ध करना चाहते हो तो मैं जो कहूँ वह सुनो ॥३४॥ तुम्हारे पिताने जो प्रतिज्ञा की है तुम उस प्रतिज्ञाको मानो और चौदह वर्षोंके लिये वनमें जाओ ॥३५॥ तुम्हारे अभिषेकके लिये राजाने जो तयारी की है उससे यहाँ भरतका तुम्हारे स्थानपर अभिषेक किया जाय ॥३६॥ चौदह वर्षोंतक तुम दण्डकारण्यमें रहो, इस अभिषेकका त्याग करो और जटा-बल्कल धारण करो ॥३७॥ धन-धान्य, हाथी-घोड़ोंसे पूर्ण राजा दसरथके इस राज्यका शासन भरत करें ॥३८॥ तुम्हारा वियोग होगा, इस दुःखसे राजा बहुत दुःखी हो गये हैं, शोकसे इनका मुँह सूख गया है और ये तुम्हारी ओर

एतत्कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन। सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरन् ॥४०॥
इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां न चैव रामः प्रतिवेश शोकम्।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो राजा च पुत्रव्यसनाभितप्तः ॥४१॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः १९

तदप्रियममित्रघ्नो वचनं मरणोपमम्। श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥
एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः। जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २ ॥
इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः। नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापूर्वमरिंदमः ॥ ३ ॥
मन्युर्न च त्वया कार्यो देवि ब्रूमि तवाग्रतः। यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः ॥ ४ ॥
हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च। नियुज्यमानो विस्रब्धः किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥ ५ ॥
अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम। स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥ ६ ॥
अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान्धनानि च। हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः ॥ ७ ॥
किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः। तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ ८ ॥

देख नहीं सकते ॥३९॥ रघुनन्दन, राजाकी इस बातका तुम पालन करो, राजाके इस सत्यकी रक्षा कर तुम उन्हें उबार लो ॥४०॥ इस प्रकार केकयीके कठोर वचन कहनेसे रामचन्द्र दुःखी नहीं हुए, पर पुत्रके दुःख-से-दुःखी होकर महानुभाव राजा अत्यन्त दुःखी हुए ॥४१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥१८॥

शत्रुनाशी रामचन्द्र मरणके समान अप्रिय केकयीके कटुवचन सुनकर कुछ भी व्यथित न हुए और वे बोले ॥१॥ ठीक है मैं वनमें रहनेके लिए यहाँसे जाऊँगा, राजाकी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिए मैं जटा-चीर धारण करूँगा ॥२॥ पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि पराजित न होनेवाले शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराजा पहलेके समान मेरे साथ व्यवहार क्यों नहीं करते ॥३॥ देवि, ये बातें मैं तुम्हारे सामने कह रहा हूँ, इससे तुम क्रोध न करना, जटा-चीर धारण करके मैं वन जाऊँगा, तुम प्रसन्न हो ॥४॥ हमारे हितकारी गुरु, पिता, कृतज्ञ और राजाकी आज्ञासे बिना सोचे-विचारे मैं तुम्हारा प्रियकाम (वन जाना) क्यों न करूँगा ॥५॥ पर यह एक दुःख मुझे दुःखित कर रहा है, स्वयं महाराजने भरतके अभिषेकके सम्बन्धमें कोई बात न कही ॥६॥ मैं केवल तुम्हारे ही कहनेसे सीता, राज्य, और अपने प्राण, तथा अन्य प्रियधन प्रसन्नतापूर्वक अपने भाई भरतको दे सकता हूँ ॥७॥ फिर यदि स्वयं महाराज—मेरे पिता आज्ञा दें और तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होता हो, तो भला मैं उस कामको क्यों न करूँगा ॥८॥

तथाश्वासय ह्रीमन्तं किं त्विदं यन्महीपतिः । वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति ॥ ९ ॥
गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः । भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात् ॥१०॥
दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः । अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश ॥११॥
सा हृष्टा तस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकयी । प्रस्थानं श्रद्दधाना सा त्वरयामास राघवम् ॥१२॥
एवं भवतु यास्यन्ति दूताः शीघ्रजवैर्हयैः । भरतं मातुलकुलादिहावर्तयितुं नराः ॥१३॥
तव त्वहं क्षमं मन्ये नोत्सुकस्य विलम्बनम् । राम तस्मादितः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि ॥१४॥
व्रीडान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वां नाभिभाषते । नैतत्किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥१५॥
यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादतित्वरन् । पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा ॥१६॥
धिक्कष्टमिति निःश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः । मूर्च्छितो न्यपतत्तस्मिन्पर्यङ्के हेमभूषिते ॥१७॥
रामोऽप्युत्थाप्य राजानं कैकेय्याभिप्रचोदितः । कशयेव हतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः ॥१८॥
तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोदयम् । श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ॥१९॥
नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे । विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ॥२०॥
यत्तत्र भवतः किंचिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया । प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥२१॥

आप राजाको मेरी ओरसे विश्वास दिलाइए, ये क्यों लज्जित होकर पृथिवीकी ओर देख रहे हैं, और धीरे-धीरे आँसू बहा रहे हैं ॥९॥ राजाकी आज्ञासे आज ही तेज घोड़ेपर चढ़कर मामाके यहाँसे भरतको ले आनेके लिए दूत जाँय ॥१०॥ मैं शीघ्र ही पिताके वाक्यका बिना विचार किये दण्डकारण्य वनमें चौदह वर्ष रहनेके लिए जा रहा हूँ ॥११॥ रामचन्द्रके ये वचन सुनकर वह केकयी प्रसन्न हुई। रामचन्द्रके वन जानेका उसे विश्वास हो गया और वह उन्हें शीघ्रता करनेके लिए कहने लगी ॥१२॥ ऐसा ही हो, मामाके यहाँसे भरतको लौटा ले आनेके लिए दूत तेज घोड़ोंपर जायँगे ॥१३॥ पर तुम्हारा यहाँ विलम्ब करना उचित नहीं है, क्योंकि तुम भी वन जानेके लिए उत्सुक हो, अतएव तुम शीघ्र ही यहाँसे वन जानेके लिए तयार हो जाओ ॥१४॥ राजा लज्जित हैं, इस कारण ये तुमसे स्वयं कुछ नहीं कह रहे हैं, यह कोई बात नहीं है इसपर विचार करनेकी जरूरत नहीं है, राजा कहे यह आग्रह तुम अपने मनसे निकाल दो ॥१५॥ रामचन्द्र, जब तक तुम अति शीघ्रतापूर्वक इस नगरसे वन न चले जाओगे, तब तक तुम्हारे पिता न स्नान करेंगे और न भोजन ही करेंगे ॥१६॥ केकयीके इस झूठे वचनको सुनकर राजाने उसे धिक्कारा और अत्यन्त शोकके कारण साँस लेकर सोनेके पलँगपर मूर्च्छित होकर गिर पड़े ॥१७॥ रामचन्द्रने राजाको उठाया और केकयीके पुनः कहनेसे वन जानेके लिए तयार हुए ॥१८॥ अनार्या केकयीका वह अप्रिय वचन रामचन्द्रने सुना, जिससे आगे राजकुलके लिए भयङ्कर घटनाएँ होनेवाली थीं, पर रामचन्द्रको उन बातोंसे कोई दुःख न था, वे केकयीसे बोले ॥१९॥ देवि, मैं धन चाहनेवाला नहीं हूँ, मैं लोक-रक्षा करना चाहता हूँ, विमल धर्मपालन करनेवाले ऋषियोंके समान तुम मुझे समझो ॥२०॥ पूज्य पिताका जो कुछ प्रिय मैं कर सकूँ, तुम समझो कि वह सब प्राण देकर भी मैंने किया ॥२१॥

न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम् । यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥२२॥
अनुक्तोऽप्यत्र भवता भवत्या वचनादहम् । वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥२३॥
न नूनं मयि कैकेयि किंचिदाशंससे गुणान् । यद्राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती ॥२४॥
यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम् । ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद्वनम् ॥२५॥
भरतः पालयेद्राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा । तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥२६॥
रामस्य तु वचः श्रुत्वा भृशं दुःखगतः पिता । शोकादशक्नुवन्वक्तुं प्ररुरोद महास्वनम् ॥२७॥
वन्दित्वा चरणौ राज्ञो विसंज्ञस्य पितुस्तदा । कैकेय्याश्चाप्यनार्याया निष्पपात महाद्युतिः ॥२८॥
स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम् । निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्मात्स्वं ददर्श सुहृज्जनम् ॥२९॥
तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनुजगाम ह । लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥३०॥
आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम् । शनैर्जगाम सापेक्षो दृष्टिं तत्राविचालयन् ॥३१॥
न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति । लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः ॥३२॥
न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुंधराम् । सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥३३॥
प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलंकृते । विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान् ॥३४॥

इससे बढ़कर दूसरा कोई धर्माचरण नहीं है जैसा कि पिताकी सेवा और उनकी आज्ञाओंका पालन है ॥२२॥ राजाके बिना कहे भी केवल आपके कहनेसे निर्जन वनमें चौदह वर्ष रहूँगा ॥२३॥ केकयी, तुम मेरे गुणोंको नहीं जानती हो, अतएव तुमने इस कामके लिए, मुझे वन भेजनेके लिए, महाराजसे कहा, तुम तो स्वयं मेरी स्वामिनी हो, तुम्हारे ही कहनेसे मैं जा सकता था ॥२४॥ मैं माता—कौसल्यासे पूछ लूँ और सीताको समझा लूँ, तदन्तर आज ही दण्डकोंके बड़े वनमें मैं चला जाऊँगा (दण्डक इक्ष्वाकुके पुत्र थे, उनकी वहाँ राजधानी थी, शुक्रके शापसे वह वन हो गया था) ॥२५॥ भरत, राज्यका पालन करें और पिताकी सेवा करें, ऐसा प्रबन्ध आप कीजियेगा, क्योंकि यह सनातनधर्म है ॥२६॥ पिता दसरथ पहलेसे ही दुःखी थे, रामचन्द्रके इन वचनोंके सुननेसे उनका दुःख और बढ़ा। वे कुछ बोल तो सके नहीं, गला फाड़कर रोने लगे ॥२७॥ संज्ञाहीन पिताको नमस्कार करके तथा अनार्या केकयीको नमस्कार करके महाद्युति रामचन्द्र वहाँसे निकले ॥२८॥ पिता और केकयीकी प्रदक्षिणा करके तथा महलसे निकल रामचन्द्रने अपने मित्रोंको देखा ॥२९॥ सुमित्राकुमार लक्ष्मण उस समय बड़े क्रुद्ध थे, उनकी आँखें जलसे भर आयी थीं, वे रामचन्द्रके पीछे-पीछे चले ॥३०॥ वन जानेके लिए तयार रामचन्द्र, अभिषेककी सामग्रियोंको प्रदक्षिणा करते हुए तथा वहाँ बैठे हुए लोगोंको देखते हुए धीरे-धीरे गये ॥३१॥ राज्यके नाश होनेसे-विघ्नके कारण अभिषेक न होनेसे रामचन्द्रकी शोभामें कोई अन्तर न पड़ा, क्योंकि लोकप्रिय रामचन्द्र स्वभावसुन्दर हैं, सभी अवस्थाओंमें लोकप्रिय हैं, जैसे चन्द्रमा। वह घटे चाहे बढ़े हर हालतमें जनप्रिय है ॥३२॥ रामचन्द्र वन जानेके लिए तयार हुए, पृथिवीका राज्य उन्होंने छोड़ दिया, पर लोकविलक्षण मनुष्यके समान उनके चित्तमें कोई विकार न हुआ। उन्हें न राज्य पानेका हर्ष था और न वन जानेका दुःख ॥३३॥ छत्र और चामर उन्होंने त्याग किया, परिजन, रथ तथा पुर-

धारयन्मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च । प्रविवेशात्मवान्वेश्म मातुरप्रियशंसिवान् ॥३५॥
सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमाञ्छ्रीमतः सत्यवादिनः । नालक्षयत रामस्य कंचिदाकारमानने ॥३६॥
उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान् । शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम् ॥३७॥
वाचा मधुरया रामः सर्वं संमानयञ्जनम् । मातुः समीपं धर्मात्मा प्रविवेश महायशाः ॥३८॥
तं गुणैः समतां प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः । सौमित्रिरनुवव्राज धारयन्दुःखमात्मजम् ॥३९॥
प्रविश्य वेश्मातिभृशं मुदा युतं समीक्ष्य तां चार्थविपत्तिमागताम् ।
न चैव रामोऽत्र जगाम विक्रियां सुहृज्जनस्यात्मविपत्तिशङ्कया ॥४०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥१९॥

विंशः सर्ग २०

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ । आर्तशब्दो महाञ्जज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे तदा ॥ १ ॥
कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च । गतिश्च शरणं चासीत्स रामोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ २ ॥
कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा । तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः ॥ ३ ॥

वासियोंको उन्होंने अपने साथ चलनेसे निषेध किया ॥३४॥ दसरथके दुःखसे रामचन्द्रका मन दुःखी था, पर उन्होंने इन्द्रियोंपर ऐसा काबू कर लिया था, जिससे मनका दुःख प्रकाशित नहीं होता था, वे संयमी रामचन्द्र, माताको यह अप्रिय संवाद सुनानेके लिए माताके घरमें गये ॥३५॥ अभिषेकके समयके जिन लोगोंने सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये थे, वे रामचन्द्रके परिजन भी रामचन्द्रके मुँहपर कुछ विकार न देख सके, क्योंकि वह था ही नहीं ॥३६॥ रामचन्द्रने पुत्रके कर्तव्यका तथा हर्षका त्याग नहीं किया, जिस प्रकार प्रवृद्धतेज शरत्का चन्द्रमा अपना तेज नहीं छोड़ता ॥३७॥ महायशस्वी धर्मात्मा रामचन्द्र मधुर वचनों द्वारा सबका सम्मान करते हुए अपने माताके समीप गये ॥ ३८ ॥ गुणोंसे रामचन्द्रके समान परम पराक्रमी भाई लक्ष्मण भी दुःखी मनसे उनके पीछे-पीछे चले ॥३९॥ रामचन्द्रने समृद्धिमान् माताके घरमें प्रवेश किया । राज्यनाशकी चिन्तासे रामचन्द्रके मनमें कुछ भी विकार नहीं था, किन्तु अपने दसरथ रूप-सुहृत्के प्राण-विनाशकी सम्भावनासे वे दुःखी थे ॥४०॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १९ ॥

पुरुषसिंह रामचन्द्र जब हाथ जोड़े राजमहलमें गये तब वहाँ स्त्रियोंके बड़े ही दुःखित शब्द सुन पड़े ॥१॥ सब महारानियोंके कामोंका, पिताके आज्ञाके विना भी, जो प्रबन्ध करते थे और रनिवासकी रक्षा करते थे वे रामचन्द्र आज प्रवासमें जायँगे ॥२॥ अपनी माता कौसल्याकी सेवामें जिस प्रकार रामचन्द्र तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार हम लोगोंकी भी सेवा रामचन्द्र जन्मसे ही करते हैं ॥ ३ ॥

न क्रुध्यत्यभिशप्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् । क्रुद्धान्प्रसादयन्सर्वान्स इतोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ ४ ॥
अबुद्धिर्बत नो राजा जीवलोकं चरत्ययम् । यो गतिं सर्वभूतानां परित्यजति राघवम् ॥ ५ ॥
इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः । पतिमाचुक्रुशुश्चापि सस्वनं चापि चुक्रुशुः ॥ ६ ॥
स हि चान्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः । पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा व्यालीयतासने ॥ ७ ॥
रामस्तु भृशमायस्तो निःश्वसन्निव कुञ्जरः । जगाम सहितो भ्रात्रा मातुरन्तःपुरं वशी ॥ ८ ॥
सोऽपश्यत्पुरुषं तत्र वृद्धं परमपूजितम् । उपविष्टं गृहद्वारि तिष्ठतश्चापरान्बहून् ॥ ९ ॥
दृष्ट्वैव तु तदा रामं ते सर्वे समुपस्थिताः । जयेन जयतां श्रेष्ठं वर्धयन्ति स्म राघवम् ॥१०॥
प्रविश्य प्रथमां कक्ष्यां द्वितीयायां ददर्श सः । ब्राह्मणान्वेदसंपन्नान्वृद्धान्राज्ञाभिसत्कृतान् ।११।
प्रणम्य रामस्तान्वृद्धांस्तृतीयायां ददर्श सः । स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च द्वाररक्षणतत्पराः ॥१२॥
वर्धयित्वा प्रहृष्टास्ताः प्रविश्य च गृहं स्त्रियः । न्यवेदयन्त त्वरितं राममातुः प्रियं तदा ॥१३॥
कौसल्यापि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता । प्रभाते चाकरोत्पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी ॥१४॥
सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा । अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला ॥१५॥
प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम् । ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम् ।।१६।।

कड़ी बात सुननेपर भी रामचन्द्र क्रोध नहीं करते, वे ऐसा कोई काम नहीं करते जिससे दूसरेको क्रोध हो, क्रुद्ध मनुष्योंको वे प्रसन्न करते रहते हैं, वे रामचन्द्र आज प्रवासमें जा रहे ।।४।। सब प्राणियोंकी गति रामचन्द्रका जो राजा त्याग कर रहा है, वह हम लोगोंका राजा बुद्धिहीन है और वह सबका नाश कर रहा है ।।५।। इस प्रकार सब रानियाँ बिनबच्छेवाली गायोंके समान पतिकी निन्दा करने लगीं और वे उनको सम्बोधन करके कहने लगीं—आपने ऐसा क्यों निश्चय किया ।।६।। पुत्रशोकसे दुःखी राजा दसरथ रनिवासका ऐसा भयानक दुःखित शब्द सुनकर बिछौनेमें छिपसे गये ।।७।। अपने स्वजनोंके दुःखसे रामचन्द्र बहुत दुःखी हुए और हाथीके समान साँस लेने लगे, पर उन्होंने अपनेको सम्भाला, क्योंकि वे वशी थे, वे भाईके साथ माताके महलमें चले ।।८।। रामचन्द्रने वहाँ द्वारपर परम पूजनीय एक वृद्ध पुरुषको बैठे देखा, अन्य अनेक पुरुषोंको भी उन्होंने बैठे देखा जो द्वारपाल थे ।।९।। रामचन्द्रको देखते ही वे लोग उनके पास चले आये और विजयियोंमें श्रेष्ठ रामचन्द्रका जयजयकार करने लगे ।।१०।। पहले खण्डको लाँघकर रामचन्द्रने दूसरे खण्डमें वेदज्ञ वृद्ध ब्राह्मणोंको देखा जिन ब्राह्मणोंका सम्मान राजा दसरथ करते थे ।।११।। उन वृद्धोंको प्रणाम करके रामचन्द्र तीसरे खण्डमें गये और वहाँ उन्होंने बालकों, वृद्धों और स्त्रियोंको द्वारकी रक्षा करते देखा ।।१२।। रामचन्द्रको आशीर्वाद देकर प्रसन्नतापूर्वक स्त्रियाँ भीतर गयीं और रामचन्द्रके आनेका प्रियसम्वाद उन्होंने कौशल्याको सुनाया ।।१३।। पुत्रकी हितकामना करनेवाली कौशल्या नियमपूर्वक रात बिताकर प्रातःकाल विष्णुकी पूजा कर रही थीं। (यहाँ विष्णु शब्दका अर्थ सूर्य समझना चाहिए) ।।१४।। रेशमी वस्त्र पहने प्रसन्न चित्त और व्रत धारण की हुई कौशल्या मन्त्र-पूर्वक हवन कर रही थीं ।।१५।। रामचन्द्र माताके भव्य भवनमें गये और वहाँ उन्होंने अपनी माताको

देवकार्यनिमित्तं च तत्रापश्यत्समुद्यतम् । दध्यक्षतघृतं चैव मोदकान्हविषस्तथा ॥१७॥
लाजान्माल्यानि शुक्लानि पायसं कृसरं तथा । समिधः पूर्णकुंभाश्च ददर्श रघुनन्दनः ॥१८॥
तां शुक्लक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्शिताम् । तर्पयन्तीं ददर्शाद्भिर्देवतां वरवर्णिनीम् ॥१९॥
सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम् । अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं वडवा यथा ॥२०॥
स मातरमुपक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः । परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामवघ्रातश्च मूर्धनि ॥२१॥
तमुवाच दुराधर्षं राघवं सुतमात्मनः । कौसल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः ॥२२॥
वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम् । प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले ॥२३॥
सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव । अद्यैव त्वां स धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति २४
दत्तमासनमालभ्य भोजनेन निमन्त्रितः । मातरं राघवः किंचित्प्रसार्याञ्जलिमब्रवीत् ॥२५॥
स स्वभावविनीतश्च गौरवाच्च तथा नतः । प्रस्थितो दण्डकारण्यमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥२६॥
देवि नूनं न जानीषे महद्भयमुपस्थितम् । इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च ॥२७॥
गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे । विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः ॥२८॥
चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने । कन्दमूलफलैर्जीवन्हित्वा मुनिवदामिषम् ॥२९॥
भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति । मां पुनर्दण्डकारण्यं विवासयति तापसम् ॥३०॥

हवन करते देखा ॥१६॥ देवपूजाके निमित्त रामचन्द्रने वहाँ दही, अक्षत, घृत लड्डू तथा हवि आदि एकत्र हुए देखे ॥१७॥ रामचन्द्रने लावा, सफेद मालाएँ, पायस, कृसर (तिल और चावल), लकड़ी, भरे हुए घड़े वहाँ देखे ॥१८॥ रामचन्द्रने देखा कि शुक्ल रेशमी वस्त्र धारण करके व्रत करनेसे दुर्बल हुई कौसल्या जलसे तर्पण कर रही हैं ॥१९॥ माताको प्रसन्न करनेवाले पुत्रको बहुत दिनोंपर आया देखकर कौसल्या उनके सामने गयीं, जैसे घोड़ी बछड़ेके पास जाती है ॥२०॥ रामचन्द्र माताको पास आयी देखकर उनके गलेसे लग गये, माताने अपने बाहुओंसे आलिङ्गन किया और उनका माथा सूँघा ॥२१॥ कौसल्या अपने अजेय पुत्र रामचन्द्रसे पुत्रप्रेमके कारण प्रिय और हितकारी वचन बोलीं ॥२२॥ धर्मात्मा वृद्ध महात्मा राजर्षियोंके समान तुम आयु पाओ, कीर्ति पाओ और कुलोचित धर्मका पालन करो ॥२३॥ अपने पिता महाराजको सत्यप्रतिज्ञ समझो, वे आज ही तुम्हारा युवराजके पदपर अभिषेक करेंगे ॥२४॥ भोजनके लिये माताके कहनेपर, रामचन्द्रने भोजनके लिये जो आसन रखा गया था उसका स्पर्श किया, पुनः हाथ जोड़कर वे मातासे बोले ॥२५॥ स्वभावसे ही विनीत रामचन्द्र माताके प्रति आदरके कारण और भी विनीत हो गये और वे दण्डकारण्यके प्रस्थानके सम्बन्धमें पूछने लगे ॥२६॥ देवि, आप जानती नहीं हैं, मैं आपके लिए, सीताके लिये और लक्ष्मणके लिये बड़ा भय आया है, इससे आप लोग दुःखी होंगे ॥२७॥ अब मैं दण्डकारण्यमें जा रहा हूँ, इस आसनसे मुझे कौन जरूरत ? अब मेरे लिए कुशासनके योग्य समय आया है अर्थात अब मुझे कुशासन चाहिए, यह आसन नहीं ॥२८॥ निर्जन वनमें चौदह वर्षोंतक निवास करूँगा, माँस खाना छोड़कर कन्द-मूल फलसे जीविका चलाऊँगा ॥२९॥ महाराज युवराजका पद भरतको देते हैं और तपस्वी वेषमें मुझे दण्डकारण्यमें भेजते हैं ॥३०॥

स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने । आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन् ॥३१॥
सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः परशुना वने । पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता ॥३२॥
तामदुःखोचितां दृष्ट्वा पतितां कदलीमिव । रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम् ॥३३॥
उपावृत्योत्थितां दीनां वडवामिव वाहिताम् । पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विममर्श च पाणिना ॥३४॥
सा राघवमुपासीनमसुखार्ता सुखोचिता । उवाच पुरुषव्याघ्रमुपशृण्वति लक्ष्मणे ॥३५॥
यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव । न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः ॥३६॥
एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः । अप्रजास्मीति संतापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते ॥३७॥
न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे । अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामास्थितं मया ॥३८॥
सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् । अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां परा सती ॥३९॥
अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति । मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः ॥४०॥
त्वयि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता । किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि ॥४१॥
अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसंमता । परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवाऽवरा ॥४२॥
यो हि मां सेवते कश्चिदपि वाप्यनुवर्तते । कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते ॥४३॥

मैं चौदह वर्ष वनमें रहूँगा, जंगली वस्त्र धारण करूँगा और फल मूलका आहार करूँगा ॥३१॥ इस संवादके सुननेसे देवी कौसल्या कुल्हाड़ीसे काटी गयी सालकी शाखाके समान सहसा भूमिपर गिर पड़ीं, मानों स्वर्गसे कोई देवांगना गिरी हो ॥३२॥ दुःखके अयोग्य और बेहोश कौसल्या कटे केलेके समान गिर पड़ीं । रामचन्द्रने अपनी माताको उठाया ॥३३॥ करवट बदलकर दुःखिनी कौसल्या उठीं, जिस प्रकार बोझलदी घोड़ी उठती है, उनके शरीरमें धूल लग गयी थी, रामचन्द्रने उसे अपने हाथसे झाड़ा ॥३४॥ कौसल्याको इस समय सुख होना चाहिए था, पर दुःख हुआ । वे पुरुषसिंह रामचन्द्रसे बोलीं, लक्ष्मण भी सुन रहे थे ॥३५॥ पुत्र, यदि तुम उत्पन्न न होते तो इससे मुझे दुःख होता, उस समय केवल एक वंध्या होनेका ही दुःख होता, यह दूसरा पुत्रवियोगका दुःख न होता ॥३६॥ वन्ध्याको केवल एक ही दुःख होता है कि मैं पुत्रहीन हूँ, इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा दुःख नहीं होता ॥३७॥ पतिके प्रेमसे होनेवाले सुख और कल्याण मैंने कभी नहीं देखे । राम, मैंने सोचा था कि पुत्रके समयमें मैं सुख भोगूँगी ॥३८॥ पर अब मुझे हृदय छेदनेवाली अपनेसे छोटी सौतोंको बहुतसी अरुचिकर बातें, उनसे बड़ी होनेपर भी, सुननी पड़ेंगी ॥३९॥ सौतोंके ताने सहनेसे बढ़कर स्त्रियोंको और अधिक दुःख क्या हो सकता है, इससे मुझे जैसा शोक और दुःख होगा वह अनन्त होगा ॥४०॥ पुत्र जब तुम्हारे रहनेपर मेरा यह तिरस्कार था, तब तुम्हारे चले जानेपरके लिए क्या कहा जाय, उस समय तो निश्चय मेरी मृत्यु ही होगी ॥४१॥ पतिके द्वारा सम्मान न पानेके कारण मेरा बहुत ही तिरस्कार होता है । मैं तो केकयीकी दासियोंके बराबर या उनसे भी छोटी समझी जाती हूँ ॥४२॥ जो मेरे सेवक हैं और अनुयायी हैं वे भी केकयीके पुत्र भरतकी ओर देखकर मुझसे नहीं बोलते । अर्थात् भरत राजा होगा इस कारण

नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादिनम् । कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता ॥४४॥
दश सप्त च वर्षाणि जातस्य तव राघव । अतीतानि प्रकाङ्क्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम् ॥४५॥
तदक्षयं महद्दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरात् । विप्रकारं सपत्नीनामेवं जीर्णापि राघव ॥४६॥
अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम् । कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविका ॥४७॥
उपवासैश्च योगैश्च बहुभिश्च परिश्रमैः । दुःखसंवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गतया मया ॥४८॥
स्थिरं नु हृदयं मन्ये ममेदं यन्न दीर्यते । प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टं कूलं नवाम्भसा ॥४९॥

ममैव नूनं मरणं न विद्यते न चावकाशोऽस्ति यमक्षये मम ।
यदन्तकोऽद्यैव न मां जिहीर्षति प्रसह्य सिंहो रुदतीं मृगीमिव ॥५०॥
स्थिरं हि नूनं हृदयं ममायसं न भिद्यते यद्भुवि नो विदीर्यते ।
अनेन दुःखेन च देहमर्पितं ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते ॥५१॥
इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि ।
तपश्च तप्तं यदपत्यकाम्यया सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे ॥५२॥
यदि ह्यकाले मरणं यदृच्छया लभेत कश्चिद्गुरुदुःखकर्शितः ।
गताहमद्यैव परेतसंसदं विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै ॥५३॥

उसकी प्रसन्नताकी चाहसे लोग अभीसे मुझसे फिरसे गये हैं ॥४३॥ दुःखिनी मैं स्वभावसे क्रोधिन केकयीका कठोर बोलनेवाला मुँह कैसे देख सकूँगी ॥४४॥ राम, अट्ठाइस वर्ष तुम्हें उत्पन्न हुए हो गये और ये वर्ष अपने दुःखोंकी समाप्तिकी कामनासे मैंने बिताये ॥४५॥ पर मेरी इच्छाके विरुद्ध, कभी नष्ट न होनेवाला दुःख मुझे मिला। इसी सौतोंके द्वारा होनेवाले अपमानसे मैं बूढ़ी हो गयी हूँ, अब मुझसे वह दुःख नहीं सहा जायगा ॥४६॥ पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर तुम्हारा मुख न देखनेसे मैं कैसे अपना दुःखमय जीवन बिताऊँगी ॥४७। उपवासों, देवताके ध्यानों तथा और अनेक परिश्रमोंसे भाग्यहीन मैंने तुम्हें व्यर्थ ही पाला। क्योंकि उस पालनेके फल मिलनेके समय तुम बन जा रहे हो ॥४८॥ मेरा हृदय बड़ा कठोर है इसी कारण वह फटता नहीं, जिस प्रकार महानदी गङ्गा आदिका तट वर्षाकालमें नये जलके लगनेसे टूट जाता है ॥४९॥ अवश्य ही मेरी मृत्यु नहीं है, मृत्युके घरमें शायद मेरे लिए जगह नहीं है, जिससे यमराज आज ही मुझे उठा नहीं ले जाता, जिस प्रकार रोती हुई मृगीको सिंह उठा ले जाता है ॥५०॥ मेरा हृदय लोहेका बना हुआ है यह बात निश्चित है, अतएव इस दुःखके आने-पर भी मेरा हृदय न तो टूटता है और न फटता है, निश्चित समयके पहले मृत्यु नहीं होती यह ध्रुव है ॥५१॥ पुत्रकल्याणकी कामनासे मैंने जो व्रत, दान, संयम किया वह सब अनर्थक हुआ, जो मैंने तपस्या की वह भी अनर्थक हुई, ऊसर, खेतमें बीज बोनेके समान निष्फल हुई इसीका मुझे दुःख है ॥५२॥ यदि कोई दुःखी अकालमें भी, समयके पहले अपनी इच्छासे, मर सकता होता तो मैं तुमको यहीं छोड़-

अथापि किं जीवितमद्य मे वृथा त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ ।
अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः सुदुर्बला वत्स मिवाभिकाङ्क्षया ॥५४॥
भृशमसुखममर्षिता यदा बहु विललाप समीक्ष्य राघवम् ।
व्यसनमुपनिशाम्य सा महत्सुतमिव बद्धमवेक्ष्य किंनरी ॥५५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः २१

तथा तु विलपन्तीं तां कौसल्यां राममातरम् । उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः ॥ १ ॥
न रोचते ममाप्येतदार्ये यद्राघवो वनम् । त्यक्त्वा राजश्रियं गच्छेत्स्त्रिया वाक्यवशंगतः ॥२॥
विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः । नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः ॥ ३ ॥
नास्यापराधं पश्यामि नापि दोषं तथाविधम् । येन निर्वास्यते राष्ट्राद्वनवासाय राघवः ॥ ४ ॥
न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः । स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि योऽस्य दोषमुदाहरेत् ॥५॥
देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम् । अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत्पुत्रमकारणात् ॥ ६ ॥
तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः । पुत्रः को हृदये कुर्याद्राजवृत्तमनुस्मरन् ॥ ७ ॥

कर बिन बछड़ेवाली गायके समान यमराजकी सभामें चली गयी होती ॥५३॥ चन्द्रमुख राम, तुम्हारे बिना मेरा यह गर्हित जीवन व्यर्थ है, इस कारण सुखकी इच्छासे मैं भी तुम्हारे ही साथ चलूँगी, बच्छेके पीछे दुबली गौके समान ॥५४॥ कौसल्याने इस प्रकार दुःख न सह सकनेके कारण बहुत विलाप किया। सौतोंके द्वारा होनेवाले दुःखोंको तथा सत्यपाशसे बँधे पुत्रको जिस समय कौसल्याने देखा, उस समय वे किन्नरीके समान विलाप करने लगीं ॥५५॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

रामचन्द्रकी माता कौसल्याका वह विलाप देखकर दुःखी लक्ष्मण उस समयके योग्य वचन बोले ॥१॥ आर्य, मुझे भी यह अच्छा नहीं लगता कि रामचन्द्र राज्य छोड़कर वन जाँय, राजा स्त्रीके अधीन हो गये हैं ॥२॥ उनकी बुद्धि उलटी हो गयी है, बूढे होनेके कारण वे अपने अधिकारको भी बहुत अधिक समझते हैं, वे इस समय कामके वशवर्ती हैं अतएव केकयीके कहनेसे वे क्या-क्या नहीं कर सकते ॥३॥ रामचन्द्रने राजविद्रोह आदि कोई अपराध नहीं किया है, इन्होंने कोई पाप भी नहीं किया है, फिर इन्हें राज्यसे निर्वासनका दण्ड क्यों दिया जाय ॥४॥ मैं ऐसा कोई मनुष्य नहीं देखता जो पीछे भी—चाहे वह मित्र हो या शत्रु—रामचन्द्रका दोष बतलावे ॥५॥ रामचन्द्र देवताके समान शुद्ध हैं, विनयी हैं, शिक्षित और शत्रुओंके प्रिय हैं, ऐसे पुत्रका त्याग कौन धार्मिक कर सकता है ॥६॥ राजाने अपना दोष छिपानेके लिए वरका बहाना निकाला है। ऐसे राजाका वह कठोर वचन राजनीति जाननेवाला कौन पुत्र

यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः। तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम् ॥ ८ ॥
मया पार्श्वे सधनुषा तव गुप्तस्य राघव। कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः ॥ ९ ॥
निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ। करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये ॥१०॥
भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वास्य हितमिच्छति। सर्वांस्तांश्च वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते ॥११॥
प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या संतुष्टो यदि नः पिता। अमित्रभूतो निःसङ्गं बध्यतां वध्यतामपि ॥१२॥
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥१३॥
बलमेष किमाश्रित्य हेतुं वा पुरुषोत्तम। दातुमिच्छति कैकेय्यै उपस्थितमिदं तव ॥१४॥
त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम्। कास्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिशासन ॥१५॥
अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः। सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे ॥१६॥
दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति। प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥१७॥
हरामि वीर्याद्दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः। देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥१८॥
हरिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम्। कृपणं च स्थितं बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम् ॥१९॥

मानेगा ॥७॥ जबतक कोई मनुष्य इस बातको न जाने अर्थात् राजाने रामचन्द्रको वनवास दिया है—यह बात जबतक फैलने न पावे, उसके पहले ही आप मेरे साथ मेरी सहायतासे राज्यपर अधिकार कर लें ॥८॥ धनुष लेकर आपके पास आपकी रक्षाके लिए मैं रहूँगा। यमराजके समान मेरे रहते किसकी शक्ति है जो आपपर अधिकार करे ॥९॥ मनुष्यश्रेष्ठ, यदि कोई आपके विरोधमें खड़ा होगा तो मैं अपने तीखे बाणोंसे इस समूची अयोध्याको मनुष्यहीन कर दूँगा ॥१०॥ भरतके पक्षका हो अथवा उसका कोई हितकारी हो उन सबको मैं मार दूँगा। शान्त रहना अच्छा नहीं, शान्त मनुष्य पराजित होता है ॥११॥ यदि केकयीके द्वारा उत्साहित किये जानेपर, उसके प्रेमके कारण, हम लोगोंके पिता शत्रु-पक्षका साथ दें, तो वे भी निःसन्देह कैद कर लिये जायँगे ॥१२॥ गुरु भी यदि अहंकारमें आकर कार्याकार्यका ज्ञान खो दें, मर्यादा-लंघन करके मनमाना काम करने लगें तो उसका भी शासन करना चाहिए ॥१३॥ पुरुषोत्तम, राजा किस बलपर और किस कारणसे तुम्हारा यह प्राप्त राज्याधिकार केकयीको देना चाहता है ॥१४॥ शत्रुविजयिन्, आपसे और मुझसे वैर करके यह राजा भरतको राज्य देनेकी कौनसी शक्ति रखता है १५॥ कौसल्यासे कहा, देवि, मैं सब प्रकारसे भाई रामचन्द्रका अनुयायी हूँ इस बातकी शपथ मैं सत्य, धनुष तथा दत्त इष्ट आदि अपने धर्मसे करता हूँ ॥१६॥ यदि रामचन्द्र जलती हुई आगमें या वनमें प्रवेश करेंगे, देवि, रामचन्द्रके प्रवेश करनेके पहले ही तुम मुझे प्रविष्ट समझो। अर्थात् उनके प्रवेशके पहले ही मैं प्रवेश करूँगा ॥१७॥ मैं अपने पराक्रमसे तुम्हारे दुःख दूर करूँगा, जिस प्रकार *उदित होकर सूर्य्य अन्धकार हरता है, आप भी मेरा पराक्रम देखें और रामचन्द्र भी मेरा पराक्रम देखें* ॥१८॥ वृद्ध होनेके कारण विवेक नष्ट हो जानेसे पिता निन्दित हो गये हैं, लड़कोंके समान स्त्रीप्रेमके वशीभूत हो गये हैं, केकयीके अधीन हो गये हैं, ऐसे कृपण पिताको भी मैं मार दूँगा ॥१९॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः । उवाच रामं कौसल्या रुदती शोकलालसा ॥२०॥
भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया । यदत्रानन्तरं तत्त्वं कुरुष्व यदि रोचते ।२१॥
न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम् । विहाय शोकसंतप्तां गन्तुमर्हसि मामितः ॥२२॥
धर्मज्ञ इति धर्मिष्ठ धर्मं चरितुमिच्छसि । शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम् ॥२३॥
शुश्रूषुर्जननीं पुत्र स्वगृहे नियतो वसन् । परेण तपसा युक्तः काश्यपस्त्रिदिवं गतः ॥२४॥
यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम् । त्वां साहं नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥२५॥
त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन च । त्वया सह मम श्रेयस्तृणानामपि भक्षणम् ॥२६॥
यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम् । अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम् २७
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम् । ब्रह्महत्यामिवाधर्मात्समुद्रः सरितां पतिः ॥२८॥
विलपन्तीं तथा दीनां कौसल्यां जननीं ततः । उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम् ॥२९॥
नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम । प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥३०॥
ऋषिणा च पितुर्वाक्यं कुर्वता वनचारिणा । गौर्हता जानता धर्मं कण्डुना च विपश्चिता ॥३१॥
अस्माकं तु कुले पूर्वं सगरस्याज्ञया पितुः । खनद्भिः सागरैर्भूमिमवाप्तः सुमहान्वधः ॥३२॥

महात्मा लक्ष्मणके ये वचन सुनकर शोकपरायण रोती हुई कौसल्या रामसे बोली ॥२०॥ पुत्र, अपने भाई लक्ष्मणकी सब बातें सुनों, इसके अनन्तर जो कुछ करना तुम उत्तम समझो वह करो ॥२१॥ मेरी सौत केकयीका अधर्मयुक्त वचन सुनकर और मुझे छोड़कर तुम यहाँसे चले जाना ॥२२॥ तुम धर्म जाननेवाले धर्मात्मा हो, तुम धर्माचरण करो। यहीं रहकर तुम मेरी सेवा करो, इससे तुम्हें श्रेष्ठ धर्मपालनका फल होगा ॥२३॥ अपने घरमें नियमपूर्वक रहता हुआ कश्यपका एक पुत्र माताकी सेवारूप उत्तम तपस्याके बलसे स्वर्गमें गया ॥२४॥ जिस गौरवसे तुम्हारे लिए राजा पूज्य हैं, उसी गौरवसे मैं भी पूज्य हूँ, तुम्हारी पूज्या होकर मैं आज्ञा नहीं देती हूँ, मैं कहती हूँ कि तुम वन न जाओ ॥२५॥ तुम्हारे वियोग होनेपर मेरा जीना निरर्थक है और सुख भी निरर्थक है और सुख भी निरर्थक है, तुम्हारे साथ रहकर घास खाना भी मेरे लिये सुखकारी है ॥२६॥ इस प्रकार शोकमग्न मुझको यहाँ छोड़कर यदि तुम वन चले जाओगे तो मैं भोजन करना छोड़ दूँगी और जी न सकूँगी ॥२७॥ मुझ माताको मरणतुल्य दुःख देनेसे तुम्हें नरक होगा, जिस प्रकार अधर्मके कारण नदियोंका स्वामी समुद्र ब्रह्महत्याके पापका भागी होकर नरकभागी हुआ ॥२८॥ इस प्रकार विलाप करती हुई दुःखिनी माता कौसल्यासे धर्मात्मा रामचन्द्र धर्मयुक्त वचन बोले ॥२९॥ पिताकी आज्ञा उल्लंघन करनेकी मुझमें शक्ति नहीं है, मैं सिरसे प्रणाम करता हूँ, तुम प्रसन्न होओ, मैं वन जाता हूँ ॥३०॥ पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये वनवासी ऋषि कण्डुने विद्वान् होकर तथा अधर्म जानते हुए भी गोवध किया था ॥३१॥ हमारे ही लोगोंके कुलमें पिता सगरकी आज्ञासे पृथिवी खोदते हुए उनके पुत्रने बुरी तरहसे प्राण-त्याग किया अर्थात् पिताकी आज्ञाके पालन करनेके लिए

जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम् । कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारणात् ॥३३॥
एतैरन्यैश्च बहुभिर्देवि देवसमैः कृतम् । पितुर्वचनमक्लीबं करिष्यामि पितुर्हितम् ॥३४॥
न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम् । एतैरपि कृतं देवि ये मया परिकीर्तिताः ॥३५॥
नाहं धर्ममपूर्वं ते प्रतिकूलं प्रवर्तये । पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ॥३६॥
तदेतत्तु मया कार्यं क्रियते भुवि नान्यथा । पितुर्हि वचनं कुर्वन्न कश्चिन्नाम हीयते ॥३७॥
तामेवमुक्त्वा जननीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत् । वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥३८॥
तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम् । विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥३९॥
मम मातुर्महद्दुःखमतुलं शुभलक्षण । अभिप्रायं न विज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च ॥४०॥
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् । धर्मसंश्रितमप्येतत्पितुर्वचनमुत्तमम् ॥४१॥
संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा । न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता ॥४२॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम् । पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः ॥४३॥
तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम् । धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ॥४४॥

प्राणत्याग कर देनेतककी हमारी कुलरीति है ॥३२॥ जमदग्निके पुत्र रामने भी पिताके कहनेसे अपनी माता रेणुकाको वनमें परशुसे काटा ॥३३॥ ये तथा और भी देवसमान पुरुषोंने पिताके वचनका पालन प्रसन्नता पूर्वक किया है, मैं भी पिताका प्रिय करूँगा ॥३४॥ केवल एक मैं ही पिताकी आज्ञाका—कठोर आज्ञाका—पालन नहीं कर रहा हूँ, देवि, किन्तु इन लोगोंने भी पिताकी आज्ञाका पालन किया है, अभी जिनका मैंने उल्लेख किया ॥३५॥ मैं किसी नये धर्मका, जो तुम्हारे प्रतिकूल है, स्थापन नहीं कर रहा हूँ, यह धर्ममार्ग पहले लोकोंको भी इष्ट था, उन लोगोंने उसका अनुसरण भी किया है, मैं तो उन्हींके मार्गपर चल रहा हूँ ॥३६॥ पृथिवीमें जो काम—पिताकी आज्ञाका पालन, किया जाता है, वही मैं कर रहा हूँ, उसके विपरीत कुछ नहीं करता। पिताकी आज्ञाका पालन करनेसे किसीका धर्मलोप नहीं होता ॥३७॥ इस प्रकार माताको समझाकर, धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ तथा वाक्यके गुण-दोष जाननेमें श्रेष्ठ रामचन्द्र लक्ष्मणसे बोले ॥३८॥ लक्ष्मण, मैं जानता हूँ कि तुम्हारा मुझमें बड़ा प्रेम है, तुम्हारा अपराजेय पराक्रम, सत्व और तेज भी मैं जानता हूँ ॥३९॥ शुभलक्षण, सत्व और शमका अभिप्राय न समझकर अर्थात् इनके सम्बन्धमें मेरी राय न जानकर माता बहुत अधिक दुःख कर रही हैं ॥४०॥ धर्मही सब पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ पुरुषार्थ है, धर्ममें सत्य, सत्यस्वरूप परमात्माका निवास है। पिताका यह वचन धर्म और सत्यसे युक्त है, अतएव श्रेष्ठ है, अतएव हमलोगोंको इसका पालन करना चाहिए ॥४१॥ पिता, माता और ब्राह्मणकी आज्ञाके पालन करनेकी प्रतिज्ञा करके उससे धार्मिकको मुड़ना नहीं चाहिए ॥४२॥ मैंने पिताकी आज्ञाके पालनके लिए प्रतिज्ञा की है, मैं उसका लंघन नहीं कर सकता, पिताकी यह आज्ञा मैंने केकयीके मुँहसे सुनी है ॥४३॥ अतएव तुम इस सम्बन्धमें ओछे विचार हटा दो, यद्यपि तुम्हारे विचार क्षात्रधर्मके अनुकूल हैं, पर तुम विशुद्ध धर्मका अनुगमन करो, क्रूरता हटा दो, मेरे विचारके अनुसार चलो ॥४४॥

तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद्भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः । उवाच भूयः कौसल्यां प्राञ्जलिः सिरसानतः ॥४५॥
अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम् । शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे ॥४६॥
तीर्णप्रतिज्ञश्च वनात्पुनरेष्याम्यहं पुरीम् । ययातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिवम् ॥४७॥
शोकः संधार्यतां मातर्हृदये साधु मा शुचः । वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः ॥४८॥
त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया । पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः ॥४९॥
अम्ब संभृत्य संभारान्दुःखं हृदि निगृह्य च । वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम् ॥५०॥

एतद्वचस्तस्य निशम्य माता सुधर्म्यमव्यग्रमविक्लवं च ।
मृतेव संज्ञां प्रतिलभ्य देवी समीक्ष्य रामं पुनरित्युवाच ॥५१॥
यथैव ते पुत्र पिता तथाहं गुरुः स्वधर्मेण सुहृत्तया च ।
न त्वानुजानामि न मां विहाय सुदुःखितामर्हसि पुत्र गन्तुम् ॥५२॥
किं जीवितेनेह विना त्वया मे लोकेन वा किं स्वधयामृतेन ।
श्रेयो मुहूर्तं तव संनिधानं ममैव कृत्स्नादपि जीवलोकात् ॥५३॥
नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो महागजो ध्वान्तमभिप्रविष्टः ।
भूयः प्रजज्वाल विलापमेवं निशम्य रामः करुणं जनन्याः ॥५४॥

इस प्रकार प्रेमपूर्वक ज्येष्ठ रामचन्द्र, लक्ष्मणको समझाकर, हाथ जोड़कर सिरसे प्रणामकर कौशल्यासे बोले ॥४५॥ देवि, मैं यहाँसे वन जाता हूँ, आप आज्ञा दीजिये, मैं अपने प्राणोंकी शपथ करता हूँ। आप वनगमनमें विघ्न न डालिए। मेरी यात्राके लिए मङ्गल विधान कीजिए ॥४६॥ प्रतिज्ञा पूरी करके मैं वनसे पुन. अयोध्या लौट आऊँगा। जिस प्रकार राजर्षि ययाति स्वर्गसे पृथिवी पर आये और यहाँसे पुनः वे स्वर्ग गये ॥४७॥ माता, हृदयमें शोक छिपा लीजिए, शोकके चिन्ह बाहर प्रकट न कीजिए, पिताकी आज्ञाका पालन करके वनवाससे मैं पुनः लौट आऊँगा, अतएव आप शोक न कीजिए ॥४८॥ आपको, मुझे, सीताको लक्ष्मणको और सुमित्राको मेरे पिताकी आज्ञाका पालन करना चाहिए; क्योंकि यही सनातनधर्म है ॥४९॥ अम्ब, अभिषेक सामग्रियोंको अलग करो, दुःख मनमें ही रोको और वन जानेका धर्मानुकूल मेरी इच्छाको मानो अर्थात् वन जानेकी आज्ञा दो ॥५०॥ रामचन्द्रके धर्मयुक्त, व्याकुलता और दीनतारहित ये वचन सुने और होशमें आये मृतमनुष्यके समान कौसल्या रामको देखकर पुनः बोलीं ॥५१॥ पुत्र, जैसे पिता तुम्हारे गुरु हैं, वैसेही मैं भी हूँ, अतएव स्वधर्म और स्नेहकी ओर देखकर तुम मुझे यहाँ छोड़ कर वन नहीं जा सकते, यह मैं आज्ञा देती हूँ ॥५२॥ तुम्हारे बिना जीवन किस कामका, स्वजनोंसे भी क्या लाभ, देव पितरोंकी अराधना तथा मोक्ष देनेवाले तत्वज्ञान भी हमारे लिए निरर्थक हैं। एक क्षणके लिए भी तुम्हारा हमारे सामने रहना संसारके सब सुखोंसे बढ़ कर है ॥५३॥ माताका इस प्रकार दुःखित विलाप सुनकर रामचन्द्र पुनः प्रज्वलित हुए, वन जानेके निश्चयको उन्होंने और दृढ़ किया। जिस प्रकार मनुष्योंके द्वारा जलते हुए मशालसे

स मातरं चैव विसंज्ञकल्पमार्तं च सौमित्रिमभितप्तम् ।
धर्मे स्थितो धर्म्यमुवाच वाक्यं यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम् ॥५५॥
अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव जानामि भक्तिं च पराक्रमं च ।
मम त्वभिप्रायमसंनिरीक्ष्य मात्रा सहाभ्यर्दसि मा सुदुःखम् ॥५६॥
धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा ॥५७॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत ।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ॥५८॥
गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः क्रोधात्प्रहर्षादथवापि कामात् ।
यद्व्यादिशेत्कार्यमवेक्ष्य धर्मं कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥५९॥
न तेन शक्नोमि पितुः प्रतिज्ञामिमां न कर्तुं सकलां यथावत् ।
स ह्यावयोस्तात गुरुर्नियोगे देव्याश्च भर्ता स गतिश्च धर्मः ॥६०॥
तस्मिन्पुनर्जीवति धर्मराजे विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने ।
देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्कथंस्विदन्या विधवेव नारी ॥६१॥

वारित हाथी अन्धकारमें जाकर प्रज्वलित होता है ॥५४॥ बेहोश सी हुई मातासे और पीड़ित और क्रुद्ध लक्ष्मणसे धर्मात्मा रामचन्द्र धर्मयुक्त वचन बोले । वे वैसे वचन बोले, जो वेही बोल सकते थे, उनके ही समान धर्मात्मा मनुष्यके द्वारा बोली जाने योग्य बात वे बोले ॥५५॥ लक्ष्मण, तुम्हारी मुझमें जो भक्ति है और तुम्हारा जो पराक्रम है वह मैं जानता हूँ, पर तुम मेरा अभिप्राय न समझ कर माताके साथ मुझ दुःखीको और दुःखी बना रहे हो ॥५६॥ धर्मके फलरूप ऐश्वर्य, सौख्य आदिकी प्राप्तिमें उपाय माने गये धर्म, अर्थ और काम तीनों ही धर्ममें वर्तमान हैं, धर्मके अनुष्ठानसे इन तीनोंकी भी सिद्धि होती है, इसमें मुझे सन्देह नहीं है, जिस प्रकार स्त्री वशमें रहकर अतिथि पूजन आदि धर्ममें सहायता देती है, मनोनुकूल होनेसे काममें सहायिका होती है और सुपुत्रवती होकर अर्थमें ॥५७॥ जिस धर्ममें लोक बिना उपदेशके प्रवृत्त न हो वह धर्म जिस उपायसे हो वह उपाय अवश्य करना चाहिए, धर्महीन अर्थ काममें प्रवृत्त नहीं होना चाहिए, अर्थसाधन करनेवालेसे लोग द्वेष करने लगते हैं, और कामपरायण होना कोई प्रशंसनीय नहीं ॥५८॥ दसरथजी हमारे पिता हैं, वृद्ध हैं, राजा हैं, और गुरु हैं, क्रोधसे, प्रसन्नतासे अथवा किसी स्वार्थसे वे हम लोगोंको जो आज्ञा दें धर्म समझ कर उसका पालन करना चाहिये । जो क्रूर नहीं है, वह तो पिताकी आज्ञाके पालनसे विमुख न होगा ॥५९॥ इस कारण पिताकी उस प्रतिज्ञा–भरतका राज्याभिषेक और हमारा वनवास–का पालन मैं अवश्य करूँगा । क्योंकि हमको और भरतको आज्ञा देनेका उन्हींको अधिकार है । कौशल्याके तो वे पति हैं, पतिही स्त्रियोंकी गति हैं और वेही उनके धर्म हैं ॥६०॥ राजा दसरथ जीते हैं और अपने धर्ममें वर्तमान हैं अर्थात् धर्मपूर्वक राजशासन कर रहे

सा मानुमन्यस्व वनं व्रजन्तं कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि ।
यथा समाप्ते पुनराव्रजेयं यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः ॥६२॥
यशो ह्यहं केवलराज्यकारणान्न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम् ।
अदीर्घकालेन तु देवि जीविते वृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः ॥६३॥
प्रसादयन्नरवृषभः स मातरं पराक्रमाज्जिगमिषुरेव दण्डकान् ।
अथानुजं भृशमनुशास्य दर्शनं चकार तां हृदि जननीं प्रदक्षिणम् ॥६४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥२१॥

द्वाविंशः सर्गः २२

अथ तं व्यथया दीनं सविशेषममर्षितम् । सरोषमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम् ॥ १ ॥
आसाद्य रामः सौमित्रिं सुहृदं भ्रातरं प्रियम् । उवाचेदं स धैर्येण धारयन्सत्त्वमात्मवान् ॥ २ ॥
निगृह्य रोषं शोकं च धैर्यमाक्रम्य केवलम् । अवमानं निरस्यैनं गृहीत्वा हर्षमुत्तमम् ॥ ३ ॥
उपक्लृप्तं यदेतन्मे अभिषेकार्थमुत्तमम् । सर्वं निवर्तय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरव्ययम् ॥ ४ ॥

हैं, जिन्होंने धर्मरक्षाके लिए प्राणप्रिय पुत्रको भी वनवास दिया है, ऐसी दशामें साधारण विधवा स्त्रियोंके समान देवी कौसल्या मेरे साथ वन कैसे जायँगी ॥६१॥ अतएव, देवि मुझे वन जानेकी आज्ञा दो और मेरे लिए स्वस्तिवाचन आदि करो, जिससे अवधिके समाप्त होनेपर मैं पुनः लौट आऊँ, जिस प्रकार सत्यके कारण ययाति पुनः स्वर्ग लौट गये थे ॥६२॥ मैं राज्यके लिये बहुत बड़े फलवाले यशको पीठपीछे नहीं कर सकता अर्थात् राज्य छोड़कर रामचन्द्रने पिताकी आज्ञाका पालन किया इस यशको राज्यके लिए मैं नहीं छोड़ सकता । जीवन बहुत थोड़े दिनोंका है, ऐसी दशामें एक साधारण पृथिवीको अधर्मसे मैं लेना नहीं चाहता ॥६३॥ नरश्रेष्ठ रामचन्द्रने धीरतापूर्वक वनमें जानेकी इच्छासे माताको प्रसन्न करते हुए अपने छोटे भाई लक्ष्मणको अपना अभिप्राय समझाया और मनही मन माताकी प्रदक्षिणा की ॥६४॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक्कीसवाँ सर्ग समाप्त ॥२१॥

रामचन्द्रके राज्याभिषेकमें विघ्न पड़नेके दुःखसे लक्ष्मण दुःखी होगये थे उन्हें औरोंकी अपेक्षा क्रोध भी अधिक हुआ था, वे क्रोधित हाथीके समान हो गये थे, उनकी आँखें भी चढ़ आयी थीं ॥१॥ प्रिय भाई और मित्र लक्ष्मणको रामचन्द्रने अपने पास बुलाया और आत्मवान् रामचन्द्र धैर्यसे चित्तको स्थिर रखते हुए उनसे बोले ॥२॥ पिताके प्रति जो तुम्हारा क्रोध है और मेरे सम्बन्धमें जो तुम्हारा दुःख है, उन्हें धीरताके द्वारा रोको अर्थात् धैर्य धारण करो, मेरे वनवास जानेके अपमानको भूल जाओ और उत्तम हर्ष धारण करो अर्थात् सत्य पालनके द्वारा पिताकी रक्षा करेंगे इस भावसे प्रसन्न हो जाओ ॥३॥ मेरे अभिषेकके लिए जो ये उत्तम सामग्रियाँ एकत्र की गयी हैं उन सबको भी हटा दो और पिताके सत्य

सौमित्रे योऽभिषेकार्थे मम संभारसंभ्रमः । अभिषेकनिवृत्त्यर्थे सोऽस्तु संभारसंभ्रमः ॥ ५ ॥
यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यति । माता नः सा यथा न स्यात्सविशङ्का तथा कुरु ॥ ६ ॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे । मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम् ॥ ७ ॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन । मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम् ॥ ८ ॥
सत्यः सत्याभिसंधश्च नित्यं सत्यपराक्रमः । परलोकभयाद्भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम ॥ ९ ॥
तस्यापि हि भवेदस्मिन्कर्मण्यप्रतिसंहृते । सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेच्च माम् ॥१०॥
अभिषेकविधानं तु तस्मात्संहृत्य लक्ष्मण । अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुरः ॥११॥
मम प्रव्राजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मजा । सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयतां ततः ॥१२॥
मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि । गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनःसुखम् ॥१३॥
बुद्धिः प्रणीता येनेयं मनश्च सुसमाहितम् । तं तु नार्हामि संक्लेष्टुं प्रव्रजिष्यामि मा चिरम् ॥१४॥
कृतान्त एव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने । राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने ॥१५॥
कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्यान्मम वेदने । यदि तस्या न भावोऽयं कृतान्तविहितो भवेत् ॥१६॥
जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम् । भूतपूर्वं विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा ॥१७॥

पालनके उपयोगी वल्कल आदि धारण करो ॥४॥ लक्ष्मण, अभिषेकके लिए सामग्रियाँ एकत्र करनेमें जो तुम्हारा उत्साह था, वह अभिषेकसे निवृत्ति तथा वनवासकी सामग्रियाँ एकत्र करनेमें हो ॥५॥ मेरे अभिषेकसे जिसके मनमें कष्ट हो रहा है, हम लोगोंकी वह माता केकयी जिस प्रकार शङ्कित न हो, लक्ष्मणके साथ मिलकर रामचन्द्र राज्य पालन करनेके प्रयत्नमें लगे हैं ऐसी शङ्का उसे न हो - वैसा करो ॥६॥ उसके मनमें शङ्कासे भी उत्पन्न दुःखकी उपेक्षा, एक क्षणके लिए भी, मैं नहीं कर सकता ॥७॥ ज्ञान या अज्ञानसे माताओं या पिताका थोड़ा भी कभी मैंने विरोधाचरण किया है यह मुझे याद नहीं है ॥८॥ मेरे पिता सत्यवादी और सत्यप्रतिज्ञ हैं वे बड़े पराक्रमी हैं, पर सत्यच्युत होनेके भयसे परलोकसे डर रहे हैं, वे निर्भय हो जाँय, मेरे द्वारा उनके सत्यके पालन होनेके कारण उनका परलोक-भय दूर हो ॥९॥ यदि मेरा अभिषेक न रोका गया तो पिताका भी उनके सत्यके पालन न होनेसे, मन दुःखी होगा, और उनका दुःखी होना मेरे लिए बड़े परितापकी बात होगी ॥१०॥ अतएव अभिषेककी तयारीके त्याग करनेके पहलेही मैं इस नगरसे वनके लिए चला जाना चाहता हूँ ॥११॥ यहाँसे मेरे वन चले जानेके कारण राजपुत्री कृतकृत्य हो और निश्चिन्त होकर अपने पुत्र भरतका राज्याभिषेक करे ॥१२॥ मैं जब वल्कल वस्त्र, मृगचर्म तथा जटा धारण करके वन चला जाऊँगा, तब केकयीका मन प्रसन्न होगा ॥१३॥ जिस भाग्यके द्वारा केकयीकी ऐसी बुद्धि होगयी है तथा उसका मन इस विषयमें ऐसा दृढ़ हो गया है उस विधाताको मैं क्लेश देना नहीं चाहता, उसके विपरीत करना नहीं चाहता, अतएव मैं शीघ्रही वन जाता हूँ ॥१४॥ लक्ष्मण, मेरे वन जानेका कारण कालको ही समझो, और उसी काल हीके कारण मुझे मिला हुआ राज्य भी छिन गया है ॥१५॥ मुझे पीड़ा देनेके लिए केकयी कैसे उद्योग करती, यदि कालके द्वारा उसकी बुद्धि इस प्रकार न बिगाड़ दी जाती ॥१६॥ सौम्य लक्ष्मण, तुम जानते हो कि

सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः । उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद्दैवात्समर्थये ॥१८॥
कथं प्रकृतिसंपन्ना राजपुत्री तथागुणा । ब्रूयात्सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीड्यं भर्तृसंनिधौ ॥१९॥
यदचिन्त्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते । व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः ॥२०॥
कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान् । यस्य नु ग्रहणं किंचित्कर्मणोऽन्यन्न दृश्यते ॥२१॥
सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ । यस्य किंचित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥२२॥
ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः । उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान्भ्रश्यन्ते काममन्युभिः ॥२३॥
असंकल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते । निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत् ॥२४॥
एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना । व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते ॥२५॥
तस्मादपरितापः संस्त्वमप्यनुविधाय माम् । प्रतिसंहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकीं क्रियाम् ॥२६॥
एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसंभृतैः । मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति ॥२७॥
अथवा किं ममैतेन राज्यद्रव्यमयेन तु । उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति ॥२८॥

आजतक कौसल्या, केकयी आदि माताओंके विषयमें मेरी ओरसे कोई भिन्न व्यवहार नहीं हुआ और कैकयी का भी अपने पुत्र भरत और मेरे विषयमें समान व्यवहार रहा है ॥१७॥ मेरे अभिषेककी निवृत्ति के लिए तथा मुझे वन भेजनेके लिए उसी केकयीने जो कठोर दुर्वचनोंका व्यवहार किया है उसका कारण दैवके अतिरिक्त मैं दूसरा नहीं समझता ॥१८॥ वैसे उत्तम गुण और उत्तम स्वभाव रखनेवाली राजपुत्री केकयी अपने पतिके सामने एक साधारण स्त्रीके समान मुझे पीड़ा देनेवाली बात कैसे कहती ॥१९॥ जिसके विषयमें कुछ सोचा न जासके वह दैव है, उसका प्रभाव भूत और उनके अधिष्ठाता देवतओंपर भी पड़ता है । यह निश्चय है कि मेरे और केकयीके सम्बन्धमें उसी दैवने यह उलट-पलट की है ॥२०॥ लक्ष्मण, कौन पुरुष दैवसे युद्ध कर सकता है, क्योंकि कर्मफलभोगोंके अतिरिक्त उसका ज्ञान तो होता नहीं । वह तो प्रत्यक्ष नहीं है, प्रत्यक्ष है उसके कार्योंके फलभोग ॥२१॥ सुख, दुःख, भय, क्रोध, लाभ, अलाभ, उत्पत्ति, विनाश तथा इस प्रकारके और अज्ञातहेतुक जो कुछ होते हैं वे सब दैवके कार्य हैं ॥२२॥ कठोर तपस्या करनेवाले ऋषि भी दैवके द्वारा प्रेरित होकर बड़े प्रयत्नोंसे अर्जित नियमोंका त्यागकर काम-क्रोधके कारण ऋषिपदसे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥२३॥ प्रयत्नोंके द्वारा प्रारम्भ किये कामको रोककर अनचाहा काम—अनायासही जो हो जाता है वह दैवका काम है—हमारे राज्याभिषेककी तयारी की गयी थी, वनवासकी बात किसीने सोची भी न थी, राज्याभिषेक रुक गया और वनवास ही हुआ, इसका कारण दैवको ही समझना चाहिए ॥२४॥ इसी यथार्थ बुद्धिके द्वारा मैंने अपने अन्तःकरणको अन्तःकरणसे ही सम्भाला है, अतएव अभिषेकके रुक जानेपर भी मुझे दुःख नहीं है ॥२५॥ अतएव तुम भी मेरा अनुसरण करके जैसा मैंने किया है, वैसा करके दुःखहीन हो जाओ और अभिषेककी तयारी हटा दो ॥२६॥ लक्ष्मण, इन्हीं घड़ोंसे जो मेरे अभिषेकके लिए एकत्र किये गये हैं, मेरे तपस्वी व्रत ग्रहण करनेके व्रतका स्नान होगा ॥२७॥ अथवा इन घड़ोंसे मुझे क्या, ये तो राज्याभिषेकके काम आनेवाली सामग्रियोंसे तयार किये गये हैं, स्वयं अपने हाथसे निकाला हुआ जलही मुझे व्रतका अधिकार देगा । अर्थात्

मा च लक्ष्मण संतापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यते । राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः ॥२९॥
न लक्ष्मणास्मिन्मम राज्यविघ्ने माता यवीयस्यभिशङ्कितव्या ।
दैवाभिपन्ना न पिता कथंचिज्जानासि दैवं हि तथाप्रभावम् ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः २३

इति ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणोऽवाक्शिरा इव । ध्यात्वा मध्यं जगामाशु सहसा दैन्यहर्षयोः ॥ १ ॥
तथा तु बद्ध्वा भ्रुकुटीं भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः । निशश्वास महासर्पो बिलस्थ इव रोषितः ॥ २ ॥
तस्य दुष्प्रतिवीक्ष्यं तद्भ्रुकुटीसहितं तदा । बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ॥ ३ ॥
अग्रहस्तं विधुन्वंस्तु हस्ती हस्तमिवात्मनः । तिर्यगूर्ध्वं शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम् ॥ ४ ॥
अग्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत् । अस्थाने संभ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम् ॥ ५ ॥
धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्यानतिशङ्कया । कथं ह्येतदसंभ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

स्वयं जल निकाल कर मैं व्रतस्नान करूँगा ॥२८॥ राज्यलक्ष्मीके विपर्यय होनेसे—मुझे छोड़कर भरतके यहां चली जानेसे—दुःख मत करो । संसारमें दोही तो हैं, राज्य और वनवास । उसमें मुझे तो वनवास ही अच्छा मालूम पड़ता है । राज्यपालनमें चिन्तायुक्त रहकर मनुष्य आत्मकल्याण कर सकता है ॥२९॥ लक्ष्मण, तुम इस राज्यप्राप्तिके विघ्नमें छोटी माता केकयी पर सन्देह मत करो, उसके कारणसे यह विघ्न हुआ है ऐसा मत समझो । यह दैवका किया हुआ है, पितापर भी तुम सन्देह मत करो क्योंकि वे भी निर्दोष हैं, तुम जानते हो कि भाग्य कितना बड़ा बली है ॥३०॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका बाइसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २२ ॥

रामचन्द्रके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणने नीचे सिर करके सोचा, पुनः शीघ्रही वे दुःख और हर्षके बीचमें होगये । रामचन्द्रके धर्मपालनकी दृढ़तासे वे प्रसन्न थे, और उनके ही वनवासके कारण दुःखी ॥१॥ लक्ष्मणकी भौंहें चढ़ी हुई थीं और माथेपर बल पड़ गया था, वे क्रोध दिलाये गये बिलस्थ सर्पके समान सांसें लेने लगे ॥२॥ उस समयका लक्ष्मणका टेढ़ी भौंहोवाला अतएव देखनेके अयोग्य मुख क्रोधित सिंहके मुखके समान मालूम होता था ॥३॥ लक्ष्मण अपना दाहिना हाथ पटकने लगे, जिस प्रकार हाथी अपनी सूँड़ पटकता है, वे गलेको नीचे ऊपर तथा सीधमें कँपाते हुए ॥४॥ और कटाक्षसे टेढ़े, भाईको देखते हुए बोले—निष्कारण आपके मनमें यह एक भ्रम उत्पन्न होगया है ॥५॥ आप समझते हैं कि यदि हम पिताकी इस आज्ञाका पालन नहीं करेंगे तो प्रजाका हमपर सन्देह होजायगा कि जब ये पिताकी आज्ञाका पालन नहीं करते, जोकि इनका धर्म है, तब ये धर्मपूर्वक हमलोगोंका पालन कैसे करेंगे ! यदि आपको ऐसा भ्रम न हुआ होता तो आपके समान मनुष्य, यह सब भाग्यका खेल है—

यथा ह्येवमशौण्डीरं शौण्डीरः क्षत्रियर्षभः । किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि ॥ ७ ॥
पापयोस्ते कथं नाम तयोः शङ्का न विद्यते । सन्ति धर्मोपधासक्ता धर्मात्मन्किं न बुध्यसे ॥ ८ ॥
तयोः सुचरितं स्वार्थं शाठ्यात्परिजिहीर्षतोः । यदि नैवं व्यवसितं स्याद्धि प्रागेव राघव ।
तयोः प्रागेव दत्तश्च स्याद्वरः प्रकृतश्च सः ॥ ९ ॥
लोकविद्विष्टमारब्धं त्वदन्यस्याभिषेचनम् । नोत्सहे सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ॥१०॥
येनैवमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते । सोऽपि धर्मो मम द्वेष्यो यत्प्रसङ्गाद्विमुह्यसि ॥११॥
कथं त्वं कर्मणा शक्तः कैकेयीवशवर्तिनः । करिष्यसि पितुर्वाक्यमधर्मिष्ठं विगर्हितम् ॥१२॥
यदयं किल्बिषाद्भेदः कृतोऽप्येवं न गृह्यते । जायते तत्र मे दुःखं धर्मसङ्गश्च गर्हितः ॥१३॥
तवायं धर्मसंयोगो लोकस्यास्य विगर्हितः । मनसापि कथं कामं कुर्यात्त्वां कामवृत्तयोः ।
तयोस्त्वहितयोर्नित्यं शत्र्वोः पित्रभिधानयोः ॥१४॥

ऐसा कैसे कहता ॥६॥ आप समर्थ श्रेष्ठ क्षत्रिय हैं, आप दैवकी प्रतिकूलता दूर कर सकते हैं, फिर भी आप दैवको समर्थ बतला रहे हैं, जो यथार्थतः कोई वस्तु नहीं है, असमर्थ लोग भाग्यका अवलम्बन लेते हैं, अतएव वह भाग्य भी तुच्छ है और पुरुषार्थके सामने वह कोई भी कार्य सिद्ध नहीं कर सकता, पर आप उसीकी प्रशंसा करते हैं, इससे आपका भ्रम मालूम होता है ॥७॥ उन दोनों पापियोंके विषयमें आपको शङ्का क्यों नहीं होती। बड़े पुत्रको धर्मतः प्राप्त राज्य देनेका निश्चय करके पुनः उस निश्चयसे बदल जाना क्या धर्म है ? सत्यरक्षाकी बात केवल बहाना है, इस संसारमें बहुत ऐसे लोग हैं जो लोगों-को ठगनेके लिए छलसे धर्मात्मा बने रहते हैं । धर्मात्मन् , क्या आप इस बातको नहीं समझते ॥८॥ अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिए धर्मके बहानेसे चरित्रवान् आपका त्याग करनेवाले उन केकयी और दस-रथका काम आप नहीं समझे, यदि उनका ऐसा अभिप्राय न होता और जिस वरकी चर्चा इस समय हो रही है वह यदि सत्य होता तो इससे पहले ही कह दिया गया होता । वैसा नहीं किया, आज जब आपका अभिषेक निश्चय होगया, तब वरकी बात उठायी गयी, इससे स्पष्ट है कि उन दोनोंने यह वरकी बात बनायी है ॥९॥ धर्म और लोक-व्यवहारके अनुसार आपकाही अभिषेक होना चाहिए क्योंकि आप बड़े हैं और योग्य हैं, इसके विपरीत होना लोकनिन्दित है, पर वही हो रहा है । वीर, मैं उस वचनको सह नहीं सकता, उसका पालन नहीं कर सकता, अतएव आप मेरा यह अपराध क्षमा करें ॥१०॥ पिताके जिस वचनको धर्म समझनेके कारण आप विमोहित हो गये हो और जिस कारण आपकी बुद्धि भ्रान्त होगयी है, उस धर्मको भी मैं धर्म नहीं मानता, वह धर्माभास है, अतएव मैं उसका विरोधी हूँ ॥११॥ आप पराक्रमी हैं, समर्थ हैं, फिर केकयीके कहनेके अनुसार चलनेवाले पिताका धर्मविरुद्ध अतएव निन्दित वचनका पालन आप कैसे करेंगे ? ॥१२॥ वरकी झूठी रचना रचकर उनलोगोंने आपका अभिषेक टाल दिया है, पर आप इस बातको इस रूपमें नहीं समझ रहे हैं, इसका मुझे बड़ा दुःख है और इस प्रकारके धर्मका आदर करना भी निन्दित है ॥१३॥ आपने धर्म समझकर जो वनवास-ग्रहण करना स्वीकार किया है वह अयोध्याके वासियोंकी इच्छाके विरुद्ध है । माता पिता नामक उन अहित करनेवाले शत्रुओंकी

यद्यपि प्रतिपत्तिस्ते दैवी चापि तयोर्मतम् । तथाप्युपेक्षणीयं ते न मे तदपि रोचते ॥१५॥
विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते । वीराः संभावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ॥१६॥
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम् । न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ॥१७॥
द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च । दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता व्यक्तिर्भविष्यति ॥१८॥
अद्य मे पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः । यैर्दैवादाहतं तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम् ॥१९॥
अत्यङ्कुशमिवोद्दामं गजं मदजलोद्धतम् । प्रधावितमहं दैवं पौरुषेण निवर्तये ॥२०॥
लोकपालाः समस्तास्ते नाद्य रामाभिषेचनम् । न च कृत्स्नास्त्रयोलोका विहन्युः किं पुनः पिता ।२१।
यैर्विवासस्तवारण्ये मिथो राजन्समर्थितः । अरण्ये ते विवत्स्यन्ति चतुर्दश समास्तथा ॥२२॥
अहं तदाशां धक्ष्यामि पितुस्तस्याश्च या तव । अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते ॥२३॥
मद्बलेन विरुद्धाय न स्याद्दैवबलं तथा । प्रभविष्यति दुःखाय यथोग्रं पौरुषं मम ॥२४॥
ऊर्ध्वं वर्षसहस्रान्ते प्रजापाल्यमनन्तरम् । आर्यपुत्राः करिष्यन्ति वनवासं गते त्वयि ॥२५॥

आज्ञाका पालन, जो स्वेच्छाचारी हैं, आपके अतिरिक्त दूसरा मनसे भी नहीं कर सकता ॥१४॥ पिता माताओंके यह विचार—आपका अभिषेक न होना—दैवी है ऐसा आप समझ रहे हैं, पर आपको अपनी यह समझ दूर कर देनी चाहिए, क्योंकि यह मुझे अच्छा नहीं लगता। अर्थात् आप इसे भाग्यकृत समझते हों, फिर भी आप इस अपनी समझ को बदल दीजिए क्योंकि मैं भाग्यको पसन्द नहीं करता ॥१५॥ जो पौरुषहीन हैं, कायर हैं वे ही भाग्यपर भरोसा करते हैं, जो वीर हैं, जिनके पराक्रमकी लोकमें प्रसिद्धि है वे भाग्यका अनुसरण नहीं करते ॥१६॥ जो पुरुषार्थसे भाग्यको दबा सकते हैं, उन्हें भाग्यके कारण अपनी असफलतापर पश्चाताप करनेका अवसर नहीं मिलता ॥१७॥ आज दैव (भाग्य) और पुरुषके पराक्रमको लोग देखेंगे, आज दैव और मनुष्य इनमें कौन दुर्बल है और कौन बलवान् है इसका निर्णय होगा ॥१८॥ जिन लोगोंने दैवके कारण आपके राज्याभिषेकमें विघ्न होते देखा है, वे आज मेरे पुरुषार्थ द्वारा भाग्यको भी नष्ट होते देखेंगे ॥१९॥ अङ्कुशको न माननेवाला और खुले मतवाले हाथीके समान दौड़ते हुए हमलोगोंकी ओर आये इस भाग्यको हम अपने पुरुषार्थसे हटा देंगे ॥२०॥ आज होनेवाले रामचन्द्रके राज्याभिषेकको समस्त लोकपाल तथा तीनों लोक भी मिलकर नहीं टाल सकते, फिर पिता दसरथ कैसे टाल सकते हैं ॥२१॥ राजन्, जिन लोगोंने मिलकर आपके वनमें जानेका विचार निश्चित किया था अब उन्हींको चौदह वर्षोंतक वनमें रहना पड़ेगा ॥२२॥ मैं पिताकी आशाको जला दूँगा और उसकी भी आशाको जला दूँगा जो तुम्हारे अभिषेकमें विघ्न डालकर अपने पुत्रके राजा होनेकी कामना करती है ॥२३॥ मेरे बलसे विरोध करनेकी शक्ति भाग्यमें नहीं है, यदि किसी तरह हो भी तो उसे नष्ट कर देनेके लिए मेरा प्रचण्ड पुरुषार्थ यथेष्ट है ॥२४॥ एक हजार वर्षतक प्रजा-पालन करके जब आप वनमें जायँगे तब आपके पुत्र राज्यपालन करेंगे। इस प्रकार भरतको राज्य मिलनेकी कभी भी सम्भावना नहीं है

पूर्वराजर्षिवृत्त्या हि वनवासोऽभिधीयते । प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत्परिपालने ॥२६॥
स चेद्राजन्यनेकाग्रे राज्यविभ्रमशङ्कया । नैवमिच्छसि धर्मात्मन्राज्यं राम त्वमात्मनि ॥२७॥
प्रतिजाने च ते वीर मा भूवं वीरलोकभाक् । राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेव सागरम् ॥२८॥
मङ्गलैरभिषिञ्चस्व तत्र त्वं व्यापृतो भव । अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात् ॥२९॥
न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे । नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः ॥३०॥
अमित्रमथनार्थाय सर्वमेतच्चतुष्टयम् । न चाहं कामयेऽत्यर्थं यः स्याच्छत्रुर्मतो मम ॥३१॥
असिना तीक्ष्णधारेण विद्युच्चलितवर्चसा । प्रगृहीतेन वै शत्रुं वज्रिणं वा न कल्पये ॥३२॥
खड्गनिष्पेषनिष्पिष्टैर्गहना दुश्चरा च मे । हस्त्यश्वरथिहस्तोरुशिरोभिर्भविता मही ॥३३॥
खड्गधारा हता मेऽद्य दीप्यमाना इवाग्नयः । पतिष्यन्ति द्विषो भूमौ मेघा इव सविद्युतः ॥३४॥
बद्धगोधाङ्गुलित्राणे प्रगृहीतशरासने । कथं पुरुषमानी स्यात्पुरुषाणां मयि स्थिते ॥३५॥
बहुभिश्चैकमत्यस्यन्नेकेन च बहूञ्जनान् । विनियोक्ष्याम्यहं बाणान्नृवाजिगजमर्मसु ॥३६॥
अद्य मेऽस्त्रप्रभावस्य प्रभावः प्रभविष्यति । राज्ञश्चाप्रभुतां कर्तुं प्रभुत्वं च तव प्रभो ॥३७॥

॥२५॥ पहलेके राजर्षि वृद्धावस्थामें पुत्रवत् पालन करनेके लिए प्रजाको पुत्रके हाथ सौंपकर वन जाते थे, उसी प्रकार आप भी प्रजाका पुत्रवत् रक्षा करनेका भार पुत्रको देकर वन जायँ ॥२६॥ धर्मात्मन् रामचन्द्र, यदि आप इस भयसे—कि राजा दसरथ प्रतिकूल हैं, अतएव शायद मेरा राज्य हाथसे निकल न जाय—राज्य ग्रहण न करते हों तो ॥२७॥ मैं आपसे प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, मुझे वीरोंका लोक न मिले, यदि मैं तुम्हारे राज्यकी रक्षा न करूँ, जिस प्रकार तीर समुद्रकी रक्षा करता है ॥२८॥ आप वशिष्ठ आदि महर्षियोंसे अपना मंगलाभिषेक करावें, अब आप अभिषेकके ही उद्योगमें लगिए, मैं अकेले ही विघ्नोंको दूर करूँगा, मैं बलपूर्वक राजाओंको दूर हटा दूंगा ॥२९॥ मेरी दोनों भुजाएँ शोभाके लिए नहीं हैं और न यह धनुषही मेरा गहना है, मेरी तलवार केवल बँधी रहनेके लिए नहीं है, और न मेरे बाणही खम्भे बननेके लिये हैं ॥३०॥ ये मेरी चारों चीजें शत्रुको मथन करनेके लिये हैं । मेरा जो शत्रु है उसको मैं नहीं चाहता अर्थात् उसका संसारमें रहना मुझे नहीं भाता ॥३१॥ इसी कारण बिजलीके समान चमकनेवाली तीक्ष्ण तलवारसे मैं शत्रुको चाहे वह इन्द्रही क्यों न हो मार डालता हूँ ॥३२॥ मेरी तलवारके आघातसे कटे हुए हाथी, घोड़े और रथ—सवारोंके हाथ, ऊरु और सिरोंसे यह पृथिवी भर जायगी और अतएव वह चलनेके अयोग्य हो जायगी ॥३३॥ मेरी तलवारसे कटे हुए शत्रु, रक्तधार बहनेके कारण अग्निके समान प्रतीत होनेवाले शत्रु, बिजलीवाले मेघोंके समान पृथिवीपर गिरेंगे ॥३४॥ जिस समय धनुषके आघातसे रक्षा पानेके लिये अंगुलित्राण बाँधकर धनुष ग्रहण करूँगा, उस समय कौन पुरुष ऐसा है जो अपने पुरुष होनेका अभिमान करसके, कौन पुरुष योद्धा बनकर मेरे सामने खड़ा हो सकता है ॥३५॥ मैं अकेला हूँ इस बातकी कोई चिन्ता नहीं, मैं प्रधान वीरको अनेक बाणोंसे मारूँगा और साधारण अनेक सैनिकोंको एकही बाणसे, इसप्रकार मनुष्य, घोड़े और हाथियोंके मर्म स्थानपर मैं बाण चलाऊंगा ॥३६॥ राजा दसरथका प्रभाव नष्ट करनेके लिए तथा आपका प्रभुत्व स्थापित करनेके

अद्य चन्दनसारस्य केयूरामोक्षणस्य च । वसूनां च विमोक्षस्य सुहृदां पालनस्य च ॥३८॥
अनुरूपाविमौ बाहू राम कर्म करिष्यतः । अभिषेचनविघ्नस्य कर्तॄणां ते निवारणे ॥३९॥
ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां तवासुहृत्प्राणयशःसुहृज्जनैः ।
तथा तवेयं वसुधा वशा भवेत्तथैव मां शाधि तवास्मि किंकरः ॥४०॥
विमृज्य बाष्पं परिसान्त्व्य चासकृत्स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः ।
उवाच पित्रोर्वचने व्यवस्थितं निबोध मामेष हि सौम्य सत्पथः ॥४१॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः २४

तं समीक्ष्य व्यवसितं पितुर्निर्देशपालने । कौसल्या बाष्पसंरुद्धा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत् ॥ १ ॥
अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः । मयि जातो दशरथात्कथमुञ्छेन वर्तयेत् ॥ २ ॥
यस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते । कथं स भोक्ष्यते रामो वने मूलफलान्ययम् ॥ ३ ॥
क एतच्छ्रद्दधेच्छ्रुत्वा कस्य वा न भवेद्भयम् । गुणवान्दयितो राज्ञः काकुत्स्थो यद्विवास्यते ॥ ४ ॥

लिए मेरे अस्त्रसंबंधी पराक्रम, प्रताप, अपना प्रभुत्व फैलावेगा ॥३७॥ मेरी बाहुओंने आजतक जो चन्दन धारण किया है जो अंगद धारण किया है, दान किया है और मित्रोंका पालन किया है ॥३८॥ इन सब कामोंके अनुरूप ही काम आज मेरी बाहुएँ आपके अभिषेकमें विघ्न करनेवालोंका निवारण करेंगी ॥३९॥ कहिए कौन आपका शत्रु अपने प्राणों यश और मित्रोंसे छुटकारा पावे अर्थात् मेरे द्वारा मारा जाय, जिस तरह इस पृथिवीपर आपका अधिकार हो जाय वैसीही आज्ञा आप दें, मैं आपका सेवक हूँ ॥४०॥ रघुवंशवर्धन रामचन्द्रने लक्ष्मणके आंसू पोंछे, उन्हें बारबार समझाया, पुनः वे बोले—मैं पिता-माताकी आज्ञाके अधीन हूँ ऐसा समझो, सौम्य, यही सन्मार्ग है ॥४१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका तेइसवाँ सर्ग समाप्त ॥२३॥

रामचन्द्र पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिए तयार हैं, इस सम्बन्ध में दृढ़ निश्चयी हैं, यह जानकर कौसल्या अपने आँसू रोककर धर्मिष्ठ रामचन्द्रसे बोली ॥१॥ जिस धर्मात्माने कभी दुःख नहीं देखा है, जो सबसे प्रिय बोलता है, जो दसरथसे मेरे गर्भसे उत्पन्न हुआ है वह उञ्छके द्वारा कैसे जीवन बितावेगा (गिरे हुए अन्न बटोरकर जीवन निर्वाह करना उञ्छ कहा जाता है) ॥२॥ जिसके नौकर, दास आदि उत्तम अन्न खाते हैं, वे रामचन्द्र वनमें मूल फल कैसे खायेंगे ॥३॥ "गुणवान् तथा राजप्रिय रामचन्द्र वन भेजे जा रहे हैं" इसपर कौन विश्वास करेगा और इस बातके सुननेसे किस अयोध्या-वासीको भय न होगा ? भयके दो कारण हैं, रामचन्द्र जब निर्वासित हो सकते हैं तब इस राज्यमें किसीकी रक्षा नहीं, ऐसी आशङ्का दूसरे यहाँसे रामचन्द्रके चले जानेपर अब हमारी रक्षा कौन-

नूनं तु बलवाँल्लोके कृतान्तः सर्वमादिशन् । लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि ॥ ५ ॥
अयं तु मामात्मभवस्तवादर्शनमारुतः । विलापदुःखसमिधो रुदिताश्रुहुताहुतिः ॥ ६ ॥
चिन्ताबाष्पमहाधूमस्तवागमनचिन्तजः । कर्शयित्वाधिकं पुत्र निःश्वासायाससंभवः ॥ ७ ॥
त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान् । प्रधक्ष्यति यथा कक्षं चित्रभानुर्हिमात्यये ॥ ८ ॥
कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति । अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि ॥ ९ ॥
यथा निगदितं मात्रा तद्वाक्यं पुरुषर्षभः । श्रुत्वा रामोऽब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥१०॥
कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते । भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति ॥११॥
भर्तुः पुनः परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः । स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः ॥१२॥
यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः । शुश्रूषा क्रियतां तावत्स हि धर्मः सनातनः ॥१३॥
एवमुक्ता तु रामेण कौसल्या शुभदर्शना । तथेत्युवाच सुप्रीता राममक्लिष्टकारिणम् ॥१४॥
एवमुक्तस्तु वचनं रामो धर्मभृतां वरः । भूयस्तामब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥१५॥
मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः । राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥१६॥
इमानि तु महारण्ये विहृत्य नव पञ्च च । वर्षाणि परमप्रीत्या स्थास्यामि वचने तव ॥१७॥

करेगा ॥४॥ प्राणियोंको सुख दुःख देता हुआ भाग्यही बलवान् है ऐसा मैं समझती हूँ, राम जिसके कारण तुम सर्वप्रिय होकर भी वन जा रहे हो ॥५॥ तुम्हारे वन जानेसे स्वयं मेरे मनहीके द्वारा शोकाग्नि उत्पन्न होगी, तुम्हारे दर्शन न मिलनेरूप वायुसे वह बढ़ेगी, उस अग्निके लिए विलाप और दुःखही लकड़ी होंगे, रोनेके आँसूही उसकी आहुति बनेंगे, चिन्तामें उत्पन्न श्वास या आँसू उसके धूम होंगे, मेरी साँससे वह आग जगायी जावेगी, वह अतुल और महान शोकाग्नि मुझे अत्यन्त दुःखित करके जला देगी, जिस प्रकार गर्मीके दिनोंके आग घास जला देती है ॥६–८॥ बेटा, गाय अपने बच्छेके पीछे जाती है, जहाँ वह जाता है वहीं वह जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ जहाँ तुम चलोगे वहाँ जाऊँगी ॥९॥ माताने रामचन्द्रसे ये बातें कहीं । रामचन्द्र इन बातोंको सुनकर अत्यन्त दुःखित मातासे बोले ॥१०॥ केकयीने राजाको ठग लिया, मैं वन जा रहा हूँ और आप भी यदि राजाको छोड़कर चलीं जाँय तो वे जी न सकेंगे ॥११॥ पतिका परित्याग करना स्त्रीके लिए बहुत बड़ी क्रूरता है, वह क्रूरता आपको न करनी चाहिए क्योंकि मनसे भी वैसा सोचना निन्दित है ॥१२॥ जबतक काकुत्स्थवंशी मेरे पिता राजा दसरथ जीते हैं तबतक आप उनकी सेवा करें यही सनातन धर्म है ॥१३॥ रामचन्द्रके ऐसा कहनेपर शुभदर्शना (जिसका दर्शन सुन्दर है, अथवा जिसके दर्शन शुभ होते हैं) कौसल्याने प्रसन्न होकर उत्तम कर्म करनेवाले रामचन्द्रकी बातें स्वीकार कीं ॥१४॥ माताके स्वीकार करनेपर धार्मिकश्रेष्ठ रामचन्द्र पुनः अत्यन्त दुःखिनी मातासे बोले ॥१५॥ मुझे और आपको राजाकी आज्ञाका पालन करना चाहिए । क्योंकि वे आपके पति हैं और मेरे गुरु हैं, श्रेष्ठ हैं, सबके स्वामी हैं और पराक्रमी हैं ॥१६॥ इन चौदह वर्षोंतक वनमें

एवमुक्ता प्रियं पुत्रं बाष्पपूर्णानना तदा । उवाच परमार्ता तु कौसल्या सुतवत्सला ॥१८॥
आसां राम सपत्नीनां वस्तुं मध्ये न मे क्षमम् । नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीमिव ॥१६॥
यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया । तां तथा रुदतीं रामोऽरुदन्वचनमब्रवीत् ॥२०॥
जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च । भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः ॥२१॥
न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता । भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ॥२२॥
भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा । यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः ॥२३॥
श्रमं नावाप्नुयात्किंचिदप्रमत्ता तथा कुरु । दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत् ॥२४॥
राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता । व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥२५॥
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत् । भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥२६॥
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् । शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ॥२७॥
एष धर्मः स्त्रिया नित्यो वेदे लोके श्रुतः स्मृतः । अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः ॥२८॥
पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सत्कृताः । एवं कालं प्रतीक्षस्व ममागमनकाङ्क्षिणी ॥२६॥
नियता नियताहारा भर्तृशुश्रूषणे रता । प्राप्स्यसे परमं कामं मयि पर्यागते सति ॥३०॥
यदि धर्मभृतां श्रेष्ठो धारयिष्यति जीवितम् । एवमुक्ता तु रामेण बाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥३१॥

विहार करके लौटनेपर बड़ी प्रसन्नतासे मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥१७॥ रामचन्द्रके ऐसा कहने-पर कौसल्याकी आँखें भर आयीं । सुतवत्सल कौसल्या बड़े दुःखसे अपने प्रिय पुत्रसे बोली ॥१८॥ राम, इन सपत्नियोंके साथ मेरा रहना अच्छा नहीं है, मुझको भी अपने साथ बनैली मृगीके समान वनमें ले चलो ॥१९॥ यदि तुमने पिताकी आज्ञासे वनमें जाना निश्चित कर लिया हो तब । ऐसा कहकर रोती हुई मातासे रामचन्द्र रोते हुए बोले ॥२०॥ जीती हुई स्त्रियोंके लिए उसका पतिही देवता है, स्वामी है, आपके और मेरे स्वामी राजा हैं, वेही मालिक हैं ॥२१॥ लोकस्वामी बुद्धिमान राजा दसरथके रहते हम-लोग अनाथ नहीं हैं, भरत भी धर्मात्मा है और सबसे प्रिय बोलनेवाला है ॥२२॥ वह आपकी सदा सेवा करेगा, क्योंकि उसका धर्ममें प्रेम है । मेरे जानेपर पुत्रशोकके कारण राजा ॥२३॥ जिस प्रकार दुःखी न हों वैसा प्रयत्न सावधान होकर आपको करना चाहिए, जिससे कि यह कठिन शोक उनका विनाश न कर दे ॥२४॥ सावधान होकर सदा बूढ़े राजाके हितकी ओर ध्यान दो, उनके हितके लिए व्रत, उप-वास आदि करो, ये ही उत्तम नारीके लक्षण हैं ॥२५॥ जो स्त्री पतिसेवा नहीं करती है, वह पापिनी है । पतिकी सेवासे स्त्रियाँ स्वर्ग पाती हैं ॥२६॥ देवताको विना नमस्कार किये तथा देवपूजा भी छोड़कर स्त्रियोंको पतिहितकी कामनासे उनकी सेवाही करनी चाहिए ॥२७॥ लोक और वेदमें स्त्रियोंका यही नित्य धर्म बतलाया गया है । पतिके साथ किये जानेवाले अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें पुष्पोंसे देवताकी पूजा करो ॥२८॥ मेरे कल्याणके लिए देवताकी पूजा करो, सत्कारपूर्वक ब्राह्मणोंकी पूजा करो । इस प्रकार मेरे आगमनके समयकी प्रतिक्षा करो ॥२९॥ इस प्रकार नियत आचरण और नियत आहारसे पतिसेवामें रत रहोगी तो मेरे वनसे लौट आनेपर अपने सब मनोरथोंको पूर्ण पाओगी ॥३०॥ यदि धार्मिक श्रेष्ठ राजा

कौसल्या पुत्रशोकार्ता रामं वचनमब्रवीत् । गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक ॥३२॥
विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः । गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो ॥३३॥
पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा । प्रत्यागते महाभागे कृतार्थे चरितव्रते ।
पितुरानृण्यतां प्राप्ते स्वपिष्ये परमं सुखम् ॥३४॥
कृतान्तस्य गतिः पुत्र दुर्विभाव्या सदा भुवि । यस्त्वां संचोदयति मे वच आविध्य राघव ॥३५॥
गच्छेदानीं महाबाहो क्षेमेण पुनरागतः । नन्दयिष्यसि मां पुत्र साम्ना श्लक्ष्णेन चारुणा ॥३६॥
अपीदानीं स कालः स्याद्वनात्प्रत्यागतं पुनः । यत्त्वां पुत्रक पश्येयं जटावल्कलधारिणम् ॥३७॥
तथा हि रामं वनवासनिश्चितं ददर्श देवी परमेण चेतसा ।
उवाच रामं शुभलक्षणं वचो बभूव च स्वस्त्ययनाभिकाङ्क्षिणी ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतितमः सर्गः २५

सा विनीय तमायासमुपस्पृश्य जलं शुचि । चकार माता रामस्य मङ्गलानि मनस्विनी ॥ १ ॥
न शक्यते वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम । शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे ॥ २ ॥

दसरथ उस समय तक जीवित रहे । रामचन्द्रके ऐसा कहनेपर कौसल्याकी आँखें जलसे भर गयीं ॥३१॥ पुत्रशोकसे पीड़ित कौसल्या रामचन्द्रसे बोली—पुत्र, तुमने जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया है ॥३२॥ मैं तुम्हें रोकना नहीं चाहती । कालके आगे किसकी चली है, पुत्र, तुम निश्चिन्त होकर जाओ तुम्हारा कल्याण हो ॥३३॥ जब तुम लौटकर आओगे, व्रतका अनुष्ठान कर सफल होकर लौटोगे और इस प्रकार पिताके आज्ञाके पालन करनेसे उनका ऋण चुका दोगे तब मेरे क्लेश दूर होंगे और मैं सुखपूर्वक सो सकूँगी ॥३४॥ राघव, भाग्यकी गति बड़ी ही कठिन है, वह जानी नहीं जाती, देखो वही भाग्य मेरी बात टालकर तुम्हें आज वन भेज रहा है ॥३५॥ बेटा, जाओ, कुशलपूर्वक लौटकर सुन्दर और मनोहर वचनोंसे मुझे प्रसन्न करना ॥३६॥ पुत्र, क्या वह समय कभी आवेगा जब वनसे लौटे हुए जटावल्कलधारी तुमको मैं देख सकूँगी अर्थात् चौदह वर्षकी अवधि शीघ्रही पूरी हो जायगी ॥३७॥ रामचन्द्रका वनवास जानेका निश्चय दृढ़ है यह बात देवी कौसल्याने अपने मनसे जान ली और उनका मङ्गल चाहनेवाली वे मङ्गलमय शब्दसे उनसे बोलीं ॥३८॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका चौबीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २४ ॥

कौशल्याने शोकसे उत्पन्न अपनी थकावट दूर की, पवित्र जलसे आचमन किया और रामचन्द्रके लिए मङ्गलकामना की ॥१॥ कौसल्याने कहा—रघूत्तम, अब इस समय रोकना ठीक नहीं, तुम वन

यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च । स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु ॥ ३ ॥
येभ्यः प्रणमसे पुत्र देवेष्वायतनेषु च । ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः ॥ ४ ॥
यानि दत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता । तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणैः समुदितं सदा ॥ ५ ॥
पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा । सत्येन च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः ॥ ६ ॥
समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च । स्थण्डिलानि च विप्राणां शैला वृक्षाः क्षुपा ह्रदाः ॥
पतङ्गाः पन्नगाः सिंहास्त्वां रक्षन्तु नरोत्तम ॥ ७ ॥
स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षिभिः । स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्यमा ॥८॥
लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा । ऋतवः षट् च ते सर्वे मासाः संवत्सराः क्षपाः ॥ ९ ॥
दिनानि च मुहूर्ताश्च स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा । श्रुतिः स्मृतिश्च धर्मश्च पातु त्वां पुत्र सर्वतः ॥१०॥
स्कन्दश्च भगवान्देवः सोमश्च सबृहस्पतिः । सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः ॥११॥
ते चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः । स्तुता मया वने तस्मिन्पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः ॥१२॥
शैलाः सर्वे समुद्राश्च राजा वरुण एव च । द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी वायुश्च सचराचरः ॥१३॥
नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सह दैवतैः । अहोरात्रे तथा संध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम् ॥१४॥
ऋतवश्चापि षट् चान्ये मासाः संवत्सरास्तथा । कलाश्च काष्ठाश्च तथा तव शर्म दिशन्तु ते ॥१५॥
महावनेऽपि चरतो मुनिवेषस्य धीमतः । तथा देवाश्च दैत्याश्च भवन्तु सुखदाः सदा ॥१६॥

जाओ, और शीघ्रही लौट आओ, इस प्रकार सज्जनोंके मार्गका अनुसरण करो ॥२॥ राघवश्रेष्ठ, जिस प्रेम और नियमके साथ जिस धर्मका पालन कर रहे हो वह धर्म ही तुम्हारी रक्षा करे, तुम्हारे विघ्नोंको दूर करे ॥३॥ पुत्र देवालयोंमें तुम जिनको प्रणाम करते हो वे देवता ही महर्षियोंके साथ तुम्हारी रक्षा करें ॥४॥ बुद्धिमान् विश्वामित्रने तुम्हें जो अस्त्र दिये हैं वे अस्त्र, सद्गुणवान् तुम्हारी रक्षा करें ॥५॥ पुत्र, पितृसेवा, मातृसेवा तथा सत्यपालन इनके द्वारा रक्षित होकर तुम चिरजीवी होओ ॥६॥ समित्, कुश, पवित्र वेदियां, देवस्थान, ब्राह्मणोंके चौतरे, पर्वत, वृक्ष, पौधे, तालाब, पतङ्ग, सर्प तथा सिंह तुम्हारी रक्षा करें अर्थात् इनके अधिष्ठाता देवता तुम्हारी रक्षा करें ॥७॥ साध्य, विश्वेदेव, मरुत और महर्षि तुम्हारा कल्याण करें, विराट, ब्रह्मा, पूषन् देव अंग और अर्यमा तुम्हारा कल्याण करे ॥८॥ इन्द्रप्रभृति लोकपाल, छ ऋतु, सब महीने, वर्ष, रात्रि, ॥९॥ दिन और मुहूर्त सब तुम्हारा कल्याण करें। पुत्र ! श्रुति, स्मृति और धर्म तुम्हारी सब प्रकारसे रक्षा करें ॥१०॥ भगवान् स्कन्ददेव, बृहस्पतिके साथ चन्द्रमा, सप्त ऋषि तथा नारद तुम्हारी सब प्रकारसे रक्षा करें ॥११॥ पुत्र, जिन दिशाओं दिकपालों तथा सिद्धोंकी मैंने स्तुतिकी है वे सब उस वनमें तुम्हारी नित्य रक्षा करें ॥१२॥ सब पर्वत, सब समुद्र, राजा वरुण, द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु ये सब तुम्हारी रक्षा करें ॥१३॥ सब नक्षत्र देवताओंके साथ ग्रह दिन रात तथा दोनों सन्ध्याएँ तुम्हारी रक्षा करें ॥१४॥ छ ऋतु, अधिक मास संवत्सर कला और काष्ठा ये सब तुम्हें कल्याण दें ॥१५॥ बीहड़ वनमें भी मुनिवेषसे तुम्हारे भ्रमणके समय देवता तथा दैत्य

राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम्। क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत्पुत्रक ते भयम् ॥१७॥
प्लवगा वृश्चिका दंशा मशकाश्चैव कानने। सरीसृपाश्च कीटाश्च माभूवन्गहने तव ॥१८॥
महाद्विपाश्च सिंहाश्च व्याघ्रा ऋक्षाश्च दंष्ट्रिणः। महिषाः शृङ्गिणो रौद्रा न ते द्रुह्यन्तु पुत्रक ॥१९॥
नृमांसभोजना रौद्रा ये चान्ये सर्वजातियाः। मा च त्वां हिंसिषुःपुत्र मया संपूजितास्त्विह ॥२०॥
आगमास्ते शिवाःसन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः। सर्वसंपत्तयो राम स्वस्तिमान्गच्छ पुत्रक ॥२१॥
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यःपार्थिवेभ्यःपुनःपुनः। सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो ये च ते परिपन्थिनः ॥२२॥
शुक्रः सोमश्च सूर्यश्च धनदोऽथ यमस्तथा। पान्तु त्वामर्चिता राम दण्डकारण्यवासिनम् ॥२३॥
अग्निर्वायुस्तथा धूमो मन्त्राश्चर्षिमुखच्युताः। उपस्पर्शनकाले तु पान्तु त्वां रघुनन्दन ॥२४॥
सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा भूतकर्तृ तथर्षयः। ये च शेषाःसुरास्ते तु रक्षन्तु वनवासिनम् ॥२५॥
इति माल्यैः सुरगणान्गन्धैश्चापि यशस्विनी। स्तुतिभिश्चानुरूपाभिरानर्चायतलोचना ॥२६॥
ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना। हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात् ॥२७॥
घृतं श्वेतानि माल्यानि समिधश्चैव सर्षपान्। उपसंपादयामास कौसल्या परमाङ्गना ॥२८॥
उपाध्यायः सविधिना हुत्वा शान्तिमनामयम्। हुतहव्यावशेषेण बाह्यं बलिमकल्पयत् ॥२९॥
मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्तिवाच्यं द्विजांस्ततः। वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाम् ॥३०॥

तुम्हारे लिए सुखदायी हों ॥१६॥ पुत्रक, बड़ेही भयानक क्रूर कर्म करनेवाले तथा मांस खानेवाले राक्षस और पिशाचोंसे भी वनमें तुम्हें भय न हो ॥१७॥ वानर, विच्छू, वनमक्खी, मच्छर, गिरगिट तथा अन्य कीड़े वनमें तुम्हारे लिए दुःखदायी न हों ॥१८॥ बड़े हाथी सिंह व्याघ्र रीछ सूअर भैंसे तथा सींगवाले अन्य भयानक जन्तु तुम्हारी बुराई न करें ॥१९॥ मनुष्यमांस खानेवाले अन्य भयानक जन्तु भी तुमसे द्वेष न करें, क्योंकि मैं यहाँ उन सबकी पूजा करूंगी ॥२०॥ तुम्हारे मार्ग कल्याणमय हों, तुम्हारे पराक्रम सफल हों, वनवासके समय जिन सामग्रियोंकी आवश्यकता है वे सब सामग्रियां तुम्हें प्राप्त हों, तुम्हारा कल्याण हो, तुम जाओ ॥२१॥ अन्तरिक्षवासी, पृथिवीवासी तथा वे सब देवता जो तुम्हारे विरोधी हों उन सबका भी कल्याण हो ॥२२॥ शुक्र चन्द्रमा सूर्य कुवेर तथा यम दण्डकारण्यमें रहनेके समय मेरे द्वारा अर्चित होकर तुम्हारी रक्षा करें ॥२३॥ अग्नि, वायु, धूम तथा ऋषियोंके मुखसे निकले मन्त्र, न छूने योग्य वस्तुसे छूजानेके समय तुम्हारी रक्षा करें ॥२४॥ लोकप्रभु ब्रह्मा, जगत्कारण ब्रह्म, ऋषि तथा अन्य नित्य देवता वनवासके समय तुम्हारी रक्षा करें ॥२५॥ इस प्रकार कहकर यशस्विनी कौसल्याने, माल्य गन्ध तथा अनुरूप स्तुतियोंसे देवताओंकी पूजा की ॥२६॥ अग्नि लेकर शुद्धाचारी ब्राह्मणके द्वारा विधिपूर्वक उन्होंने हवन कराया जिससे रामचन्द्रका मङ्गल हो ॥२७॥ श्रेष्ठ स्त्री कौसल्याने घी, सफेद मालाएँ लकड़ी और सर्षप (सरसों) हवनके लिए जुटाये ॥२८॥ उपाध्यायने सब प्रकारके उपद्रवोंकी शान्ति और आरोग्यके लिए विधिपूर्वक हवन किये और हवनसे बचे द्रव्यसे हवन—स्थानके बाहर उन्होंने बलिदान किया ॥२९॥ स्वस्तिवाचनके लिए ब्राह्मणोंको दधि मधु अक्षत

ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी । दक्षिणां प्रददौ काम्यां राघवं चेदमब्रवीत् ॥३१॥
यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते । वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥३२॥
यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा । अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥३३॥
अमृतोत्पादने दैत्यान्घ्नतो वज्रधरस्य यत् । अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥३४॥
त्रिविक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरतुलतेजसः । यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥३५॥
ऋषयःसागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ताः । मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु शुभमङ्गलम् ॥३६॥
इति पुत्रस्य शेषाश्च कृत्वा शिरसि भामिनी । गन्धैश्चापि समालभ्य राममायतलोचना ॥३७॥
ओषधीं च सुसिद्धार्थां विशल्यकरणीं शुभाम् । चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च ॥३८॥
उवाचापि प्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्तिनी । वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया ॥३९॥
आनम्य मूर्ध्नि चाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनी । अवदत्पुत्रमिष्टार्थो गच्छ राम यथासुखम् ॥४०॥
अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम् । पश्यामि त्वां सुखं वत्स संधितं राजवर्त्मसु ॥४१॥
मङ्गलैरुपसंपन्नो वनवासादिहागतः । वध्वाश्च मम नित्यं त्वं कामान्संवर्धयाहि भोः ॥४२॥

मयार्चिता देवगणाः शिवादयो महर्षयो भूतगणाः सुरोरगाः ।
अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते हितानि काङ्क्षन्तु दिशश्च राघव ॥४३॥

घृत देकर कौसल्याने उनके द्वारा रामचन्द्रके वनमें कल्याणके लिए स्वस्तिवाचन कराया ॥३०॥ पुनः यशस्विनी राममाता कौसल्याने ब्राह्मणको मनचाही दक्षिणा दी और वे रामचन्द्रसे बोलीं ॥३१॥ देवताओं के द्वारा पूजित इन्द्रको वृत्रासुरके वधके समय जो मङ्गल हुआ था वही मंगल तुम्हें भी हो ॥३२॥ अमृत पानेकी प्रार्थनाके समय गरुड़को उनकी माता विनताने जैसे मंगलका विधान किया था वैसा मंगल तुमको भी हो ॥३३॥ अमृतके निकलनेके समय अदितिने दैत्यघाती इन्द्रको जो मंगल दिया था वह मंगल तुम्हें भी हो ॥३४॥ अतुलतेजा वामन की तीन पैरोंसे त्रिलोक नापनेके समय जो मंगल हुआ था वही मंगल तुम्हें भी हो ॥३५॥ महाबाहो, ऋषि, सागर, द्वीप, वेद, लोक तथा वे सब दिशाएँ तुम्हें मंगल दें, ये तुम्हें उत्कृष्ट मंगल दें ॥३६॥ ऐसा कहकर कौसल्याने पुत्र रामचन्द्रके मस्तकपर अक्षत रखे और गन्ध (सुगन्धित चन्दन आदि) लगाये ॥३७॥ जिसका प्रभाव देखा गया है ऐसी विशल्यकरणी नामकी ओषधि कौशल्याने रक्षाके लिए रामचन्द्रके हाथमें बांधी और मन्त्रोंका जप किया ॥३८॥ दुःखित होनेपर भी प्रसन्नता प्रकट करती हुई कौसल्या बोली, कौसल्याने केवल वचनसे प्रसन्नता प्रकट की, हृदयसे नहीं क्योंकि उनका अन्तःकरण दुःखी था ॥३९॥ यशस्विनी कौसल्याने रामका सिर झुकाकर सूँघा और वे बोलीं—पुत्र, अपने प्रयोजनके लिए तुम वन जाओ ॥४०॥ तुम अपने सब मनोरथ पूरा करके नीरोग जब अयोध्यामें लौटोगे तब राजमार्गमें वर्तमान तुमको देखूँगी ॥४१॥ मंगलोंसे युक्त होकर तुम वन जाओ और वहांसे लौटकर मेरी बहू सीताके मनोरथोंको पूर्ण करो ॥४२॥ राघव, मेरे द्वारा पूजित होकर

अतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि ।
प्रदक्षिणं चापि चकार राघवं पुनः पुनश्चापि निरीक्ष्य सस्वजे ॥४४॥
तया हि देव्या च कृतप्रदक्षिणो निपीड्य मातुश्चरणौ पुनः पुनः ।
जगाम सीतानिलयं महायशाः स राघवः प्रज्वलितस्तया श्रिया ॥४५॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चविंशतितमः सर्गः ॥२५॥

षड्विंशः सर्गः २६

अभिवाद्य तु कौसल्यां रामःसंप्रस्थितो वनम् । कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठे वर्त्मनि स्थितः ॥ १ ॥
विराजयन्राजसुतो राजमार्गं नरैर्वृतम् । हृदयान्याममन्थेव जनस्य गुणवत्तया ॥ २ ॥
वैदेही चापि तत्सर्वं न शुश्राव तपस्विनी । तदेव हृदि तस्याश्च यौवराज्याभिषेचनम् ॥ ३ ॥
देवकार्यं स्म सा कृत्वा कृतज्ञा हृष्टचेतना । अभिज्ञा राजधर्माणां राजपुत्री प्रतीक्षति ॥ ४ ॥
प्रविवेशाथ रामस्तु स्ववेश्म सुविभूषितम् । प्रहृष्टजनसंपूर्णं ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥
अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम् । अपश्यच्छोकसंतप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥
तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम् । तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः ॥ ७ ॥

देवगण शिव, महर्षि, भूतगण, नाग वन जानेके समय तुम्हारे कल्याण करें ॥४३॥ कौसल्याकी आंखें आँसूसे भर गयी थीं, उन्होंने विधिपूर्वक स्वस्त्ययन समाप्त किया, रामचन्द्रकी प्रदक्षिणा की, बारबार उनको देखा और उनका आलिंगन किया ॥४४॥ माताके द्वारा प्रदक्षिणा किये जानेपर रामचन्द्रने बारबार माताके चरणोंको प्रणाम किया और माताके द्वारा किये विधानोंसे प्राप्त शोभाके द्वारा रामचन्द्र विशेष शोभित हुए । महायशस्वी रामचन्द्र वहाँसे सीताके महलमें गये ॥४५॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका पचीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २५ ॥

धर्ममार्गमें वर्तमान रामचन्द्र माताके द्वारा स्वस्त्ययन किये जानेपर माता कौसल्याको प्रणाम करके वनके लिए प्रस्थित हुए ॥१॥ मनुष्योंसे भरे हुए राजमार्गको सुशोभित करते हुए तथा अपनी गुणवत्तासे लोगोंके हृदय मथानीके समान बिलोते हुए प्रस्थित हुए ॥२॥ अभी तक सीताको इन सब बातोंकी खबर न थी, उनके हृदयमें अभी अभिषेककी ही बातें वर्तमान थीं ॥३॥ सीता सामयिक कर्तव्यों तथा राजधर्मको जाननेवाली हैं, अतः देवपूजा करके प्रसन्नतापूर्वक रामचन्द्रके लौटनेकी प्रतीक्षा कर रही थीं ॥४॥ रामचन्द्रने अपने सजे-सजाये घरमें प्रवेश किया, वह घर प्रसन्न मनुष्योंसे पूर्ण था और रामचन्द्र उस समय लज्जासे थोड़ा सिर झुकाये हुए थे ॥५॥ रामचन्द्रको देखकर सीता काँप गयीं, और शोकसन्तप्त तथा चिन्ताव्याकुल पतिको उन्होंने देखा ॥६॥ सीताको देखकर धर्मात्मा रामचन्द्र अपने मनका शोक न

विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम् । आह दुःखाभिसंतप्ता किमिदानीमिदं प्रभो ॥ ८ ॥
अद्य बार्हस्पतः श्रीमान्युक्तः पुष्येण राघव । प्रोच्यते ब्राह्मणैःप्राज्ञैःकेन त्वमसि दुर्मनाः ॥ ९ ॥
न ते शतशलाकेन जलफेननिभेन च । आवृतं वदनं वल्गुच्छत्रेणाभिविराजते ॥१०॥
व्यजनाभ्यां च मुख्याभ्यां शतपत्रनिभेक्षणम् । चन्द्रहंसप्रकाशाभ्यां वीज्यते न तवाननम् ॥११॥
वाग्मिनो बन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वां नरर्षभ । स्तुवन्तो नाद्य दृश्यते मङ्गलैःसूतमागधाः ॥१२॥
न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः । मूर्ध्नि मूर्धाभिषिक्तस्य ददति स्म विधानतः ॥१३॥
न त्वां प्रकृतयः सर्वा श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः । अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तदा ॥१४॥
चतुर्भिर्वेगसंपन्नैर्हयैः काञ्चनभूषणैः । मुख्यःपुष्परथो युक्तःकिं न गच्छति तेऽग्रतः ॥१५॥
न हस्ती चाग्रतः श्रीमान्सर्वलक्षणपूजितः । प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः ॥१६॥
न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन । भद्रासनं पुरस्कृत्य यान्तं वीरपुरःसरम् ॥१७॥
अभिषेको यदा सज्जः किमिदानीमिदं तव । अपूर्वो मुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते ॥१८॥
इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः । सीते तत्र भवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम् ॥१९॥
कुले महति संभूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि । शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाद्यागतं मम ॥२०॥

छिपा सके, अतएव वह शोक प्रकाशित होगया । वह सीतासे वियोग होनेका शोक था ॥७॥ रामचन्द्रका मुँह सूख गया था, शरीरसे पसीना निकल रहा था, वे अपना दुःख सम्भाल नहीं सकते थे । दुःखित होकर सीता उनसे बोली - प्रभो, इस समय यह क्या ? ॥८॥ ब्राह्मण कहते हैं कि आज पुष्य नक्षत्र है, जिसके देवता बृहस्पति हैं, जिसमें प्रारम्भ किया हुआ कार्य सफल होता है, इस समय अभिषेकके योग्य है, अतएव आपको प्रसन्न होना चाहिए, आप उदास क्यों हैं ? ॥९॥ जलफेनके समान स्वच्छ सौ कमानीवाले सुन्दर छातासे आपका मुखमण्डल इस समय ढका हुआ नहीं है, अर्थात् राजचिह्न छत्र आपने धारण नहीं किया है ॥१०॥ चन्द्रमा और हंसके समान श्वेत सुन्दर दो चँवरोंसे कमल-समान आपका सुन्दर मुख विजित नहीं होता अर्थात् राजचिह्न चँवर भी नहीं है ॥११॥ नरश्रेष्ठ बोलनेमें चतुर वन्दी सूत मागध प्रसन्नतपूर्वक मङ्गल वचनोंसे आपकी स्तुति करते भी नहीं देखे जाते हैं ॥१२॥ सिरसे स्नान करनेवाले आपके सिरपर वेदपारग ब्राह्मण विधिपूर्वक मधु तथा दही नहीं दे रहे हैं ॥१३॥ सब राजकर्मचारी, दलोंके प्रतिनिधि तथा प्रजाके लोग इस समय आपका अनुगमन करना नहीं चाहते ॥१४॥ सोनेके गहने पहने हुए और तेज चलनेवाले चार घोड़ोंवाला पुष्यरथ (सवारीका, युद्धका नहीं) आपके आगे क्यों नहीं चलता ॥१५॥ काले मेघोंवाले पर्वतके समान हाथी जो सब सुलक्षणोंसे युक्त हों तथा सब सम्पत्तियोंका हेतु हों, आपकी यात्रामें आते नहीं दीख पड़ते ॥१६॥ हे प्रियदर्शन, सोनेका राजसिंहासन आगे लेकर चलनेवाले भृत्योंको मैं नहीं देख रही हूँ ॥१७॥ इधर अभिषेककी तयारी हुई और उधर आपको यह क्या होगया, आपके मुँहका रंग अद्भुत होगया है, उसपर थोड़ी भी प्रसन्नता नहीं मालूम पड़ती ॥१८॥ इस प्रकार दुःखसे कहती हुई सीतासे रामचन्द्र बोले—सीते, पूज्यपिता मुझे वन भेज रहे हैं ॥१९॥ सीते, तुम्हारा जन्म बहुत बड़े कुलमें हुआ है, तुम स्वयं धर्म जाननेवाली और धर्माचरण

राज्ञा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन वै । कैकेय्या मम मात्रे तु पुरा दत्तौ महावरौ ॥२१॥
तयाद्य मम सज्जेऽस्मिन्नभिषेके नृपोद्यते । प्रचोदितः स समयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः ॥२२॥
चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया । पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः ॥२३॥
सोऽहं त्वामागतो द्रष्टुं प्रस्थितो विजनं वनम् । भरतस्य समीपे ते नाहं कत्थ्यः कदाचन ॥२४॥
ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम् । तस्मान्न ते गुणाः कत्थ्या भरतस्याग्रतो मम ॥२५॥
अहं ते नानुवक्तव्यो विशेषेण कदाचन । अनुकूलतया शक्यं समीपे तस्य वर्तितुम् ॥२६॥
तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम् । स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः ॥२७॥
अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन् । वनमद्यैव यास्यामि स्थिरीभव मनस्विनि ॥२८॥
याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम् । व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे ॥२९॥
कल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि । वन्दितव्यो दशरथः पिता मम जनेश्वरः ॥३०॥
माता च मम कौसल्या वृद्धा संतापकर्शिता । धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः संमानमर्हति ॥३१॥
वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः । स्नेहप्रणयसंभोगैः समा हि मम मातरः ॥३२॥
भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः । त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥३३॥
विप्रियं च न कर्तव्यं भरतस्य कदाचन । स हि राजा च वैदेहि देशस्य च कुलस्य च ॥३४॥

करनेवाली हो। जानकी, सुनो, जिसप्रकार यह मेरे वनवासकी बात तय हुई है ॥२०॥ सत्यप्रतिज्ञ पिता राजा दसरथने पहले मेरी माता केकयीको दो बड़े वर दिये थे ॥२१॥ जब राजाने मेरे अभिषेकका प्रस्ताव किया तथा तयारी की तब केकयीने जो पहले वर माँगे थे वे स्मरण दिलाये और इसप्रकार धर्मके द्वारा राजाको अपने वशमें कर लिया ॥२२॥ चौदह वर्षों तक दण्डकवनमें मुझे रहना पड़ेगा। पिताने भरतको युवराजका पद दिया है ॥२३॥ इसीकारण विजन वनमें जानेके लिए मैं प्रस्थित हुआ हूँ और तुमसे मिलनेके लिए यहाँ आया हूँ। तुम भरतके सामने मेरी प्रशंसा न करना ॥२४॥ क्योंकि समृद्धिमान् मनुष्य दूसरोंकी स्तुति नहीं सह सकते, इसी कारण भरतके सामने तुम मेरे गुणोंका वर्णन न करना ॥२५॥ भरतके आनेपर उनके सामने तुम मुझे श्रेष्ठ न बतलाना, ऐसा करना भरतका प्रतिकूलाचरण कहा जायगा, और अनुकूल रह करही भरतके पास रहना सम्भव हो सकता है ॥२६॥ परम्परागत राज्य राजाने भरतको ही दिया है, तुमको चाहिए कि तुम उसे प्रसन्न रखो, क्योंकि वह राजा है ॥२७॥ गुरु (पिता) की आज्ञाका पालन करनेके लिए मैं आजही वन जा रहा हूँ। मनस्विनि, तुम धैर्य धारण करो ॥२८॥ कल्याणि, मुनियोंके रहनेवाले वनमें जब मैं चला जाऊंगा, तब हे निष्पापे, व्रत, उपवास आदिके द्वारा अपना समय बिताना ॥२९॥ प्रातःकाल उठकर विधिपूर्वक देवताओंकी पूजा करना, पुनः मेरे पिता राजा दसरथको प्रणाम करना ॥३०॥ मेरी माता कौशल्या वृद्धा हैं, दुःखिनी हैं, उनका सम्मान करना तुम्हारा धर्म है ॥३१॥ मेरी अन्य जो माताएँ हैं उनको प्रणाम करना, क्योंकि सभी माताओंका मुझपर समान स्नेह, सौहार्द तथा वात्सल्य है ॥३२॥ भरत और शत्रुघ्नको तुम भाई तथा बेटेके समान देखना, क्योंकि ये दोनों मुझे प्राणोंसे भी प्रिय हैं ॥३३॥ कभी भरतका विरोधाचरण न करना, क्योंकि यह देशका

आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपसेविताः । राजानः संप्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये ॥३५॥
औरस्यानपि पुत्रान्हि त्यजन्त्यहितकारिणः । समर्थान्संप्रगृह्णन्ति जनानपि नराधिपाः ॥३६॥
सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी । भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रतपरायणा ॥३७॥
अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि ।
यथा व्यलीकं कुरुषे न कस्यचित्तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः २७

एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी । प्रणयादेव संक्रुद्धा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम् । त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरोत्तम ॥ २ ॥
वीराणां राजपुत्राणां शस्त्रास्त्रविदुषां नृप । अनर्हमयशस्यं च न श्रोतव्यं त्वयेरितम् ॥ ३ ॥
आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा । स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते॥४॥
भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ । अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥ ५ ॥

तथा कुलका राजा है ॥३४॥ अनुकूलाचरणके द्वारा आराधित होनेपर तथा भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा सेवा करनेसे राजा प्रसन्न होते हैं और इससे विपरीत आचरण करनेवालेपर राजा क्रोध करते हैं ॥३५॥ स्वयं अपना पुत्रही क्यों न हो, यदि वह अहितकारी हो तो राजा उसका त्याग कर देता है। जो लोग योग्य हैं, राजाके अनुकूलाचरण करनेवाले हैं, वे साधारण मनुष्य भी हों तो भी राजा उन्हें आश्रय देता है ॥३६॥ कल्याणि, तुम यहीं रहो, और राजाके अनुकूल आचरण करो, अमोघ व्रतोंका अनुष्ठान करो और धर्माचरण करो ॥३७॥ प्रिये, मैं वन जारहा हूँ, भामिनि, तुम यहीं रहो, मेरे वचनोंके विपरीत तुमने आजतक कुछ भी नहीं किया है, उसी प्रकार मेरी यह बात भी मानो ॥३८॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥२६॥

रामचन्द्रके ऐसा कहनेपर प्रिय बोलनेवाली सीता स्नेहसे ही कुपित होकर पति रामचन्द्रसे इस प्रकार बोली ॥१॥ राम, आप यह क्या कह रहे हैं, निश्चय इस बातसे मेरी ओछाई प्रकट होती है। हे नरश्रेष्ठ, आपने जो कहा है वह सुनकर मुझे हँसी आरही है ॥२॥ आपने जो कहा है वह शस्त्र-अस्त्र जाननेवाले वीर राजपुत्रोंके लिए अयोग्य है और कलङ्क है, अतएव वह सुनने योग्य नहीं है ॥३॥ आर्यपुत्र, पिता, माता, भाई पुत्र तथा पुत्रवधू ये सब अपने-अपने कर्मके अनुसार दुःख-सुख भोगते हैं ॥४॥ पुरुषश्रेष्ठ, एक स्त्री ही पतिके कर्मफलोंकी भागिनी है। अतएव आपके लिए वनवासकी जो आज्ञा हुई है वह मेरे

न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः। इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥ ६ ॥
यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव। अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान् ॥ ७ ॥
ईर्ष्यां रोषं बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम्। नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते ॥ ८ ॥
प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा। सर्वावस्थागता भर्तुःपादच्छाया विशिष्यते ॥ ९ ॥
अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्। नास्मि संप्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया ॥१०॥
अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम्। नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम् ॥११॥
सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः। अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम्॥१२॥
शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी। सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु ॥१३॥
त्वं हि कर्तुं वने शक्तो राम संपरिपालनम्। अन्यस्यापि जनस्येह किं पुनर्मम मानद ॥१४॥
साहं त्वया गमिष्यामि वनमद्य न संशयः। नाहं शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यता ॥१५॥
फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः। न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा ॥१६॥
अग्रतस्ते गमिष्यामि भोक्ष्ये भुक्तवति त्वयि। इच्छामि परतः शैलान्पल्वलानि सरांसि च ॥१७॥

लिए भी हुई, अतएव, मैं भी वनमें ही रहूँगी ॥५॥ पिता, पुत्र अथवा स्वयं माता और सखियाँ ये कोई भी स्त्रियोंके लिए न तो इस लोकमें और न परलोकमें सहायक हो सकते हैं, केवल एक पतिही स्त्रियोंके लिए इसलोक तथा परलोकमें गति है, वही आश्रय है ॥६॥ राघव, यदि आप आजही बीहड़ वनमें जानेके लिए प्रस्थित होते हैं तो आपके रास्तेके कुश-कांटोंको रौंदती हुई आगे-आगे मैं चलूंगी ॥७॥ स्त्री होकर यह वनमें कैसे जायगी इस विचारसे होनेवाली ईर्ष्या तथा मेरी बात नहीं मानती इसकारण होनेवाले क्रोधको जूठे जलके समान बाहर फेंक दीजिए। वीर, आप निःशङ्क होकर मुझे अपने साथ ले चलिए, मुझमें ऐसा कोई पाप नहीं है जिससे आप मेरा त्याग करें ॥८॥ राजमहल मिले, देवताओंका विमान मिले और अणिमा आदि सिद्धियोंके द्वारा आकाशमें भ्रमण करना पड़े या कोई बड़ी दीन अवस्था ही हो, सभी अवस्थाओंमें पतिकी चरणसेवा उत्तम है ॥९॥ पिता-माताके द्वारा अनेक बार मुझे उपदेश मिल चुका है, अतएव इस विषयमें अब आप उपदेश न दें, इस समय मुझे जैसा करना चाहिए वह मैं जानती हूँ ॥१०॥ मैं घोर वनमें जाऊँगी जहाँ कोई भी पुरुष न होगा, किन्तु अनेक प्रकारके पशु होंगे तथा बाघोंका दल होगा ॥११॥ मैं वनमें सुखपूर्वक रहूँगी, जैसी पिताके घरमें रहती थी। तीनों लोकोंके आधिपत्यका तिरस्कार करके पतिसेवामें ही मैं प्रसन्न रहूँगी ॥१२॥ मैं आपकी सेवा करूँगी, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहूँगी, आपके बतलाये नियमोंका पालन करूँगी और वीर, आपके साथ मधुर गन्धवाले वनोंमें विहार करूँगी ॥१३॥ राम, आप तो दूसरे मनुष्योंकी भी वनमें रक्षा कर सकते हैं, फिर मेरी रक्षा आपके लिए कौन कठिन है ॥१४॥ मैं आपके साथ वन जाऊँगी, इसमें कुछ भी सन्देह न कीजिए। महाभाग, मैं वन जानेके लिए तैयार हूँ, अब मैं किसी प्रकार रुक नहीं सकती ॥१५॥ सदा फलमूल खाकर मैं रहूँगी, आपके साथ वनमें रहकर मैं आपको किसी भी बातके लिए दुःखी न करूँगी ॥१६॥ आपके आगे-आगे चलूँगी, आपके भोजन करनेपर भोजन करूँगी। मैं अपने पति आपके साथ निर्भय

द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता । हंसकारण्डवाकीर्णाः पद्मिनीः साधुपुष्पिताः ॥१८॥
इच्छेयं सुखिनी द्रष्टुं त्वया वीरेण संगता । अभिषेकं करिष्यामि तासु नित्यमनुव्रता ॥१९॥
सह त्वया विशालाक्ष रंस्ये परमनन्दिनी । एवं वर्षसहस्राणि शतं वापि त्वया सह ॥२०॥
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि हि न मे मतः । स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव ।
त्वया विना नरव्याघ्र नाहं तदपि रोचये ॥२१॥
अहं गमिष्यामि वनं सुदुर्गमं मृगायुतं वानरवारणैश्च ।
वने निवत्स्यामि यथा पितुर्गृहे तवैव पादावुपगृह्य संमता ॥२२॥
अनन्यभावामनुरक्तचेतसं त्वया वियुक्तां मरणाय निश्चिताम् ।
नयस्व मां साधु कुरुष्व याचनां नातो मया ते गुरुता भविष्यति ॥२३॥
तथा ब्रुवाणामपि धर्मवत्सलां न च स्म सीतां नृवरो निनीषति ।
उवाच चैनां बहु सन्निवर्तने वने निवासस्य च दुःखितां प्रति ॥२४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥२७॥

होकर पर्वतों, छोटे-छोटे तालाबों और सरोवरोंको देखना चाहती हूँ जिनमें हंस और जलमुर्ग तैरते हों और पद्मिनी खूब फूली हो ॥१७–१८॥ आपके साथ रहकर मैं इन सबको देखना चाहती हूँ । मैं आपका अनुसरण करती हुई प्रतिदिन उनमें स्नान करूँगी ॥१९॥ विशालाक्ष, इस प्रकार आपके साथ मैं वनमें विहार करूँगी, इस प्रकार सैकड़ों और हजारों वर्ष रहना पड़े तब भी मैं दुःखी न होऊँगी, वनके दुःख मुझे दुःख न मालूम होंगे ॥२०॥ आपके बिना यदि मुझे स्वर्गमें भी रहना पड़े तो वह स्वर्ग भी मुझे पसन्द नहीं ॥२१॥ वानर, हाथी तथा अन्य पशुओंसे युक्त वनमें मैं जाऊँगी और जिसप्रकार पिताके घरमें निवास किया जाता है उसी प्रकार आपकी कृपापात्री बनकर तथा आपके चरणोंके आश्रयमें मैं निवास करूँगी ॥२२॥ आपके अतिरिक्त और कहीं मेरा प्रेम नहीं और आपमें मेरा बहुत अधिक अनुराग है, आपके वियोगसे मेरी मृत्यु निश्चित है । मुझे ले चलिए, मेरी प्रार्थना सफल कीजिए । मुझे ले चलनेसे आपको कोई भार न होगा ॥२३॥ सीताके ऐसा कहनेपर भी धर्मात्मा और स्नेही रामचन्द्र सीताको लेजानेके लिए तैयार न हुए, वनवासके प्रति अपना विचार बदल देनेके लिए रामचन्द्रने सीतासे वनवासके दुःखोंका वर्णन किया ॥२४॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सत्ताइसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः २८

स एवं ब्रुवतीं सीतां धर्मज्ञां धर्मवत्सलः । न नेतुं कुरुते बुद्धिं वने दुःखानि चिन्तयन् ॥ १ ॥
सान्त्वयित्वा ततस्तां तु बाष्पदूषितलोचनाम् । निवर्तनार्थे धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥
सीते महाकुलीनासि धर्मे च निरता सदा । इहाचरस्व धर्मं त्वं यथा मे मनसः सुखम् ॥ ३ ॥
सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाबले । वने दोषा हि बहवो वसतस्तान्निबोध मे ॥ ४ ॥
सीते विमुच्यतामेषा वनवासकृता मतिः । बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥
हितबुद्ध्या खलु वचो मयैतदभिधीयते । सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम् ॥ ६ ॥
गिरिनिर्झरसंभूता गिरिकंदरवासिनाम् । सिंहानां निनदा दुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम् ॥ ७ ॥
क्रीडमानाश्च विस्रब्धा मत्ताः शून्ये तथा मृगाः । दृष्ट्वा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम् ॥ ८ ॥
सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यस्तु दुस्तराः । मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम् ॥ ९ ॥
लताकण्टकसंकीर्णाः कृकवाकूपनादिताः । निरपाश्च सुदुःखाश्च मार्गा दुःखमतो वनम् ॥१०॥
सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयंभग्नासु भूतले । रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद्दुःखमतो वनम् ॥११॥
अहोरात्रं च संतोषः कर्तव्यो नियतात्मना । फलैर्वृक्षावपतितैः सीते दुःखमतो वनम् ॥१२॥

धर्म जाननेवाली सीताके ऐसा कहनेपर भी धर्मवत्सल रामचन्द्रने उनको वन लेजानेकी इच्छा नहीं की, क्योंकि उन्हें वनके दुःखोंका ध्यान था ।।१।। सीताकी आँखें आँसूसे भर आयीं, रामचन्द्रने उन्हें समझाया। पुनः अपना विचार बदलनेके लिए उनसे रामचन्द्रने कहा ।।२।। सीते, तुम बड़ी कुलवती हो और सदा तुम्हारा मन धर्ममें रहता है, तुम यहीं रहकर धर्माचरण करो, जिससे मेरा मन प्रसन्न रहे ।।३।। मैं तुमसे जैसा कहता हूँ तुम वैसाही करो, क्योंकि तुम अबला हो, वनमें रहनेवालोंको अनेक कष्ट होते हैं, उन दुःखोंको सुनो ।।४।। सीते, वनमें जानेकी इच्छाका त्याग करो, वहाँ बड़े-बड़े कष्ट होते हैं इसी कारण वन कान्तार कहा जाता है ।।५।। तुम्हारे हितके लिए ही मैंने तुमसे ऐसा कहा है, वनमें सदा सुख होता है यह मैं नहीं जानता, पर दुःख सदा होता है इसका मुझे निश्चय है ।।६।। पर्वत कन्दराओंमें रहनेवाले सिंहोंके शब्द पहाड़ी नदियोंके शब्दके साथ मिलकर सुननेमें बड़े दुःखदायी हैं अतएव वन दुःखदायी है ।।७।। निर्जन वनमें क्रीड़ा करनेवाले निःशङ्क और मतवाले वनपशु मनुष्योंको देखकर उनपर टूट पड़ते हैं, अतएव वन दुःखदायी है ।।८।। नदियोंमें मगर होते हैं, कइयोंमें बहुत अधिक कीचड़ होता है, कइयोंको मतवाले हाथी भी नहीं तैर सकते, इस कारण वन अत्यन्त दुःखदायी है ।।९।। वहाँके मार्ग लताओं और काँटोंसे भरे पड़े हैं, उनमें मयूर, गिरगिट और मुर्गे बोला करते हैं, जल नहीं होता, इस प्रकार वहाँके मार्ग भी बड़े दुःखदायी हैं, इस कारण वन दुखदायी है ।।१०।। थकावटसे खिन्न मनुष्य रातको स्वयं गिरे हुए पत्तोंकी शय्यापर सोता है, अतएव वन दुःखदायी है ।।११।। मनको रोककर वृक्षोंसे गिरे फलोंपर ही दिन-रात

उपवासश्च कर्तव्यो यथाप्राणेन मैथिलि । जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारणम् ॥१३॥
देवतानां पितॄणां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम् । प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम् ॥१४॥
कार्यस्त्रिरभिषेकश्च काले काले च नित्यशः । चरतां नियमेनैव तस्माद्दुःखतरं वनम् ॥१५॥
उपहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः । आर्षेण विधिना वेद्यां सीते दुःखमतो वनम् ॥१६॥
यथालब्धेन कर्तव्यः संतोषस्तेन मैथिलि । यथाहारैर्वनचरैः सीते दुःखमतो वनम् ॥१७॥
अतीव वातस्तिमिरं बुभुक्षा चास्ति नित्यशः । भयानि च महान्त्यत्र अतो दुःखतरं वनम् ॥१८॥
सरीसृपाश्च बहवो बहुरूपाश्च भामिनि । चरन्ति पथि ते दर्पात्ततो दुःखतरं वनम् ॥१९॥
नदीनिलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः । तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानमतो दुःखतरं वनम् ॥२०॥
पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह । बाधन्ते नित्यमबले सर्वं दुःखमतो वनम् ॥२१॥
द्रुमाः कण्टकिनश्चैव कुशाः काशाश्च भामिनि । वने व्याकुलशाखाग्रास्तेन दुःखमतो वनम् ॥२२॥
कायक्लेशाश्च बहवो भयानि विविधानि च । अरण्यवासे वसतो दुःखमेव सदा वनम् ॥२३॥
क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्यः तपसे मतिः । न भेतव्यं च भेतव्ये दुःखं नित्यमतो वनम् ॥२४॥
तदलं ते वनं गत्वा क्षेमं नहि वनं तव । विमृशन्निव पश्यामि बहुदोषकरं वनम् ॥२५॥

बिताने पड़ते हैं, इससे वन दुःखदायी है ॥१२॥ मिथिलाराजपुत्रि, वहाँ अपनी सामर्थ्यके अनुसार उपवास भी करना पड़ता है, जटा और वल्कल-वस्त्र धारण करना पड़ता है ॥१३॥ ब्रह्मचर्यपूर्वक देवता और पितरोंका पूजन करना पड़ता है तथा आश्रमपर आये अतिथियोंका पूजन करना पड़ता है ॥१४॥ नियमपूर्वक कालक्षेप करते हुए प्रतिदिन तीन बार सवेरे, दोपहर और सन्ध्याको स्नान करना पड़ता है, अतएव वन दुःखदायी है ॥१५॥ स्वयं लाये हुए फूलोंसे वैदिक विधिके द्वारा वेदीपर पूजन करना पड़ता है, अतएव वन दुःखदायी है ॥१६॥ जिस समय जितना और जो आहार मिल जाय वनवासियोंको उसीपर सन्तोष करना पड़ता है, इसीसे वन दुःखदायी है ॥१७॥ वनमें बड़ी तेज हवा चलती है, रातको प्रबल अन्धकार होता है, भूख लगती है, भय भी बड़ा लगता है, अतएव वन दुःखदायी है ॥१८॥ अनेक प्रकारके बहुतसे सर्प आदि वनमें निर्भय होकर विचरते हैं, इस कारण वन दुःखदायी है ॥१९॥ नदीमें रहनेवाले तथा नदीके समान टेढ़े चलनेवाले साँप रास्ता रोक लेते हैं, अतएव वन दुःखदायी है ॥२०॥ पतंग, बिच्छू, कीड़े, वनमक्खी और मच्छर सदा दुःख पहुँचाते हैं अतएव वन दुःखदायी है ॥२१॥ वनमें काँटेदार अनेक वृक्ष होते हैं, उनकी शाखाएँ इधर-उधर फैली रहती हैं, वहाँ कुश और काश आदि भी अधिक होते हैं, अतएव वन दुःखदायी है ॥२२॥ वनमें रहनेवालोंको शारीरिक क्लेश बहुत होते हैं, अनेक प्रकारके भय भी होते हैं अतएव वन सदा ही दुःखदायी है ॥२३॥ काम क्रोध छोड़ देने पड़ते हैं, तपस्या करनी पड़ती है, भय स्थानमें भी भय नहीं करना पड़ता, अतएव वन दुःखदायी है ॥२४॥ अतएव तुम्हारा वनमें जाना व्यर्थ है, वहाँ तुम्हें सुख न होगा, बहुत सोच-विचारकर मैं ऐसा कहता हूँ, क्योंकि वनमें अनेक

वनं तु नेतुं न कृता मतिर्यदा बभूव रामेण तदा महात्मना।
न तस्य सीता वचनं चकार तं ततोऽब्रवीद्राममिदं सुदुःखिता ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः २६

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सीता रामस्य दुःखिता। प्रसक्ताश्रुमुखी मन्दमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति। गुणानित्येव तान्विद्धि तव स्नेहपुरस्कृता ॥ २ ॥
मृगाः सिंहा गजाश्चैव शार्दूलाः शरभास्तथा। चमराः सृमराश्चैव ये चान्ये वनचारिणः ॥ ३ ॥
अदृष्टपूर्वरूपत्वात्सर्वे ते तव राघव। रूपं दृष्ट्वापसर्पेयुस्तव सर्वे हि बिभ्यति ॥ ४ ॥
त्वया च सह गन्तव्यं मया गुरुजनाज्ञया। त्वद्वियोगेन मे राम त्यक्तव्यमिह जीवितम् ॥ ५ ॥
नहि मां त्वत्समीपस्थामपि शक्रोऽपि राघव। सुराणामीश्वरः शक्तः प्रधर्षयितुमोजसा ॥ ६ ॥
पतिहीना तु या नारी न सा शक्ष्यति जीवितुम्। काममेवंविधं राम त्वया मम निदर्शितम् ॥ ७ ॥
अथापि च महाप्राज्ञ ब्राह्मणानां मया श्रुतम्। पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने ॥ ८ ॥

दोष होते हैं ॥२५॥ महात्मा रामचन्द्रने सीताको वनमें लेजाना निश्चित नहीं किया, सीताने भी रामचन्द्रकी बातें नहीं मानीं, सीता दुःखित होकर रामचन्द्रसे बोलीं ॥२६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका अट्ठाइसवाँ सर्ग समाप्त ॥२८॥

रामके ये वचन सुनकर सीता दुःखित हुईं, उनके आँसू आगये, वे धीरे-धीरे बोलीं ॥१॥ वनवासके सम्बन्धमें जो दोष आपने बतलाये हैं वे मेरे लिए गुण ही हैं, क्योंकि मैं तो आपके प्रेमकी भूखी हूँ और वह प्रेम वहाँ मिलेगा, मतलब यह कि आपके साथ रहनेमें कठिनसे कठिन दुःख मेरे लिए दुःख न होंगे ॥२॥ मृग, सिंह, हाथी, बाघ, शरभ (आठ पैरवाला एक जन्तु), बनगाय आदि जितने बनैले जीवोंका आपने उल्लेख किया है ॥३॥ राघव, वे सब आपका रूप देखकर ही रास्ता छोड़ कर अलग हो जायँगे, क्योंकि उनलोगोंने आपका रूप कभी नहीं देखा है, नयी चीजसे डरना पशुओंका स्वभाव है ॥४॥ पिता-माताकी आज्ञासे मैं आपके साथ वन चलूँगी, आपके लिए वनवासकी जो आज्ञा है वही मेरे लिए भी है। यदि आपका वियोग ही हुआ तो मेरे प्राणोंका अन्त हो जायगा ॥५॥ राघव, आपके साथ रहनेपर देवताओंका राजा इन्द्रभी बलपूर्वक मेरा अपमान नहीं कर सकता ॥६॥ पतिके बिना स्त्री जी नहीं सकती, पर आपने मेरे लिए उसीका निर्देश किया है। आपने अपनेसे वियोग होनेपरके कर्तव्योंका उपदेश किया है ॥७॥ हाँ वनमें अनेक दोष, फिरभी मुझे वनमें रहना पड़ेगा, क्योंकि पहले पिताके घरमें मैंने

लक्षणिभ्यो द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं गृहे । वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल ॥ ६ ॥
आदेशो वनवासस्य प्राप्तव्यः स मया किल । सा त्वया सह भर्त्राहं यास्यामि प्रिय नान्यथा ॥ १० ॥
कृतादेशा भविष्यामि गमिष्यामि त्वया सह । कालश्चायं समुत्पन्नः सत्यवाग्भवतु द्विजः ॥ ११ ॥
वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल । प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभिः ॥ १२ ॥
कन्यया च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया । भिक्षिण्याः शमवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः ॥ १३ ॥
प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं मे बहुतिथं प्रभो । गमनं वनवासस्य काङ्क्षितं हि सह त्वया ॥ १४ ॥
कृतक्षणाहं भद्रं ते गमनं प्रति राघव । वनवासस्य शूरस्य मम चर्या हि रोचते ॥ १५ ॥
शुद्धात्मन्प्रेमभावाद्धि भविष्यामि विकल्मषा । भर्तारमनुगच्छन्ती भर्ता हि परदैवतम् ॥ १६ ॥
प्रेत्यभावे हि कल्याणः संगमो मे सदा त्वया । श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां यशस्विनाम् ॥ १७ ॥
इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल । अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥ १८ ॥
एवमस्मात्स्वकां नारीं सुवृत्तां हि पतिव्रताम् । नाभिरोचयसे नेतुं त्वं मां केनेह हेतुना ॥ १९ ॥
भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः । नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम् ॥ २० ॥

ब्राह्मणोंका यह सत्य वचन सुना है कि मुझे वनमें रहना पड़ेगा ॥८॥ सामुद्रिक जाननेवाले ब्राह्मणोंसे अपने वनवासकी बात सुनकर मैं सदा वनवासके लिए उत्साहपूर्वक तयार रहती हूँ ॥९॥ उस विधानके अनुसार मुझे वनमें तो रहना ही पड़ेगा, पर वह वननिवास मैं आपके साथ करूँगी, आपके बिना नहीं। अर्थात् वन जानेकी आपकी आज्ञा मुझे मिलनी चाहिए, मैं आपके साथ वन जाऊँगी ॥१०॥ इस प्रकार उस आदेशका (भाग्यके लेखका) भी पालन हो जायगा और आपका साथ भी रहेगा, यह अवसर भी बड़ा अच्छा उपस्थित हुआ है, वह ब्राह्मणका सत्य वचन हो ॥११॥ वनवास में अनेक दुःख होते हैं यह मैं जानती हूँ, पर वे दुःख किनको होते हैं, जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंपर अधिकार नहीं किया है उन्हें। अतएव मुझको आपको तो दुःख होनेका कोई कारण नहीं है ॥१२॥ जब मैं कन्या थी तभी पिताके घरमें अपने वनवासकी बात मैंने सुनी थी, माताके सामने शमदम सम्पन्न एक भिक्षुकीसे भी मैंने यह बात सुनी थी, अतएव इसके असत्य होनेकी सम्भावना नहीं ॥१३॥ आपके साथ मैं वन जाऊं इस बातके लिए आपको भी पहले मैंने कई बार राजी कर लिया है ॥१४॥ आपका कल्याण हो, मैं आपके जानेके समयकी प्रतीक्षा कर रही हूँ, वनवासी वीरकी सेवा मुझे अच्छी लगती है। अर्थात् अयोध्याके रामचन्द्रकी अपेक्षा वनवासी रामचन्द्रकी सेवा मैं विशेष उत्साहसे करूँगी ॥१५॥ आप ईर्ष्या आदि दोषोंसे रहित हैं, आपके साथ सदा रहनेसे प्रेम बढ़नेके कारण मुझमें किसी प्रकारके कलङ्ककी सम्भावना नहीं रहेगी, क्योंकि पति स्त्रियोंके लिए सर्वश्रेष्ठ देवता है ॥१६॥ यदि आप मुझे वन न ले जाँय तो अवश्यही मेरी मृत्यु होगी और पुनः परलोकमें दूसरे जन्ममें आपका सुखमय समागम होगा, यशस्वी ब्राह्मणों द्वारा पढ़े जानेवाले वेदमें यह बात सुन पड़ती है ॥१७॥ इस लोकमें पिताने जलसे संकल्प करके जिसको जो स्त्री दी है, वह परलोकमें भी अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे उसीकी स्त्री होती है ॥१८॥ फिर शुद्धाचारिणी पतिव्रता अपनी स्त्रीको किस कारणसे आप इस नगरसे वन लेजाना नहीं चाहते ॥१९॥ मैं आपकी भक्त हूँ, पतिव्रता हूँ,

यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि । विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात् ॥२१॥
एवं बहुविधं तं सा याचते गमनं प्रति । नानुमेने महाबाहुस्तां नेतुं विजनं वनम् ॥२२॥
एवमुक्त्वा तु सा चिन्तां मैथिली समुपागता । स्नापयन्तीव गामुष्णैरश्रुभिर्नयनच्युतैः ॥२३॥
चिन्तयन्तीं तदा तां तु निवर्तयितुमात्मवान् । क्रोधाविष्टां तु वैदेहीं काकुत्स्थो बहु सान्त्वयत् २४

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥२९॥

त्रिंशः सर्गः ३०

सान्त्व्यमाना तु रामेण मैथिली जनकात्मजा । वनवासनिमित्तार्थं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
सा तमुत्तमसंविग्ना सीता विपुलवक्षसम् । प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप राघवम् ॥ २ ॥
किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः । राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥ ३ ॥
अनृतं बत लोकोऽयमज्ञानाद्यदि वक्ष्यति । तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे ॥ ४ ॥
किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते । यत्परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम् ॥ ५ ॥
द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनुव्रताम् । सावित्रीमिव मां विद्धि त्वमात्मवशवर्तिनीम् ॥ ६ ॥

दीन हूँ और सुख-दुःखको समान समझनेवाली हूँ । रामचन्द्र, आप मुझे साथ ले चलिए, क्योंकि मैं आपके सुख-दुःखकी साथिन हूँ ॥२०॥ यदि आप इस प्रकारकी दुःखिनी मुझे वन ले जाना नहीं चाहते तो मैं अपनी मृत्युके लिए विष, आग या जलके उपयोग करनेका विचार करूँगी ॥२१॥ इस प्रकार वन-जानेके लिए सीताने रामचन्द्रसे अनेक प्रकारसे प्रार्थना की, पर महाबाहु रामचन्द्रने निर्जन वनमें चलनेकी अनुमति न दी ॥२२॥ इस प्रकार साथ चलनेके निषेध करनेपर सीता बहुत ही चिन्तित हुई और आँखोंसे गिरनेवाले गर्म आँसूसे पृथिवी भिगोने लगीं ॥२३॥ इसप्रकार चिन्तित और क्रोधमें पड़ी सीताको अपना निश्चय बदलनेके लिए रामचन्द्रने बहुत समझाया ॥२४॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका उनतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥२९॥

वन न जानेके लिए रामचन्द्रजीके समझानेपर जानकी, वन जानेके लिए उनकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिए पुनः बोलीं ॥१॥ सीता रामचन्द्रजीके निश्चयसे बहुत भयभीत हो गयी थीं, वह चौड़ी छातीवाले रामचन्द्रकी निन्दा, प्रेम और अभिमानसे करने लगीं ॥२॥ मेरे पिता मिथिलाधिप राजा जनकने आपको पुरुष-शरीरधारी स्त्री नहीं समझा था, अतएव उन्होंने आपको अपना दामाद बनाया ॥३॥ यदि आप मुझे अपने साथ वन न ले जायँगे, तो न लेजानेका यथार्थ कारण न जाननेके हेतु सूर्यके समान तेजस्वी होनेपर भी आपके लिए जनता यही कहेगी कि रामचन्द्रमें पराक्रम नहीं है, यद्यपि यह असत्य होगा ॥४॥ आप क्या सोचकर दुःखी हो रहे हैं, अथवा आपको किससे भय है, जिससे केवल आपका ही पल्ला पकड़कर जीनेवाली मेरा आप परित्याग कर रहे हैं ॥५॥ द्युमत्सेनके पुत्र सत्यवानकी वशवर्तिनी जैसी सावित्री

न त्वहं मनसा त्वन्यं द्रष्टास्मि त्वदृतेऽनघ । त्वया राघव गच्छेयं यथान्या कुलपांसनी ॥ ७ ॥
स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम् । शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि ॥ ८ ॥
यस्य पथ्यं च रामात्थ यस्य चार्थेऽवरुध्यसे । त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदानघ ॥ ९ ॥
स मामनादाय वनं न त्वं प्रस्थितुमर्हसि । तपो वा यदि वारण्यं स्वर्गो वा स्यात्त्वया सह ॥१०॥
न च मे भविता तत्र कश्चित्पथि परिश्रमः । पृष्ठतस्तव गच्छन्त्या विहारशयनेष्विव ॥११॥
कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः । तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया ॥१२॥
महावातसमुद्भूतं यन्मामवकरिष्यति । रजो रमण तन्मन्ये परार्ध्यमिव चन्दनम् ॥१३॥
शाद्वलेषु यदा शिश्ये वनान्तर्वनगोचरा । कुथास्तरणयुक्तेषु किं स्यात्सुखतरं ततः ॥१४॥
पत्रं मूलं फलं यत्तु अल्पं वा यदि वा बहु । दास्यसे स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम् ॥१५॥
न मातुर्न पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः । आर्तवान्युपभुञ्जाना पुष्पाणि च फलानि च ॥१६॥
न च तत्र ततः किंचिद्द्रष्टुमर्हसि विप्रियम् । मत्कृते न च ते शोको न भविष्यामि दुर्भरा ॥१७॥
यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना । इति जानन्परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह ॥१८॥
अथ मामेवमव्यग्रां वनं नैव नयिष्यसे । विषमद्यैव पास्यामि मा वशं द्विषतां गमम् ॥१९॥

थी, वैसीही आप मुझे भी अपनी वशवर्तिनी समझें ॥६॥ राघव, आपका साथ छोड़कर आपके बतलाये मेरे सुखके अन्य उपाय—जिसमें आपका साथ नहीं है, मैं सोचूँगी भी नहीं, जिसप्रकार अन्य कुलटाएँ करती हैं। रामचन्द्र मैं तो आपके साथ चलूँगी ॥७॥ जो सती है, जो आपके साथ बहुत दिनों तक रह-चुकी है, बाल्यावस्थामें ही जिसके साथ आपका विवाह हुआ है, उस स्त्रीको आप नटके समान दूसरेको देना चाहते हैं ॥८॥ जिसके अनुकूल होकर चलनेका आप मुझे उपदेश देते हैं और जिसके लिए आपका अभिषेक रुक गया है, हे निष्पाप, आप स्वयं उसके अनुकूलवर्ती तथा भृत्य बनिए, मैं नहीं बननेकी ॥९॥ अतएव आप मुझे बिना साथ लिये वन नहीं जा सकते। तप, वन अथवा स्वर्ग सर्वत्र मैं आपका साथ चाहती हूँ ॥१०॥ जब मैं गुलगुले गद्देपर सोती हूँ तब मुझे कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार आपके पीछे-पीछे वनमें चलनेसे भी मार्गका कोई कष्ट मुझे न होगा ॥११॥ कुशकास, सरकण्डे तथा और जो कटीले वृक्ष हैं उनका स्पर्श रूई और चमड़ेके स्पर्शके समान, आपके साथ रहनेसे सुखकर होगा ॥१२॥ रमण, आँधीके चलनेसे मेरा शरीर जो धूलसे भर जायगा उसे मैं श्रेष्ठ चन्दनके समान समझूँगी ॥१३॥ जब मैं वनमें जाऊँगी तब वहाँकी घासपर सोऊँगी, बहुमूल्य बिछौनेवाले पलंगपर क्या उससे अधिक सुख होगा ॥१४॥ पत्ता, फल, फूल वह थोड़ा या अधिक जो आप स्वयं लाकर देंगे, वह मेरे लिए अमृतके समान होगा ॥१५॥ वहाँ जाकर पिता, माता या घर किसीका भी स्मरण न करूँगी, ऋतुसंबन्धी फल-फूल खाकर रहूँगी ॥१६॥ आपके साथ मेरे वन जानेसे आप कोई भी अनिष्ट न देख सकेंगे, मेरे लिए आपको कोई कष्ट न होगा, मैं आपके लिए दूभर न होऊँगी ॥१७॥ आपके साथ जिस स्थानपर रहना हो वह स्वर्ग है और आपके बिना जहाँ रहना हो वह नरक है। इस प्रकारका आपके सम्बन्धमें मेरा निश्चय जानकर आप मेरे साथ वन चलें ॥१८॥ वनसे न डरनेवाली मुझको यदि आप वन न ले जायँगे,

पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम् । उज्झितायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम् ॥२०॥
इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे । किं पुनर्दशवर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता ॥२१॥
इति सा शोकसंतप्ता विलप्य करुणं बहु । चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिङ्ग्य सस्वरम् ॥२२॥
सा विद्धा बहुभिर्वाक्यैर्दिग्धैरिव गजाङ्गना । चिरसंनियतं बाष्पं मुमोचाग्निमिवारणिः ॥२३॥
तस्याः स्फटिकसंकाशं वारि संतापसंभवम् । नेत्राभ्यां परिसुस्राव पङ्कजाभ्यामिवोदकम् ॥२४॥
तत्सितामलचन्द्राभं मुखमायतलोचनम् । पर्यशुष्यत बाष्पेण जलोद्धृतमिवाम्बुजम् ॥२५॥
तां परिष्वज्य बाहुभ्यां विसंज्ञामिव दुःखिताम् । उवाच वचनं रामः परिविश्वासयँस्तदा ॥२६॥
न देवि तव दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचये । नहि मेऽस्ति भयं किंचित्स्वयंभोरिव सर्वतः ॥२७॥
तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने । वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे ॥२८॥
यत्सृष्टासि मया सार्धं वनवासाय मैथिली । न विहातुं मया शक्या प्रीतिरात्मवता यथा ॥२९॥
धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा । तं चाहमनुवर्तिष्ये यथा सूर्यं सुवर्चला ॥३०॥
न खल्वहं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि । वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम् ॥३१॥

तो मैं आज ही विष पीलूँगी, पर शत्रुओं (आपको वन भेजनेके उद्योगियों) के वशमें न रहूँगी ॥१९॥ आप जब मेरा त्याग करके वन चले जायँगे, तब भी दुःखके कारण मेरा जीना सम्भव नहीं है, अतएव उसी समय—आपके जानेके ही समय मेरा मरना निश्चित है ॥२०॥ मैं इस आपके वियोगदुःखको एक क्षण भी नहीं सह सकती, फिर दुःखिनी मैं चौदह वर्षों तक यह दुःख कैसे सहूँगी ॥२१॥ शोकसन्तप्त जानकी इस प्रकार दुःखपूर्वक प्रार्थना करती-करती थक गयीं, तब वे पतिसे लिपटकर जोरसे रोने लगीं ॥२२॥ विष-बुझे वाणोंसे विद्ध हथिनीके समान जानकी अनेक वाक्योंसे बिधी हुई थीं, अतएव बहुत दिनोंका जमा हुआ आँसू निकलने लगा, जिस प्रकार अरणि (आग निकालनेकी लकड़ी) से आग निकलती है ॥२३॥ सीताकी आँखोंसे दुःखसे उत्पन्न स्फटिकके समान स्वच्छ जल निकलने लगा, मानों दो कमलोंसे जल बहता हो ॥२४॥ लम्बी आँखोंवाला पूर्णिमाके निर्मल चन्द्रमाके समान सीताका वह मुँह दुःखसे सूख गया, जिस प्रकार जलसे बाहर निकाला कमल सूख जाता है ॥२५॥ दुःखिनी सीता बेहोश-सी होरही थीं, रामचन्द्रने दोनों हाथोंसे उनका आलिङ्गन किया और वे सीताको विश्वास दिलाते हुए बोले ॥२६॥ देवि, मैं उस स्वर्गको भी नहीं चाहता जहाँ तुम्हारे वियोगका दुःख हो, मुझे भय किसीका नहीं है, जिस प्रकार स्वयम्भु-ब्रह्माको किसीका भय नहीं रहता ॥२७॥ शुभानने, तुम्हारा अभिप्राय ठीक-ठीक बिना जाने तुम्हारा वनवास मैं उचित नहीं समझता, यद्यपि तुम्हारी रक्षाके लिए मैं समर्थ हूँ ॥२८॥ तुम मेरे साथ वनवास करनेके लिए ही उत्पन्न हुई हो, अतएव मैं तुम्हारा त्याग नहीं कर सकता, जिस प्रकार आत्मज्ञानी मनुष्य दयाका त्याग नहीं करते ॥२९॥ पहलेके सज्जनोंने पतिव्रता-स्त्री-संबन्धी धर्मका आचरण किया है, अर्थात् पतिव्रता स्त्रीके साथ पतिका कैसा व्यवहार होना चाहिए, यह उन लोगोंने अपने आचरणोंसे बतलाया है, मैं उसी धर्मका पालन करूँगा और सुवर्चला जिस प्रकार सूर्यका अनुगमन करती है वैसे ही तुम मेरा अनुगमन करो ॥३०॥ जनकनन्दिनी, मैं वन नहीं जाऊँगा ऐसा नहीं हो सकता,

एष धर्मश्च सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता । आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे ॥३२॥
अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते । स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ॥३३॥
यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि । नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ॥३४॥
न सत्यं दानमानौ वा यज्ञो वाप्याप्तदक्षिणः । तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्मता ॥३५॥
स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्याः पुत्राः सुखानि च । गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम् ॥३६॥
देवगन्धर्वगोलोकान्ब्रह्मलोकाँस्तथापरान् । प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ॥३७॥
स मां पिता यथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थितः । तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः ॥३८॥
मम सन्ना मतिः सीते नेतुं त्वां दण्डकावनम् । वसिष्यामिति सा त्वं मामनुयातुं सुनिश्चिता ॥३९॥
सा हि सृष्टानवद्याङ्गि वनाय मदिरेक्षणे । अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव ॥४०॥
सर्वथा सुदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च । व्यवसायमनुक्रान्ता कान्ते त्वमतिशोभनम् ॥४१॥
आरभस्व शुभश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः । नेदानीं त्वदृते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते ॥४२॥
ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम् । देहि चाशंसमानेभ्यः संत्वरस्व च मा चिरम् ॥४३॥
भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च । रमणीयाश्च ये केचित्क्रीडार्थाश्चाप्युपस्कराः ॥४४॥
शयनीयानि यानानि मम चान्यानि यानि च । देहि स्वभृत्यवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम् ॥४५॥

क्योंकि पिताकी प्रतिज्ञाके कारण मुझे वन जाना पड़ता है, अतएव वह आवश्यक है ॥३१॥ पिता-माताके अनुकूल रहना धर्म है, पिताके आज्ञाका उल्लंघन करके जीना मैं उचित नहीं समझता ॥३२॥ देवता प्रत्यक्ष नहीं हैं, आराधनाके उपायोंसे उनकी आराधना करनेपर सदा सफलताकी ही सम्भावना नहीं है, पिता-माता प्रत्यक्ष हैं, वे गुरु हैं, उनकी आज्ञाका उल्लंघन करके देवाराधन कैसे ठीक होगा ॥३३॥ पिता-माताकी सेवासे तीनों—धर्म, अर्थ, काम प्राप्त होते हैं और तीनों लोकोंकी पूजा होजाती है, अतएव उससे बढ़कर पवित्र और कुछ नहीं है, इसी कारण लोग पिता-माताकी पूजा करते हैं ॥३४॥ सत्य, दान, मान तथा दक्षिणावाले यज्ञ वैसे परलोकहितकारी नहीं, जैसी कि पिताकी सेवा बलकरी है ॥३५॥ स्वर्ग, धन, धान्य, विद्या, पुत्र और सुख ये सब पिताकी सेवासे कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं ॥३६॥ पिता-माताकी सेवा करनेवाले लोग देवलोक, गन्धर्वलोक, गौलोक, ब्रह्मलोक तथा अन्यलोकोंको भी पाते हैं ॥३७॥ सत्यधर्मके अनुसार मेरे पिता जो आज्ञा देते हैं, मैं उसका पालन करना चाहता हूँ, क्योंकि यह सनातनधर्म है ॥३८॥ वनमें रहनेका तुम्हारा दृढ़ विश्वास देखकर तुम्हें न लेचलनेका जो मेरा विचार था वह दूर हो गया और मेरे साथ तुम्हारा चलना निश्चित हो गया ॥३९॥ अब खुश होजाओ और वन चलो तथा मेरे साथ धर्माचरण करो ॥४०॥ प्रिये, तुमने यह पतिके साथ वन जानेका—उत्तम निश्चय किया है, यह तुम्हारे पिताके कुल और मेरे कुलके योग्य है ॥४१॥ वन जानेके योग्य काम-दान आदि-करना प्रारम्भ करो, अब तुम्हारे विना स्वर्ग भी मुझे अच्छा नहीं लगता ॥४२॥ ब्राह्मणोंको रत्न और भिक्षुकोंको भोजन दो जो आशीर्वाद दे रहे हैं, शीघ्रता करो, विलम्ब न हो ॥४३॥ ब्राह्मणोंको दान देनेके पश्चात् दामी गहने, उत्तम वस्त्र तथा अन्य मनबहलावकी सामग्रियाँ, पलँग, सवारी तथा और भी जो कुछ हो वह

अनुकूलं तु सा भर्तुर्ज्ञात्वा गमनमात्मनः। क्षिप्रं प्रमुदिता देवी दातुमेव प्रचक्रमे ॥४६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः ३१

एवं श्रुत्वा स संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः। बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन् ॥ १ ॥
स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः। सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम् ॥ २ ॥
यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्। अहं त्वानुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः ॥ ३ ॥
मया समेतोऽरण्यानि रम्याणि विचरिष्यसि। पक्षिभिर्मृगयूथैश्च संघुष्टानि समन्ततः ॥ ४ ॥
न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे। ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना ॥ ५ ॥
एवं ब्रुवाणः सौमित्रिर्वनवासाय निश्चितः। रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत् ॥ ६ ॥
अनुज्ञातस्तु भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम्। किमिदानीं पुनरपि क्रियते मे निवारणम् ॥ ७ ॥
यदर्थं प्रतिषेधो मे क्रियते गन्तुमिच्छतः। एतदिच्छामि विज्ञातुं संशयो हि ममानघ ॥ ८ ॥
ततोऽब्रवीन्महातेजा रामो लक्ष्मणमग्रतः। स्थितं प्राग्गामिनं धीरं याचमानं कृताञ्जलिम् ॥९॥

नौकरोंको देदो ॥४४-४५॥ पतिने मुझे वनमें लेचलना स्वीकार कर लिया यह जानकर सीता बहुत प्रसन्न हुई और वे शीघ्र ही सब चीजें देने लगीं ॥४६॥ सीताका मनोरथ पूरा हुआ, वे प्रसन्न हो गयीं, मनस्विनी और यशस्विनी सीता धर्मात्माओंको धन, रत्न आदि दान करने लगीं ॥४७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३० ॥

लक्ष्मण वहाँ पहलेसे ही कौसल्याके घरसे रामचन्द्रके साथ आये थे, उन्होंने यह संवाद सुना, आँसूके कारण उनका मुँह विकृत हो गया, रामचन्द्र हमको वन लेजायँगे कि नहीं, इस शंकासे वे बहुत दुःखी हुए और वे इस दुःखको सह न सके ॥१॥ लक्ष्मणने रामचन्द्रके दोनों पैर जोरसे पकड़ लिये और अतियशस्विनी सीता तथा महाव्रतधारी रामचन्द्रसे बोले ॥२॥ पशु, हाथी आदिके रहनेके कारण दुःखदायी वनमें जाना आपने निश्चय ही करलिया तो आपके आगे-आगे धनुष-बाण लेकर मैं चलूँगा ॥३॥ मेरे साथ रहनेसे आप रमणीय स्थानोंमें भ्रमण कर सकेंगे, जहाँ पक्षी तथा भौंरे गुंजार किया करते हैं ॥४॥ आपके बिना देवलोकमें जाना या देवता बनना तथा संसारका ऐश्वर्य यह कुछ भी मैं नहीं चाहता ॥५॥ लक्ष्मणने वन जानेके लिए अपना निश्चय इस प्रकार प्रकट किया, रामचन्द्रने उन्हें बहुत समझाया। तब लक्ष्मण पुनः इस प्रकार बोले ॥६॥ आपने पहले ही मुझे आज्ञा देदी है, अब आप पुनः मुझे क्यों रोकते हैं ॥७॥ जिसकारण आप मुझे वन जानेसे रोकते हैं वह मैं जानना चाहता हूँ, निष्पाप, क्योंकि इस सम्बन्धमें मेरे मनमें सन्देह है ॥८॥ लक्ष्मण रामचन्द्रके आगे खड़े थे, वे उनसे आगे जानेके लिए तयार थे, हाथ-

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः । प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे ॥१०॥
मयाद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम् । को भजिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ११
अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव । स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः ॥१२॥
सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता । दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ॥१३॥
न स्मरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम् । भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ॥१४॥
तामार्यां स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा । सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थममुं चर ॥१५॥
एवं मयि च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता । धर्मज्ञगुरुपूजायां धर्मश्चाप्यतुलो महान् ॥१६॥
एवं कुरुष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन । अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत्सुखम् ॥१७॥
एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः श्लक्ष्णया गिरा । प्रत्युवाच तदा रामं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥१८॥
तवैव तेजसा वीर भरतः पूजयिष्यति । कौसल्यां च सुमित्रां च प्रयतो नास्ति संशयः॥१९॥
यदि दुःस्थो न रक्षेत भरतो राज्यमुत्तमम् । प्राप्य दुर्मनसा वीर गर्वेण च विशेषतः ॥२०॥
तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः । तत्पक्षानपि तान्सर्वांस्त्रैलोक्यमपि किं तु सा ॥२१॥
कौसल्या बिभृयादार्या सहस्रं मद्विधानपि । यस्याः सहस्रं ग्रामाणां संप्राप्तमुपजीविनाम् ॥२२॥

जोड़कर आज्ञा माँग रहे थे, उनसे महातेजस्वी रामचन्द्र इसप्रकार बोले ॥९॥ तुम मेरे स्नेही हो, धर्मात्मा धीर हो, सदा सन्मार्गपर चलनेवाले हो, तुम मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो, मेरे अनुवर्ती हो, सेवक हो और मित्र हो ॥१०॥ लक्ष्मण, तुम यदि मेरे साथ वन चले जाओगे तो यहाँ कौसल्या तथा यशस्विनी सुमित्राकी सेवा कौन करेगा ॥११॥ जिसप्रकार मेघ पृथिवीको सींचता है, उसीप्रकार जो सब प्रकारके मनोरथोंको पूरा किया करता था, वह महातेजस्वी राजा इस समय कामपाशसे बँधा हुआ है, केकयीके अधीन है ॥१२॥ अश्वपतिकी वह कन्या केकयी राज्य पाकर अपनी सौतोंको सुख न देगी ॥१३॥ भरत भी केकयीके अधीन रहेगा, वह भी राज्य पाकर दुःखिनी सुमित्रा और कौशल्याका भरण-पोषण न न करेगा ॥१४॥ अतएव तुम राजाका अनुग्रह प्राप्त कर स्वयं आर्या कौशल्याका भरण करो, मेरा यह कहना अवश्य करो ॥१५॥ इस प्रकार गुरुपूजा करनेसे विधिविहित मेरी भक्ति भी होगी और अतुलनीय धर्म भी होगा ॥१६॥ लक्ष्मण, तुम यह मेरे लिए करो, हमलोगोंके न रहनेपर हमलोगोंकी माताओं कौसल्या और सुमित्राको सुख न होगा ॥१७॥ रामचन्द्रने लक्ष्मणसे ये बातें बड़े कोमल स्वरमें कहीं। बोलनेमें चतुर लक्ष्मण बोलनेके गुण-दोष जाननेवाले रामचन्द्रसे इसप्रकार बोले ॥१८॥ वीर, आपके ही तेजसे भरत माताओंकी पूजा करेगा, वह नियत होकर कौसल्या और सुमित्राकी सेवा करेगा ॥१९॥ भरत राज्य पाकर यदि बुरे मार्गमें चलने लगेगा, केकयीके अनुरोधसे बुरे अभिप्रायसे अथवा अहङ्कारके कारण राज्यकी रक्षा न करेगा ॥२०॥ तब उस मूर्ख क्रूरका मैं वध करूँगा, इसमें सन्देह नहीं। उसके पक्षपातियोंको भी मैं मारूँगा, तीनों लोक भी उसका सहायक हो तो उसे भी मारूँगा ॥२१॥ आर्या कौसल्या मेरे समान हजारोंका भरण-पोषण करेंगीं, क्योंकि कौसल्याको हजारों गाँव मिले हैं ॥२२॥

तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च। पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय मनस्विनी ॥२३॥
कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते। कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्प्यते ॥२४॥
धनुरादाय सगुणं खनित्रपिटकाधरः। अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानं तव दर्शयन् ॥२५॥
आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च। वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम् २६
भवाँस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यते। अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते ॥२७॥
रामस्त्वनेन वाक्येन सुप्रीतः प्रत्युवाच तम्। व्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम् ॥२८॥
ये च राज्ञो ददौ दिव्ये महात्मा वरुणः स्वयम्। जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने ॥२९॥
अभेद्ये कवचे दिव्ये तूणी चाक्षय्यसायकौ। आदित्यविमलाभौ द्वौ खड्गौ हेमपरिष्कृतौ ॥३०॥
सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि। सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण ॥३१॥
स सुहृज्जनमामन्त्र्य वनवासाय निश्चितः। इक्ष्वाकुगुरुमागम्य जग्राहायुधमुत्तमम् ॥३२॥
तद्दिव्यं राजशार्दूलः सत्कृतं माल्यभूषितम्। रामाय दर्शयामास सौमित्रिः सर्वमायुधम् ॥३३॥
तमुवाचात्मवान्रामः प्रीत्या लक्ष्मणमागतम्। काले त्वमागतः सौम्य काङ्क्षिते मम लक्ष्मण॥३४॥
अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्। ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परंतप ॥३५॥
वसन्तीह दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः। तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम् ॥३६॥

अपना, मेरी माताका तथा मेरे समान अनेकोंका भरण-पोषण कौसल्या कर सकती हैं ॥२३॥ आप मुझे अपना अनुचर बनावें, इसमें कोई बुराई नहीं है, मेरी इच्छा पूरी होगी और आपके लिए भी मैं फल-फूल लाया करूँगा ॥२४॥ चढ़ा हुआ धनुष तथा कुदाल और टोरी लेकर मैं, आपके आगे-आगे चलूँगा और आपको मार्ग बतलाया करूँगा ॥२५॥ बनैले फल-मूल आपके लिए प्रतिदिन लाया करूँगा तथा तपस्वियोंके हवनकी सामग्री भी लाया करूँगा ॥२६॥ आप वैदेहीके साथ पर्वतके शिखरोंपर विहार कीजिएगा और आपके जागते तथा सोते सब काम किया करूँगा ॥२७॥ लक्ष्मणके इन वचनोंको सुनकर रामचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और वे बोले—लक्ष्मण, अपने सुहृदयोंसे आज्ञा लेकर चलो ॥२८॥ राजा जनकके महायज्ञमें प्रसन्न होकर वरुणने स्वयं दो दिव्य धनुष दिये थे, जो देखनेमें भयानक हैं ॥२९॥ दो अभेद्य कवच हैं, दो तूणीर हैं जिनमेंके बाण कभी नहीं घटते, सूर्यके समान चमकीले दो खड्ग हैं जिनपर सोना चढ़ा हुआ है ॥३०॥ ये सब वरुणने जनकको दिये थे, उन्होंने हमें दिये हैं, पूजा करके ये आचार्यके घरमें रखे हुए हैं, इन सब अस्त्रोंको लेकर शीघ्र आजाओ ॥३१॥ लक्ष्मण अपना वन-गमन निश्चित कर चुके थे, उन्होंने अपने सुहृदयोंसे पूछा, पुनः वशिष्ठके यहाँ जाकर अस्त्र-शस्त्र लिये ॥३२॥ दिव्यमालासे भूषित और पूजित आयुधको क्षत्रियश्रेष्ठ लक्ष्मणने रामचन्द्रको दिखाया ॥३३॥ लक्ष्मणके आनेपर आत्मवान् रामचन्द्र प्रेमपूर्वक बोले—लक्ष्मण, तुम ठीक समयपर आये, जिस समय मैं तुम्हारा आना चाहता था, तुम ठीक उसी समय आये ॥३४॥ परन्तप, तुम्हारे साथ रहकर मैं अपना धन तपस्वी ब्राह्मणोंको देना चाहता हूँ ॥३५॥ जो श्रेष्ठब्राह्मण गुरुगृहमें वास करते हैं, उनको मैं दान देना चाहता हूँ

वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्यं त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम् ।
अपि प्रयास्यामि वनं समस्तानभ्यर्च्य शिष्टानपरान्द्विजातीन् ॥३७॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥३१॥

द्वात्रिंशः सर्गः ३२

ततः शासनमाज्ञाय भ्रातुः प्रियकरं हितम् । गत्वा स प्रविवेशाशु सुयज्ञस्य निवेशनम् ॥ १ ॥
तं विप्रमग्न्यगारस्थं वन्दित्वा लक्ष्मणोऽब्रवीत् । सखेऽभ्यागच्छ पश्य त्वं वेश्म दुष्करकारिणः ॥२॥
ततः संध्यामुपास्थाय गत्वा सौमित्रिणा सह । ऋद्धं स प्राविशल्लक्ष्म्या रम्यं रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥
तमागतं वेदविदं प्राञ्जलिः सीतया सह । सुयज्ञमभिचक्राम राघवोऽग्निमिवार्चितम् ॥ ४ ॥
जातरूपमयैर्मुख्यैरङ्गदैः कुण्डलैः शुभैः । सहेमसूत्रैर्मणिभिः केयूरैर्वलयैरपि ॥ ५ ॥
अन्यैश्च रत्नैर्बहुभिः काकुत्स्थः प्रत्यपूजयत् । सुयज्ञं स तदोवाच रामः सीताप्रचोदितः ॥ ६ ॥
हारं च हेमसूत्रं च भार्यायै सौम्य हारय । रशनां चाथ सा सीता दातुमिच्छति ते सखी ॥ ७ ॥
अङ्गदानि च चित्राणि केयूराणि शुभानि च । प्रयच्छति सखी तुभ्यं भार्यायै गच्छती वनम् ॥ ८ ॥
पर्यङ्कमग्र्यास्तरणं नानारत्नविभूषितम् । तमपीच्छति वैदेही प्रतिष्ठापयितुं त्वयि ॥ ९ ॥

तथा जो हमसे आशा रखते हैं उन्हें दान देना चाहता हूँ ॥३६॥ अतएव वसिष्ठपुत्र आर्य सुयज्ञको तुम लेआओ, वे श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं । इनकी तथा अन्य शिष्ट ब्राह्मणोंकी पूजा करके मैं वन जाऊँगा ॥३७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एकतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३१ ॥

प्रिय और हितकारी भाईकी आज्ञा समझकर लक्ष्मण सुयज्ञके घर गये ॥१॥ वे उस समय अग्नि-होत्रगृहमें थे, उन्हें प्रणाम करके लक्ष्मणने कहा—आइए, दुष्कर कार्य करनेवाले रामचन्द्रका घर देखिए ॥२॥ सन्ध्या करके वे ब्राह्मण लक्ष्मणके साथ रामचन्द्रके घर गये, जो सब सामग्रियों तथा सब सम्पत्तियोंसे भरा हुआ था ॥३॥ अर्चित अग्निके समान तेजस्वी और पवित्र उन ब्राह्मणको रामचन्द्रने सीताके साथ हाथ जोड़कर अभ्युत्थान दिया ॥४॥ सोनेके बहुमूल्य अङ्गद, शुभ कुण्डल, मणिजड़ित सोनेकी सिकड़ी, केयूर छोटा-अङ्गद और कंकण इनसे तथा अन्य मणियों तथा रत्नोंसे रामचन्द्रने सुयज्ञकी पूजा की । तदन्तर सीताके कहनेसे वे सुयज्ञसे इस प्रकार बोले ॥५-६॥ सौम्य, आप अपनी स्त्रीके लिए यह हार और सोनेकी सिकड़ी ले जाइए, करधनी भी ले जाइए, ये सब आपकी सखी—सीता आपको देती है ॥७॥ सीता वन जा रही है अतएव यह चित्रित अङ्गद तथा केयूर आपकी स्त्रीके लिए आपको दे रही हैं ॥८॥ पलँग और उत्तम बिछौना जिसमें अनेक रत्न जड़े हुए हैं, सीता वह भी आपको देना चाहती है

नागः शत्रुंजयो नाम मातुलोऽयं ददौ मम । तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुंगव ॥१०॥
इत्युक्तः स तु रामेण सुयज्ञः प्रतिगृह्य तत् । रामलक्ष्मणसीतानां प्रयुयोजाशिषः शिवाः ॥११॥
अथ भ्रातरमव्यग्रं प्रियं रामः प्रियंवदम् । सौमित्रिं तमुवाचेदं ब्रह्मेव त्रिदशेश्वरम् ॥१२॥
अगस्त्यं कौशिकं चैव तावुभौ ब्राह्मणोत्तमौ । अर्चयाहूय सौमित्रे रत्नैः सस्यमिवाम्बुभिः ॥१३॥
तर्पयस्व महाबाहो गोसहस्रेण राघव । सुवर्णरजतैश्चैव मणिभिश्च महाधनैः ॥१४॥
कौसल्यां च य आशीर्भिर्भक्तः पर्युपतिष्ठति । आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित् ॥१५॥
तस्य यानं च दासीश्च सौमित्रे संप्रदापय । कौशेयानि च वस्त्राणि यावत्तुष्यति स द्विजः ॥१६॥
सूतश्चित्ररथश्चार्यः सचिवः सुचिरोषितः । तोषयैनं महार्हैश्च रत्नैर्वस्त्रैर्धनैस्तथा ॥१७॥
पशुकाभिश्च सर्वाभिर्गवां दशशतेन च । ये च मे कठकलापा बहवो दण्डमाणवाः ॥१८॥
नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्नान्यत्कुर्वन्ति किंचन । अलसाः स्वादुकामाश्च महतां चापि संमता ॥१९॥
तेषामशीतियानानि रत्नपूर्णानि दापय । शालिवाहसहस्रं च द्वे शते भद्रकांस्तथा ॥२०॥
व्यञ्जनार्थं च सौमित्रे गोसहस्रमुपाकुरु । मेखलीनां महासङ्घः कौसल्यां समुपस्थितः ।
तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं संप्रदापय ॥२१॥
अंबा यथा नो नन्देच्च कौसल्या मम दक्षिणाम् । तथा द्विजातींस्तान्सर्वाँल्लक्ष्मणार्चय सर्वशः ॥२२॥

॥९॥ मेरे मामाने शत्रुंजय नामका हाथी मुझे दिया है, द्विजश्रेष्ठ वह हाथी भी एक हजार निष्क दक्षिणाके साथ मैं आपको देता हूँ ॥१०॥ रामचन्द्रके ऐसा कहनेपर सुयज्ञने वह सब ले लिये तथा राम, लक्ष्मण और सीताकी कल्याण-कामना की ॥११॥ ब्रह्मा जिस प्रकार इन्द्रको आज्ञा देते हैं, उसी प्रकार प्रिय बोलनेवाले तथा निश्चिन्त बैठे हुए भाई लक्ष्मणसे रामचन्द्र बोले ॥१२॥ लक्ष्मण, अगस्त्य और कौशिक इन दोनों ब्राह्मणोंको भी बुलाकर उनकी रत्नोंसे पूजा करो, जिस प्रकार जलमें सस्य सींचा जाता है ॥१३॥ एक हजार गौ सोना चाँदी तथा मूल्यवान मणि देकर उन्हें तृप्त करो, ॥१४॥ तैत्तिरीयोंके आचार्य (तैत्तिरीय यजुर्वेदकी एक शाखाका नाम है) वेदज्ञ विद्वान् जो कौसल्याको आशीर्वाद दिया करते हैं, उन्हें रथ और दासियाँ दो और जितनेसे वे सन्तुष्ट हों उतने रेशमी वस्त्र भी दो ॥१५-१६॥ चित्ररथ नामके सारथि, जो सचिव हैं और वृद्ध भी हैं उन्हें मूल्यवान् रत्न, वस्त्र और धन देकर सन्तुष्ट करो ॥१७॥ यज्ञके योग्य पवित्र पशु बकरो आदि और हजार गौ, कठकलाप शाखाके पढ़नेवाले ब्रह्मचारियोंको दो ॥१८॥ जो निरन्तर पढ़नेमें लगे हुए हैं और कोई दूसरा काम नहीं करते, भिक्षा आदिके लिए जो आलसी हैं, जो अच्छा भोजन चाहते हैं जिनकी सज्जनोंमें प्रतिष्ठा है, उन्हें रत्नालंकार पूर्ण सौ ऊँट, एक हजार बैल धान तथा खेतीके योग्य दो सौ बैल दो ॥१९-२०॥ दही, दूधके लिए उन्हें एक सौ गौ दो । कौसल्याके यहाँ ब्रह्मचारियोंका बड़ा दल आया है, उनमेंसे प्रत्येकको एक-एक हजार दक्षिणा दो ॥२१॥ लक्ष्मण, इन सब ब्राह्मणोंकी सब प्रकारसे वैसी पूजा करो, दक्षिणा दो, जिसको देखकर हमारी

ततः पुरुषशार्दूलस्तद्धनं लक्ष्मणः स्वयम् । यथोक्तं ब्राह्मणेन्द्राणामददाद्धनदो यथा ॥२३॥
अथाब्रवीद्बाष्पगलांस्तिष्ठतश्चोपजीविनः । स प्रदाय बहुद्रव्यमेकैकस्योपजीवनम् ॥२४॥
लक्ष्मणस्य च यद्वेश्म गृहं च यदिदं मम । अशून्यं कार्यमेकैकं यावदागमनं मम ॥२५॥
इत्युक्त्वा दुःखितं सर्वं जनं तमुपजीविनम् । उवाचेदं धनाध्यक्षं धनमानीयतां मम ॥२६॥
ततोऽस्य धनमाजह्रुः सर्वं एवोपजीविनः । स राशिः सुमहांस्तत्र दर्शनीयो ह्यदृश्यत ॥२७॥
ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद्धनं सहलक्ष्मणः । द्विजेभ्यो बालवृद्धेभ्यः कृपणेभ्यो ह्यदापयत् ॥२८॥
तत्रासीत्पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः । क्षतवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली ॥२९॥
तं वृद्धं तरुणी भार्या बालानादाय दारकान् । अब्रवीद्ब्राह्मणं वाक्यं स्त्रीणां भर्ता हि देवता ॥३०॥
अपास्य फालं कुद्दालं कुरुष्व वचनं मम । रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किंचिदवाप्स्यसे ॥३१॥
स भार्याया वचः श्रुत्वा शाटिमाच्छाद्य दुश्छदाम् । स प्रातिष्ठत पन्थानं यत्र रामनिवेशनम् ॥३२॥
भृग्वङ्गिरःसमं दीप्त्या त्रिजटं जनसंसदि । आपञ्चमायाः कक्ष्याया नैनं कश्चिदवारयत् ॥३३॥
स राममासाद्य तदा त्रिजटो वाक्यमब्रवीत् । निर्धनो बहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महाबल ॥३४॥
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्व मामिति । तमुवाच ततो रामः परिहाससमन्वितम् ॥३५॥
गवां सहस्रमप्येकं न च विश्राणितं मया । परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवाप्स्यसे ॥३६॥

माता कौसल्या प्रसन्न हों ॥२२॥ रामचन्द्रके कहनेके अनुसार पुरुषश्रेष्ठ लक्ष्मणने कुबेरके समान सब ब्राह्मणोंको धन दिया ॥२३॥ तदन्तर ब्राह्मणोंको दान देनेके पश्चात् अपने प्रत्येक भृत्यको जीवननिर्वाह योग्य पूरा धन देकर रामचन्द्र उनसे बोले, उस समय भृत्योंका गला भरा हुआ था ॥२४॥ लक्ष्मणके घरमें तथा मेरे घरमें जबतक हमलोग न आवें तबतक रहो ॥२५॥ दुःखी अपने भृत्योंसे ऐसा कहकर रामचन्द्रने अपने खजाञ्चीको अपना धन लानेकी आज्ञा दी ॥२६॥ भृत्योंने लाकर वहाँ धनकी ढेर कर दी, वह ढेर बहुत बड़ी देखने लायक हो गयी ॥२७॥ पुरुषश्रेष्ठ रामचन्द्रने लक्ष्मणके साथ वह बालक, वृद्ध, ब्राह्मणों तथा दुःखियोंको दिया ॥२८॥ उस समय गर्गगोत्री त्रिजट नामका एक ब्राह्मण था, वह पीला हो गया था, उसे कोई वृत्ति नहीं थी, कुल्हाड़ी, कुदारी और हल लिये रहता था ॥२९॥ वह वृद्ध था, उसकी युवती भार्या अपने छोटे-छोटे बच्चोंको लेकर पतिसे बोली, पति ही स्त्रियोंका देवता है ॥३०॥ मैं जो कहती हूँ वह आप करें, कुल्हाड़ी और कुदारी छोड़ दीजिए, रामचन्द्रजीके यहाँ जाइए, वहाँ शायद कुछ मिल जाय ॥३१॥ स्त्रीकी बात सुनकर उसने एक बहुत ही फटा हुआ कपड़ा किसी तरहसे पहना और रामचन्द्रजीके यहाँ जानेके लिए चला ॥३२॥ वह ब्राह्मण भृगु और अङ्गिराके समान दीप्तिमान था, उसको पाँचवें खण्डतक जानेमें किसीने भी नहीं रोका ॥३३॥ रामचन्द्रके समीप जाकर वह त्रिजट बोला—महाबली राजपुत्र, मैं निर्धन हूँ, मेरे बहुतसे पुत्र हैं ॥३४॥ मैं वनमें रहता हूँ, मेरी कोई वृत्ति नहीं है, आप मेरी ओर देखें । रामचन्द्रने परिहाससे उससे कहा ॥४५॥ मैंने हजार गौओंमें की एक गौ भी नहीं दी है । पर तुम डण्डा फेंको, वह जहाँतक जायगा, उतनी दूरमें जितनी गौ आवेंगी वह सब

स शाटीं परितः कथ्यां संभ्रान्तः परिवेष्ट्य ताम् । आविद्ध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगतः ॥३७॥
स तीर्त्वा सरयूपारं दंडस्तस्य कराच्च्युतः । गोव्रजे बहुसाहस्रे पपातोक्षाणसंनिधौ ॥३८॥
तं परिष्वज्य धर्मात्मा आव्याप्य सरयूतटात् । आनयामास ता गावस्त्रिजटस्याश्रमं प्रति ॥३९॥
उवाच च तदा रामस्तं गार्ग्यमभिसान्त्वयन् । मन्युर्न खलु कर्तव्यः परिहासो ह्ययं मम ॥४०॥

इदं हि तेजस्तव यद्दुरत्ययं तदेव जिज्ञासितुमिच्छता मया ।
इमं भवानर्थमभिप्रचोदितो वृणीष्व किं चेदपरं व्यवस्यसि ॥४१॥
ब्रवीमि सत्येन न ते स्म यन्त्रणा धनं हि यद्यन्मम विप्रकारणात् ।
भवत्सु सम्यक्प्रतिपादनेन मयार्जितं चैव यशस्करं भवेत् ॥४२॥
ततः समार्यस्त्रिजटो महामुनिर्गवामनीकं प्रतिगृह्य मोदितः ।
यशोबलप्रीतिसुखोपबृंहिणीस्तदाशिषः प्रत्यवदन्महात्मनः ॥४३॥
स चापि रामः प्रतिपूर्णपौरुषो महाधनं धर्मबलैरुपार्जितम् ।
नियोजयामास सुहृज्जने चिराद्यथार्हसंमानवचःप्रचोदितः ॥४४॥
द्विजः सुहृद्भृत्यजनोऽथवा तदा दरिद्रभिक्षाचरणश्च यो भवेत् ।
न तत्र कश्चिन्न बभूव तर्पितो यथार्हसंमाननदानसंभ्रमैः ॥४५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

तुम्हारी होंगी ॥३६॥ शीघ्र ही उसने अपनी धोती कस ली और बड़े बलसे तथा वेगसे डण्डा फेंका ॥३७॥ उसके हाथसे छूटा हुआ डण्डा सरयूके उसपार कई हजार गौओंके झुंडको पार करता हुआ साँड़ोंके पास गिरा ॥३८॥ धर्मात्मा रामचन्द्रने त्रिजटका आलिङ्गन किया और वे सब गौ उन्होंने त्रिजटके आश्रम-में भिजवा दीं ॥३९॥ रामचन्द्र त्रिजटको प्रसन्न करते हुए बोले—मैंने यह आपके साथ हँसी की थी, अतएव आप क्रोध न करें ॥४०॥ आपका जो यह प्रवृद्ध तेज है, उसीकी परीक्षा लेनेके लिए मैंने आपसे डंडा फेंकनेकी बात कही थी, इसके अतिरिक्त और कुछ यदि आप चाहते हों तो कहें ॥४१॥ मैं सत्य कहता हूँ, आप संकोच न करें, मेरा जो कुछ धन है वह ब्राह्मणोंके लिए है। मेरा अपना अर्जित धन ब्राह्मणोंको देनेसे ही मुझे प्रसन्नता होती है ॥४२॥ वह त्रिजट और उसकी स्त्री इतनी गौओंको पाकर बहुत प्रसन्न हुयो और उन लोगोंने रामचन्द्रके यश, बल, प्रीति और सुख बढ़नेकी कामना की ॥४३॥ पराक्रमी रामचन्द्रने भी धर्मबलसे अर्जित वह बहुतसा धन उचित सम्मान-वचनके साथ अपने मित्रोंको बाँट दिये ॥४४॥ ब्राह्मण, सुहृद, भृत्य तथा और दरिद्र भिक्षुक जो कोई उस समय वहाँ आया, वह सभी उचित सम्मान तथा दानसे सन्तुष्ट किया गया ॥४५॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः ३३

दत्त्वा तु सह वैदेह्या ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु । जग्मतुः पितरं द्रष्टुं सीतया सह राघवौ ॥ १ ॥
ततो गृहीते प्रेष्याभ्यामशोभेतां तदायुधे । मालादामभिरासक्ते सीतया समलंकृते ॥ २ ॥
ततः प्रासादहर्म्याणि विमानशिखराणि च । अभिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो व्यलोकयत् ॥ ३ ॥
न हि रथ्याः सुशक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुलाः । आरुह्य तस्मात्प्रासादाद्दीनाः पश्यन्ति राघवम् ॥४॥
पदातिं सानुजं दृष्ट्वा ससीतं च जनास्तदा । ऊचुर्बहुजना वाचः शोकोपहतचेतसः ॥ ५ ॥
यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत् । तमेकं सीतया सार्धमनुयाति स्म लक्ष्मणः ॥ ६ ॥
ऐश्वर्यस्य रसज्ञः सन्कामानां चाकरो महान् । नेच्छत्येवानृतं कर्तुं वचनं धर्मगौरवात् ॥ ७ ॥
या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि । तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ॥ ८ ॥
अङ्गरागोचितां सीतां रक्तचन्दनसेविनीम् । वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यत्याशु विवर्णताम् ॥ ९ ॥
अद्य नूनं दशरथः सत्त्वमाविश्य भाषते । नहि राजा प्रियं पुत्रं विवासयितुमर्हति ॥१०॥
निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद्विनिवासनम् । किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥११॥
आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः । राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम् ॥१२॥

इस प्रकार सीता और रामने ब्राह्मणोंको बहुतसा धन दिया, तदनन्तर वे तीनों राम, लक्ष्मण और सीता राजा दशरथको देखनेके लिए गये ॥१॥ राम और लक्ष्मणके धनुष उनके नौकर ले चले, वे धनुष बहुत ही सुन्दर मालूम होते थे, वे फूलकी मालाओंसे सुशोभित थे, सीताने उनको और अधिक सजा दिया था ॥२॥ प्रासाद (राजाका घर या तीनमहला घर), हर्म्य (अन्न धन रखनेका घर) और विमान (सतमहला घर) के उपर चढ़कर धनी लोगोंने उदास मनसे (क्योंकि वियाग होनेवाला था) देखा ॥३॥ मनुष्योंसे रास्ते भर गये थे, उनमें चलना असम्भव था, अतएव लोग दुःखी होकर अपने-अपने महलोंपर चढ़कर रामचन्द्रको देखने लगे ॥४॥ अपने छोटे भाई लक्ष्मण और सीताके साथ रामचन्द्र पैदल जा रहे हैं, यह देखकर सब लोग बहुत दुःखी हुए और अनेक प्रकारकी बातें करने लगे ॥५॥ जिसके पीछे-पीछे बहुत बड़ी चतुरङ्गिनी सेना चलती थी, आज वह अकेला सीता और लक्ष्मणके साथ जा रहा है ॥६॥ ये ऐश्वर्य भोगके आदी है, प्रजाके मनोरथ पूरे करनेमें सदा तयार रहते हैं, धर्मप्रेमके कारण ये पिताके वचनको असत्य करना नहीं चाहते ॥७॥ आकाशचारी प्राणी भी पहले जिस सीताको नहीं देख सकते थे, आज उसी सीताको ये रास्तेके मनुष्य देख रहे हैं ॥८॥ जो सीता सदा अङ्गराग (सुगन्धित लेप) और रक्तचन्दन लगाती थी उनका रंग वर्षा, धूप और शीतके कारण मुरझा जायगा ॥९॥ राजा दसरथ आज निश्चय अपनेमें बलसञ्चय करके कहेंगे - मैं अपने प्रियपुत्रको निर्वासित नहीं करता ॥१०॥ गुणहीन पुत्रका भी जब निर्वासन नहीं किया जाता, तब ऐसे पुत्रका निर्वासन —जिसके चरित्रपर सब लोग मुग्ध हैं—कैसे किया जा सकता है ॥११॥ अहिंसा, दया विद्या, शील, दम और शम ये छ गुण पुरुषश्रेष्ठ

तस्मात्तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः । औदकानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ।१३।
पीडया पीडितं सर्वं जगदस्य जगत्पतेः । मूलस्येवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥१४॥
मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः । पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः ॥१५॥
ते लक्ष्मण इव क्षिप्रं सपत्न्यः सह बान्धवाः । गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः ॥१६॥
उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च । एकदुःखसुखा राममनुगच्छाम धार्मिकम् ॥१७॥
समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च । उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि सर्वशः ॥१८॥
रजसाभ्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः । मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च ॥१९॥
अपेतोदकधूमानि हीनसंमार्जनानि च । प्रनष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ॥२०॥
दुष्कालेनेव भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च । अस्मत्त्यक्तानि कैकेयी वेश्मानि प्रतिपद्यताम् ॥२१॥
वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राघवः । अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं संपद्यतां वनम् ॥२२॥
बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे सानूनि मृगपक्षिणः । त्यजन्त्वस्मद्भयाद्भीता गजाः सिंहा वनान्यपि ॥२३॥
अस्मत्त्यक्तं प्रपद्यन्तु सेव्यमानं त्यजन्तु च । तृणमांसफलादानं देशं व्यालमृगद्विजम् ॥२४॥

रामचन्द्रमें वर्तमान हैं ॥१२॥ ऐसे योग्य रामचन्द्रको पीड़ा देनेसे समस्त प्रजा पीड़ित हुई है, जिस प्रकार जलके प्राणी जल सूख जानेपर ग्रीष्मकालमें पीड़ित हो जाते हैं ॥१३॥ जगत्पति रामचन्द्रके दुःखसे आज समस्त जगत् दुःखी हो रहा है, जिस प्रकार जड़के पीड़ित होने (सूखने) से फल-फूलके साथ समस्त वृक्ष पीड़ित होता है ॥१४॥ महाद्युतिमान् धर्मप्राण रामचन्द्र ही मनुष्योंके मूल हैं, अन्य जो मनुष्य हैं वे फल, फूल, शाखा, पत्ते आदि हैं ॥१५॥ अतएव अपनी-अपनी स्त्रियों तथा भाइयोंके साथ हम लोग भी लक्ष्मणकी तरह जिस रास्ते रामचन्द्र गये हैं उसी रास्ते जायँगे ॥१६॥ हमलोग अपना बाग, खेत तथा घर छोड़ देंगे और धर्मात्मा रामचन्द्रके सुख-दुःखके साथी होकर उनके साथ-साथ जाँयगे ॥१७॥ जो घर हमलोग छोड़कर जाँयगे वह घर केकयी ले ले, उन घरोंसे जमीनमें गड़ा हुआ धन हमलोग निकाल लेंगे, उनके आँगने टूटे हुए होंगे, उन घरोंसे धन-धान्य आदि हमलोग निकाल लेंगे, घरोंकी मूल्यवान् चीजें हमलोग निकाल ले जायँगे, ॥१८॥ हमलोगोंके छोड़े हुए वे घर धूलसे भर जाँयगे, उन घरोंमें देवता न होंगे, बिलके बाहर चारों ओर चूहे दौड़ते होंगे ॥१९॥ उन घरोंमें न तो पानी छींटा जाता होगा न धूप दिखाया जाता होगा, झाड़ु-बहारू भी नहीं दिया जाता होगा, बलिदान, यज्ञ, मन्त्र, हवन, जप आदि जहां न होते होंगे ॥२०॥ प्रलयकालके टूटेके समान वे होंगे, उनमेंके बर्तन भी टूट-फूट गये होंगे, ऐसे हमलोगोंके छोड़े घरोंको केकयी ले ले ॥२१॥ रामचन्द्र वन जा रहे हैं, इसकारण वन ही अब नगर बन जाय और यह नगर हमलोगोंके छोड़ देनेके कारण वन बन जाय ॥२२॥ हमलोगोंके भयसे भीत होकर सर्प बिल छोड़ दें, पशुपक्षी पर्वतोंके शिखरोंपर रहना छोड़ दें और हाथी तथा सिंह वन छोड़कर चले जाँय ॥२३॥ हमलोग जिसमें इस समय जाँयगे अर्थात् वनमें उसे वे छोड़ दें और हमलोगोंने जिसे छोड़ा है वहाँ अर्थात् अयोध्यामें आकर वे रहें । इसप्रकार यह स्थान तृण, मांस और फल खानेवाले

प्रपद्यतां हि कैकेयी सुपुत्रा सहबान्धवैः । राघवेण वयं सर्वे वने वत्स्याम निर्वृताः ॥२५॥
इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः । शुश्राव राघवः श्रुत्वा न विचक्रेऽस्य मानसम् ॥२६॥
स तु वेश्म पुनर्मातुः कैलासशिखरप्रभम् । अभिचक्राम धर्मात्मा मत्तमातङ्गविक्रमः ॥२७॥
विनीतवीरपुरुषं प्रविश्य तु नृपालयम् । ददर्शावस्थितं दीनं सुमन्त्रमविदूरतः ॥२८॥
प्रतीक्षमाणोऽभिजनं तदार्तमनार्तरूपः प्रहसन्निवाथ ।
जगाम रामः पितरं दिदृक्षुः पितुर्निदेशं विधिवच्चिकीर्षुः ॥२९॥
तत्पूर्वमैक्ष्वाकसुतो महात्मा रामो गमिष्यन्नृपमार्तरूपम् ।
व्यतिष्ठत प्रेक्ष्य तदा सुमन्त्रं पितुर्महात्मा प्रतिहारणार्थम् ॥३०॥
पितुर्निदेशेन तु धर्मवत्सलो वनप्रवेशे कृतबुद्धिनिश्चयः ।
स राघवः प्रेक्ष्य सुमन्त्रमब्रवीन्निवेदयस्वागमनं नृपाय मे ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः ३४

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरुपमो महान् । उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति ॥ १ ॥
स रामप्रेषितः क्षिप्रं संतापकलुषेन्द्रियम् । प्रविश्य नृपतिं सूतो निःश्वसन्तं ददर्श ह ॥ २ ॥

प्राणियों तथा क्रूर पशुओं और पक्षियोंका निवासस्थान बन जायगा ॥२४॥ अपने पुत्र तथा बान्धवोंके साथ केकयी अब यहीं रहे, हमलोग प्रसन्नतापूर्वक अब रामचन्द्रके साथ वनमें रहेंगे ॥२५॥ इस प्रकारकी अनेक बातें अनेक आदमियोंकी कही हुई रामचन्द्रने सुनी, पर उनके मनमें इन बातोंसे कुछ विकार नहीं हुआ ॥२६॥ मतवाले हाथीके समान पराक्रमी धर्मात्मा रामचन्द्र माता केकयीके कैलासशिखरके समान घरमें गये ॥२७॥ वहाँ विनयी और वीर पहरा दे रहे थे, रामचन्द्र राजाके उसी घरमें गये, उन्होंने थोड़ी ही दूरपर बैठे दुःखी सुमन्त्रको देखा ॥२८॥ परिजनोंको अपने भावी वियोगकी चिन्तासे दुःखी देखते हुए तथा स्वयं प्रसन्न हँसते हुए पिताको देखनेके लिए तथा उनकी आज्ञाका विधिवत् पालन करनेकी इच्छासे गये ॥२९॥ दुःखी अपने पिताको देखनेके लिए रामचन्द्र जाने लगे, पर पितासे पहले ही उन्होंने सुमन्त्रको देखा और पिताको खबर देनेके लिये वहीं ठहर गये ॥३०॥ जिस धर्मप्रेमी रामचन्द्रने पिताकी आज्ञासे वनमें जाना निश्चय कर लिया है, उन्होंने सुमन्त्रको देखकर कहा कि पिताको मेरे आनेकी खबर दीजिये ॥३१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका तेतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३३॥

कमलनयन श्याम रामचन्द्रने सुमन्त्रसे कहा—सूत, पितासे कहो कि रामचन्द्र आये हैं ॥१॥ रामचन्द्रके कहनेसे सूतने जाकर देखा कि दुःखके कारण राजाकी इद्रियाँ व्याकुल हो गयी हैं, वे लम्बी-लम्बी

उपरक्तमिवादित्यं भस्मच्छन्नमिवानलम् । तटाकमिव निस्तोयमपश्यज्जगतीपतिम् ॥ ३ ॥
आबोध्य च महाप्राज्ञः परमाकुलचेतनम् । राममेवानुशोचन्तं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥
तं वर्धयित्वा राजानं पूर्वं सूतो जयाशिषा । भयविक्लवया वाचा मन्दया श्लक्ष्णमब्रवीत् ॥ ५ ॥
अयं स पुरुषव्याघ्रो द्वारि तिष्ठति ते सुतः । ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्वा सर्वं चैवोपजीविनाम् ॥ ६ ॥
स त्वां पश्यतु भद्रं ते रामः सत्यपराक्रमः । सर्वान्सुहृद आपृच्छ्य त्वां हीदानीं दिदृक्षते ॥ ७ ॥
गमिष्यति महारण्यं तं पश्य जगतीपते । वृतं राजगुणैः सर्वैरादित्यमिव रश्मिभिः ॥ ८ ॥
स सत्यवाक्यो धर्मात्मा गाम्भीर्यात्सागरोपमः । आकाश इव निष्पङ्को नरेन्द्रः प्रत्युवाच तम् ॥ ९ ॥
सुमन्त्रानय मे दारान्ये केचिदिह मामकाः । दारैः परिवृतः सर्वैर्द्रष्टुमिच्छामि राघवम् ॥१०॥
सोऽन्तःपुरमतीत्यैव स्त्रियस्ता वाक्यमब्रवीत् । आर्यो ह्वयति वो राजा गम्यतां तत्र मा चिरम् ।११।
एवमुक्ताः स्त्रियः सर्वाः सुमन्त्रेण नृपाज्ञया । प्रचक्रमुस्तद्भवनं भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥१२॥
अर्धसप्तशतास्तत्र प्रमदास्ताम्रलोचनाः । कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः ॥१३॥
आगतेषु च दारेषु समवेक्ष्य महीपतिः । उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय मे सुतम् ॥१४॥
स सूतो राममादाय लक्ष्मणं मैथिलीं तथा । जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः ॥१५॥
स राजा पुत्रमायान्तं दृष्ट्वा चारात्कृताञ्जलिम् । उत्पातासनात्तूर्णमार्तः स्त्रीजनसंवृतः ॥१६॥

साँस ले रहे हैं ॥२॥ ग्रहण लगे सूर्यके समान, राखसे ढँके अग्निके समान और जलहीन तड़ागके समान राजाको सुमन्त्रने देखा ॥३॥ राजा बहुत ही व्याकुल थे वे रामचन्द्रको ही सोच रहे थे, उसी समय हाथ जोड़कर राजाको सम्बोधित करके सूत बोले ॥४॥ सूतने पहले जयजयकार करके राजाकी पूजा की और भयसे कातर धीमे तथा कोमल स्वरसे वे बोले ॥५॥ पुरुषसिंह, तुम्हारे पुत्र रामचन्द्र ब्राह्मणों तथा भृत्योंको सब धन देकर यहाँ द्वारपर खड़े हैं ॥६॥ वे क्या आपके दर्शन करें ? उन्होंने अपने अन्य सम्बन्धियोंकी सम्मति ले ली है, अब केवल आपको देखना चाहते हैं ॥७॥ वे वन जा रहे हैं । राजन्, उन्हें आप देख लें, वे सब राजगुणोंसे युक्त हैं जैसे सूर्य किरणोंसे युक्त होता है ॥८॥ सत्यवादी धर्मात्मा राजा दसरथ जो गम्भीरताके कारण सागरके समान तथा निष्पङ्क (निष्पाप) होनेके कारण आकाशके समान हैं, वे सुमन्त्रसे बोले ॥९॥ सुमन्त्र, मेरी स्त्रियोंको ले आओ और जो कोई मेरे हों उन्हें भी ले आओ, मैं अपने स्त्रियोंके साथ रामचन्द्रको देखना चाहता हूँ ॥१०॥ सुमन्त्र रनिवासमें गये और स्त्रियोंसे वे बोले—राजा आपलोगोंको बुला रहे हैं आपलोग राजाके पास चलें, विलम्ब न करें ॥११॥ राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रके ऐसा कहनेपर पतिकी आज्ञा पानेके कारण सब स्त्रियाँ राजभवनकी ओर चलीं ॥१२॥ साढ़े तीन सौ स्त्रियाँ शोकके कारण जिनकी आँखें लाल हो गयी थीं वे पातिव्रत्य धारण करनेवालीं कौसल्याको बीचमें लेकर चलीं ॥१३॥ स्त्रियाँ आ गयीं, यह देखकर राजा दसरथने सुमन्त्रसे कहा कि अब तुम मेरे पुत्रको ले आओ ॥१४॥ राम, लक्ष्मण और सीताको लेकर सूत शीघ्रतापूर्वक राजाके समीप गये ॥१५॥ हाथ जोड़े आते हुए पुत्रको दूरसे ही देखकर दुःखी तथा स्त्रियोंसे घिरे राजा उठे ॥१६॥

सोऽभिदुद्राव वेगेन रामंदृष्ट्वा विशांपतिः। तमसंप्राप्य दुःखार्तः पपात भुवि मूर्च्छितः ॥१७॥
तं रामोऽभ्यपतत्क्षिप्रं लक्ष्मणश्च महारथः। विसंज्ञमिव दुःखेन सशोकं नृपतिं तथा ॥१८॥
स्त्रीसहस्रनिनादश्च संजज्ञे राजवेश्मनि। हा हा रामेति सहसा भूषणध्वनिमिश्रितः ॥१९॥
तं परिष्वज्य बाहुभ्यां तावुभौ रामलक्ष्मणौ। पर्यङ्के सीतया सार्धं रुदन्तः समवेशयन् ॥२०॥
अथ रामो मुहूर्तस्य लब्धसंज्ञं महीपतिम्। उवाच प्राञ्जलिर्बाष्पशोकार्णवपरिप्लुतम् ॥२१॥
आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः। प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन माम् ।२२।
लक्ष्मणं चानुजानीहि सीता चान्वेतु मां वनम्। कारणैर्बहुभिस्तथ्यैर्वार्यमाणौ न चेच्छतः ॥२३॥
अनुजानीहि सर्वान्नः शोकमुत्सृज्य मानद। लक्ष्मणं मां च सीतां च प्रजापतिरिवात्मजान् ।२४।
प्रतीक्षमाणमव्यग्रमनुज्ञां जगतीपतेः। उवाच राजा संप्रेक्ष्य वनवासाय राघवम् ॥२५॥
अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः। अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम् ।२६।
एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतांवरः। प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः ॥२७॥
भवान्वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः। अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य काङ्क्षिता ।२८।
नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहृत्य ते। पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप ॥२९॥

रामको देखकर बड़े वेगसे राजा उनकी ओर चले, पर उन तक न पहुँचकर दुःखी राजा बीचमें ही गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये ॥१७॥ शीघ्र ही राम और महारथ लक्ष्मण राजाके समीप गये। राजा दुःखके कारण बेहोश थे और शोकसे युक्त थे ॥१८॥ भूषणध्वनिके साथ हजारों स्त्रियोंका "हा राम" यह शब्द राजभवनमें गूँज उठा ॥१९॥ राम और लक्ष्मण दोनोंने राजाको उठाकर पलँगपर रख दिया, सीताने भी उन लोगोंको इस काममें सहायता दी, वे उस समय रोरहे थे ॥२०॥ शोकसमुद्रमें डूबे हुए राजाको होश हुआ, उस समय रामचन्द्र हाथ जोड़कर बोले ॥२१॥ महाराज, मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ, क्योंकि आप हम सब लोगोंके स्वामी हैं, हम दण्डकारण्य जारहे हैं, आप प्रसन्न होकर हमको देखिए ॥२२॥ लक्ष्मणको भी जानेकी आज्ञा दीजिए, सीता भी मेरे साथ जाय, मैंने इनको बहुत तरहसे रोका पर ये न मानें, ये लोग भी जाना चाहते हैं ॥२३॥ मानद, शोक दूर कीजिए और हमलोगोंको जानेकी आज्ञा दीजिए, लक्ष्मणको, सीताको और मुझे आज्ञा दीजिए, जिस प्रकार प्रजापति अपने पुत्रोंको आज्ञा देते हैं ॥२४॥ सदा अव्याकुल रहनेवाले रामचन्द्र वनवासके लिए राजाकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते थे, उस समय राजा बोले ॥२५॥ वरदानके द्वारा केकयीने मुझे मोहित कर लिया है, मैं अपने अधीन नहीं हूँ, अतएव राज्य करनेके अयोग्य हूँ, इस कारण मुझे कैद करके तुम्हीं अयोध्याके राजा बनो ॥२६॥ राजाके ऐसा कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ और बोलनेमें निपुण रामचन्द्र हाथ जोड़कर पितासे बोले ॥२७॥ महाराज हजारों वर्षतक आप पृथिवीका राज्य भोग करें, मैं तो वनमें जाकर रहूँगा, राज्य करनेको मेरी इच्छा नहीं है ॥२८॥ चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करके, प्रतिज्ञा पूरी होनेपर, पुनः आपके चरणोंके समीप

रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयुतः । कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो राजा तमब्रवीत् ॥३०॥
श्रेयसे वृद्धये तात पुनरागमनाय च । गच्छस्वारिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम् ॥३१॥
नहि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव । सन्निवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन ॥३२॥
अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा । एकाहं दर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम् ॥३३॥
मातरं मां च संपश्यन्वसेमामद्य शर्वरिम् । तर्पितः सर्वकामैस्त्वं श्वः काल्ये साधयिष्यसि॥३४॥
दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव प्रिय । त्वया हि मत्प्रियार्थं तु वनमेवमुपाश्रितम् ॥३५॥
न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव । छन्नया चलितस्त्वस्मि स्त्रिया भस्माग्निकल्पया॥३६॥
वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि। अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः ॥३७॥
न चैतदाश्चर्यतमं यत्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम । अपानृतकथं पुत्रं पितरं कर्तुमिच्छसि ॥३८॥
अथ रामस्तदा श्रुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम् । लक्ष्मणेन सह भ्राता दीनो वचनमब्रवीत् ॥३९॥
प्राप्स्यामि यानद्य गुणान्को मे श्वस्तान्प्रदास्यति । अपक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे ॥४०॥
इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला । मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥४१॥
वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽद्य चलिष्यति । यस्तु युद्धे वरो दत्तः कैकेय्यै वरद त्वया ॥४२॥

आऊँगा ॥२९॥ राजा दुःखी थे और रो रहे थे, पर सत्यपाशसे बँधे हुए थे, केकयी धीरेसे कह रही थी कि आज ही जाने क्यों नहीं देते, इन्हीं अवस्थाओंमें पड़कर राजादसरथ बोले ॥३०॥ पुत्र, कल्याणके लिए, वृद्धिके लिए तथा पुनः लौट आनेके लिए निर्भय तथा शत्रुशून्य मार्गसे सदानिश्चिन्त होकर तुम जाओ ॥३१॥ पुत्र, तुम स्वभावसे ही सत्यप्रेमी हो और धर्माभिमानी हो, तुम्हारा वनजानेका निश्चय बदला नहीं जा सकता ॥३२॥ पर आज तुम किसीभी प्रकार मत जाओ, जिससे एक दिन और एक रात तुमको देखकर मैं सुखसे समय बिता सकूँ ॥३३॥ माताको ओर और मेरी ओर देखकर आज एक रात तुम यहीं रह जाओ, आज रहकर और मेरे मनोरथोंको पूर्णकर कल प्रातःकाल ही चले जाना ॥३४॥ प्रिय पुत्र, राम, तुम दूसरेके द्वारा न होनेवाला बड़ा ही दुष्कर काम कर रहे हो, जो तुमने मेरे लिए वन जाना निश्चित किया है ॥३५॥ पुत्र, मैं सत्यकी शपथ करके कहता हूँ कि तुम्हारा यह वन जाना मुझे प्रिय नहीं है, पर राखमें अग्निके समान छिपी स्त्रीके कारण मैं विचलित होगया हूँ ॥३६॥ कुलोचित आचारको नष्ट करनेवाली इस केकयीके कहनेमें पड़कर मुझे धोखा हुआ और उसका फल तुम्हें भोगना पड़ रहा है, तुम मेरी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिए वन जा रहे हो ॥३७॥ इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है, क्योंकि तुम मेरे बड़े पुत्र हो, इसकारण तुम अपने पिताको सत्यवादी बनाना चाहते हो ॥३८॥ रामचन्द्र दुखी पिताके वचन सुनकर भाई लक्ष्मणके साथ दीनतापूर्वक बोले ॥३९॥ इस समय जानेसे मुझे जो लाभ होंगे वे लाभ मुझे कल कौन देगा, यहाँसे शीघ्र चला जाना ही मैं अपने अन्य सुखोंकी अपेक्षा उत्तम समझता हूँ ॥४०॥ राष्ट्र मनुष्य तथा धन-धान्य आदि सबका मैंने त्याग किया, अब आप यह सब भरतको दे दें ॥४१॥ वनवासके सम्बन्धमें जो मेरा निश्चय है वह अब बदल नहीं सकता, क्योंकि वरद,

दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव । अहं निदेशं भवतो यथोक्तमनुपालयन् ॥४३॥
चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह । मा विमर्शो वसुमती भरताय प्रदीयताम् ॥४४॥
नहि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि वा प्रियम् । यथानिदेशं कर्तुं वै तवैव रघुनन्दन ॥४५॥
अपगच्छतु ते दुःखं मा भूर्बाष्पपरिप्लुतः । नहि क्षुभ्यति दुर्धर्षः समुद्रः सरितांपतिः ॥४६॥
नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम् । नैव सर्वानिमान्कामान्न स्वर्गं न च जीवितम् ॥४७॥
त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ । प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥४८॥
न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो । स शोकं धारयस्वेमं नहि मेऽस्ति विपर्ययः ॥४९॥
अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव । मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये ॥५०॥
मा चोत्कण्ठां कृथा देव वने रंस्यामहे वयम् । प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुनिनादिते ॥५१॥
पिता हि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम् । तस्माद्दैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः ॥५२॥
चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु नृपसत्तम । पुनर्द्रक्ष्यसि मां प्राप्तं संतापोऽयं विमुच्यताम् ॥५३॥
येन संस्तम्भनीयोऽयं सर्वो बाष्पकलो जनः । स त्वं पुरुषशार्दूल किमर्थं विक्रियां गतः ॥५४॥

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला मया विसृष्टा भरताय दीयताम् ।
अहं निदेशं भवतोऽनुपालयन्वनं गमिष्यामि चिराय सेवितुम् ॥५५॥

युद्धमें आपने केकयीको वर दिया है ॥४२॥ केकयीको जो-जो वर आपने दिये हैं, वे साङ्गोपाङ्ग पूरे हों, आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो, आपने जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार आपकी आज्ञाका पालन करता हुआ मैं ॥४३॥ चौदह वर्षोंतक वनमें वनचरोंके साथ निवास करूँगा । आप कुछ विचार न करें, यह पृथिवी भरतको दे दें ॥४४॥ मैं राज्य नहीं चाहता, सुखसे भी मुझे प्रेम नहीं है, केवल आपकी आज्ञाका विधिपूर्वक पालन करना ही मुझे अभीष्ट है ॥४५॥ आप अपना दुःख दूर कीजिए, अपना आँसू रोकिए, नदियोंका स्वामी समुद्र क्या कभी क्षुभित होता है ॥४६॥ मैं राज्य नहीं चाहता, सुख नहीं चाहता, पृथिवी नहीं चाहता, इन सब भोगोंको भी मैं नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता और न स्वयं जीवित रहना ही चाहता हूँ ॥४७॥ मैं आपको सत्यवादी देखना चाहता हूँ, झूठा नहीं । हे पुरुषश्रेष्ठ, मैं यह बात आपके सामने सत्य और धर्मकी शपथ करके कहता हूँ ॥४८॥ अतएव एक क्षण भी यहाँ रहना मेरे लिए उचित नहीं है, आप अपने शोकको रोकिए, मेरे निश्चयमें उलट-फेर नहीं होनेका ॥४९॥ केकयीने मुझे वन-जानेका आदेश दिया और मैंने ' जाता हूँ" कहकर उसको स्वीकार किया है, इस समय मैं उसी प्रतिज्ञाका पालन कर रहा हूँ ॥५०॥ आप किसी प्रकारकी चिन्ता न करें, वनमें हमलोग बड़े आनन्दसे रहेंगे, वहाँ बहुतसे सीधे मृगा होंगे तरह-तरहके पक्षियोंके शब्द सुन पड़ेंगे ॥५१॥ पिता देवताओंसे भी बढ़कर आराध्य देवता है, यही समझकर मैं पिताकी आज्ञाका पालन करने जा रहा हूँ ॥५२॥ राजश्रेष्ठ, चौदह-वर्षोंके बीतनेपर पुनः मैं यहाँ लौटकर आऊँगा, उस समय आप मुझे देखना । यह शोक छोड़िए ॥५३॥ ये सबलोग रो रहे हैं, आपको चाहिए था कि आप इन्हें समझाते, पर आप स्वयं बेतरह अधीर होगये हैं, यह क्यों ? ॥५४॥ नगर, राज्य, पृथिवी जिनका मैंने त्याग किया है वह सब आप भरतको दें,

मया विसृष्टां भरतो महीमिमां सशैलखण्डां सपुरोपकाननाम् ।
शिवासु सीमास्वनुशास्तु केवलं त्वया यदुक्तं नृपते तथास्तु तत् ॥५६॥
न मे तथा पार्थिव दीयते मनो महत्सु कामेषु न चात्मनः प्रिये ।
यथा निदेशे तव शिष्टसंमते व्यपैतु दुःखं तव मत्कृतेऽनघ ॥५७॥
तदद्य नैवानघ राज्यमव्ययं न सर्वकामान्वसुधां न मैथिलीम् ।
न चिन्तितं त्वामनृतेन योजयन्वृणीय सत्यं व्रतमस्तु ते तथा ॥५८॥
फलानि मूलानि च भक्षयन्वने गिरींश्च पश्यन्सरितः सरांसि च ।
वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः ॥५९॥
एवं स राजा व्यसनाभिपन्नस्तापेन दुःखेन च पीड्यमानः ।
आलिङ्ग्य पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो भूमिं गतो नैव विचेष्ट किंचित् ॥६०॥
देव्यः समस्ता रुरुदुः समेतास्तां वर्जयित्वा नरदेवपत्नीम् ।
रुदन्सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्च्छां हाहाकृतं तत्र बभूव सर्वम् ॥६१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥३४॥

बहुत दिनों तक वनमें रहकर मैं आपकी आज्ञाका पालन करने जा रहा हूँ ॥५५॥ मेरी छोड़ी, पर्वत नगर वन आदिसे युक्त, इस पृथिवीका निर्विवाद सीमातक भरत शासन करें। आपने जो कहा है, जो प्रतिज्ञा की है, वह इस प्रकार पूरी हो ॥५६॥ महाराज, शिष्टोंके द्वारा अनुमोदित आपकी आज्ञा-पालनमें जैसा मेरा मन लगता है, वैसा भोगकी ओर नहीं लगता, अतएव आप मेरे लिए कुछ दुःख न करें ॥५७॥ हे निष्पाप, इस समृद्ध राज्यके विविध भोग, पृथिवी और जानकी भी मेरी चिन्ताके विषय नहीं हैं, आपको असत्यवादी बनाकर मैं इन सबकी भी कामना नहीं करता, मैं चाहता हूँ कि आपका व्रत सत्य हो ॥५८॥ वनमें जाकर फल-मूल खाकर पर्वतों, नदियों और तालावोंको देखकर तथा वहाँके अद्भुत वृक्षोंको देखकर मैं सुखी होऊँगा, अब आप भी प्रसन्न हो जाँय ॥५९॥ संकटमें पड़े हुए तथा ताप और दुःखसे पीड़ित राजाने पुत्र रामचन्द्रका आलिङ्गन किया और बेहोश होकर पृथिवीपर गिर पड़े। वे बिलकुल चेष्टाहीन होगये ॥६०॥ केकयीको छोड़कर और सब स्त्रियाँ कौसल्याके पास जाकर रोने लगीं, रोते-रोते सुमन्त्र भी मूर्छित होगये, वहाँ सर्वत्र हा-हाकार मच गया ॥६१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३४॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः ३५

ततो निर्धूय सहसा शिरो निश्वस्य चासकृत् । पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य दन्तान्कटकटाय्य च॥ १ ॥
लोचने कोपसंरक्ते वर्णं पुर्वोचितं जहत् । कोपाभिभूतः सहसा संतापमशुभं गतः ॥ २ ॥
मनः समीक्षमाणश्च सूतो दशरथस्य च । कम्पयन्निव कैकेय्या हृदयं वाक्शरैः शितैः ॥ ३ ॥
वाक्यवज्रैरनुपमैर्निर्भिन्दन्निव चाशुभैः । कैकय्याः सर्वमर्माणि सुमन्त्रः प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥
यस्यास्तव पतिस्त्यक्तो राजा दशरथः स्वयम् । भर्ता सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥ ५ ॥
नह्यकार्यतमं किंचित्तव देवीह विद्यते । पतिघ्नीं त्वामहं मन्ये कुलघ्नी मपि चान्ततः ॥ ६ ॥
यन्महेन्द्रमिवाजय्यं दुष्प्रकम्प्यमिवाचलम् । महोदधिमिवाक्षोभ्यं संतापयसि कर्मभिः ॥ ७ ॥
मावमंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम् । भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते॥ ८ ॥
यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये । इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिंस्तं लोपयितुमिच्छसि ॥ ९ ॥
राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम् । वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति ॥१०॥
न च ते विषये कश्चिद्ब्राह्मणो वस्तुमर्हति । तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि ॥११॥
नूनं सर्वे गमिष्यामो मार्गं रामेनिषेवितम् । त्यक्ता या बान्धवैःसर्वैर्ब्राह्मणैःसाधुभिःसदा॥१२॥
का प्रीती राज्यलाभेन तव देवि भविष्यति । तादृशं त्वममर्यादं कर्म कर्तुं चिकीर्षसि ॥१३॥

तदन्तर जोरसे सिर घुमाकर, कई बार साँस लेकर, हाथ-से-हाथ मलकर, दाँत कटकटाकर, ॥१॥ क्रोधसे लाल आँखें बनाकर अपनी अवस्था भूलकर, अधिक क्रोध होनेके कारण भयानक दुःख भोगते हुए ॥२॥ दसरथका अभिप्राय समझकर तीक्ष्ण अपने वचनरूपी बाणसे केकयीका हृदय कँपाते हुए ॥३॥ और केकयीके मर्म स्थानोंको अपने अनुपम वाक्य-वज्रोंसे छेदते हुए सुमन्त्र बोले ॥४॥ जिस तुमने अपने पति राजा दसरथका त्याग किया, जो स्थावर, जंगम समस्त जगत्के स्वामी हैं ॥५॥ देवि, इससे मालूम होता है कि तुम्हारे लिए अकार्य कुछ भी नहीं है, मैं तुमको पतिघातिनी और कुलघातिनी समझता हूँ ॥६॥ जो इन्द्रके समान अजेय हैं, पर्वतके समान अप्रकम्प्य हैं, तथा समुद्रके समान अक्षोभ्य हैं उन राजा दसरथको तू अपने कर्मोंसे दुःखी बना रही है ॥७॥ राजा दसरथका तिरस्कार मत करो, वे तुम्हारे पति हैं, रक्षक हैं और वरदाता हैं। पतिकी इच्छाके अनुसार चलना करोड़ पुत्रोंकी इच्छाके अनुसार चलनेसे बढ़कर है ॥८॥ एक राजाके न रहनेपर जिस क्रमसे इस इक्ष्वाकुकुलमें राज्य पानेकी व्यवस्था है, तुम उस व्यवस्थाका लोप करना चाहती हो ॥९॥ तेरा पुत्र भरत ही राजा हो और वही पृथिवीका पालन करे, हमलोग वहाँ चले जाँयगे, जहाँ राम जा रहे हैं ॥१०॥ जैसा निन्दित काम तू आज कर रही है उससे कोई भी ब्राह्मण तेरे राज्यमें न रहेगा ॥११॥ निश्चय हमलोग भी जिस रास्तेसे राम जाँयगे उसी रास्ते चले जाँयगे, इस प्रकार बान्धवोंसे, सब ब्राह्मणोंसे और साधुओंसे ॥१२॥ त्यक्त यदि तुम्हें राज्य भी मिले तो उससे क्या लाभ ? तुमने आज ऐसा ही निन्दित काम करना विचारा है

आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम् । आचरन्त्या न विदृता सद्यो भवति मेदिनी ॥१४॥
महाब्रह्मर्षिसृष्टा वा ज्वलन्तो भीमदर्शनाः ।धिग्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रवाजने स्थिताम्॥१५॥
आम्रं छित्त्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत्तु कः । यश्चैनं पयसा सिञ्चेनैवास्य मधुरो भवेत् ॥१६॥
आभिजात्यं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च । न हि निम्बात्स्रवेत्क्षौद्रं लोके निगदितं वचः ॥१७॥
तव मातुरसद्ग्राहं विद्म पूर्वं यथा श्रुतम् । पितुस्ते वरदः कश्चिद्ददौ वरमनुत्तमम् ॥१८॥
सर्वभूतरुतं तस्मात्संजज्ञे वसुधाधिपः । तेन तिर्यग्गतानां च भूतानां विदितं वचः ॥१९॥
ततो जृम्भस्य शयने विरुताद्भूरिवर्चसः । पितुस्ते विदितो भावः स तत्र बहुधाहसत् ॥२०॥
तत्र ते जननी क्रुद्धा मृत्युपाशमभीप्सती । हासं ते नृपते सौम्य जिज्ञासामीति चाब्रवीत् ॥२१॥
नृपश्चोवाच तां देवीं हासं शंसामि ते यदि । ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति न संसयः ॥२२॥
माता ते पितरं देवी पुनः केकयमब्रवीत् । शंस मे जीव वा मा वा न मां त्वं प्रहस्यसि ॥२३॥
प्रियया च तथोक्तः स केकयः पृथिवीपतिः । तस्मै तं वरदायार्थं कथयामास तत्त्वतः ॥२४॥
ततः स वरदः साधू राजानं प्रत्यभाषत । म्रियतां ध्वंसतां वेयं मा शंसीस्त्वं महीपते ॥२५॥
स तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रसन्नमनसो नृपः । मातरं ते निरस्याशु विजहार कुबेरवत् ॥२६॥

॥१३॥ मुझे आश्चर्य हो रहा है कि तुम्हारे ऐसा बुरा काम करनेपर भी पृथिवी नहीं फटती ॥१४॥ वसिष्ठ आदि महाब्रह्मर्षियोंके द्वारा उत्पादित जलते हुए और देखनेमें भयानक वाग्दण्ड रामचन्द्रको वन भेजनेके लिए तुली बैठी हुई तुमपर नहीं पड़ता ॥१५॥ आमको कुठारसे काटकर नीमकी सेवा कौन करता है, नीम यदि दूधसे भी सींची जाय तो क्या वह मीठी हो सकती है ॥१६॥ जैसी तेरी माताकी कुलीनता है (श्रेष्ठकुलमें उत्पत्तिसूचक उत्तम व्यवहार) वैसी ही तेरी भी है, नीमसे मधु नहीं चूता यह लौकिक कहावत बिलकुल ठीक है ॥१७॥ तेरी माताकी जिद्दकी बात हमलोग पहले ही सुन चुके हैं । तेरे पिताको किसी वरदेनेवालेने बड़ा ही उत्तम वर दिया था ॥१८॥ जिससे राजा सब प्राणियोंकी बोली समझलेने लगे, इससे पक्षियोंकी भी बोली वे समझने लगे ॥१९॥ तुम्हारे पिताने अपने पलँगके पास सुवर्णके रंगवाली चींटीकी बात समझ ली और इससे वे कई बार हँसे ॥२०॥ इससे तुम्हारी माताको बड़ा क्रोध आया, क्योंकि वह अपनी मृत्यु चाहती थी, अतएव वह बोली—राजन , आपके हँसनेका कारण मैं जानना चाहती हूँ ॥२१॥ राजाने कहा कि यदि मैं तुम्हें अपने हँसनेका कारण बता दूँगा तो इससे शीघ्र मेरी मृत्यु होजायगी, इसमें सन्देह नहीं ॥२२॥ तेरी माताने तेरे पिता केकयसे कहा कि चाहे तुम मरो या जीओ, पर तुम मुझपर हँस नहीं सकते ॥२३॥ अपनी प्रियाकी ऐसी बातें सुनकर राजा केकयने सब बातें उस वरदेनेवालेसे कही ॥२४॥ उस वरदाता साधुने राजा केकयसे कहा—रानी मरे चाहे नष्ट होजाय पर तुम अपने हँसनेका कारण उससे मत कहो ॥२५॥ वरदाताकी बातें सुनकर तुम्हारे पिता प्रसन्न होगये और उन्होंने तुम्हारी माताको दुतकार दिया तथा वे स्वयं कुबेरके समान यत्र-तत्र विहार करने लगे ॥२६॥

तथा त्वमपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि । असद्ग्राहमिमं मोहात्कुरुषे पापदर्शिनी ॥२७॥
सत्यश्चात्र प्रवादोयं लौकिकः प्रतिभाति मा । पितॄन्समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः ॥२८॥
नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः । भर्तुरिच्छामुपास्येह जनस्यास्य गतिर्भव ॥२९॥
मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम् । भर्तारं लोकभर्तारमसद्धर्ममुपादध ॥३०॥
नहि मिथ्याप्रतिज्ञातं करिष्यति तवानघः । श्रीमान्दशरथो राजा देवि राजीवलोचनः ॥३१॥
ज्येष्ठो वदान्यः कर्मण्यः स्वधर्मस्यापि रक्षिता । रक्षिता जीवलोकस्य बली रामोऽभिषिच्यताम्।३२।
परिवादो हि ते देवि महाँल्लोके चरिष्यति । यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम् ॥३३॥
स्वराज्यं राघवः पातु भव त्वं विगतज्वरा । न हि ते राघवादन्यः क्षमः पुरवरे वसन् ॥३४॥
रामे हि यौवराज्यस्थे राजा दशरथो वनम् । प्रवेदयति महेष्वासः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥३५॥
इति सान्त्वैश्च तीक्ष्णैश्च कैकेयीं राजसंसदि । भूयः संक्षोभयामास सुमन्त्रस्तु कृताञ्जलिः ॥३६॥
नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते । न चास्या मुखवर्णस्य लक्ष्यते विक्रिया तदा ॥३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इसीसे तुमने भी दुर्जनोंके मार्गमें पैर दिया है, पापिनी तू राजाको मोहित कर उनके द्वारा निन्दित काम करा रही है ॥२७॥ यह लोकोक्ति मुझे बिलकुल ठीक मालूम पड़ती है कि पुत्र पिताके समान होते हैं, और लड़कियाँ माताके समान ।२८। तुम ऐसा न होओ, राजा जो कहते हैं उसी प्रकार पतिकी इच्छाके अनुसार चलकर उनकी रक्षा करो अथवा इस प्रजावर्गकी रक्षा करो ॥२९॥ पापोंसे प्रोत्साहित होकर लोकपाल तथा इन्द्रतुल्य अपने पतिको निन्दित धर्मपर मत ले चलो ॥३०॥ राजा दसरथने तुम्हारे सामने जो प्रतिज्ञा की है उसका त्याग वे कभी न करेंगे। रामचन्द्रके वन भेजनेकी प्रतिज्ञा बिना तुम्हारे कहे राजा नहीं पलटेंगे ॥३१॥ तुम राजासे कहो कि दाता कर्म करनेमें निपुण, अपने धर्म तथा प्रजाकी रक्षा करनेवाले बली रामचन्द्रका अभिषेक करो ॥३२॥ यदि पिताको छोड़कर रामचन्द्र वन चले जाँयगे, देवि, उस समय तुम्हरी बड़ी निन्दा फैलेगी ॥३३॥ रामचन्द्र राज्य पावें और तुम्हारी भी निन्दा दूर हो, रामचन्द्रके अतिरिक्त इस नगरमें रहकर दूसरा (भरत) राजा नहीं हो सकता (क्योंकि भरत छोटे हैं) ॥३४॥ जब रामचन्द्र युवराज हो जाँय तब महाधनुर्धारी राजा दसरथ वनमें चले जाँय, क्योंकि इस कुलकी यही रीति है ॥३५॥ इस प्रकार राजसभामें सुमन्त्रने हाथ जोड़कर तीखे और कोमल वचनोंसे केकयीको दुःखित किया ॥३६॥ पर वह देवी कुछ भी विचलित न हुई, उसके चेहरेपर कोई भी विकार दिखाई न पड़ा ॥३७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३५॥

षट्त्रिंशः सर्गः ३६

ततः सुमन्त्रमैक्ष्वाकः पीडितोऽत्र प्रतिज्ञया । सबाष्पमतिनिःश्वस्य जगादेदं पुनर्वचः ॥ १ ॥
सूत रत्नसंपूर्णा चतुर्विधबला चमूः । राघवस्यानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम् ॥ २ ॥
रूपाजीवाश्च वादिन्यो वणिजश्च महाधनाः । शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीः सुप्रसारिताः ॥ ३ ॥
ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः । तेषां बहुविधं दत्त्वा तानप्यत्र नियोजय ॥ ४ ॥
आयुधानि च मुख्यानि नागराः शकटानिच । अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्चारण्यकोविदाः ॥५॥
निघ्नन्मृगान्कुञ्जरांश्च पिबंश्चारण्यकं मधु । नदीश्च विविधाः पश्यन्न राज्यं संस्मरिष्यति ॥ ६ ॥
धान्यकोशश्च यः कश्चिद्धनकोशश्च मामकः । तौ राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने वने ॥ ७ ॥
यजन्पुण्येषु देशेषु विसृजंश्चाप्तदक्षिणाः । ऋषिभिश्चापि संगम्य प्रवत्स्यति सुखं वने ॥ ८ ॥
भरतश्च महाबाहुरयोध्यां पालयिष्यति । सर्वकामैः पुनः श्रीमान्रामः संसाध्यतामिति ॥ ९ ॥
एवं ब्रुवति काकुत्स्थे कैकेय्या भयमागतम् । मुखं चाप्यगमच्छोषं स्वरश्चापि व्यरुध्यत ॥१०॥
सा विषण्णा च संत्रस्ता मुखेन परिशुष्यता । राजानमेवाभिमुखी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥११॥
राज्यं गतधनं साधो पीतमण्डां सुरामिव । निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते ॥१२॥
कैकेय्यां मुक्तलज्जायां वदन्त्यामतिदारुणम् । राजा दशरथो वाक्यमुवाचायतलोचनाम् ॥१३॥

सुमन्त्रके ऐसा कहनेपर भी जब केकयीके भावमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ, तब अपनी प्रतिज्ञासे दुःखी राजा दसरथ रोते हुए निःश्वास लेकर सुमन्त्रसे ऐसा बोले ॥१॥ सूत, धनधान्यपूर्ण चतुरंगिणी सेना रामचन्द्रके साथ जानेके लिए शीघ्र तैयार कराओ ॥२॥ मधुर बोलनेवाली वेश्याएँ तथा धनी बनिएँ, बहुत दूरतक फैली हुई राजकुमारकी सेनाकी शोभा बढ़ावें ॥३॥ जो रामचन्द्रके अनुजीवी हैं तथा जिनके पराक्रमसे रामचन्द्र प्रसन्न हैं उनसबको बहुत धन देकर रामचन्द्रके साथ जानेकी आज्ञा दो ॥४॥ उत्तम अस्त्र, शस्त्र, नगरवासी, अन्न ढोनेकी गाड़ी तथा वनसे परिचित व्याध, रामचन्द्रके साथ जाँय ॥५॥ रामचन्द्र वहाँ मृगाओं तथा हाथियोंको मारेंगे, जंगली मधु पीवेंगे और बहुतसी नदियोंको देखेंगे, इसप्रकार वे इस राज्यको स्मरण न कर सकेंगे, अर्थात् उन्हें नगरके स्मरणसे दुःख न होगा ॥६॥ अन्न और धनका मेरा जो भाण्डार है वह निर्जन वनमें रहनेवाले रामचन्द्रके साथ जाय ॥७॥ इस प्रकार तीर्थ-स्थानोंमें पूजा करनेसे, ब्राह्मणोंको दक्षिणा देनेसे और ऋषियोंकी संगति करनेसे रामचन्द्र सुखपूर्वक वनका प्रवास कर सकेंगे ॥८॥ महाबाहु भरत (सूनी) अयोध्याका पालन करेंगे । तुम सब आवश्यक सामग्रियोंके साथ रामचन्द्रको विदा करो ॥९॥ दसरथके ऐसा कहनेपर केकयी डर गयी उसका मुँह सूख गया और बोली भी रुकने लगी ॥१०॥ वह केकयी दुःखित होकर तथा डरकर सूखते हुए मुँहसे राजाके सामने ही बोली ॥११॥ जब इस राज्यका धन और जन चले जायँगे तब तो यह राज्य फीका अतएव सार निकले हुए मद्यके समान भोग्यके अयोग्य हो जायगा, भरत ऐसा राज्य न लेगा ॥१२॥ लज्जा छोड़कर केकयीने जब इस प्रकार कठोर वचन कहा तब दसरथ उस विशालाक्षीसे ऐसा

वहन्तं किं तुदसि मां नियुज्य धुरि माऽहिते । अनार्ये कृत्यमारब्धं किं न पूर्वमुपारुधः ॥१४॥
तस्यैतत्क्रोधसंयुक्तमुक्तं श्रुत्वा वराङ्गना । कैकेयी द्विगुणं क्रुद्धा राजानमिदमब्रवीत् ॥१५॥
तवैव वंशे सगरो ज्येष्ठपुत्रमुपारुधत् । असमञ्ज इति ख्यातं तथायं गन्तुमर्हति ॥१६॥
एवमुक्तो धिगित्येव राजा दशरथोऽब्रवीत् । व्रीडितश्च जनः सर्वः सा च तन्नावबुध्यत ॥१७॥
तत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः । शुचिर्बहुमतो राज्ञः कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥१८॥
असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान् । सरय्वां प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः ॥१९॥
तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजानमब्रुवन् । असमञ्जं वृणीष्वैकमस्मान्वा राष्ट्रवर्धन ॥२०॥
तानुवाच ततो राजा किं निमित्तमिदं भयम् । ताश्चापि राज्ञा संपृष्टा वाक्यं प्रकृतयोऽब्रुवन् ॥२१॥
क्रीडतस्त्वेष नः पुत्रान्बालानुद्भ्रान्तचेतसः । सरय्वां प्रक्षिपन्मौर्ख्यादतुलां प्रीतिमश्नुते ॥२२॥
स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनां नराधिपः । तं तत्याजाहितं पुत्रं तासां प्रियचिकीर्षया ॥२३॥
तं यानं शीघ्रमारोप्य सभार्यं सपरिच्छदम् । यावज्जीवं विवास्योऽयमिति तानन्वशात्पिता॥२४॥
स फालपिटकं गृह्य गिरिदुर्गाण्यलोकयत् । दिशः सर्वास्त्वनुचरन्स यथा पापकर्मकृत् ॥२५॥

बोले ॥१३॥ अहितकारिणी, तुमने मुझे वरके द्वारा भार ढोनेके लिए नियुक्त किया, इच्छाके विरुद्ध काम कराया, मैं भार ढो रहा हूँ अर्थात रामको वन भेज रहा हूँ और भरत को राज्य दे रहा हूँ, फिर तुम मुझे क्यों दुःखित करती हो ? अनार्ये, अब तुमने यह कौन काम प्रारम्भ किया है, रामचन्द्रके साथ धन सेना आदि न जाने देनेकी तुम्हारी इच्छा अन्याय है, क्योंकि वरदानके समय तुमने इसकी कोई जिक्र नहीं की। तुमने अकेले रामचन्द्रको वनमें जानेका वर नहीं माँगा है ॥१४॥ राजाका क्रोधयुक्त यह वचन सुनकर केकयी दूनी क्रोधित हुई और वह राजासे बोली ॥१५॥ तुम्हारे ही कुलमें राजा सगरने अपने ज्येष्ठ पुत्र असमंजको राजच्युत किया था, रामचन्द्र भी असमंजके समान ही वन जाँय ॥१६॥ केकयीके ऐसा कहनेपर राजा दसरथने उसे धिक्कार दिया, वहाँके लोग लज्जित हुए, केकयीकी समझमें कुछ भी न आया, उसने नहीं समझा कि राम और असमंजकी तुलना करके मैंने कैसी मूर्खता की है ॥१७॥ वहाँ एक बूढ़े बड़े पवित्र आचरणवाले प्रधान दीवान उपस्थित थे, उनका नाम सिद्धार्थ था, वे केकयीसे बोले ॥१८॥ रास्तेमें खेलते हुए लड़कोंको पकड़कर असमंज सरयूमें फेंक देता था और वह मूर्ख इससे प्रसन्न होता था ॥१९॥ इससे नगरवासी बहुत क्रुद्ध हुए और वे जाकर राजासे बोले कि महाराज, या तो आप एक असमंजको लेकर रहिए या हमलोगोंको ॥२०॥ राजाने उन लोगोंसे कहा कि तुमलोगोंको किस कारण ऐसा भय हुआ है। राजाके द्वारा पूछे जानेपर प्रजाके लोग इस तरह बोले ॥२१॥ हमलोगोंके छोटे-छोटे अज्ञान बालकोंको वह पकड़कर सरयूमें फेंकता है और मूर्खतावश इसीसे प्रसन्न होता है ॥२२॥ प्रजाकी यह बात सुनकर उस राजाने प्रजाके कल्याणके लिए अपने अहितकारी पुत्रका त्याग किया ॥२३॥ स्त्री तथा नौकर-चाकरोंके साथ असमंजको रथपर चढ़ाकर यावज्जीवनके लिए पिताने निर्वासनकी आज्ञा दी ॥२४॥ कुदारी और खाँची लेकर सब दिशाओंमें घूमते हुए पापी असमंजने पर्वतोंको देखा, अर्थात

इत्येनमत्यजद्राजा सगरो वै सुधार्मिकः। रामः किमकरोत्पापं येनैवमुपरुध्यते ॥२६॥
नहि कंचन पश्यामो राघवस्यागुणं वयम्। दुर्लभो ह्यस्य निरयः शशाङ्कस्येव कल्मषम् ॥२७॥
अथवा देवि त्वं कंचिद्दोषं पश्यसि राघवे। तमद्य ब्रूहि तत्त्वेन तदा रामो विवास्यते ॥२८॥
अदुष्टस्य हि संत्यागः सत्पथे निरतस्य च। निर्दहेदपि शक्रस्य द्युतिं धर्मविरोधवान् ॥२९॥
तदलं देवि रामस्य श्रिया विहतया त्वया। लोकतोऽपि हि ते रक्ष्यः परिवादः शुभानने ॥३०॥
श्रुत्वा तु सिद्धार्थवचो राजा श्रान्ततरस्वरः। शोकोपहतया वाचा कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥३१॥

एतद्वचो नेच्छसि पापरूपे हितं न जानासि ममात्मनोऽथवा।
आस्थाय मार्गं कृपणं कुचेष्टा चेष्टा हि ते साधुपथादपेता ॥३२॥
अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं राज्यं परित्यज्य सुखं धनं च।
सर्वे च राज्ञा भरतेन च त्वं यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम् ॥३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः ३७

महमात्रवचः श्रुत्वा रामो दशरथं तदा। अभ्यभाषत वाक्यं तु विनयज्ञो विनीतवत् ॥ १ ॥

रहनेके लिए पर्वतपर गया ॥२५॥ इस पापके कारणसे धार्मिक राजा सगरने असमंजका त्याग किया था, रामचन्द्रने कौनसा पाप किया है जो ये वन भेजे जा रहे हैं ॥२६॥ हमलोग तो रामचन्द्रका—कोई दुर्गुण नहीं देखते, जिस प्रकार चन्द्रमामें कलङ्क नहीं होता, उसी प्रकार इनमें किसी प्रकारका दोष नहीं है ॥२७॥ देवि, यदि तुम्हारी दृष्टिमें रामचन्द्रका कोई दोष हो तो कहो, जिससे हमलोग रामचन्द्रको निर्वासित करें ॥२८॥ जो पापी नहीं है, जो धर्ममार्गपर चल रहा है उसका त्याग करनेसे इन्द्रकी भी लक्ष्मी नष्ट हो जाती है, क्योंकि यह काम धर्मविरोधी है ॥२९॥ देवि, फिर व्यर्थ रामचन्द्रका राज्याभिषेक तुम क्यों रोक रही हो, संसारकी निन्दासे भी तो तुम्हें अपनी रक्षा करनी है ॥३०॥ सिद्धार्थके वचन सुनकर क्षीणस्वरसे शोकयुक्त वाणीसे राजा दसरथ केकयीसे बोले ॥३१॥ पापिन, यदि तुमने इन सिद्धार्थके वचनको न माना तो निश्चय तुम्हें अपने और मेरे हितका ध्यान नहीं है, ऐसा समझना होगा। तुम जिस बुरे मार्गपर पैर रखकर कुत्सित उद्योग कर रही हो वह सज्जनोचित नहीं है ॥३२॥ राज्य, सुख और धन छोड़कर मैं रामके साथ वन जाऊँगा, तुम सब लोग राजा भरतके साथ सुखपूर्वक बहुत दिनोंतक राज्य-भोग करो ॥३३॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३६ ॥

सिद्धार्थके वचन सुनकर विनीत रामचन्द्र विनयपूर्वक राजा दसरथसे बोले ॥१॥ मैंने तो भोगोंका त्याग कर दिया है, जंगली वस्तुओंसे ही मेरा निर्वाह हो जायगा, मैंने सब प्रकारकी अभिलाषाओंका त्याग

त्यक्तभोगस्य मे राजन्वने वन्येन जीवतः । किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः ॥ २ ॥
यो हि दत्वा द्विपश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः । रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम् ॥ ३ ॥
तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते । सर्वाण्येवानुजानामि चीराण्येवानयन्तु मे ॥ ४ ॥
खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छत । चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम ॥ ५ ॥
अथ चीराणि कैकेयि स्वयमाहृत्य राघवम् । उवाच परिधत्स्वेति जनौघे निरपत्रपा ॥ ६ ॥
स चीरे पुरुषव्याघ्रः कैकेय्याः प्रतिगृह्य ते । सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य मुनिवस्त्राण्यवस्त ह ॥ ७ ॥
लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे । तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः ॥ ८ ॥
अथात्मपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी । संप्रेक्ष्य चीरं संत्रस्ता पृषती वागुरामिव ॥ ९ ॥
सा व्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदुर्मनाः । कैकेय्याः कुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा ॥१०॥
अश्रुसंपूर्णनेत्रा च धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी । गन्धर्वराजप्रतिमं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥११॥
कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः । इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः ॥१२॥
कृत्वा कण्ठे स्म सा चीरमेकमादाय पाणिना । तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा ॥१३॥
तस्यास्तत्क्षिप्रमागत्य रामो धर्मभृतां वरः । चीरं बबन्ध सीतायाः कौशेयस्योपरि स्वमम् ॥१४॥
रामं प्रेक्ष्य तु सीताया बध्नन्तं चीरमुत्तमम् । अन्तःपुरचरा नार्यो मुमुचुर्वारि नेत्रजम् ॥१५॥

कर दिया, फिर मेरे साथ सेना आदि भेजनेकी कौन आवश्यकता है ॥२॥ जिसने सबसे बढ़िया हाथी दे दिया, उसे हाथी बाँधनेकी रस्सीके लिए क्या आग्रह हो सकता है। हाथी देनेवालेको रस्सीसे प्रेम कैसा? ॥३॥ अतएव सज्जनश्रेष्ठ, राजन् इस सेनाकी मुझे आवश्यकता नहीं, यह सब सेना आदि मैंने भरतको दिये। मेरे लिए आपलोग चीर (वल्कल वस्त्र) ले आवें ॥४॥ एक खनती और खाँची ले आओ, जाओ। चौदह वर्षोंतक मुझे वनमें रहनेके लिए ये चीजें ले आओ ॥५॥ उतने आदमियोंके बीचमें निर्लज्जा केकयी स्वयं चीर ले आयी और रामचन्द्रको देकर उसने कहा कि यह लो ॥६॥ पुरुषसिंह रामचन्द्रने केकयीसे वे वस्त्र ले लिये और अपने पतले वस्त्र उतारकर उन्होंने मुनियोंके वस्त्र धारण किये ॥७॥ लक्ष्मणने भी वहीं पिताके सामने ही अपने सुन्दर वस्त्र उतारकर मुनियोंके वस्त्र पहने ॥८॥ पीताम्बर पहननेवाली सीता अपने पहननेके वल्कल वस्त्रको देखकर डर गयीं, जिस प्रकार हरिनी जालको देखकर डर जाती है ॥९॥ शुभलक्षण जानकी केकयीसे वे वल्कल वस्त्र लेकर लज्जित और दुःखित हुई ॥१०॥ पातिव्रत्यधर्म जाननेवाली तथा उसका अनुष्ठान करनेवाली जानकीकी आँखोंमें आँसू भर आये, गन्धर्वराजके समान अपने पतिसे वह बोली ॥११॥ वनवासी मुनि किस प्रकार चीर पहनते हैं, चीर पहननेका ज्ञान न रखनेवाली सीता ठिठिक गयी ॥१२॥ एक चीरको उसने कन्धेपर रख लिया और दूसरेको हाथमें लेकर वह खड़ी ही रही। जानकी चीर पहनना नहीं जानती थी, इस कारण वह लज्जित हुई ॥१३॥ सीताकी ऐसी दशा देखकर धर्मात्मा-श्रेष्ठ रामचन्द्रजी आये और स्वयं उन्होंने पीताम्बरके ऊपर चीर बाँध दिया ॥१४॥ रामचन्द्र सीताका वल्कल वस्त्र पहना रहे हैं यह देखकर महलकी स्त्रियाँ रोने लगीं

ऊचुश्च परमायत्ता रामं ज्वलिततेजसम् । वत्स नैवं नियुक्तेयं वनवासे मनस्विनी ॥१६॥
पितुर्वाक्यानुरोधेन गतस्य विजनं वनम् । तावद्दर्शनमस्या नः सफलं भवतु प्रभो ॥१७॥
लक्ष्मणेन सहायेन वनं गच्छस्व पुत्रक । नेयमर्हति कल्याणी वस्तुं तापसवद्वने ॥१८॥
कुरु नो याचनां पुत्र सीता तिष्ठतु भामिनी । धर्मनित्यः स्वयं स्थातुं न हीदानीं त्वमिच्छसि ॥१९॥
तासामेवंविधा वाचः शृण्वन्दशरथात्मजः । बबन्धैव तथा चीरं सीतया तुल्यशीलया ॥२०॥
चीरे गृहीते तु तया सबाष्पो नृपतेर्गुरुः । निवार्य सीतां कैकेयीं वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥२१॥
अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि । वञ्चयित्वा तु राजानं न प्रमाणेऽवतिष्ठसि ॥२२॥
न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते । अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम् ॥२३॥
आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम् । आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥२४॥
अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण संगता । वयमत्रानुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति ॥२५॥
अन्तपालाश्च यास्यन्ति सदारो यत्र राघवः । सहोपजीव्यं राष्ट्रं च पुरं च सपरिच्छदम् ॥२६॥
भरतश्च सशत्रुघ्नश्चीरवासा वनेचरः । वने वसन्तं काकुत्स्थमनुवत्स्यति पूर्वजम् ॥२७॥
ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह । त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते स्थिता ॥२८॥
नहि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः । तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥२९॥

॥१५॥ और अति तेजस्वी रामचन्द्रसे खिन्न होकर वे स्त्रियाँ बोलीं—वत्स, जानकीके लिए वनवासकी आज्ञा नहीं है ॥१६॥ पिताकी आज्ञासे तुम वन जाते हो तो जाओ, हमलोग तब तक सीताको ही देखकर प्रसन्न होंगी ॥१७॥ लक्ष्मणको साथ लेकर तुम वन जाओ, वह विचारी तपस्वियोंके समान वनमें नहीं रह सकती ॥१८॥ यदि तुम धर्मको ही सर्वाधिक मानकर यहाँ रहना नहीं चाहते तो सीता यहाँ रहे, तुम हमलोगोंकी यह प्रार्थना मानो ॥१९॥ उन सबकी वैसी बातें सुनते हुए रामचन्द्रने सीताको चीर पहना दिये, क्योंकि सीता भी रामचन्द्रके समान ही वन जानेवाली थी ॥२०॥ सीताके चीर धारण करनेपर राजाके गुरु वसिष्ठकी आँखें जलसे भर आयीं, वे सीताको रोककर कैकयीसे बोले ॥२१॥ मूर्ख कुल-कलङ्किन, तू बहुत आगे बढ़ गयी है, मर्यादाको लाँघकर काम करना चाहती है। राजाको धोखा देकर उन्हें उचित रास्तेसे नहीं लेजा रही है ॥२२॥ दुःशीले, सीतादेवी वन न जायँगी, और यहीं रामचन्द्रके आनेतक उनके स्थानपर राज्य करेंगी ॥२३॥ गृहस्थोंकी स्त्रियाँ उनकी आत्मा हैं, सीता भी रामचन्द्रकी आत्मा हैं, यह पृथिवीका पालन करेंगी ॥२४॥ यदि सीता स्वयं रामचन्द्रके साथ वन जायगी तो हमलोग तथा समूचा नगर रामके साथ वन जायगा ॥२५॥ जहाँ सीताके साथ राम रहेंगे वहीं अन्तपाल (महलोंकी रक्षा करनेवाला अध्यक्ष) भी जायगा, वह समूचा नगर तथा राष्ट्र अपना धन-जन लेकर रामचन्द्रके साथ वन जायगा ॥२६॥ रामचन्द्रके वनमें रहनेके समय भरत और शत्रुघ्न भी चीर धारण करके वनवासी होंगे। वे अपने बड़े भाईका अनुसरण अवश्य करेंगे ॥२७॥ सबके चले जानेसे सूनी इस पृथिवीका शासन वृक्षोंके साथ तुम अकेली करना, तू प्रजाका अहित कर रही है ॥२८॥ जहाँके राजा

नह्यदत्तां महीं पित्रा भरतः शास्तुमिच्छति । त्वयि वा पुत्रवद्वस्तुं यदि जातो महीपतेः ॥३०॥
यद्यपि त्वं क्षितितलाद्गगनं चोत्पतिष्यसि । पितृवंशचरित्रज्ञः सोऽन्यथा न करिष्यति ॥३१॥
तत्त्वया पुत्रगर्धिन्या पुत्रस्य कृतमप्रियम् । लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः ॥३२॥
द्रक्ष्यस्यद्यैव कैकेयि पशुव्यालमृगद्विजान् । गच्छतः सह रामेण पादपाँश्च तदुन्मुखान् ॥३३॥

अथोत्तमान्याभरणानि देवि देहि स्नुषायै व्यपनीय चीरम् ।
न चीरमस्याः प्रविधीयतेति न्यवारयत्तद्वसनं वसिष्ठः ॥३४॥
एकस्य रामस्य वने निवासस्त्वया वृतः केकयराजपुत्रि ।
विभूषितेयं प्रतिकर्मनित्या वसत्वरण्ये सह राघवेण ॥३५॥
यानैश्च मुख्यैः परिचारकैश्च सुसंवृता गच्छतु राजपुत्री ।
वस्त्रैश्च सर्वैः सहितैर्विधानैर्नेयं वृता ते वरसंप्रदाने ॥३६॥
तस्मिंस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये गुरौ नृपस्याप्रतिमप्रभावे ।
नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा ॥३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥३७॥

रामचन्द्र न होंगे, वह राज्य न होगा, किन्तु वह वन ही राज्य होगा जहाँके राजा रामचन्द्र रहेंगे ॥२९॥ भरत पिताके बिना दिये इस पृथिवीका पालन न करेगा और न वह तुम्हारे पास तुम्हारा पुत्र बनकर ही रहेगा, क्योंकि वह राजा दसरथसे उत्पन्न हुआ है ॥३०॥ यदि तुम पृथिवीसे उड़कर आकाशमें भी चली जाओ, तौभी भरत कुलाचारके विरुद्ध न करेगा, क्योंकि वह अपना कुलाचार जानता है ॥३१॥ इस प्रकार पुत्रके कल्याणकी इच्छा रखनेवाली तुमने अपने पुत्रका अमङ्गल किया है, यहाँ कोई भी ऐसा नहीं है जो रामचन्द्रका अनुगामी न हो ॥३२॥ तुम आज ही देखोगी कि पशुपक्षी आदि रामचन्द्रके साथ जा रहे हैं और वृक्ष भी उनके साथ जानेको उत्सुक हैं ॥३३॥ देवि, अपनी बहू सीताको उत्तम वस्त्र और कपड़े दो, ये चीर लेलो । जानकीके पहनने योग्य चीर नहीं है, ऐसा कहकर उन्होंने चीर ले लिये ॥३४॥ केकयी तुमने केवल एक रामचन्द्रका ही वनवास वरमें माँगा है । रामचन्द्रकी सेवाके लिये जानकी जा रही हैं तो जाँय, पर वस्त्र आभूषणोंसे अलंकृत होकर जाँय और रामचन्द्रके साथ वनमें रहें ॥३५॥ राजपुत्री सीता उत्तम रथ तथा परिचारकोंके साथ वन जाँय, सब प्रकारके वस्त्रों तथा सामग्रियोंके साथ यह वन जाँय, क्योंकि तुमने "सीता चीर पहनकर वन जाय" ऐसा वर नहीं माँगा है ॥३६॥ विप्रश्रेष्ठ तथा अप्रतिम प्रभावशाली गुरु वसिष्ठके वैसा कहते रहनेपर भी सीताने अपना विचार नहीं बदला, क्योंकि वह अपने पतिके समान रहना चाहती थी, पति बल्कल वस्त्र धारण करें और वह उत्तम वस्त्र पहनें, यह कैसे हो सकता था ॥३९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३७॥

अष्टत्रिंशः सर्गः ३८

तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत् । प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक्त्वां दशरथं त्विति ॥ १ ॥
तेन तत्र प्रणादेन दुःखितः स महीपतिः । सनिःश्वस्योष्णमैक्ष्वाकस्तां भार्यामिदमब्रवीत् ॥२॥
सुकुमारी च बाला च सततं च सुखोचिता । नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम ॥ ३ ॥
इयं हि कस्यापि करोति किंचित्तपस्विनी राजवरस्य पुत्री ।
या चीरमासाद्य वनस्य मध्ये जाता विसंज्ञा श्रमणीव काचित् ॥ ४ ॥
चीराण्यपास्याज्जनकस्य कन्या नेयं प्रतिज्ञा मम दत्तपूर्वा ।
यथासुखं गच्छतु राजपुत्री वनं समग्रा सह सर्वरत्नैः ॥ ५ ॥
अजीवनार्हेण मया नृशंसा कृता प्रतिज्ञा नियमेन तावत् ।
त्वया हि बाल्यात्प्रतिपन्नमेतत्तन्मा दहेद्वेणुमिवात्मपुष्पम् ॥ ६ ॥
रामेण यदि ते पापे किंचित्कृतमशोभनम् । अपकारः क इह ते वैदेह्या दर्शितोऽधमे ॥ ७ ॥
मृगीवोत्फुल्लनयना मृदुशीला मनस्विनी । अपकारं कमिव ते करोति जनकात्मजा ॥ ८ ॥
ननु पर्याप्तमेवं ते पापे रामविवासनम् । किमेभिः कृपणैर्भूयः पातकैरपि ते कृतैः ॥ ६ ॥
प्रतिज्ञातं मया तावत्त्वयोक्तं देवि शृण्वता । रामं यदभिषेकाय त्वमिहागतमब्रवीः ॥१०॥
तत्त्वेतत्समतिक्रम्य निरयं गन्तुमिच्छसि । मैथिलीमपि या हि त्वमीक्षसे चीरवासिनीम् ॥११॥

अपने स्वामीके रहते भी अनाथिनीके समान सीताने चीर धारण किया, यह देखकर सबलोग रोने लगे तथा कहने लगे कि दसरथ तुमको धिक्कार है ! ॥१॥ इस ध्वनिको सुनकर राजा बहुत दुःखी हुए और उन्होंने अपनी स्त्री केकयीसे कहा ।२॥ सीता सुकुमार है, बालक है और सुखमें पली है, यह वन जानेके योग्य नहीं है, गुरु वसिष्ठने यह ठीक कहा है ॥३॥ इस विचारी राजपुत्रीने किसीका क्या बिगाड़ा है, जो चीर पहनाकर वनवासिनी तपस्विनीके समान बनायी जा रही है ।४॥ जनकराजकन्या चीर उतार दे, क्योंकि जानकीके चीर धारण करनेकी प्रतिज्ञा मैंने नहीं की है, सब सामग्रियों तथा रत्नोंको लेकर यह सुखपूर्वक जाय ॥५॥ जीवन धारण करनेके अयोग्य मैंने तुमसे पहले प्रतिज्ञा की और तुमने बाल्यावस्थासे ही यह वर सोच रखा था । जिस प्रकार बाँसका फूल बाँसको सुखा देता है उसी प्रकार वह प्रतिज्ञा ही मुझे जला रही है ॥६॥ पापिन, रामने तुम्हारा कुछ अपराध किया हो तो अधमे, इस सीताने तुम्हारा क्या अपकार किया है ॥७॥ मृगीके समान इसकी आँखें हैं, यह नम्रस्वभावकी है, मनस्विनी सीता भला तुम्हारा क्या अपकार कर सकती है ॥८॥ पापिन, रामचन्द्रको वनवास देना ही तेरेलिये बस है, फिर इन छोटे-छोटे पापोंके करनेसे तुम्हें क्या लाभ ॥९॥ अभिषेकके लिए रामचन्द्र जब मेरे पास आये, तब तुमने उन्हें चौदह वर्षके लिए वनजानेको कहा और वही सुनकर मैंने भी प्रतिज्ञा की ॥१०॥ अब तुम उस प्रतिज्ञासे आगे बढ़कर नरक जाना चाहती हो, इस समय तुम सीताको भी

एवं ब्रुवन्तं पितरं रामः संप्रस्थितो वनम् । अवाक्शिरसमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥१२॥
इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी । वृद्धा चाक्षुद्रशीला च न च त्वां देव गर्हते ॥१३॥
मया विहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम् । अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः संमन्तुमर्हसि ॥१४॥
इमां महेन्द्रोपमजातगर्धिनीं तथा विधातुं जननीं ममार्हसि ।
यथा वनस्थे मयि शोककर्शिता न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत् ॥१५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः ३९

रामस्य तु वचः श्रुत्वा मुनिवेषधरं च तम् । समीक्ष्य सह भार्याभी राजा विगतचेतनः ॥ १ ॥
नैनं दुःखेन संतप्तः प्रत्यवैक्षत राघवम् । न चैनमभिसंप्रेक्ष्य प्रत्यभाषत दुर्मनाः ॥ २ ॥
स मुहूर्तमिवासंज्ञो दुःखितश्च महीपतिः । विललाप महाबाहू राममेवानुचिन्तयन् ॥ ३ ॥
मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः । प्राणिनो हिंसिता वापि तन्मामिदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥
न त्वेवानागते काले देहाच्च्यवति जीवितम् । कैकेय्या क्लिश्यमानस्य मृत्युर्मम न विद्यते ॥ ५ ॥
योऽहं पावकसंकाशं पश्यामि पुरतः स्थितम् । विहाय वसने सूक्ष्मे तापसाच्छादमात्मजम् ॥ ६ ॥

चीर पहने देख रही हो ॥११॥ वनजानेके लिए तयार रामचन्द्र, ऐसा कहते हुए और सिर झुकाकर बैठे हुए पितासे बोले ॥१२॥ धार्मिक, यशस्विनी मेरी माता ये कौसल्या हैं, ये वृद्ध हैं महान चरित्रवाली हैं और आपकी निन्दा भी नहीं करती ॥१३॥ वरद, मेरे न रहनेपर ये बहुत ही दुःखित होंगी, इन्होंने ऐसा दुःख पहले देखा नहीं है, अतएव आप पुनः इनका सम्मान करें ॥१४॥ महेन्द्रोपम, मेरे वनमें रहनेपर इनका ध्यान सदा मुझे देखनेकी ओर लगा रहेगा, ये बहुत शोक करेंगी, अतएव ऐसा कीजियेगा जिससे मेरी माता जीवित रहें, मर न जाय ॥१५॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३८ ॥

रामकी बातें सुनकर तथा उन्हें स्त्रीके साथ यतिवेषमें देखकर राजा बेहोश होगये ॥१॥ दुःखसे सन्तप्त राजाने रामचन्द्रको ठीक-ठीक नहीं देखा और न थोड़ा देखकर इनसे वे बोल ही सके ॥२॥ दुःखित राजा थोड़ी देरके लिए बेहोश हो गये और रामके ही सम्बन्धकी बातें सोचते हुए वे विलाप करने लगे ॥३॥ मालूम होता है कि बहुतसी गौओंको मैंने बेबछड़ेवाली बनाया है, बहुतसे प्राणियोंको मारा भी है, जिसका फल आज यह मेरे सामने आया है ॥४॥ बिना समय आये किसी प्राणीकी मृत्यु नहीं होती है, अतएव केकयीके द्वारा इतना क्लेश पानेपर भी मेरी मृत्यु नहीं हो रही है ॥५॥ महीन वस्त्र छोड़कर तपस्वियोंके समान वस्त्र धारण किये अग्निके समान दीप्तिमान् अपने पुत्रको सामने देख

एकस्याः खलु कैकेय्याः कृतेऽयं खिद्यते जनः । स्वार्थे प्रयतमानायाः संश्रित्य निकृतिं त्विमाम् ॥ ७ ॥
एवमुक्त्वा तु वचनं बाष्पेण विहतेन्द्रियः । रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक सः ॥ ८ ॥
संज्ञां तु प्रतिलभ्यैव मुहूर्तात्स महीपतिः । नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥
औपवाह्यं रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयोत्तमैः । प्रापयैनं महाभागमितो जनपदात्परम् ॥१०॥
एवं मन्ये गुणवतां गुणानां फलमुच्यते । पित्रा मात्रा च यत्साधुर्वीरो निर्वास्यते वनम् ॥११॥
राज्ञो वचनमाज्ञाय सुमन्त्रः शीघ्रविक्रमः । योजयित्वा ययौ तत्र रथमश्वैरलंकृतम् ॥१२॥
तं रथं राजपुत्राय सूतः कनकभूषितम् । आचचक्षेऽञ्जलिं कृत्वा युक्तं परमवाजिभिः ॥१३॥
राजा सत्वरमाहूय व्यापृतं वित्तसंचये । उवाच देशकालज्ञो निश्चितं सर्वतः शुचिः ॥१४॥
वासांसि च वराहाणि भूषणानि महान्ति च । वर्षाण्येतानि संख्याय वैदेह्याः क्षिप्रमानय ॥१५॥
नरेन्द्रेणैवमुक्तस्तु गत्वा कोशगृहं ततः । प्रायच्छत्सर्वमाहृत्य सीतायै क्षिप्रमेव तत् ॥१६॥
सा सुजाता सुजातानि वैदेही प्रस्थिता वनम् । भूषयामास गात्राणि तैर्विचित्रैर्विभूषणैः ॥१७॥
व्यराजयत वैदेही वेश्म तत्सुविभूषिता । उद्यतोऽंशुमतः काले खं प्रभेव विवस्वतः ॥१८॥
तां भुजाभ्यां परिष्वज्य श्वश्रूर्वचनमब्रवीत् । अनाचरन्तीं कृपणं मूर्ध्न्युपाघ्राय मैथिलीम् ॥१९॥
असत्यः सर्वलोकेऽस्मिन्सततं सत्कृताः प्रियैः । भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातगतं स्त्रियः ॥२०॥

देख रहा हूँ, पर मरता नहीं ॥६॥ एक केकयीके लिए इतने लोगोंको कष्ट हो रहा है, इसने स्वार्थ-सिद्धिके लिए ऐसी शठता धारण की है ॥७॥ ऐसा कहनेपर दसरथकी आँखें आँसूसे ढँक गयीं, उन्होंने एकबार कहा "राम" इसके आगे वे बोल न सके ॥८॥ थोड़ी देरमें होशमें आकर आँसू भरी आँखोंसे उन्होंने सुमन्त्रसे कहा ॥९॥ उत्तम घोड़े जोतकर औपवाह्य (युद्धोपयोगी नहीं) रथ तुम ले आओ और महाभाग रामचन्द्रको नगरके बाहर पहुँचा आओ ॥१०॥ यह गुणवानोंके गुणका फल मिल रहा है, जो ये वीर और सज्जन राम माता-पिताके द्वारा वनमें निर्वासित किये जाते हैं ॥११॥ राजाके वचन सुनकर शीघ्र काम करने वाले सुमन्त्र घोड़े जोतकर वहाँ रथ ले आये ॥१२॥ हाथ जोड़कर उन्होंने राजपुत्र रामचन्द्रसे कहाकि सोना मढ़ा हुआ रथ, जिसमें उत्तम घोड़े जोते हुए हैं, खड़ा है ॥१३॥ किसीका ऋण न रखने और देशकाल जाननेवाले राजा दसरथ खजाँचीको बुलाकर उससे बोले ॥१४॥ जितने वर्ष वनमें रहना है उन वर्षोंको गिनकर उत्तम आभूषण और वस्त्र जानकीके लिए ले आओ अर्थात् चौदह वर्षके पहनने योग्य वस्त्र तथा भूषण ले आओ ॥१५॥ राजाके ऐसा कहनेपर खजाँची खजानेमें गया और सबकुछ शीघ्र लाकर उसने सीताको दिया ॥१६॥ उत्तम कुलमें उत्पन्न जानकीने उन विचित्र आभूषणोंसे अपने सुन्दर गात्रोंको भूषित किया ॥१७॥ गहनोंसे भूषित जानकीने उस घरको शोभित किया, जिस प्रकार उदय होते हुए सूर्यकी प्रभा आकाशको सुशोभित करती है ॥१८॥ उस उत्तम आचरणवाली सीताको दोनों हाथोंसे आलिंगन करके तथा उसका माथा सूँघकर सास बोली ॥१९॥ जो स्त्रियाँ पतिके द्वारा सब

एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम् । अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ॥२१॥
असत्यशीला विकृता दुर्गा अहृदयाः सदा । असत्यः पापसंकल्पाः क्षणमात्रविरागिणः ॥२२॥
न कुलं न कृतं विद्या न दत्तं नापि संग्रहः । स्त्रीणां गृह्णाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः ॥२३॥
साध्वीनां तु स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते । स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥२४॥
स त्वया नावगन्तव्यः पुत्रः प्रव्राजितो वनम् । तव देवसमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा ॥२५॥
विज्ञाय वचनं सीता तस्या धर्मार्थसंहितम् । कृत्वाञ्जलिमुवाचेदं श्वश्रूमभिमुखे स्थिता ॥२६॥
करिष्ये सर्वमेवाहमार्या यदनुशास्ति माम् । अभिज्ञास्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं श्रुतं च मे ॥२७॥
न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति । धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ॥२८॥
नातन्त्री विद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः । नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा ॥२९॥
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः । अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥३०॥
साहमेवंगता श्रेष्ठा श्रुतधर्मपरावरा । आर्ये किमवमन्येयं स्त्रिया भर्ता हि दैवतम् ॥३१॥

प्रकारसे आदर पानेपर भी उनकी गरीबीमें सेवा नहीं करतीं वे असती कही जाती हैं । २०॥ यह स्त्रियोंका स्वभाव होता है कि वे सब प्रकारके सुख पतिकी अच्छी अवस्थामें भोगती हैं, पर जब पति दरिद्र होजाता है या किसी आपत्तिमें फँसता है उस समय उस पर अनेक दोष देती हैं और उस पतिका परित्याग भी कर देती हैं । ११॥ ये असत्य बोलनेवाली विकार उत्पन्न करनेवाली और हृदयहीन होती हैं, इनका अभिप्राय मालूम नहीं होता, इनके हृदयमें पापके विचार उत्पन्न होते हैं, थोड़ीही देर में ये बदल जाती हैं, प्रेमीसे द्वेष करने लगती हैं, इस प्रकार स्त्रियाँ असती होती हैं ॥२२॥ वे उत्तम कुल, किये हुए उपकार, उपदेश, भूषण तथा उनके अपराधोंकी ओर ध्यान न देना आदिसे भी अनुकूल नहीं होतीं, उनके हृदयका पता नहीं लगता ॥२३॥ जो स्त्रियाँ सती हैं वे शीलवती और सत्यवादिनी होती हैं, बड़ोंके उपदेशमें उनका आदर होता है, वे कुल-मर्यादाका पालन करनेवाली होती हैं, ऐसी स्त्रियोंके लिए एक पति ही परम पवित्र है, सर्वश्रेष्ठ है ॥२४॥ मेरा पुत्र रामचन्द्र आज निर्वासित हुआ है, तुम उसका तिरस्कार न करना, चाहे वह धनी हो या निर्धन, तुम्हारे लिए देवता है ॥२५। धर्मार्थ युक्त सासकी बातें समझकर हाथ जोड़कर सीता सासके सामने बोली ॥२६॥ जो आपने उपदेश किया है, वह सब मैं करूँगी, पतिके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए यह मैं जानती हूँ, इस विषयका उपदेश मुझे मिला है ॥२७॥ आप असाध्वी स्त्रियोंके साथ मेरी तुलना न करें, मैं कभी भी धर्मसे विचलित न हो सकूँगी, जिस प्रकार प्रभा चन्द्रमासे कभी अलग नहीं होती ॥२८॥ जिस प्रकार बिना तारके वीणा नहीं होती है और न बिना पहियेका रथही होता है, उसी प्रकार स्त्रियाँ चाहे वे सौ पुत्रोंकी माताही क्यों न हों, बिना पतिके सुखी नहीं होतीं, पिता भाई पुत्र स्त्रियोंको जो सुख देते हैं, वह परिमित है, केवल इसी लोकके लिए है, पति ही अपरिमित सुखका देनेवाला है, पति ही इसलोक और परलोकमें सुख देता है, अतएव कौन स्त्री है जो पतिकी सेवा न करे ॥३०॥ मैंने अपने बड़ोंसे उत्तम और अधम स्त्रीधर्म जाना

सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयंगमम् । शुद्धसत्त्वा मुमोचाश्रु सहसा दुःखहर्षजम् ॥३२॥
तां प्राञ्जलिरभिप्रेक्ष्य मातृमध्येऽतिसत्कृताम् । रामः परमधर्मात्मा मातरं वाक्यमब्रवीत् ॥३३॥
अम्ब मा दुःखिता भूत्वा पश्येस्त्वं पितरं मम । क्षयोऽपि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति ॥३४॥
सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च । समग्रमिह संप्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम् ॥३५॥
एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा स जननीं वचः । त्रयःशतशतार्धा हि ददर्शावेक्ष्य मातरः ॥३६॥
ताश्चापि स तथैवार्ता मातॄर्दशरथात्मजः । धर्मयुक्तमिदं वाक्यं निजगाद कृताञ्जलिः ॥३७॥
संवासात्परुषं किंचिदज्ञानादपि यत्कृतम् । तन्मे समनुजानीत सर्वाश्चामन्त्रयामि वः ॥३८॥
वचनं राघवस्यैतद्धर्मयुक्तं समाहितम् । शुश्रुवुस्ताः स्त्रियः सर्वाः शोकोपहतचेतसः ॥३९॥
जज्ञेऽथ तासां संनादः क्रौञ्चीनामिव निःस्वनः । मानवेन्द्रस्य भार्याणामेवं वदति राघवे ॥४०॥

मुरजपणवमेघघोषवद्दशरथवेश्म बभूव यत्पुरा ।
विलपितपरिदेवनाकुलं व्यसनगतं तदभूत्सुदुःखितम् ॥४१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥३९॥

है, स्त्रियोंके देवता पति ही हैं, क्या मैं उन्हींका तिरस्कार करूँगी ॥३१॥ कौसल्याने सीताके ये मनोहर वचन सुने और शुद्धान्तःकरणवाली कौसल्याकी आँखोंसे दुःख और हर्षके आँसू बहने लगे ॥३२॥ माताओंमें सर्वश्रेष्ठ माता कौसल्याको देखकर परम धर्मात्मा रामचन्द्र हाथ जोड़कर बोले ॥३३॥ पिताके कारण मैं वन जा रहा हूँ—यह समझकर तुम दुःखित होकर पिताको न देखना, इनके प्रति बुरा भाव न रखना, क्योंकि वनवासका अन्त तो शीघ्र हो जायगा ॥३४॥ ये चौदह वर्ष तो तुम्हारे सोते-सोते बीत जायँगे, रातको सोनेके बाद जैसे प्रातःकाल होता है वैसे ही एक दिन सुनोगि कि मैं अपने मित्रोंके साथ आगया ॥३५॥ इस प्रकार कौसल्यासे यथार्थ बात कहकर अपनी अन्य साढ़े तीन सौ माताओंकी ओर रामचन्द्रने देखा ॥३६॥ दसरथपुत्र रामचन्द्र हाथजोड़ दुःखिनी उन माताओंसे भी धर्मयुक्त यह वचन बोले ॥३७॥ सदा साथ रहनेसे जो कुछ कठोर वचन मैंने आपलोगोंसे कहे हों, अथवा अज्ञानके कारण जो कुछ अनुचित व्यवहार किया हो, मैं आप सब लोगोंसे प्रार्थना करता हूँ उसे क्षमा करें ॥३८॥ धर्म-अर्थयुक्त रामचन्द्रके सुन्दर ये वचन उन सबने बहुत ही दुःखित होकर सुने ॥३९॥ रामचन्द्रके ऐसा कहनेपर राजा दसरथकी वे स्त्रियाँ क्रौंची पक्षीके समान बड़े ही करुणस्वरसे रोने लगीं ॥४०॥ राजा दसरथके जिस घरसे पहले मेघके शब्दके समान मुरज, पणव आदि बाजोंका शब्द हुआ करता था, आज उसी घरमें दुःखका रोदन होरहा है, आज वही घर अनेक कारणोंसे चित्तको व्याकुल करता है, आज वह दुःखमय होरहा है ॥४१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः ४०

अथ रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः । उपसंगृह्य राजानं चक्रुर्दीनाः प्रदक्षिणम् ॥ १ ॥
तं चापि समनुज्ञाप्य धर्मज्ञः सह सीतया । राघवः शोकसंमूढो जननीमभ्यवादयत् ॥ २ ॥
अन्वक्षं लक्ष्मणो भ्रातुः कौसल्यामभ्यवादयत् । अपि मातुः सुमित्राया जग्राह चरणौ पुनः ॥ ३ ॥
तं वन्दमानं रुदती माता सौमित्रिमब्रवीत् । हितकामा महाबाहुं मूर्ध्न्युपाघ्राय लक्ष्मणम् ॥ ४ ॥
सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने । रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति ॥ ५ ॥
व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ । एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत् ॥ ६ ॥
इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम् । दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु हि ॥ ७ ॥
लक्ष्मणं त्वेवमुक्त्वासौ संसिद्धं प्रियराघवम् । सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनः पुनरुवाच तम् ॥ ८ ॥
रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् । अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥ ९ ॥
ततः सुमन्त्रः काकुत्स्थं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् । विनीतो विनयज्ञश्च मातलिर्वासवं यथा ॥१०॥
रथमारोह भद्रं ते राजपुत्र महायशः । क्षिप्रं त्वां प्रापयिष्यामि यत्र मां राम वक्ष्यसे ॥११॥
चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यानि वने त्वया । तान्युपक्रमितव्यानि यानि देव्या प्रचोदितः ॥१२॥
तं रथं सूर्यसंकाशं सीता हृष्टेन चेतसा । आरुरोह वरारोहा कृत्वालंकारमात्मनः ॥१३॥

अनन्तर राम, लक्ष्मण और सीताने हाथ जोड़कर राजाको प्रणाम किये और उनकी प्रदक्षिणा की। माता-पिताके दुःखसे ये भी उस समय दुखी थे ॥१॥ धर्मज्ञ रामचन्द्रने सीताके साथ राजासे आज्ञा लेकर माताको प्रणाम किया। उस समय रामचन्द्र शोकसे विह्वल हो गये थे ॥२॥ रामचन्द्रके बाद ही लक्ष्मणने कौसल्याको प्रणाम किया, तदन्तर उन्होंने अपनी माता सुमित्राको प्रणाम किया ॥३॥ प्रणाम करते हुए लक्ष्मणसे उनका हित चाहनेवाली माता सुमित्रा उनका माथा सूँघकर बोलीं ॥४॥ तुम्हारे सुहृत् रामचन्द्र वन जा रहे हैं, तुम्हारा इनमें प्रेम है, इसी कारण मैं तुम्हें वन भेज रही हूँ, तुम इनकी ओरसे असावधान न होना ॥५॥ ये दुःखी हों या सुखी, यही तुम्हारे आश्रय हैं, अपने बड़ेके अधीन रहना ही सज्जनोंका धर्म लोकमें समझा जाता है ॥६॥ इस इक्ष्वाकुकुलका यही सनातन आचार है कि दान दे, यज्ञ करे और युद्धमें प्राण त्याग करे ॥७॥ रामचन्द्र जिनके प्रिय हैं और जिन्होंने वन जाना निश्चित कर लिया है उस लक्ष्मणको सुमित्रा बार-बार कहा कि जाओ, जाओ ॥८॥ सुमित्राने कहा कि वहाँ वनमें रामचन्द्रको दसरथ, सीताको माता और वनको अयोध्या समझना, अब तुम जाओ ॥९॥ मातलि जिस प्रकार इन्द्रसे बोलता है उसी प्रकार सुमन्त्र हाथ जोड़कर विनयपूर्वक रामचन्द्रसे बोले ॥१०॥ यशस्वी राजपुत्र रथपर बैठो, जहाँ तुम कहोगे वहाँ मैं तुम्हें शीघ्र ले जाऊँगा ॥११॥ देवी केकयीकी प्रेरणासे तुम्हें चौदह वर्ष वनमें रहना है, उसका प्रारम्भ आजसे ही होता है, अतएव चलो ॥१२। सूर्यके समान

वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च । भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ ॥१४॥
तथैवायुधजातानि भ्रातृभ्यां कवचानि च । रथोपस्थे प्रविन्यस्य सचर्म कठिनं च यत् ॥१५॥
अथो ज्वलनसंकाशं चामीकरविभूषितम् । तमारुरुहतुस्तूर्णं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥१६॥
सीतातृतीयानारूढान्दृष्ट्वा रथमचोदयत् । सुमन्त्रः संमतानश्वान्वायुवेगसमाञ्जवे ॥१७॥
प्रयाते तु महारण्यं चिररात्राय राघवे । बभूव नगरे मूर्च्छा बलमूर्च्छा जनस्य च ॥१८॥
तत्समाकुलसंभ्रान्तं मत्तसंकुपितद्विपम् । हयसिञ्जितनिर्घोषं पुरमासीन्महास्वनम् ॥१९॥
ततः सबालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता । राममेवाभिदुद्राव घर्मार्तः सलिलं यथा ॥२०॥
पार्श्वतः पृष्ठतश्चापि लम्बमानास्तदुन्मुखाः । बाष्पपूर्णमुखाः सर्वे तमूचुर्भृशनिःस्वनाः ॥२१॥
संयच्छ वाजिनां रश्मीन्सूत याहि शनैःशनैः । मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति ॥२२॥
आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम् । यद्देवगर्भप्रतिमे वनं याति न भिद्यते ॥२३॥
कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम् । न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥२४॥
अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम् । भ्रातरं देवसंकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि ॥२५॥
महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान् । एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि ॥२६॥

चमकीले रथपर अपनेको अलंकृत करके कुलवती सीता प्रसन्नतापूर्वक चढ़ीं ॥१३॥ वनवासके दिनोंकी गिनती करके पतिके साथ जानेवाली सीताको वस्त्र और आभूषण श्वसुरने दिये थे ॥१४॥ तथा राम लक्ष्मणको अस्त्र, शस्त्र, कवच चमड़ेसे मढ़ी पेटी और कुल्हाड़ी रथमें रख दी गयी ॥१५॥ अनन्तर सोनेसे मढ़े हुए अग्निके समान प्रकाशमान उस रथपर दोनों भाई राम और लक्ष्मण चढ़े ॥१६॥ सीताके साथ तीन आदमियोंको रथपर बैठे देखकर सुमन्त्रने सधे हुए और वायुके समान वेगवान घोड़ोंको हाँका ॥१७॥ रामचन्द्रके बहुत दिनोंतक रहनेके लिए वनमें जानेपर समस्त नगर मूर्च्छित होगया, हाथी घोड़े भी मूर्च्छित होगये तथा जो लोग रामचन्द्रका अभिषेक देखने बाहरसे आये थे वे भी मूर्च्छित होगये ॥१८॥ नगरवासी व्याकुल होगये, घबड़ा गये, हाथी पागल होगये, घोड़े हिनहिनाने लगे इस प्रकार समस्त नगर शब्दायमान होगया ॥१९॥ वह समूची नगरी, बालक वृद्ध आदि सभी दुःखसे व्याकुल होकर रामचन्द्रके पीछे चले, जिस प्रकार घामसे व्याकुल मनुष्य जलकी ओर दौड़ा जाता है ॥२०॥ कोई बगलसे, कोई पीछेसे दौड़ता हुआ रामचन्द्रकी ओर टकटकी लगाये हुआ आँखोंमें आँसू भरकर जोर-जोरसे सुमन्त्रसे कहने लगा ॥२१॥ सूत, घोड़ोंको रोको, धीरे-धीरे रथ ले जाओ, हमलोग रामचन्द्रका मुँह देख लें, क्योंकि अब रामचन्द्रका मुँह हमलोगोंके लिए दुर्लभ हो जायगा ॥२२॥ रामचन्द्रकी माताकी छाती अवश्य ही लोहेकी है, अतएव देवकुमारके समान रामचन्द्रके वन जानेपर भी वह नहीं फटती ॥२३॥ यह सीता ही कृतार्थ हुई, इसीके मनोरथ पूरे हुए, जो यह छायाके समान पतिके साथ लगी हुई है, यह धर्मज्ञा सीता रामचन्द्रका साथ कभी नहीं छोड़ती, जैसे मेरु पर्वतको सूर्यकी प्रभा नहीं छोड़ती ॥२४॥ लक्ष्मण, तुम्हारे भी मनोरथ पूरे हुए, क्योंकि तुम प्रियवादी देवताके समान भाईकी सेवा कर सकोगे ॥२५॥ रामचन्द्रके साथ जानेका तुम्हारा विचार प्रशंसनीय है। जो तुम रामचन्द्रके साथ जा रहे हो वह तुम्हारे

एवं वदन्तस्ते सोढुं न शेकुर्बाष्पमागतम् । नरास्तमनुगच्छन्ति प्रियमिक्ष्वाकुनन्दनम् ॥२७॥
अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः । निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन्गृहात् ॥२८॥
शुश्रुवे चाग्रतः स्त्रीणां रुदन्तीनां महास्वनः । यथा नादः करेणूनां बद्धे महति कुञ्जरे ॥२९॥
पिता हि राजा काकुत्स्थःश्रीमान्सन्नस्तदा बभौ। परिपूर्णः शशी काले ग्रहेणोपप्लुतो यथा ॥३०॥
स च श्रीमानचिन्त्यात्मा रामो दशरथात्मजः । सूतं संचोदयामास त्वरितं वाह्यतामिति ॥३१॥
रामो याहीति तं सूतं तिष्ठेति च जनस्तथा । उभयं नाशकत्सूतः कर्तुमध्वनि चोदितः ॥३२॥
निर्गच्छति महाबाहौ रामे पौरजनाश्रुभिः । पतितैरभ्यवहितं प्रणनाश महीरजः ॥३३॥
रुदिताश्रुपरिद्यूनं हाहाकृतमचेतनम् । प्रयाणे राघवस्यासीत्पुरं परमपीडितम् ॥३४॥
सुस्राव नयनैः स्त्रीणामस्रमायाससंभवम् । मीनसंक्षोभचलितैः सलिलं पङ्कजैरिव ॥३५॥
दृष्ट्वा तु नृपतिः श्रीमानेकचित्तगतं पुरम् । निपपातैव दुःखेन कृत्तमूल इव द्रुमः ॥३६॥
ततो हलहलाशब्दो जज्ञे रामस्य पृष्ठतः । नराणां प्रेक्ष्य राजानं सीदन्तं भृशदुःखितम्॥३७॥
हा रामेति जनाः केचिद्राममातेति चापरे । अन्तःपुरसमृद्धं च क्रोशन्तं पर्यदेवयन् ॥३८॥
अन्वीक्षमाणो रामस्तु विषण्णं भ्रान्तचेतसम् । राजानं मातरं चैव ददर्शानुगतौ पथि ॥३९॥

सर्वाधिक सुखका मार्ग है और बड़ा भारी अभ्युदय है ॥२६॥ इस प्रकार रामचन्द्रके रथके पीछे दौड़नेवाले तथा ऐसी बातें कहनेवाले मनुष्य अपने आँसू न रोक सके ॥२७॥ रामचन्द्रके चले जानेपर राजा दसरथ घरसे यह कहते हुए निकले कि मैं अपने पुत्रको देखूँगा, उस समय वे ठीक-ठीक होशमें न थे, उनके साथकी स्त्रियाँ भी बहुत दुःखित थीं ॥२८॥ राजाने अपने आगे रोती हुई स्त्रियोंके शब्द सुने, जैसे यूथ-पति हाथीके पकड़े जानेपर हथिनियाँ चिग्घाड़ मारती हैं ॥२९॥ राजा दसरथ उस समय बिलकुल दुखी मालूम होते थे, जैसे राहुके द्वारा आक्रान्त पूर्णिमाका चन्द्रमा ॥३०॥ दसरथपुत्र रामचन्द्र जिनके मनका पता सब लोगोंको नहीं लग सकता उन्होंने सारथिको शीघ्र रथ ले चलनेके लिये कहा ॥३१॥ रामचन्द्र सारथिको चलनेके लिये कहते थे और जन-समूह ठहरनेके लिये कहता था, इससे सारथि न तो रथ चला ही सका और न ठहरा ही सका ॥३२॥ रामचन्द्रके जानेपर नगरवासियोंके आँसूसे राहकी धूलि बैठ गयी ॥३३॥ वह नगर रामचन्द्रके जानेसे बहुत ही दुःखी होगया, सब लोग रोने लगे, खिन्न होगये, हाहाकार करने लगे और बेहोशसे होगये ॥३४॥ दुःखके कारण स्त्रियोंकी आँखोंसे आँसू बहने लगा, जिस प्रकार मछलीके आघातसे कम्पित कमलोंसे जल निकलता है ॥३५॥ राजा दसरथने जब समूचे नगरको समान दुःखसे दुःखी देखा तब वे दुःखसे गिर पड़े, जिस प्रकार कटा हुआ वृक्ष गिर पड़ता है ॥३६॥ राजा दसरथको इस प्रकार विह्वल देख रामचन्द्रके रथके पीछेवाले मनुष्योंने हाहाकार किया ॥३७॥ कोई हा राम, कोई हा राममाता, कहकर विलाप करने लगा जिससे वह भरा-पूरा घर भी रोने लगा ॥३८॥ रामचन्द्रने दुःखी और भ्रान्तचित्त पिता-माताको देखा, उन्होंने यह भी देखा कि वे हमारे

स बद्ध इव पाशेन किशोरो मातरं यथा। धर्मपाशेन संयुक्तः प्रकाशं नाभ्युदैक्षत ॥४०॥
पदातिनौ च यानार्हावदुःखार्हौ सुखोचितौ। दृष्ट्वा संचोदयामास शीघ्रं याहीति सारथिम् ॥४१॥
नहि तत्पुरुषव्याघ्रो दुःखजं दर्शनं पितुः। मातुश्च सहितुं शक्तस्तोत्रैर्नुन्न इव द्विपः ॥४२॥
प्रत्यागारमिवायान्ती सवत्सा वत्सकारणात्। बद्धवत्सा यथा धेनू राममाताभ्यधावत ॥४३॥
तथा रुदन्तीं कौसल्यां रथं तमनुधावतीम्। क्रोशन्तीं राम रामेति हा सीते लक्ष्मणेति च ॥४४॥
रामलक्ष्मणसीतार्थं स्रवन्तीं वारि नेत्रजम्। असकृत्प्रैक्षत सतां नृत्यन्तीमिव मातरम् ॥४५॥
तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति राघवः। सुमन्त्रस्य बभूवात्मा चक्रयोरिव चान्तरा ॥४६॥
नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोपि वक्ष्यसि। चिरं दुःखस्य पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ॥४७॥
स रामस्य वचः कुर्वन्ननुज्ञाप्य च तं जनम्। व्रजतोऽपि हयाञ्शीघ्रं चोदयामास सारथिः ॥४८॥
न्यवर्तत जनो राज्ञो रामं कृत्वा प्रदक्षिणम्। मनसाप्याशु वेगेन न न्यवर्तत मानुषम् ॥४९॥
यमिच्छेत्पुनरायातं नैनं दूरमनुव्रजेत्। इत्यमात्या महाराजमूचुर्दशरथं वचः ॥५०॥

पीछे-पीछे आ रहे हैं ॥३९॥ जिस प्रकार बँधा हुआ घोड़ेका बछेड़ा अपनी माताकी ओर नहीं देख सकता, उसी प्रकार धर्मपाशसे बँधे हुए रामचन्द्र अपनी माताकी ओर स्पष्ट नहीं देख सके ॥४०॥ सदा सवारीपर चलनेवाले, सदा सुख भोगनेवाले और जिनके दुःख पानेका कोई कारण नहीं ऐसे पिता-माताको पैदल आते देख रामचन्द्रने सारथिको शीघ्र रथ हाँकनेके लिए कहा ॥४१॥ रामचन्द्र माता और पिताका यह दुःखदायक दर्शन नहीं कर सकते थे, जिस प्रकार अंकुश खाया हुआ हाथी पीछेकी ओर नहीं देखता ॥४२॥ जिस प्रकार बच्छेवाली गौ जिसका बच्छा बँधा हो वह अपने बच्छेके लिये घरकी ओर दौड़ती है उसी तरह रामचन्द्रकी माता कौसल्या रामचन्द्रकी ओर दौड़ीं ॥४३॥ रामचन्द्रके रथके पीछे कौसल्या रोती हुई दौड़ीं, वे हा राम, हा सीते, हा लक्ष्मण कहकर विलाप करती जाती थीं ॥४४॥ राम, लक्ष्मण और सीताके लिए उनकी आँखोंसे जल निकल रहा था। रामचन्द्रने अपने रथके पीछे इधर-उधर घूमती हुई माताको कई बार देखा ॥४५॥ राजा दसरथने सुमन्त्रसे ठहरनेके लिए कहा और रामचन्द्रने जानेके लिये। इस प्रकार सुमन्त्र दो पहियोंकी बीचकी दशामें पड़ गये ॥४६॥ रामचन्द्रने कहा—इस दुःखको और अधिक देरतक रहने देना अच्छा नहीं, तुम चलो, यदि राजा पूछें कि तुमने मेरे कहनेपर भी रथ क्यों नहीं खड़ा किया तो कह देना कि मैंने आपकी बात सुनी ही नहीं ॥४७॥ जनसमूहसे आज्ञा पाकर सारथिने रामचन्द्रकी आज्ञाका पालन किया, उन्होंने चलते हुए घोड़ोंको और जोरसे चलने लिये हाँका ॥४८॥ रामचन्द्रकी प्रदक्षिणा करके सब लोग लौट गये, पर उनका मन नहीं लौटा और उनके आँसू बन्द नहीं हुए ॥४९। मन्त्रियोंने राजा दसरथसे कहा जिसके शीघ्र लौट आनेकी अभिलाषा हो उसको

तेषां वचः सर्वगुणोपपन्नः प्रस्विन्नगात्रः प्रविषण्णरूपः ।
निशम्य राजा कृपणः सभार्यो व्यवस्थितस्तं सुतमीक्षमाणः ॥५१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥४०॥

एकचत्वारिंशः सर्गः ४१

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ । आर्तशब्दो हि संजज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे महान् ॥ १ ॥
अनाथस्य जनस्यास्य दुर्बलस्य तपस्विनः । यो गतिः शरणं चासीत्स नाथः क्व नु गच्छति ॥ २ ॥
न क्रुध्यत्यभिशस्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् । क्रुद्धान्प्रसादयन्सर्वान्समदुःखः क्व गच्छति ॥ ३ ॥
कौसल्यायां महातेजा यथा मातरि वर्तते । तथा यो वर्ततेऽस्मासु महात्मा क्व नु गच्छति ॥ ४ ॥
कैकेय्या क्लिश्यमानेन राज्ञा संचोदितो वनम् । परित्राता जनस्यास्य जगतः क्व नु गच्छति ॥ ५ ॥
अहो निश्चेतनो राजा जीवलोकस्य संक्षयम् । धर्म्यं सत्यव्रतं रामं वनवासे प्रवत्स्यति ॥ ६ ॥
इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः । रुरुदुश्चैव दुःखार्ताः सस्वरं च विचुक्रुशुः ॥ ७ ॥
स तमन्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः । पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा चासीत्सुदुःखितः ॥ ८ ॥
नाग्निहोत्राण्यहूयन्त सूर्यश्चान्तरधीयत । व्यसृजन्कवलान्नागा गावो वत्सान्न पाययन् ॥ ९ ॥

दूरतक पहुँचाने नहीं जाना चाहिये ॥५०॥ सर्वगुणयुक्त राजा बहुत ही दुःखी थे, उनके शरीरसे पसीना निकल रहा था, मन्त्रियोंके वचन सुनकर पुत्रको देखते हुए कौसल्याके साथ वहीं बैठ गये ॥५१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका चालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४०॥

पिता-माताके लिए हाथ जोड़े हुए रामचन्द्र जब राजमहलसे निकले उस समय सब स्त्रियाँ दुःखसे एक बार चिल्ला उठीं ॥१॥ अनाथ मनुष्योंका जो रक्षक है, दीन दुर्बलोंका जो आश्रयदाता है, वह हमलोगोंका स्वामी कहाँ जा रहा है ॥२॥ झूठी निन्दा करनेपर भी जो क्रोध नहीं करता, दूसरोंको क्रोध उत्पन्न करनेवाले कार्यको नहीं करता, जो कुपितोंको प्रसन्न करता है, जो सबके दुःखसे दुःखी होता है वह कहाँ जाता है ॥३॥ जो अपनी माता कौसल्याके साथ जैसा व्यवहार करता है, वैसा ही व्यवहार हम लोगोंके साथ भी करता है, वह महात्मा कहा जाता है ॥४॥ केकयीके कहनेसे राजाने उसे वन भेज दिया, वह हमारा अथवा समस्त जगत्‌का रक्षक कहाँ जा रहा है ॥५॥ राजा दशरथ बड़े ही अज्ञानी हैं जो सबके आश्रय धर्मात्मा सत्यव्रत रामचन्द्रको वन भेज रहे हैं ॥६॥ इस प्रकार सब रानियाँ दुःखसे पीड़ित होकर वत्सहीन गौ के समान रोती थीं और अपने भाग्यकी निन्दा करती थीं ॥७॥ राजमहलके इस घोर दुखित शब्दको सुनकर पुत्रशोकसे पीड़ित राजा और भी दुःखी हुए ॥८॥ उस दिन अग्निहोत्रियोंने हवन

त्रिशङ्कुर्लोहिताङ्गश्च बृहस्पतिबुधावपि । दारुणाः सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः ॥१०॥
नक्षत्राणि गतार्चींषि ग्रहाश्च गततेजसः । विशाखाश्च सधूमाश्च नभसि प्रचकाशिरे ॥११॥
कालिकानिलवेगेन महोदधिरिवोत्थितः । रामे वनं प्रव्रजिते नगरं प्रचचाल तत् ॥१२॥
दिशः पर्याकुलाः सर्वास्तिमिरेणेव संवृताः । न ग्रहो नासि नक्षत्रं प्रचकाशे न किंचन ॥१३॥
अकस्मान्नागरः सर्वो जनो दैन्यमुपागमत् । आहारे वा विहारे वा न कश्चिदकरोन्मनः ॥१४॥
शोकपर्यायसंतप्तः सततं दीर्घमुच्छ्वसन् । अयोध्यायां जनः सर्वश्चुक्रोश जगतीपतिम् ॥१५॥
बाष्पपर्याकुलमुखो राजमार्गगतो जनः । न हृष्टो लभ्यते कश्चित्सर्वः शोकपरायणः ॥१६॥
न वाति पवनः शीतो न शशी सौम्यदर्शनः । न सूर्यस्तपते लोकं सर्वं पर्याकुलं जगत् ॥१७॥
अनर्थिनः सुताः स्त्रीणां भर्तारो भ्रातरस्तथा । सर्वे सर्वं परित्यज्य राममेवान्वचिन्तयन् ॥१८॥
ये तु रामस्य सुहृदः सर्वे ते मूढचेतसः । शोकभारेण चाक्रान्ताः शयनं नैव भेजिरे ॥१९॥

ततस्त्वयोध्या रहिता महात्मना पुरंदरेणेव मही सपर्वता ।
चचाल घोरं भयशोकदीपिता सनागयोधाश्वगणा ननाद च ॥२०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

नहीं किये सूर्य अस्त होगये, हाथियोंने कवल (भूल) छोड़ दिये, गौओंने बच्छे नहीं पिलाये ॥९॥ त्रिशंकु (दक्षिण दिशाका एक नक्षत्र), मङ्गल, बुध, बृहस्पति तथा अन्य क्रूरग्रह शनिश्चर आदि, चन्द्रमाके पास आकर स्थिर हुए अर्थात् वे भी दुःखी हुए ॥१०॥ नक्षत्रोंकी दीप्ति धीमी होगयी, ग्रहोंका तेज जाता रहा, वे सब अपने-अपने स्थानोंसे हटे हुए और धूँआके समान धुन्धले मालूम पड़ने लगे ॥११॥ मेघयुक्त वायुके द्वारा उठाये हुए समुद्रके समान रामचन्द्रके वन जानेपर वह समस्त नगर क्षुभित होगया ॥१२॥ दिशायें व्याकुल हुई और वे अन्धकारसे ढँक गयीं, ग्रह तथा नक्षत्रोंने थोड़ा भी प्रकाश न किया ॥१३॥ अकस्मात् समस्त नगर ही दुःखी हो गया, आहार-विहारकी ओर किसीका भी ध्यान नरहा ॥१४॥ शोक परम्परासे पीड़ित अयोध्याका समस्त जनसमूह दीर्घ उच्छ्वास लेता हुआ राजा दशरथकी ही निन्दा करने लगा ॥१५॥ सड़कपर चलनेवाले सभी दुःखी थे, सभीके मुँह आँसूसे भींग गये थे, कोई भी वहाँ प्रसन्न नहीं था ॥१६॥ हवा ठंढ़ी नहीं चलती थी, चन्द्रमा सुन्दर नहीं दीखता था, सूर्य नहीं तपता था, सभी व्याकुल हो गये थे ॥१७॥ बच्चे माताओंको, पति स्त्रियोंको, भाई भाईको भूलकर केवल रामको ही सोचने लगे ॥१८॥ जो रामचन्द्रके मित्र थे वे तो बिलकुल विमूढ़ हो गये थे, वे दुःखके कारण सो ही न सके ॥१९॥ इन्द्रसे जिस प्रकार पर्वतयुक्त पृथिवी काँप जाती है, उसी प्रकार रामचन्द्रके बिना अयोध्या नगरी काँप गयी, भय-शोक छा गया, घोड़े, हाथी चिग्घाड़ मारने लगे ॥२०॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एकतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४१॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः ४२

यावत्तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत। नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत्संजहारात्मचक्षुषी ॥ १ ॥
यावद्राजा प्रियं पुत्रं पश्यत्यत्यन्तधार्मिकम्। तावद्व्यवर्धतेवास्य धरण्यां पुत्रदर्शने ॥ २ ॥
न पश्यति रजोऽप्यस्य यदा रामस्य भूमिपः। तदार्तश्च विषण्णश्च पपात धरणीतले ॥ ३ ॥
तस्य दक्षिणमन्वागात्कौसल्या बाहुमङ्गना। परं चास्यान्वगात्पार्श्वं कैकेयी सा सुमध्यमा ॥ ४ ॥
तां नयेन च संपन्नो धर्मेण विनयेन च। उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्यथितेन्द्रियः ॥ ५ ॥
कैकेयि मामकाङ्गानि मा स्प्राक्षीः पापनिश्चये। नहि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बान्धवी॥ ६ ॥
ये च त्वामनुजीवन्ति नाहं तेषां न ते मम। केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥
अगृह्णां यच्च ते पाणिमग्निं पर्यणयं च यत्। अनुजानामि तत्सर्वमस्मिंल्लोके परत्र च ॥ ८ ॥
भरतश्चेत्प्रतीतः स्याद्राज्यं प्राप्यैतदव्ययम्। यन्मे स दद्यात्पित्रर्थं मा मां तद्दत्तमागमत् ॥ ९ ॥
अथ रेणुसमुद्ध्वस्तं समुत्थाप्य नराधिपम्। न्यवर्तत तदा देवी कौसल्या शोककर्शिता ॥१०॥
हत्वेव ब्राह्मणं कामात्स्पृष्ट्वाग्निमिव पाणिना। अन्वतप्यत धर्मात्मा पुत्रं संचिन्त्य राघवम् ॥११॥
निवृत्त्यैव निवृत्त्यैव सीदतो रथवर्त्मसु। राज्ञो नातिबभौ रूपं ग्रस्तस्यांशुमतो यथा ॥१२॥
विललाप स दुःखार्तः प्रियं पुत्रमनुस्मरन्। नगरान्तमनुप्राप्तं बुद्ध्वा पुत्रमथाब्रवीत् ॥१३॥

वन जानेवाले रामचन्द्रके रथकी धूल जबतक दिखायी पड़ती रही तबतक राजा दसरथने उधरसे न मन हटाया और न आँखें ही हटायीं ॥१॥ जबतक अत्यन्त धार्मिक प्रिय पुत्रके रथकी धूल दीख पड़ती रही, तबतक राजाका शरीर मानो पृथिवीपर बढ़ रहा था अर्थात् वे उठ-उठकर धूल देखते रहे ॥२॥ जब रामचन्द्रके रथकी धूल भी न दिखायी पड़ने लगी, तब राजा बहुत ही दुःखी और व्याकुल हुए और पृथिवीपर गिर पड़े ॥३॥ राजाको उठानेके लिये कौसल्या उनकी दाहिनी बाहुके पास गयीं और सुन्दरी केकयी उनके बायें बाहुके पास गयीं ॥४॥ नय, विनय और धर्मसे युक्त राजा केकयीको देखकर बड़े दुःखसे उससे बोले ॥५॥ पापिन केकयी, तुम मेरे अङ्गोंको मत छूओ, क्योंकि तुम न तो मेरी स्त्री हो और न बन्धु ॥६॥ जो लोग तुम्हारे पक्षके हैं उन लोगोंका भी मैं कोई नहीं हूँ और न वे ही मेरे हैं, तुमने धनके लिये धर्म छोड़ा है, अतएव मैं तुम्हारा त्याग करता हूँ ॥७॥ जो मैंने तुम्हारा पाणिग्रहण किया है, जो तुम्हारे साथ अग्निकी प्रदक्षिणाकी है, उन सबका भी इसलोक तथा परलोकके लिये मैं त्याग करता हूँ ॥८॥ इस समृद्ध राज्यको पाकर भरत यदि प्रसन्न हो तो पिताके लिये जो पिण्डदान आदि करे वह भी मुझे न मिले ॥९॥ तदनन्तर धूलिमें पड़े हुए राजाको उठाकर शोकाकुल कौसल्या लौटी ॥१०॥ रामचन्द्रका सोच कर धर्मात्मा राजा दसरथ बहुत ही दुःखित हुए, जिस प्रकार ब्रह्महत्या करनेपर तथा हाथमें आग छूनेपर मनुष्य दुःखी होता है ॥११॥ राजा पुनः-पुनः फिरकर रथमार्गको देखकर नितान्त दुःखी होते थे। उस समय राहुग्रस्त चन्द्रमाके समान उनका रूप सुन्दर नहीं मालूम पड़ता था ॥१२॥ प्रिय पुत्रका स्मरण करके राजा दसरथ विलाप करने लगे। रामचन्द्रका रथ नगरके बाहर चला गया

वाहनानां च मुख्यानां वहतां तं ममात्मजम् । पदानि पथि दृश्यन्ते स महात्मा न दृश्यते ॥१४॥
यः सुखेनोपधानेषु शेते चन्दनरूषितः । वीज्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः ॥१५॥
स नूनं क्वचिदेवाद्य वृक्षमूलमुपाश्रितः । काष्ठं वा यदि वाश्मानमुपधाय शयिष्यते ॥१६॥
उत्थास्यति च मेदिन्याः कृपणः पांसुगुण्ठितः । विनिःश्वसन्प्रस्रवणात्करेणूनामिवर्षभः ॥१७॥
द्रक्ष्यन्ति नूनं पुरुषा दीर्घबाहुं वनेचराः । राममुत्थाय गच्छन्तं लोकनाथमनाथवत् ॥१८॥
सा नूनं जनकस्येष्टा सुता सुखसदोचिता । कण्टकाक्रमणक्लान्ता वनमद्य गमिष्यति ॥१९॥
अनभिज्ञा वनानां सा नूनं भयमुपैष्यति । श्वपदानर्दितं श्रुत्वा गम्भीरं रोमहर्षणम् ॥२०॥
सकामा भव कैकेयि विधवा राज्यमावस । नहि तं पुरुषव्याघ्रं विना जीवितुमुत्सहे ॥२१॥
इत्येवं विलपन्राजा जनौघेनाभिसंवृतः । अपस्नात इवारिष्टं प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥२२॥
शून्यचत्वरवेश्मान्तां संवृतापणवेदिकाम् । क्लान्तदुर्बलदुःखार्तां नात्याकीर्णमहापथाम् ॥२३॥
तामवेक्ष्य पुरीं सर्वां राममेवानुचिन्तयन् । विलपन्प्राविशद्राजा गृहं सूर्य इवाम्बुदम् ॥२४॥
महाह्रदमिवाक्षोभ्यं सुपर्णेन हृतोरगम् । रामेण रहितं वेश्म वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥२५॥
अथ गद्गदशब्दस्तु विलपन्वसुधाधिपः । उवाच मृदु मन्दार्थं वचनं दीनमस्वरम् ॥२६॥

होगा यह समझकर वे बोले ॥१३॥ मेरे पुत्रको लेकर जो घोड़े गये हैं, उनका चिह्न तो दीख पड़ता है, पर वे महात्मा रामचन्द्र नहीं दीख पड़ते ॥१४॥ जो रामचन्द्र चन्दनसे भूषित होकर तकिया लगाकर सोते थे और उत्तम स्त्रियाँ जिनको पंखा करती थीं ॥१५॥ वे आज अवश्य ही किसी-न-किसी वृक्षके नीचे होंगे और लकड़ी या पत्थरकी तकिया बनाकर सोते होंगे ॥१६॥ वे प्रातःकाल धूलसे लिपटे हुए दीन अवस्थामें उठेंगे, जिस प्रकार झरनेके पासमें साँस छोड़ता हुआ हाथिओंका दलपति उठता है ॥१७॥ लोकनाथ महाबाहु रामचन्द्रको अनाथके समान जाते हुए वनचर लोग देखेंगे ॥१८॥ वह जनककी प्यारी पुत्री सीता जिसने सदा सुख भोगा है वह आज कटीले रास्तेमें चलनेसे दुखिनी होकर वन जायगी ॥१९॥ उसने वन देखा नहीं है, अवश्य ही वह बाघ आदिके रोंगटे खड़े करनेवाले शब्द सुनकर डरेगी ॥२०॥ केकयी, तुम्हारे मनोरथ पूरे हों विधवा होकर तुम राज्य करो, क्योंकि पुरुषश्रेष्ठ रामचन्द्रके बिना तो मैं जी नहीं सकता ॥२१॥ इस प्रकार राजा दसरथ विलाप करते रहे, बहुतसे लोग वहाँ उनको घेरे खड़े थे, वे मृतकस्नान किये हुएके समान बड़े दुःखसे वहाँसे घरमें गये ॥२२॥ घरके बाहरका चौतरा और घरका भीतरी भाग भी शून्य है, बाजार बन्द है, जो लोग नगरमें थे वे भी थके, दुःखी और दुर्बल होगये थे, सड़कोंपर कहीं-कहीं कुछ लोग दीख पड़ते हैं ॥२३॥ नगरकी ऐसी अवस्था देखकर रामचन्द्रको ही सोचते हुए तथा विलाप करते हुए राजा अपने घरमें गये, जिस प्रकार सूर्य मेघमें चले जाते हैं ॥२४॥ जिस अक्षोभ्य बड़े तालाबमेंसे गरुड़ने साँपको निकाल लिया हो उसके समान राम, लक्ष्मण और सीतासे सूने घरमें उन्होंने प्रवेश किया ॥२५॥ राजा दसरथका गला भर आया था, वे

कौसल्याया गृहं शीघ्रं राममातुर्नयन्तु माम् । न ह्यन्यत्र ममाश्वासो हृदयस्य भविष्यति ॥२७॥
इति ब्रुवन्तं राजानमनयन्द्वारदर्शिनः । कौसल्याया गृहं तत्र न्यवेशयत विनीतवत् ॥२८॥
ततस्तत्र प्रविष्टस्य कौसल्याया निवेशनम् । अधिरुह्यापि शयनं बभूव लुलितं मनः ॥२९॥
पुत्रद्वयविहीनं च स्नुषया च विवर्जितम् । अपश्यद्भवनं राजा नष्टचन्द्रमिवाम्बरम् ॥३०॥
तच्च दृष्ट्वा महाराजो भुजमुद्यम्य वीर्यवान् । उच्चैःस्वरेण प्राक्रोशद्धा राम विजहासि नौ ॥३१॥
सुखिता बत तं कालं जीविष्यन्ति नरोत्तमाः । परिष्वजन्तो ये रामं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥३२॥
अथ रात्र्यां प्रपन्नायां कालरात्र्यामिवात्मनः । अर्धरात्रे दशरथः कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥३३॥
न त्वां पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश । रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते ॥३४॥

तं राममेवानुविचिन्तयन्तं समीक्ष्य देवी शयने नरेन्द्रम् ।
उपोपविश्याधिकमार्तरूपा विनिःश्वसन्तं विललाप कृच्छ्रम् ॥३५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

विलाप कर रहे थे, वे धीरेसे थोड़े अर्थवाले शब्द दुःखसे बोले ॥२६॥ रामचन्द्रकी माता कौसल्याके घरमें मुझे ले चलो, और जगह मेरे हृदयको शान्ति नहीं मिलेगा ॥२७॥ राजाके ऐसा कहनेपर द्वारपाल राजाको उठाकर कौसल्याके घरमें ले आये और वहाँ उन लोगोंने उन्हें रख दिया ॥२८॥ वहाँ कौसल्याके घरमें जानेपर और पलंगपर सोनेपर भी उनका मन चञ्चल ही रहा, शान्ति न मिली ॥२९॥ राजाने दोनों पुत्रों और पुत्रबधूसे हीन अपने घरको चन्द्रहीन आकाशके समान देखा ॥३०॥ यह देखकर पराक्रमी राजा हाथ उठाकर बड़े जोरसे रो पड़े, उन्होंने कहा—हा राम, हम दोनोंको—मुझको और कौसल्याको छोड़ रहे हो ॥३१॥ जो रामचन्द्रके लौटनेपर उनका आलिङ्गन करेंगे वे ही मनुष्य सुखपूर्वक जी सकेंगे, अर्थात् उस समयतक मैं न जी सकूँगा ॥३२॥ रात हुई जो दसरथके लिए काल रात्रिके समान थी आधीरात बीतनेपर राजा दसरथने कौसल्यासे कहा ॥३३॥ कौसल्ये, मैं तुम्हें देख नहीं रहा हूँ, तुम जोरसे मुझे हाथसे छूओ, मेरी दृष्टि रामके साथ गयी है, वह लौटी नहीं ॥३४॥ पलँगपर पड़े हुए राजा, रामचन्द्रको ही सोच रहे हैं और बड़े दुखसे साँस ले रहे हैं यह देखकर कौसल्या बहुत दुःखित हुईं और वे राजाके पास बैठकर विलाप करने लगीं ॥३५॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका बयालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः ४३

ततः समीक्ष्य शयने सन्नं शोकेन पार्थिवम् । कौसल्या पुत्रशोकार्ता तमुवाच महीपतिम् ॥ १ ॥
राघवे नरशार्दूले विषं मुक्त्वा हि जिह्मगा । विचरिष्यति कैकेयी निर्मुक्तेव हि पन्नगी ॥ २ ॥
विवास्य रामं सुभगा लब्धकामा समाहिता । त्रासयिष्यति मां भूयो दुष्टाहिरिव वेश्मनि ॥ ३ ॥
अथास्मिन्नगरे रामश्चरन्भैक्षं गृहे वसेत् । कामकारो वरं दातुमपि दासं ममात्मजम् ॥ ४ ॥
पातयित्वा तु कैकेय्या रामं स्थानाद्यथेष्टतः । प्रविद्धो रक्षसां भागः पर्वणीवाहिताग्निना ॥ ५ ॥
नागराजगतिर्वीरो महाबाहुर्धनुर्धरः । वनमाविशते नूनं सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ६ ॥
वने त्वदृष्टदुःखानां कैकेय्यनुमते त्वया । त्यक्तानां वनवासाय कान्यावस्था भविष्यति ॥७॥
ते रत्नहीनास्तरुणाः फलकाले विवासिताः । कथं वत्स्यन्ति कृपणाः फलमूलैः कृताशनाः ॥ ८ ॥
अपीदानीं स कालः स्यान्मम शोकक्षयः शिवः । सहभार्यं सहभ्रात्रा पश्येयमिह राघवम् ॥ ९ ॥
श्रुत्वैवोपस्थितौ वीरौ कदायोध्या भविष्यति । यशस्विनी हृष्टजना सूच्छ्रितध्वजमालिनी ॥१०॥
कदा प्रेक्ष्य नरव्याघ्रावरण्यात्पुनरागतौ । भविष्यति पुरी हृष्टा समुद्र इव पर्वणि ॥११॥
कदायोध्यां महाबाहुः पुरीं वीरः प्रवेक्ष्यति । पुरस्कृत्य रथे सीतां वृषभो गोवधूमिव ॥१२॥

पुत्रशोकार्त कौसल्याने देखा कि राजा दसरथ शोकसे खिन्न होकर पलँगपर पड़े हुए हैं, यह देखकर वे राजासे बोलीं ॥१॥ कुटिला केकयी नरश्रेष्ठ रामचन्द्रपर विष छोड़कर—उन्हें अपनी कुटिलताका लक्ष्य बनाकर-केचुलीहीन साँपिनके समान आनन्दपूर्वक विचरण करेगी ॥२॥ पतिको अपने वशमें रखनेवाली केकयीका रामचन्द्रके निर्वासनसे मनोरथ पूरा हुआ, घरके दुष्ट साँपके समान अब वह मुझे दुःख देगी ॥३॥ राज्य न मिला न सही, इसी नगरमें रामचन्द्र रहते और भिक्षासे अपना निर्वाह करते, यह वनवास-से अच्छा था। अथवा मेरे पुत्रको भरतका दास बनकर ही रहनेका वर दे दिया जाता ॥४॥ केकयीने रामचन्द्रको उनके स्थानसे अच्छी तरह गिरा दिया, जिस प्रकार पर्वमें अहिताग्निके द्वारा देवताओंको दिया जानेवाला भाग राक्षसोंको दिया जाता है उसी प्रकार रामचन्द्र भी राक्षसोंके स्थानमें भेज दिये गये हैं ॥५॥ गजपति महाधनुर्धर वीर रामचन्द्रने अवश्य ही सीता और लक्ष्मणके साथ वनमें प्रवेश किया होगा ॥६॥ केकयीके विचारके अनुसार चलकर दुःखका नाम भी न जाननेवाले राम, लक्ष्मण और सीता-को आपने वनमें भेज दिया, अब वनवासके दुःख सहनेके अतिरिक्त उनकी क्या दशा होगी ॥७॥ उनकी जवानी थी, भोग करनेका समय था, इसी समय सब उत्तम वस्तुओंसे रहित करके वे वन भेज दिये गये, वे विचारे फल-मूल खाकर किस प्रकार गुजर करते होंगे ॥८॥ भाई और स्त्रीके साथ रामचन्द्रको मैं देखूँ ऐसा मेरे दुःखोंका अन्त करनेवाला कल्याणमय समय क्या आज होगा ॥९॥ राम और लक्ष्मण आये यह सुनकर अयोध्या नगरी कब यशस्विनी होगी, कब यहाँके वासी प्रसन्न दीख पड़ेंगे और कब यहाँके घरोंपर ध्वजा फहरायेंगी ॥१०॥ कब वनसे लौटे हुए राम और लक्ष्मणको देखकर यह नगरी प्रसन्न होगी, जिस प्रकार चन्द्रमाको देखकर समुद्र प्रसन्न होता है ॥११॥ गौको साँडके समान सीताको

कदा प्राणिसहस्राणि राजमार्गे ममात्मजौ । लाजैरवकरिष्यन्ति प्रविशन्तावरिंदमौ ॥१३॥
प्रविशन्तौ कदायोध्यां द्रक्ष्यामि शुभकुण्डलौ । उदग्रायुधनिस्त्रिंशौ सशृङ्गाविव पर्वतौ ॥१४॥
कदा सुमनसः कन्या द्विजातीनां फलानि च । प्रदिशन्तः पुरीं हृष्टाः करिष्यन्ति प्रदक्षिणम् ॥१५॥
कदा परिणतो बुद्ध्या वयसा चामरप्रभः । अभ्युपैष्यति धर्मात्मा सुवर्ष इव लालयन् ॥१६॥
निःसंशयं मया मन्ये पुरा वीर कदर्यया । पातुकामेषु वत्सेषु मातृणां शातिताः स्तनाः ॥१७॥
साहं गौरिव सिंहेन विवत्सा वत्सला कृता । कैकेय्या पुरुषव्याघ्र बालवत्सेव गौर्बलात् ॥१८॥
नहि तावद्गुणैर्जुष्टं सर्वशास्त्रविशारदम् । एकपुत्रा विनापुत्रमहं जीवितुमुत्सहे ॥१९॥
न हि मे जीविते किंचित्सामर्थ्यमिह कल्प्यते । अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥२०॥

अयं हि मां दीपयतेऽद्य वह्निस्तनूजशोकप्रभवो महाहितः ।
महीमिमां रश्मिभिरुत्तमप्रभो यथा निदाघे भगवान्दिवाकरः ॥२०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

रथपर आगे करके महाबाहु वीर रामचन्द्र कब अयोध्या नगरीमें प्रवेश करेंगे ॥१२॥ कब शत्रु-संहारकारी मेरे दोनों पुत्रोंपर अयोध्या नगरीमें प्रवेश करनेके समय हजारों मनुष्य लावाका अभिषेक करेंगे ॥१३॥ कब मैं सुन्दर कुण्डल धारण करनेवाले शस्त्र और तलवारको ऊपर उठाये रखनेवाले अतएव शिखरवाले पर्वतके समान अपने दोनों पुत्रोंको अयोध्यामें प्रवेश करते हुए देखूँगी ॥१४॥ कब देवता तथा ब्राह्मणोंकी कन्याएँ रामचन्द्रको फल देती हुई प्रसन्नतापूर्वक इस नगरीकी प्रदक्षिणा करेंगी ॥१५॥ बुद्धिसे श्रेष्ठ और उमरमें देवताके समान २५ वर्षके रामचन्द्र कब सुन्दर वृष्टिके समान सब लोगोंको प्रसन्न करते हुए आवेंगे ॥१६॥ वीर, कदर्य मैंने माताका स्तन पीना चाहनेवाले बच्चोंकी माताका स्तन काट दिया है, उन्हें अपनी माताका स्तन पीने नहीं दिया है ॥१७॥ इसीसे बच्चेमें प्रेम रखनेवाली और छोटे बच्चेवाली गौ जिस प्रकार सिंहके द्वारा वत्सहीन कर दी जाती हैं, उसी प्रकार हे पुरुषसिंह दसरथ, केकयीके द्वारा मैं भी वत्सहीन कर दी गयी हूँ ॥१८॥ मेरा पुत्र सब गुणोंसे भरा-पूरा था, सब शास्त्रोंका ज्ञाता था और वही एक मेरा पुत्र था, उसके बिना मैं जी नहीं सकती हूँ ॥१९॥ अपने प्रिय पुत्र रामको और महाबलवान् लक्ष्मणको बिना देखे मेरे जीनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है, कोई भी मुझे जिला नहीं सकता ॥२०॥ महा अहितकारी पुत्रशोकसे उत्पन्न अग्नि मुझे जला रही है, जिस प्रकार, गरमीके दिनोंमें भगवान् सूर्य अपनी किरणोंसे इस पृथिवीको जलाते हैं ॥२१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ४४

विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम् । इदं धर्मे स्थिता धर्म्यं सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
तवार्ये सद्गुणैर्युक्तः स पुत्रः पुरुषोत्तमः । किं ते विलपितेनैवं कृपणं रुदितेन वा ॥ २ ॥
यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः । साधु कुर्वन्महात्मानं पितरं सत्यवादिनम् ॥ ३ ॥
शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत्प्रेत्य फलोदये । रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न शोच्यः कदाचन ॥ ४ ॥
वर्तते चोत्तमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन्सदानघः । दयावान्सर्वभूतेषु लाभस्तस्य महात्मनः ॥ ५ ॥
अरण्यवासे यद्दुःखं जानन्त्येव सुखोचिता । अनुगच्छति वैदेही धर्मात्मानं तवात्मजम् ॥ ६ ॥
कीर्तिभूतां पताकां यो लोके भ्रामयति प्रभुः । धर्मः सत्यव्रतपरः किं न प्राप्तस्तवात्मजः ॥ ७ ॥
व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं महात्म्यमुत्तमम् । न गात्रमंशुभिः सूर्यः संतापयितुमर्हति ॥ ८ ॥
शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः । राघवं युक्तशीतोष्णः सेविष्यति सुखोऽनिलः ॥९॥
शयानमनघं रात्रौ पितेवाभिपरिष्वजन् । धर्मघ्नः संस्पृशञ्छितश्चन्द्रमा ह्लादयिष्यति ॥१०॥
ददौ चास्त्राणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा महौजसे । दानवेन्द्रं हतं दृष्ट्वा तिमिध्वजसुतं रणे ॥११॥
स शूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः । असंत्रस्तो ह्यरण्येऽसौ वेश्मनीव निवत्स्यते ॥१२॥
यस्येषुपथमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः । कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थातुमर्हति ॥१३॥

इस प्रकार स्त्रीश्रेष्ठ कौसल्या विलाप कर रही हैं यह देखकर धर्ममें स्थिर सुमित्रा धर्मयुक्त यह वचन बोलीं ॥१॥ आर्ये, तुम्हारा वह पुत्र सद्गुणोंसे युक्त है, उसके लिये विलाप करने और दीनतापूर्वक रोनेसे क्या लाभ ? ॥२॥ आर्ये, महाबलवान् आपके जिस पुत्रने राज्य छोड़कर सत्यवादी अपने पिताके संकल्पको सत्य बनाया है, ॥३॥ शिष्टों धर्मात्माओंने जिसका विधिपूर्वक सदा पालन किया है और परलोकमें जिसका फल प्राप्त होता है उस धर्ममें स्थित रामचन्द्र किसी प्रकार भी शोचनीय नहीं हैं ॥४॥ सदा पापरहित तथा सबप्राणियोंमें दयावान लक्ष्मण रामचन्द्रकी सेवा करते हैं और महात्मा लक्ष्मणको यह बड़ा लाभ है ॥५॥ सुख भोगनेवाली सती सीताके वनके दुःखोंको जानती ही नहीं, वह भी तुम्हारे धर्मात्मा पुत्रके साथ जा रही है ॥६॥ जो रामचन्द्र अपनी कीर्तिका पताका लोकमें फहरा रहे हैं वे साक्षात् धर्मस्वरूप हैं क्योंकि उन्होंने सत्यव्रत धारण किया है । कहो—तुम्हारे पुत्रने कौनसा कल्याण नहीं पाया ॥७॥ रामचन्द्रकी शुद्धताका उत्तम माहात्म्य जानकर निश्चय ही सूर्य, उनका शरीर अपनी किरणसे नहीं तपाते होंगे ॥८॥ वनसे निकला हुआ सब समयमें अपेक्षित और सुखकर कल्याणदायक वायु रामचन्द्रकी सेवा सब समय करेगी ॥९॥ रातको सोये हुए निष्पाप रामचन्द्रको धर्मज्ञ और शीतल चन्द्रमा आह्लादित करेगा, जिस प्रकार पिता पुत्रको आलिङ्गन करके आह्लादित करता है ॥१०॥ तिमिध्वजका पुत्र दानवराज सुबाहुको रणमें मरा हुआ देखकर जिस महापराक्रमीको ब्राह्मण दिव्य अस्त्र दिये विश्वामित्रने ॥११॥ पुरुषसिंह वे वीर अपने बाहुबलके भरोसे निर्भय होकर, घरके समान वनमें निवास करेंगे ॥१२॥ जिनके बाणके सामने

याश्रीःशौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता। निवृत्तारण्यवासःस्वं क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥१४॥
सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।श्रियाःश्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याःकीर्तिःक्षमाक्षमा ।१५।
दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः। तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे ॥१६॥
पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः। क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यते ॥१७॥
दुःखजं विसृजत्यश्रु निष्क्रामन्तमुदीक्ष्य यम्। अयोध्यायां जनः सर्वः शोकवेगसमाहतः ॥१८॥
कुशचीरधरं वीरं गच्छन्तमपराजितम्। सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥१९॥
धनुर्ग्रहवरो यस्य बाणखड्गास्त्रभृत्स्वयम्। लक्ष्मणो व्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥२०॥
निवृत्तवनवासं तं द्रष्टासि पुनरागतम्। जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते॥२१॥
शिरसा चरणावेतौ वन्दमानमनिन्दिते। पुनर्द्रक्ष्यासि कल्याणि पुत्रं चन्द्रमिवोदितम् ॥२२॥
पुनः प्रविष्टं दृष्ट्वा तमाभिषिक्तं महाश्रियम्। समुत्स्रक्ष्यसि नेत्राभ्यां शीघ्रमानन्दजं जलम् ॥२३॥
मा शोको देवि दुःखं वा न रामे दृश्यतेऽशिवम्। क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं ससीतं सहलक्ष्मणम् ।॥२४॥
त्वयाऽशेषो जनश्चायं समाश्वास्यो यतोऽनघे। किमिदानीमिदं देवि करोषि हृदि विक्लवम् ॥२५॥

आकर शत्रु नष्ट हो जाते हैं, उनकी आज्ञाके अधीन यह समस्त पृथिवी क्यों न रहेगी ॥१३॥ रामचन्द्रकी जो सम्पत्ति है, शूरता है, तथा कल्याणकारक बल है उन सबसे वनवास समाप्त होनेपर रामचन्द्र शीघ्र ही राज्य पावेंगे ॥१४॥ सूर्य जो सबसे प्रकाशक हैं उनके भी सूर्य होते हैं, वे भी दूसरेके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं, अग्निके भी अग्नि हैं, प्रभु-के-प्रभु, लक्ष्मी-की-लक्ष्मी, कीर्तिकी भी कीर्ति और क्षमाकी भी क्षमा है। अर्थात् इन सबके भी कारण होते हैं, और कारण रामचन्द्र हैं, अतएव सर्वनिन्ता हैं, फिर उनके लिए शोक करना व्यर्थ है ॥१५॥ रामचन्द्र देवताओंके देवता और प्राणियोंके भी श्रेष्ठ प्राणी हैं, वनमें या नगरमें ही रहनेपर उनके कौन दोष हो सकते हैं, उनकी कौन बुराई हो सकती है ॥१६॥ पृथिवी सीता और लक्ष्मी इन तीनोंके साथ रामचन्द्रका राज्याभिषेक शीघ्र ही होगा ॥१७॥ अयोध्याका यह समस्त जनसमुदाय शोकसे पीड़ित होकर जिसको अयोध्यासे निकलते देखकर दुःखका अश्रुविसर्जन करता है ॥१८॥ किसीके द्वारा पराजित न होनेवाले वीर रामचन्द्र कुशचीर धारण करके जिस समय वनको चले उस समय सीताके समान लक्ष्मी भी उनकी अनुगामिनी हुई, उस रामचन्द्रके लिये क्या दुर्लभ है ॥१९॥ धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मण स्वयं बाण और तलवार लेकर जिनके आगे-आगे चलते हैं उन रामचन्द्रको क्या दुर्लभ है ॥२०॥ वनवासकी अवधि समाप्त होनेपर रामचन्द्र यहाँ आवेंगे और तुम उनको देखोगी। देवि, शोक और मोहका त्याग करो, मैं तुमसे सत्य-सत्य कहती हूँ ॥२१॥ तुम्हारे चरणोंको अपने मस्तकसे प्रणाम करते हुए रामचन्द्रको तुम नवोदित चन्द्रमाके समान देखोगी ॥२२॥ तुम शीघ्र ही अयोध्यामें आये हुए तथा अभिषिक्त महा शोभाशाली रामचन्द्रको देखकर आनन्दाश्रु विसर्जन करोगी ॥२३॥ अत. देवि, तुम्हें शोक और दुःख नहीं करना चाहिए; क्योंकि रामचन्द्रका कोई अमंगल होनेवाला नहीं है। सीता और लक्ष्मणके साथ आये हुए रामचन्द्रको तुम शीघ्र ही देखोगी ॥२४॥ निष्पापे, तुमको इन सब लोगोंको समझाना चाहिए, फिर इस समय तुम अपने मनको इतना अधीर क्यों

नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः । नहि रामात्परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ॥२६॥
अभिवादयमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम् । मुदाश्रु मोक्ष्यसे क्षिप्रं मेघरेखेव वार्षिकी ॥२७॥
पुत्रस्ते वरदः क्षिप्रमयोध्यां पुनरागतः । कराभ्यां मृदुपीनाभ्यां चरणौ पीडयिष्यति ॥२८॥
अभिवाद्य नमस्यन्तं शूरं ससुहृदं सुतम् । मुदास्त्रैः प्रोक्षसे पुत्रं मेघराजिरिवाचलम् ॥२९॥

आश्वासयन्ती विविधैश्च वाक्यैर्वाक्योपचारे कुशलानवद्या ।
रामस्य तां मातरमेवमुक्त्वा देवी सुमित्रा विरराम रामा ॥३०॥
निशम्य तल्लक्ष्मणमातृवाक्यं रामस्य मातुर्नरदेवपत्न्याः ।
सद्यः शरीरे विननाश शोकः शरद्गतो मेघ इवाल्पतोयः ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ४५

अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् । अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः ॥ १ ॥
निवर्तितेऽतीव बलात्सुहृद्धर्मेण राजनि । नैव ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम् ॥ २ ॥
अयोध्यानिलयानां हि पुरुषाणां महायशाः । बभूव गुणसंपन्नः पूर्णचन्द्र इव प्रियः ॥ ३ ॥

बना रही हो ॥२५॥ देवि, रामचन्द्रके समान तुम्हारे पुत्र हैं, तुमको दुःख नहीं करना चाहिये, क्योंकि रामचन्द्रके समान सन्मार्गपर चलनेवाला दूसरा नहीं है ॥२६॥ अपने मित्रोंके साथ प्रणाम करते हुए रामचन्द्रको देखकर तुम शीघ्र ही आनन्दाश्रु विसर्जन करोगी, जिस प्रकार वर्षा-सम्बन्धी मेघ अर्थात् वर्षा करनेवाले मेघसे जलवृष्टि होती है ॥२७॥ वह तुम्हारा पुत्र शीघ्र ही अयोध्यामें आवेगा और अपने कोमल तथा मोटे हाथोंसे तुम्हारे चरणोंको प्रणाम करेगा ॥२८॥ अभिवादन (अपना परिचय) के पश्चात् अपने मित्रोंके साथ प्रणाम करते हुए अपने वीर पुत्रको आनन्दाश्रुसे सेचन करोगी, जिस प्रकार मेघमाला पर्वतको सेचन करती है ॥२९॥ निर्दोष तथा बोलनेमें चतुर सुमित्रा अनेक तरहके वाक्योंसे रामचन्द्रकी माताको इस प्रकार समझाकर चुप हो गयीं ॥३०॥ लक्ष्मणकी माता सुमित्राकी बातें सुनकर महारानी कौसल्याके सब शोक नष्ट हो गये जिस प्रकार थोड़े जलवाला शरदका मेघ ॥३१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका चौआलीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४४ ॥

अयोध्यावासी मनुष्य सत्यपराक्रम महात्मा रामचन्द्रके अनुरागके कारण उनके साथ वनमें चले ॥१॥ सुहृत्धर्मके अनुसार राजा दसरथ बलपूर्वक लौटा दिये गये थे, पर नगर-वासियोंने रामचन्द्रके रथका अनुगमन करना नहीं छोड़ा ॥२॥ अयोध्यवासी पुरुषोंको महायशस्वो और सर्वगुणसम्पन्न रामचन्द्र पूर्ण

स याच्यमानःकाकुत्स्थस्ताभिः प्रकृतिभिस्तदा। कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत ॥ ४ ॥
अवेक्षमाणः सस्नेहं चक्षुषा प्रपिबन्निव। उवाच रामः सस्नेहं ताः प्रजाः स्वाः प्रजा इव ॥ ५ ॥
या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम्। मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम् ॥ ६ ॥
स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः। करिष्यति यथावद्वः प्रियाणि च हितानि च ॥ ७ ॥
ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः। अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः ॥ ८ ॥
स हि राजगुणैर्युक्तो युवराजः समीक्षितः। अपि चापि मया शिष्टैः कार्यं वो भर्तृशासनम् ॥ ९ ॥
न संतप्येद्यथा चासौ वनवासं गते मयि। महाराजस्तथा कार्यो मम प्रियचिकीर्षया ॥१०॥
यथा यथा दाशरथिर्धर्ममेवाश्रितो भवेत्। तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन् ॥११॥
बाष्पेण पिहितं दीनं रामः सौमित्रिणा सह। चकर्षेव गुणैर्बद्धं जनं पुरनिवासिनम् ॥१२॥
ते द्विजास्त्रिविधं वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा। वयःप्रकम्पशिरसो दूरादूचुरिदं वचः ॥१३॥
वहन्तो जवना रामं भो भो जात्यास्तुरंगमाः। निवर्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तरि ॥१४॥
कर्णवन्ति हि भूतानि विशेषेण तुरंगमाः। यूयं तस्मान्निवर्तध्वं याचनां प्रतिवेदिताः ॥१५॥
धर्मतः स विशुद्धात्मा वीरः शुभदृढव्रतः। उपवाह्यस्तु वो भर्ता नापवाह्यः पुराद्वनम् ॥१६॥

चन्द्रमाके समान प्रिय थे ॥३॥ प्रजाके उन मनुष्योंने रामचन्द्रसे लौट चलनेकी प्रार्थना की, पर पिताके वचनको सत्य करनेके लिए उन्होंने वन जाना ही स्थिर किया ॥४॥ अपने पुत्रोंके समान उन प्रजाओंको स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखते हुए रामचन्द्र बोले ॥५॥ अयोध्यावासियोंका जो प्रेम और जो आदरबुद्धि मुझमें है वह मेरी प्रसन्नताके लिए तुम लोग भरतमें करो ॥६॥ उनका चरित्र बड़ा ही सुन्दर है, वे केकयीके पुत्र हैं, वे आप लोगोंके प्रिय और हित करेंगे ॥७॥ वे यद्यपि बालक हैं, पर बड़े ज्ञानी हैं, उनका चित्त कोमल है, पराक्रमके सभी गुण उनमें वर्तमान हैं, वे ही तुम लोगोंके योग्य राजा हैं, वे तुम लोगोंकी रक्षा करेंगे ॥८॥ राजाने राजगुणसे युक्त भरतको ही युवराज बनाना निश्चित किया है, भरतको मैंने ही राजधर्मकी शिक्षा दी है, तुम लोगोंको राजाकी आज्ञा माननी चाहिये ॥९॥ मेरे वन जानेपर महाराजको जिस तरह कष्ट न हो वैसा तुम लोगोंको करना चाहिए, इसीसे मुझे प्रसन्नता होगी ॥१०॥ दासरथी रामचन्द्रने पिताके आज्ञापालनरूप धर्ममें जितनी अधिक दृढ़ता दिखायी, प्रजाके लोगोंने उतना ही रामचन्द्रको अपना राजा बनानेका दृढ़ निश्चय किया। रामचन्द्र वन जाना चाहते थे और प्रजा उन्हें राजा बनाना चाहती थी ॥११॥ रस्सीमें बँधे मनुष्यके समान रामचन्द्र तथा लक्ष्मणने दुःखी और रोते हुए पुरवासियोंको अपने साथ खींच लिया ॥१२॥ ज्ञान, वय और तपोबल इन तीनों गुणोंसे श्रेष्ठ वे वृद्ध ब्राह्मण, जिनका सिर वृद्धताके कारण काँप रहा था, दूरसे ही बोले ॥१३॥ रामचन्द्रको वन ले जानेवाले ए घोड़े, तुम लोग श्रेष्ठ जातिके हो, तुम लोग लौट आओ, वन मत जाओ, अपने स्वामी रामचन्द्रका कल्याण करो ॥१४॥ सभी प्राणियोंके कान होते, खासकर घोड़ोंके बड़े कान होते हैं, अतएव तुमलोगोंने हमारी प्रार्थना सुनी है, अब तुमलोग लौट आओ ॥१५॥ तुम लोगोंके स्वामी रामचन्द्र धर्मतः विशु-

एवमार्तप्रलापांस्तान्वृद्धान्प्रलपतो द्विजान्। अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह ॥१७॥
पद्भ्यामेव जगामाथ ससीतः सहलक्ष्मणः। संनिकृष्टपदन्यासो रामो वनपरायणः ॥१८॥
द्विजातीन्हि पदातींस्तान्रामश्चारित्रवत्सलः। न शशाक घृणाचक्षुः परिमोक्तुं रथेन सः ॥१९॥
गच्छन्तमेव तं दृष्ट्वा रामं संभ्रान्तमानसाः। ऊचुः परमसंतप्ता रामं वाक्यमिदं द्विजाः ॥२०॥
ब्राह्मण्यं कृत्स्नमेतत्त्वां ब्रह्मण्यमनुगच्छति। द्विजस्कन्धाधिरूढास्त्वामग्नयोऽप्यनुयान्त्वमी॥२१॥
वाजपेयसमुत्थानि च्छत्राण्येतानि पश्य नः। पृष्ठतोऽनुप्रयातानि मेघानिव जलात्यये ॥२२॥
अनवाप्तातपत्रस्य रश्मिसंतापितस्य ते। एभिश्छायां करिष्यामः स्वैश्छत्रैर्वाजपेयकैः ॥२३॥
या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी। त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी ॥२४॥
हृदयेष्ववतिष्ठन्ते वेदा ये नः परं धनम्। वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥२५॥
पुनर्न निश्चयः कार्यस्त्वद्गतौ सुकृता मतिः। त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्याद्धर्मपथे स्थितम् ॥२६॥
याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः। शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः ॥२७॥

द्धात्मा हैं, वीर हैं और उत्तम विचारोंमें दृढ़ रहनेवाले हैं। तुम लोगोंको चाहिये कि उन्हें नगरमें ले जाओ नकि नगरसे बाहर वनमें ॥१६॥ रामचन्द्रने उन वृद्धोंको इस प्रकार दुःखी होकर प्रलाप करते देखा और वे रथसे नीचे उतर पड़े ॥१७॥ सीता और लक्ष्मणके साथ रामचन्द्र धीरे-धीरे पैरोंसे ही चले। अयोध्याके लिये वे लौटे नहीं, क्योंकि वन जानेका उनका विचार दृढ़ था ॥१८॥ चरित्रवत्सलपर प्रेम करनेवाले दयादृष्टि रामचन्द्र रथके साथ ब्राह्मणोंको न लौटा सके अर्थात् जबतक वे रथपर थे तबतक उनके कहनेसे वे ब्राह्मण नहीं लौटे. अतएव रामचन्द्र रथसे उतरे ॥१९॥ रामचन्द्र जाही रहे हैं, लौटते नहीं, यह देखकर वे बहुत घबड़ा गये और बड़े दुःखी होकर वे रामचन्द्रसे बोले ॥२०॥ रामचन्द्र, यह ब्राह्मणोंका समूह तुम्हारे साथ जा रहा है, क्योंकि तुम ब्राह्मणोंके हितकारी हो, ब्राह्मणोंके कन्धेपर चढ़कर ये अग्निदेव भी तुम्हारे साथ जा रहे हैं ॥२१॥ हम लोगोंके पीछे चलनेवाले इन छत्रोंको देखो जो वाजपेय यज्ञमें मिले हैं और जो शरद् ऋतुके मेघके समान स्वच्छ हैं ॥२२॥ आपके पास छाता नहीं है आप धूपसे तप रहे हैं, हमलोग अपने इन छत्रोंसे जो वाजपेय यज्ञमें हमें मिले हैं, आपको छाया करेंगे, मतलब यह कि हम लोगोंके रहनेसे आपको सुख ही होगा, दुख नहीं ॥२३॥ हम लोग अबतक वेदमन्त्रोंका अभ्यास करते थे, उसीमें हम लोग लगे थे, अब हम लोगोंने आपके लिये अपने मनको वनवासके लिये तयार कर लिया है। हम लोग भी आपके साथ वनमें जायँगे ॥२४॥ जो वेद हमलोगोंके श्रेष्ठ धन हैं वे तो हम लोगोंके हृदयमें ही हैं और हम लोगोंकी स्त्रियाँ घरमें ही रहेंगी और उनकी रक्षा उनका चरित्र करेगा। अतएव आपके साथ वन जानेमें हम लोगोंको कोई कठिनता नहीं है ॥२५॥ आपके साथ वन जानेमें हम लोगोंको आज कोई नयी बात नहीं निश्चित करनी है, जो कुछ है वह पहलेसे निश्चित है। पर आपसे कुछ हम लोगोंका कहना है, यदि आपही धर्मका तिरस्कार करेंगे, ब्राह्मणवचनका पालनरूप धर्मकी ओरसे विमुख होंगे, तब कौन धर्मका पालन करेगा ॥२६॥ हम लोग प्रार्थना करते हैं आप लौट चलें, आप धर्मानुष्ठानमें अचल हैं, हम लोग हंसके समान श्वेत केशवाले सिरोंसे, जमीनपर लोटनेसे

बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः । तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने ॥२८॥
भक्तिमन्तीह भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च । याचमानेषु तेषु त्वं भक्तिं भक्तेषु दर्शय ॥२९॥
अनुगन्तुमशक्तास्त्वां मूलैरुद्धतवेगिनः । उन्नता वायुवेगेन विक्रोशन्तीव पादपाः ॥३०॥
निश्चेष्टाऽऽहारसंचारा वृक्षैकस्थाननिश्चिताः । पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पनम् ॥३१॥
एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने । ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम् ॥३२॥
ततः सुमन्त्रोऽपि रथाद्विमुच्य श्रान्तान्हयान्संपरिवर्त्य शीघ्रम् ।
पीतोदकांस्तोयपरिप्लुताङ्गानचारयद्वै तमसाविदूरे ॥३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः ४६

ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः । सीतामुद्वीक्ष्य सौमित्रिमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
इयमद्य निशा पूर्वा सौमित्रे प्रहिता वनम् । वनवासस्य भद्रं ते न चोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥
पश्य शून्यान्यरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः । यथा निलयमायद्भिर्निलीनानि मृगद्विजैः ॥ ३ ॥

जो धूलसे भर गये हैं, आपसे प्रार्थना करते हैं ॥२७॥ बहुतसे ब्राह्मणोंका—जो यहाँ आये हुए हैं यज्ञ फैला हुआ है, अर्थात् यज्ञ करनेकी सामग्री तयार है, वे यज्ञ तभी समाप्त हो सकते हैं, जब आप लौट चलें ॥२८॥ जंगम और स्थावर सभी प्राणी आपमें भक्ति रखते हैं, वे आपसे लौट चलनेकी प्रार्थना करते हैं, वे आपमें प्रेम रखते हैं, आप भी उनमें अपना प्रेम दिखावें ॥२९॥ मूलके कारण इन वृक्षोंमें वेग नहीं है. ये चल नहीं सकते, अतएव ये आपके साथ जानेमें असमर्थ हैं, पर ये ऊँचे वृक्ष वायुवेगके कारण मानो चिल्ला रहे हैं। वायुवेगके कारण जो शब्द हो रहा है मानों वृक्षका वह शब्द हो रहा है, मानो वृक्ष उस शब्दसे आपको लौटनेके लिए कह रहे हैं ॥३०॥ ये पक्षि भी निश्चेष्ट हो रहे हैं, केवल आहारके लिये चलते फिरते हैं और एकही वृक्षपर रहना इन्होंने निश्चित कर लिया है, ऐसे ये पक्षी भी सब प्राणियों पर दया करनेवाले आपसे लौट चलनेकी प्रार्थना करते हैं ॥३१॥ इस प्रकार लौटनेके लिए रामचन्द्रसे ब्राह्मणोंने प्रार्थना की, उसी समय रामचन्द्रको आगे जानेसे रोकती हुई तमसा नामकी नदी दीख पड़ी ॥३२॥ तदनन्तर सुमन्त्रने भी थके घोड़ोंको रथसे खोल दिया, उन्हें जल पिलाया, जलसे उन्हें धोया और तमसाके पासही उन्हें टहलाया ॥३३॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४५॥

तदनन्तर रमणीय तमसा तीरपर सीताको देखकर रामचन्द्र लक्ष्मणसे बोले ॥१॥ लक्ष्मण, यह आज वनवासकी पहली रात आयी, तुम्हारा कल्याण हो, तुम नगरके लिये उत्कण्ठित मत होओ ॥२॥ यह वन शून्य है, पशु-पक्षीका शब्द भी सुनायी नहीं देता। पशु और पक्षी अपने-अपने स्थानोंमें छिपे

अयोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम । सस्त्रीपुंसा गतानस्मान्शोचिष्यति न संशयः ॥ ४ ॥
अनुरक्ता हि मनुजा राजानं बहुभिर्गुणैः । त्वां च मां च नरव्याघ्र शत्रुघ्नभरतौ तथा ॥ ५ ॥
पितरं चानुशोचामि मातरं च यशस्विनीम् । अपि नान्धौ भवेतां नौ रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः ॥६॥
भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे । धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति ॥ ७ ॥
भरतस्यानृशंसत्वं संचिन्त्याहं पुनः पुनः । नानुशोचामि पितरं मातरं च महाभुज ॥ ८ ॥
त्वया कार्यं नरव्याघ्र मामनुव्रजता कृतम् । अन्वेष्टव्या हि वैदेह्या रक्षणार्थं सहायता ॥ ९ ॥
अद्भिरेव हि सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम् । एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति ॥१०॥
एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं सुमन्त्रमपि राघवः । अप्रमत्तस्त्वमश्वेषु भव सौम्येत्युवाच ह ॥११॥
सोऽश्वान्सुमन्त्रः संयम्य सूर्येऽस्तं समुपागते । प्रभूतयवसान्कृत्वा बभूव प्रत्यनन्तरः ॥१२॥
उपास्य तु शिवां सन्ध्यां दृष्ट्वा रात्रिमुपागताम् । रामस्य शयनं चक्रे सूतः सौमित्रिणा सह ॥१३॥
तां शय्यां तमसातीरे वीक्ष्य वृक्षदलैर्कृताम् । रामःसौमित्रिणा सार्धं सभार्यः संविवेश ह ॥१४॥
सभार्यं संप्रसुप्तं तु श्रान्तं संप्रेक्ष्य लक्ष्मणः । कथयामास सूताय रामस्य विविधान्गुणान् ॥१५॥
जाग्रतोरेव तां रात्रिं सौमित्रेरुदितो रविः । सूतस्य तमसातीरे रामस्य ब्रुवतो गुणान् ॥१६॥

पड़े हैं, अतएव मालूम होता है कि मानों यह वन हम लोगोंको देखकर रो रहा है ॥३॥ आज अयोध्या नगरी, हम लोगोंके पिताकी राजधानी, वहाँके स्त्री पुरुषोंके साथ वनमें आये हुए हम लोगोंके लिए अवश्य ही शोक प्रकाश करेगी ॥४॥ क्योंकि अयोध्याके मनुष्य राजाके अनेक गुणोंके कारण उनमें प्रेम रखते हैं, हे नरश्रेष्ठ, तुममें मुझमें तथा भरत शत्रुघ्नमें भी उनका प्रेम है ॥५॥ मैं भी पिता और यशस्विनी माताके लिए शोक करता हूँ, हम लोगोंके लिए सदा रोनेके कारण सम्भव है वे अन्धे न हो जाँय ॥६॥ धर्मात्मा भरत मेरे पिता और माताको धर्मार्थ कामयुक्त वचनोंसे आश्वासित करेंगे ॥७॥ भरतकी दयालुताका स्मरण करके, हे महाभुज, मैं अपने पिता-माताके लिये चिन्तित नहीं हूँ ॥८॥ हे नरश्रेष्ठ, मेरे वनमें चलनेके समय तुमने कर्तव्य-पालन किया है, नहीं तो यदि तुम मेरे साथ न आते तो जानकीकी रक्षाके लिए मुझे सहायक ढूँढ़ना पड़ता ॥९॥ लक्ष्मण, यद्यपि वनकी अनेक वस्तु भोजनके लिए हैं, तथापि मैं आज रातको जलपर ही रहना चहता हूँ, क्योंकि यही मुझे अच्छा लगता है ॥१०॥ लक्ष्मणसे ऐसा कहकर रामचन्द्र सुमन्त्रसे बोले—सौम्य, तुमभी सावधान होकर घोड़ोंको देखो ॥११॥ सूर्यके अस्त हो जानेपर सुमन्त्रने घोड़े बाँध दिये और उनके सामने काफी घास रखकर आगेके काममें लगे ॥१२॥ रात आ रही है यह देखकर सुमन्त्रने लक्ष्मणके साथ कल्याणकारिणी सन्ध्याकी उपासना की और तदनन्तर रामचन्द्रके सोनेके योग्य स्थान उन लोगोंने निश्चित किया ॥१३॥ तमसाके तीरपर वृक्षके पत्तोंसे बनी शय्या रामचन्द्रने देखी, और वे लक्ष्मण तथा सीताके साथ उसपर बैठे ॥१४॥ थके हुए रामचन्द्र अपनी भर्या सीताके साथ सो रहे हैं, यह देखकर लक्ष्मण रामचन्द्रके अनेक गुणोंका वर्णन सुमन्त्रसे करने लगे ॥१५॥ तमसाके तीरपर लक्ष्मण और सुमन्त्र उस रातको रामचन्द्रके गुणोंका वर्णन करते हुए

गोकुलाकुलतीरायास्तमसाया विदूरतः । अवसत्तत्र तां रात्रिं रामः प्रकृतिभिः सह ॥१७॥
उत्थाय च महातेजाः प्रकृतीस्ता निशाम्य च । अब्रवीद्भ्रातरं रामो लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम् ॥१८॥
अस्मद्व्यपेक्षान्सौमित्रे निर्व्यपेक्षान्गृहेष्वपि । वृक्षमूलेषु संसक्तान्पश्य लक्ष्मण सांप्रतम् ॥१९॥
यथैते नियमं पौराः कुर्वन्त्यस्मन्निवर्तने । अपि प्राणान्न्यसिष्यन्ति न तु त्यक्ष्यन्ति निश्चयम् २०
यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वयं लघु । रथमारुह्य गच्छामः पन्थानमकुतोभयम् ॥२१॥
अतो भूयोऽपि नेदानीमिक्ष्वाकुपुरवासिनः । स्वपेयुरनुरक्ता मां वृक्षमूलेषु संश्रिताः ॥२२॥
पौरा ह्यात्मकृताद्दुःखाद्विप्रमोच्या नृपात्मजैः । न तु खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः ॥२३॥
अब्रवील्लक्ष्मणो रामं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम् । रोचते मे तथा प्राज्ञ क्षिप्रमारुह्यतामिति ॥२४॥
अथ रामोऽब्रवीत्सूतं शीघ्रं संयुज्यतां रथः । गमिष्यामि ततोऽरण्यं गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ।२५।
सूतस्ततः संत्वरितः स्यन्दनं तैर्हयोत्तमैः । योजयित्वा तु रामस्य प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत् ॥२६॥
अयं युक्तो महाबाहो रथस्ते रथिनां वर । त्वरयारोह भद्रं ते ससीतः सहलक्ष्मणः ॥२७॥
तं स्यन्दनमधिष्ठाय राघवः सपरिच्छदः । शीघ्रगामाकुलावर्तां तमसामतरन्नदीम् ॥२८॥
स संतीर्य महाबाहुः श्रीमाञ्छिवमकण्टकम् । प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शिनाम् ॥२९॥

जागते ही रहे और इधर सूर्योदय हो गया ॥१६॥ तमसाके तीरपर गौओंका समूह था, इस कारण रामचन्द्र वहाँसे कुछ दूर हटकर पुरवासियोंके साथ उस रातको निवास किया ॥१७॥ महातेजस्वी रामचन्द्र उठे । पुरवासियोंको सोते सुलक्षण भाई लक्ष्मणसे वे बोले ॥१८॥ लक्ष्मण, हम ही लोगोंसे प्रेम करनेवाले तथा घरकी ओरसे उदासीन ये पुरवासी वृक्षोंकी जड़में सो रहे हैं, इन्हें देखो ॥१९॥ ये पुरवासी हम लोगोंके लौटानेके लिये जैसा प्रयत्न कर रहे है उससे मालूम पड़ता है कि ये लोग अपने प्राण छोड़ देंगे, पर अपने निश्चयसे नहीं टलेंगे ॥२०॥ जब तक ये लोग सो रहे हैं तभी तक शीघ्रतापूर्वक रथपर चढ़कर हमलोग चलें, इस रास्तेमें कहीं भय नहीं है ॥२१॥ यहाँसे शीघ्रही चलना चाहिए, क्योंकि हममें अनुराग रखनेवाले ये इक्ष्वाकुपुरवासी जो वृक्ष मूलमें सो रहे हैं, और अधिक देर तक नहीं सोयेंगे ॥२२॥ राजपुत्रोंको चाहिए कि वे पुरवासियोंके उन दुःखोंको दूर करें जो दुःख उन लोगोंने स्वयं अपने लिए बनाये हैं, अपना दुःख पुरवासियोंको नहीं देना चाहिए, राजपुत्रको चाहिए कि वे अपना (राजपुत्रका) दुःख पुरवासियोंको न भोगने दें ॥२३॥ साक्षात् धर्मरूपमें वर्तमान् रामचन्द्रसे लक्ष्मण बोले—प्राज्ञ, मुझे भी यह विचार अच्छा मालूम पड़ता है, आप शीघ्र ही रथपर बैठें ॥२४॥ रामचन्द्रने सुमन्त्रसे कहा—घोड़े जोतो, जिससे हम शीघ्र ही यहाँसे वनमे जा सकें ॥२५॥ सारथिने शीघ्रही रथमें उत्तम घोड़े जोते और रामचन्द्रसे कहा कि रथ तयार है ॥२६॥ महाबाहु रथिश्रेष्ठ, रथ जोता गया, आप शीघ्र सीता और लक्ष्मणके साथ सवार हों ॥२७॥ अपने साथियोंके साथ रथपर चढ़कर वेगसे चलनेवाली और आवर्तवाली तमसा नदीके पार गये ॥२८॥ महाबाहु श्रीमान् रामचन्द्र नदी

मोहनार्थं तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद्वचः । उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमारुह्य सारथे ॥३०॥
मुहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः । यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः ॥३१॥
रामस्य तु वचः श्रुत्वा तथा चक्रे च सारथिः । प्रत्यागम्य च रामस्य स्यन्दनं प्रत्यवेदयत् ॥३२॥
तौ संप्रयुक्तं तु रथं समास्थितौ तदा ससीतौ रघुवंशवर्धनौ ।
प्रचोदयामास ततस्तुरंगमान्स सारथिर्येन पथा तपोवनम् ॥३३॥
ततः समास्थाय रथं महारथः ससारथिर्दाशरथिर्वनं ययौ ।
उदङ्मुखं तं तु रथं चकार प्रयाणमाङ्गल्यनिमित्तदर्शनात् ॥३४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः ४७

प्रभातायां तु शर्वर्यां पौरास्ते राघवं विना । शोकोपहतनिश्चेष्टा बभूवुर्हतचेतसः ॥ १ ॥
शोकजाश्रुपरिद्यूना वीक्षमाणास्ततस्ततः । आलोकमपि रामस्य न पश्यन्ति स्म दुःखिताः ॥ २ ॥
ते विषादार्तवदना रहितास्तेन धीमता । कृपणाःकरुणा वाचो वदन्ति स्म मनीषिणः ॥ ३ ॥
धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहतचेतसः । नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम् ॥ ४ ॥
कथं रामो महाबाहुः स तथावितथक्रियः । भक्तं जनमभित्यज्य प्रवासं तापसो गतः ॥ ५ ॥

पार करके डरनेवालोंके लिए भी अभय, शत्रुहीन और कल्याणमय मार्गपर गये ॥२९॥ नगरवासियोंको भुलवानेके लिए (जिससे वे रथकी लीकसे पता न पा सकें) रामचन्द्रने सारथिसे कहा, रथपर चढ़कर आप उत्तरकी ओर रथ ले चलें ॥३०॥ थोड़ी दूर ऐसा जाकर पुनः रथ लौटा लें, सावधानीसे ऐसा करें, जिससे नगरवासी मुझे जान न सकें, मैं किधर गया हूँ इसका पता उन्हें न लग सके ॥३१॥ रामचन्द्रके वचन सुनकर सारथिने वैसाही किया, तदनन्तर रामचन्द्रके पास आकर सारथिने रथपर सवार होनेके लिए कहा ॥३२॥ जोते हुए रथपर वे राम और लक्ष्मण सीताके साथ बैठे, सारथिने रथको वन जानेवाले रास्तेपर चलाया ॥३३॥ महारथ दासरथि रामचन्द्र सारथिके साथ रथपर बैठे । सारथिने रथको उत्तर-की ओर किया, जिससे शुभ शकुन दीख पड़े ॥३४॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका छियालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४६॥

रात बीत जानेपर प्रातःकाल नगरवासी, रामचन्द्रके बिना, शोकके कारण कर्तव्यशून्य हो गये, उनका ज्ञान जाता रहा, वे बेहोश होगये ॥१॥ कुछ होश होनेपर वे रोने लगे, चारों ओर रामचन्द्रको देखने लगे, पर वे दुःखी पुरवासी रामचन्द्रका कोई चिन्ह भी नहीं देख सके ॥२॥ रामचन्द्रके न रहनेसे वे बड़े दुःखी हुए, दुःखके कारण उनका मुँह सूख गया, उनका कर्तव्य-ज्ञान जाता रहा, वे बुद्धिमान थे, तथापि आपसमें दीन वचन बोलने लगे ॥३॥ उन लोगोंने कहा—उस निद्राको धिक्कार, जिसके द्वारा बेहोश होकर हमलोग विशालवक्षा महाबाहु रामचन्द्रको नहीं देख रहे हैं ॥४॥ सदा मर्यादा पालन

यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान् । कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः ॥ ६ ॥
इहैव निधनं याम महाप्रस्थानमेव वा । रामेण रहितानां नो किमर्थं जीवितं हितम् ॥ ७ ॥
सन्ति शुष्काणि काष्ठानि प्रभूतानि महान्ति च । तैः प्रज्वाल्य चितां सर्वे प्रविशामोऽथवा वयम् ॥ ८ ॥
किं वक्ष्यामो महाबाहुरनसूयः प्रियंवदः । नीतः स राघवोऽस्माभिरिति वक्तुं कथं क्षमम् ॥ ९ ॥
सा नूनं नगरी दीना दृष्ट्वास्मान्राघवं विना । भविष्यति निरानन्दा सस्त्रीबालवयोऽधिका ॥१०॥
निर्यातास्तेन वीरेण सह नित्यं महात्मना । विहीनास्तेन च पुनः कथं द्रक्ष्याम तां पुरीम् ॥११॥
इतीव बहुधा वाचो बाहुमुद्यम्य ते जनाः । विलपन्ति स्म दुःखार्ता हृतवत्सा इवाग्र्यगाः ॥१२॥
ततो मार्गानुसारेण गत्वा किंचित्ततः क्षणम् । मार्गनाशाद्विषादेन महता समभिप्लुताः ॥१३॥
रथमार्गानुसारेण न्यवर्तन्त मनस्विनः । किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति ॥१४॥
तदा यथागतेनैव मार्गेण क्लान्तचेतसः । अयोध्यामगमन्सर्वे पुरीं व्यथितसज्जनाम् ॥१५॥
आलोक्य नगरीं तां च क्षयव्याकुलमानसाः । आवर्तयन्त तेऽश्रूणि नयनैः शोकपीडितैः ॥१६॥
एषा रामेण नगरी रहिता नातिशोभते । आपगा गरुडेनेव ह्रदादुद्धृतपन्नगा ॥१७॥

करनेवाले महाबाहु रामचन्द्र हम भक्तोंको छोड़कर तापस वेषसे कैसे प्रस्थान कर गये ? ॥५॥ जिस प्रकार पिता अपने औरसपुत्रका पालन करता है उसी प्रकार रामचन्द्र हम लोगोंका पालन करते हैं, वे रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ रामचन्द्र हम लोगोंको छोड़कर वन क्यों चले गये ? ॥६॥ हम लोग यहीं मर जाँयगे अथवा मरनेके लिए हिमालय पर्वतपर चले जाँयगे, क्योंकि रामचन्द्रके बिना हम लोगोंके जीनेका क्या फल है, कौनसा सुख है ॥७॥ यहाँ बहुत अधिक सूखी लकड़ी है, हमलोग चिता बनाकर और उसे जलाकर उसमें प्रवेश करें ॥८॥ यदि हमलोग अयोध्या लौट जाँय और वहाँ वाले रामचन्द्रका समाचार पूछें तो हम लोग क्या यही कहेंगे कि प्रियवादी रामचन्द्रको हम लोग वनमें भेज आये, पर यह कह कैसे सकेंगे ॥९॥ वह नगरी रामचन्द्रके बिना जब हम लोगोंको देखेगी, तब अवश्यही दुःखी होगी, वहाँके स्त्री बालक वृद्ध सभी दुःखी होंगे ॥१०॥ हम लोग उस वीर महात्मा रामचन्द्रके साथ उस नगरीसे निकले थे, अब उनके बिना हम लोग उस नगरीमें कैसे जायँगे ॥११॥ इस प्रकार वे हाथ ऊपर उठाकर तरह-तरहका विलाप करने लगे, बछड़ेके वियोग होनेपर गौके समान दुःखित हुए, ॥१२॥ बड़े प्रयत्नसे रामचन्द्रके मार्गका पता लगाकर वे उसी ओर चले, पर आगे जाकर उनका मार्ग नष्ट हो गया, मार्गका कोई चिह्न नहीं मिला, इससे वे बहुत ही दुःखी हुए ॥१३॥ उन लोगोंने थोड़ी दूर तक रथ-मार्गका अनुसरण किया, आगे जानेपर उन्हें रथका मार्ग न मिला, भाग्यही फूट गये ॥१४॥ तब हताश होकर वे जिस रास्तेसे आये थे, उसी रास्तेसे दुःखित मनसे अयोध्या लौटे, उस समय अयोध्यावासी सज्जन बहुतही दुःखित थे ॥१५॥ अयोध्या नगरीमें झाड़ू बहारू आदि कुछ भी नहीं पड़ता था, इससे नगरीकी शोभा नष्ट हो गयी थी, नगरीकी ऐसी दशा देखकर शोकपीड़ित आँखोंसे वे आँसू बहाने लगे ॥१६॥ रामचन्द्रके बिना उस नगरीकी शोभा बिलकुल नष्ट हो गयी थी, वह नगरी वैसीही श्रीहीन हो गयी

चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम् । अपश्यन्निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः ॥१८॥
ते तानि वेश्मानि महाधनानि दुःखेन दुःखोपहता विशन्तः ।
नैव प्रजज्ञुः स्वजनं परं वा निरीक्षमाणाः प्रविनष्टहर्षाः ॥१९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥४७॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः ४८

तेषामेवं विषण्णानां पीडितानामतीव च । बाष्पविप्लुतनेत्राणां सशोकानां मुमूर्षया ॥ १ ॥
अभिगम्य निवृत्तानां रामं नगरवासिनम् । उद्गतानीव सत्त्वानि बभूवुरमनस्विनाम् ॥ २ ॥
स्वं स्वं निलयमागम्य पुत्रदारैः समावृताः । अश्रूणि मुमुचुः सर्वे बाष्पेण पिहिताननाः ॥ ३ ॥
न चाहृष्यन्न चामोदन्वणिजो न प्रसारयन् । न चाशोभन्त पण्यानि नापचन्गृहमेधिनः ॥ ४ ॥
नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन्विपुलं वा धनागमम् । पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाप्यनन्दत ॥ ५ ॥
गृहे गृहे रुदत्यश्च भर्तारं गृहमागतम् । व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्भिस्तोत्त्रैरिव द्विपान् ॥६॥
किं नु तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः धनेन वा । पुत्रैर्वापि सुखैर्वापि ये न पश्यन्ति राघवम् ॥ ७ ॥

थी जैसीकि नदी जिसमेंका सर्प गरुड़के द्वारा हटा लिया गया हो ॥१७॥ चन्द्रहीन आकाशके समान, जलहीन समुद्रके समान उस नगरीको उन लोगोंने आनन्दहीन देखा और वे बेहोश हो गये ॥१८॥ वे दुःखित पुरवासी धनधान्यपूर्ण अपने घरोंमें दुःखसे गये, उनका आनन्द नष्ट हो गया था । वे देख रहे थे पर कौन अपना है तथा कौन बिराना है यह वे न जान सके ॥१९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४७॥

वे सब मृतकके समान हो गये थे, शोकके कारण उनकी आँखोंसे आँसू गिर रहा था, वे अत्यन्त उदासीन तथा दुःखी थे । रामचन्द्रके साथ जाकर लौटे हुए वे खिन्नमन हो गये थे, उनका मन किसी काममें नहीं लगता था उनके प्राण निकल रहे थे ॥१–२॥ वे सब अपने-अपने घर आये, अपने स्त्रीपुत्रोंसे मिले और आँसू बहाने लगे, आँसूसे उनके मुँह भर आये ॥३॥ बनिये किसी वस्तुके पानेसे सन्तुष्ट नहीं हुए अतएव प्रसन्न भी नहीं हुए । दुकानें भी उन लोगोंने न खोलीं, वहाँकी सब शोभा नष्ट हो गयी थी, गृहस्थोंके घर भोजन भी नहीं बना ॥४॥ चोरी गयी चीजके मिलजानेसे अथवा अधिक धन मिल जानेसे वे प्रसन्न न हुए, पहले पहल पुत्र उत्पन्न करके माता भी प्रसन्न नहीं हुई ॥५॥ प्रत्येक घरकी स्त्रियाँ अपने पतिको घरमें आया देखकर रोने लगीं और दुःखित होकर निन्दा वचनोंसे उनको बेधने लगीं, जिस प्रकार हाथी अंकुशसे बेधा जाता है ॥६॥ वे कहने लगीं, उन लोगोंको घरसे क्या करना है, स्त्री, धन, पुत्र

एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया । योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन्वने ॥ ८ ॥
आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च । येषु यास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि ॥९॥
शोभयिष्यंति काकुत्स्थमटव्यो रम्यकाननाः । आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः ॥१०॥
काननं वापि शैलं वा यं रामोऽनुगमिष्यति । प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैनं शक्ष्यन्त्यनर्चितुम ॥११॥
विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः । राघवं दर्शयिष्यन्ति नगा भ्रमरशालीनः ॥१२॥
अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च । दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद्गिरयो राममागतत् ॥१३॥
प्रस्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः । विदर्शयन्तो विविधान्भूयश्चित्रांश्च निर्झरान्॥१४॥
पादपाः पर्वताग्रेषु रमयिष्यंति राघवम् । यत्र रामो भयं नात्र नास्ति तत्र पराभवः ॥१५॥
स हि शूरो महाबाहुः पुत्रो दशरथस्य च । पुरा भवति नोऽदूरादनुगच्छाम राघवम् ॥१६॥
पादच्छाया सुखं भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः । स हि नाथो जनस्यास्य स गतिः स परायणम्॥१७॥
वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं च राघवम् । इति पौरस्त्रियो भर्तृन्दुःखार्तास्तत्तदब्रुवन् ॥१८॥
युष्माकं राघवोऽरण्ये योगक्षेम विधास्यति । सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥१९॥
कोन्वनेनाप्रतीतेन सोत्कण्ठितजनेन च । संप्रीयेतामनोज्ञेन वासेन हृतचेतसा ॥२०॥

अथवा अन्य सुखोंसे भी उन्हें कौन लाभ, जो रामचन्द्रको नहीं देखते ॥७॥ इस संसारमें एकही सत्पुरुष लक्ष्मण हैं जो सीताके साथ रामचन्द्रकी सेवा करनेके लिये उनके साथ वनमें गये ॥८॥ उन्हीं नदियोंने पुण्य किया है, उन्हीं कमलवाले तालाबोंने पुण्य किया है, जिनके स्वच्छ जलमें स्नान करके रामचन्द्र वन जायेंगे ॥९॥ सुन्दर वृक्षवाले वन, जलवाली नदियाँ और सुन्दर शिखरवाले पर्वत रामचन्द्रको सुशोभित करेंगे ॥१०॥ रामचन्द्र जिस वनमें या जिस पर्वतपर जायँगे, वे अपने यहाँ आये प्रिय अतिथिके समान रामचन्द्रकी बिना पूजा किये न रहेंगे ॥११॥ विचित्र पुष्पोंके शिरोभूषणवाले, बहुत मंजरी धारण करनेवाले और भ्रमरोंसे युक्त पर्वत रामचन्द्रको अपने स्वरूप दिखावेंगे ॥१२॥ पर्वतोंके वृक्ष अकालमें ही—फलने फूलनेके अतिरिक्त समयमें—रामचन्द्रमें अत्यन्त आदर होनेके कारण उनको फल-फूल दिखावेंगे ॥१३॥ पर्वत विमल जल बहावेंगे, और तरह-तरहके सुन्दर झरने वे दिखावेंगे ॥१४॥ वृक्ष पर्वतोंके शिखरपर रामचन्द्रको प्रसन्न करेंगे । जहाँ रामचन्द्र हैं वहाँ भय कैसा, और शत्रु द्वारा होनेवाला पराजय कहाँ ॥१५॥ महाबाहु वीर रामचन्द्र दसरथके पुत्र जबतक बहुत दूर नहीं चले जाते, तभी तक हमलोग उनके पास चलें ॥१६॥ वैसे महात्मा स्वामीके चरणोंके पास रहना बड़ा सुख है, वे हमलोगोंके स्वामी हैं, हम सबकी गति हैं और अन्तिम स्थान हैं ॥१७॥ हम लोग सीताको सेवा करेंगी और आपलोग रामचन्द्रकी सेवा करेंगे, इस प्रकारकी बातें पुरस्त्रियोंने अपने-अपने पतिसे कहीं ॥१८॥ रामचन्द्र वनमें आप लोगोंके योगक्षेमकी व्यवस्था करेंगे, और स्त्रियोंके योगक्षेमकी व्यवस्था सीता करेंगी ॥१९॥ सज्जनोंके लिये अयोग्य इस नगरवाससे कौन मनुष्य प्रसन्न होगा, क्योंकि यहाँ रहनेसे रामचन्द्रके अभावका दुःख सदा बना रहेगा, यहाँ रहनेसे उद्वेग रहता है और चित्तभ्रम भी होता है, ऐसा रहना

कैकेय्या यदि चेद्राज्यं स्यादधर्म्यमनाथनत् । नहि नो जीवितेनार्थः कुतः पुत्रैः कुतो धनैः ॥२१॥
यया पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावैश्वर्यकारणात् । कं सा परिहरेदन्यं कैकेयी कुलपांसनी ॥२२॥
कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका हि वसेमहि । जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे ॥२३॥
या पुत्रं पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्घृणा । कस्तां प्राप्य सुखं जीवेदधर्म्यां दुष्टचारिणीम् ॥२४॥
उपद्रुतमिदं सर्वमनालम्भमनायकम् । कैकेयास्तु कृते सर्वं विनाशमुपयास्यति ॥२५॥
नहि प्रव्रजिते रामे जीविष्यति महीपतिः । मृते दशरथे व्यक्तं विलोपस्तदनन्तरम् ॥२६॥
ते विषं पिबतालोड्य क्षीणपुण्याः सुदुःखिताः । राघवं वानुगच्छध्वमश्रुतिं वापि गच्छत ॥२७॥
मिथ्या प्रव्राजितो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः । भरते संनिबद्धाः स्म सौनिके पशवो यथा ॥२८॥
पूर्णचन्द्राननः श्यामो गूढजत्रुररिंदमः । आजानुबाहुः पद्माक्षो रामो लक्ष्मणपूर्वजः ॥२९॥
पूर्वाभिभाषी मधुरः सत्यवादी महाबलः । सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत्प्रियदर्शनः ॥३०॥
नूनं पुरुषशार्दूलो मत्तमातङ्गविक्रमः । शोभयिष्यत्यरण्यानि विचरन्स महारथः ॥३१॥

कौन पसन्द करेगा ॥२०॥ रामचन्द्र जब न रहेंगे तब यह राज्य केकयीका होगा और उस अधर्म राज्यमें हम लोग अनाथके समान हो जायँगे । उस समय हमलोगोंके जीनेसे ही क्या लाभ ? पुत्रों और धनसे क्या लाभ ? अधर्म राज्यमें रहनेसे जीना ही कठिन हो जायगा, फिर पुत्र और धनसे क्या प्रयोजन ॥२१॥ जिस कुलकलंकिनी केकयीने धनके लिये पुत्र और पतिका त्याग किया, वह दूसरे किसीको छोड़ेगी ? ॥२२॥ केकयीके पतित राज्यमें चाहे वह हम लोगोंका भलेही पालन-पोषण करे, जीतेजी हमलोग न रहेंगी, यह बात हम लोग अपने पुत्रोंकी शपथ करके कहती हैं ॥२३॥ जिस क्रूर केकयीने राजा दसरथके पुत्रको वनमें भेजा है, उस अधार्मिक दुष्टाचारवाली केकयीके राज्यमें कौन सुखपूर्वक रह सकता है ॥२४॥ केकयीके कारणसे इस राज्यमें अनेक उपद्रव होंगे, कोई जिम्मेदार शासक न रहेगा, यागयज्ञका होना बन्द हो जायगा, इस प्रकार समस्त राज्यका नाश हो जायगा ॥२५॥ रामचन्द्रके चले जानेपर राजा दसरथ जी न सकेंगे और राजा दसरथके मरनेपर इस समृद्ध राज्यका नाश हो जायगा ॥२६॥ अब आप लोग इस बातपर विचार करें, रामरूपी धनके निकलजानेसे आप लोग नितान्त दरिद्र हो गये हैं, या तो आप लोग विष पीलें, या रामचन्द्रके साथ वन जाँय अथवा ऐसी जगह चले जाँय जहाँ जानेसे आप लोगोंकी कोई खबर ही न लगे ॥२७॥ सीता और लक्ष्मणके साथ रामचन्द्र व्यर्थ ही वन गये हैं, जिस प्रकार कसाईके अधीन पशु होते हैं उसी प्रकार हम लोग भी भरतके अधीन किये गये हैं ॥२८॥ साँवले रामचन्द्रका मुँह चन्द्रमाके समान सुन्दर है, उनके कन्धेकी हड्डी छिपी हुई है, वे शत्रुओंको दमन करनेवाले हैं, उनकी भुजाएँ लम्बी हैं, कमलके समान उनकी आँखें हैं और लक्ष्मणके बड़े भाई हैं ॥२९॥ आगन्तुक प्रार्थियोंसे पहले ही बोलते हैं, सरल स्वभावके सत्यवादी और महाबलवान हैं, वे सौम्य तथा सब लोगोंको चन्द्रमाके समान प्रिय-दर्शन हैं ॥३०॥ वे पुरुसिंह मतवाले हाथीके समान पराक्रमी हैं, वे

तास्तथा विलपन्त्यस्तु नगरे नागरस्त्रियः । चुक्रुशुर्दुःखसंतप्ता मृत्योरिव भयागमे ॥३२॥
इत्येवं विलपन्तीनां स्त्रीणां वेश्मसु राघवम् । जगामास्तं दिनकरो रजनी चाभ्यवर्तत ॥३३॥
नष्टज्वलनसंतापा प्रशान्ताध्यायसत्कथा । तिमिरेणानुलिप्तेव तदा सा नगरी बभौ ॥३४॥
उपशान्तवणिक्पण्या नष्टहर्षा निराश्रया । अयोध्या नगरी चासीन्नष्टतारमिवाम्बरम् ॥३५॥

तदा स्त्रियो रामनिमित्तमातुरा यथा सुते भ्रातरि वा विवासिते ।
विलप्य दीना रुरुदुर्विचेतसः सुतैर्हि तासामधिकोऽपि सोऽभवत् ॥३६॥
प्रशान्तगीतोत्सवनृत्यवादना विभ्रष्टहर्षा पिहितापणोदया ।
तदा ह्ययोध्या नगरी बभूव सा महार्णवः संक्षपितोदको यथा ॥३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः ४९

रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम् । जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन् ॥ १ ॥
तथैव गच्छतस्तस्य व्यापायाद्रजनी शिवा । उपास्य तु शिवां संध्यां विषयानत्यगाहत ॥ २ ॥

महारथके वनमें घूमेंगे और वनकी शोभा बढ़ावेंगे ॥३१॥ वे पुरवासिनी स्त्रियाँ दुःखसे पीड़ित होकर इस प्रकार विलाप करने लगीं. जिस प्रकार मृत्युके आनेके भयसे मनुष्य दुःखित होकर रोता है ॥३२॥ इस प्रकार अपने-अपने घरोंमें रामचन्द्रके लिये स्त्रियाँ विलाप करती थीं और सूर्यास्त हो गया तथा रात आयी ॥३३॥ अग्निकी ज्वाला नष्ट हो गयी (होम आदिके लिये भी अग्निका प्रकाश नहीं हुआ), अध्ययन और धार्म्मिक कथाएँ बन्द हुईं, मालूम होता था कि वह नगरी उस समय अन्धकारसे पोती हुईके समान हो गयी थी ॥३४॥ बनियोंकी दूकानें बन्द हो गयीं, चहल-पहल जाती रही, रामचन्द्रके न रहनेमें आश्रयहीन वह नगरी, ताराहीन आकाशके समान मालूम होती थी ॥३५॥ पुत्र या भाईके निर्वासनसे जैसा दुःख होता है, अयोध्याकी स्त्रियोंने रामचन्द्रके लिये वैसाही दुःख प्रकाशित किया। वे दुःखिनी विलाप करके रोती हुई गेहोश हो गयीं। उस समय रामचन्द्र उनके पुत्रोंसे भी बढ़कर हुए ॥३६॥ उस समय अयोध्यामें गान, उत्सव, नाच, बाजा आदि बन्द हो गये, आनन्द जाता रहा, बाजार बन्द हो गया, उस समय अयोध्या नगरी जलहीन समुद्रके समान मालूम होती थी ॥३७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥४८॥

रामचन्द्र भी उसी अवशिष्ट रातमें पिताकी आज्ञाका स्मरण करते हुए बहुत दूर चले गये ॥१॥ उसी प्रकार चलते हुए रामचन्द्रकी कल्याणमयी रात बीत गयी। प्रातःकालकी सन्ध्या करके वे आगे

ग्रामान्विकृष्टसीमान्तान्पुष्पितानि वनानि च । पश्यन्नतिययौ शीघ्रं शनैरिव हयोत्तमैः ॥ ३ ॥
शृण्वन्वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् । राजानं दिग्दशरथं कामस्य वशमास्थितम् ॥ ४ ॥
हा नृशंसाद्य कैकेयी पापा पापानुबन्धिनी । तीक्ष्णा संभिन्नमर्यादा तीक्ष्णकर्मणि वर्तते ॥ ५ ॥
या पुत्रमीदृशं राज्ञः प्रवासयति धार्मिकम् । वनवासे महाप्राज्ञं सानुक्रोशं जितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥
अहो दशरथो राजा निःस्नेहः स्वसुतं प्रति । प्रजानामनघं रामं परित्यक्तुमिहेच्छति ॥ ७ ॥
एता वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् । शृण्वन्नतिययौ वीरः कोसलान्कोसलेश्वरः ॥ ८ ॥
ततो वेदश्रुतिं नाम शिववारिवहां नदीम् । उत्तीर्याभिमुखः प्रायादगस्त्याध्युषितां दिशम् ॥९॥
गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शीतवहां नदीम् । गोमतीं गोयुतानूपामतरत्सागरंगमाम् ॥१०॥
गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः । मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम् ॥११॥
स महीं मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा । स्फीतां राष्ट्रवृतां रामो वैदेहीमन्वदर्शयत् ॥१२॥
सूत इत्येव चाभाष्य सारथिं तमभीक्ष्णशः । हंसमत्तस्वरः श्रीमानुवाच पुरुषोत्तमः ॥१३॥
कदाहं पुनरागम्य सरय्वाः पुष्पिते वने । मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च संगतः ॥१४॥
नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने । रतिर्ह्येषातुला लोके राजर्षिगणसंमता ॥१५॥

दूसरे देशमें गये ॥२॥ गाँवोंकी सीमापर जोते हुए खेत और फूले वनोंको देखते हुए रामचन्द्र उत्तम घोड़ोंके द्वारा चले ॥३॥ बड़े-बड़े गाँवों और छोटे-छोटे गाँवोंमें रहनेवाले मनुष्योंकी बातें सुनते हुए वे चले, वे कहते थे—राजा दसरथको धिक्कार जो कामके वश हो गये हैं ॥४॥ पापिन केकयी, हा, तू सदा पाप करनेवाली है, तू बड़ा झूठ मर्यादा नष्ट करनेवाली तथा क्रूरकर्म करनेवाली है ॥५॥ क्योंकि तूने ऐसे धार्म्मिक महाबुद्धिमान दयालु और जितेन्द्रिय राजपुत्रको वन भेजा है ॥६॥ आश्चर्य है कि राजा दसरथ अपने पुत्रके प्रति ऐसे स्नेहहीन कैसे हो गये, जो प्रजाओंके दुःख दूर करनेवाले रामचन्द्रका त्याग करना चाहते हैं ॥७॥ इस प्रकार बड़े गाँव व छोटे गाँवके रहनेवाले मनुष्योंकी बातें सुनते हुए वीर कोसलेश्वर कोसल देशके बाहर चले गये ॥८॥ तदन्तर वेदश्रुति नामकी नदी जिसमें सुन्दर जल बहता है, पार उतरकर अगस्त्यकी दिशा-दक्षिण दिशाकी ओर चले ॥९॥ वहाँसे बहुत देरतक आगे चलकर उन लोगोंने गोमती नदीको पार किया, इस नदीमें ठंढा जल बहता है, इसके तीरपर गौओंका समूह रहता है तथा यह नदी समुद्रमें जाकर मिलती है ॥१०॥ शीघ्रगामी घोड़ोंके द्वारा गोमती नदीको पार करके रामचन्द्र स्यन्दिका नदीको पार किया, जहाँ हंस, मयूर आदिके शब्द होते हैं ॥११॥ स्यन्दिका नदीके पार जानेपर रामचन्द्रने सीताको कोसलदेशकी दक्षिणी सीमा दिखायी, जो कोसलदेश पहले राजा मनुने इक्ष्वाकुको दिया था, जो बड़ा ही विशाल है तथा जिसमें अनेक राष्ट्र हैं ॥१२॥ सारथिको 'सूत' इस प्रकार बार-बार सम्बोधित करके मतवाले हंसके स्वरमें पुरुषोत्तम रामचन्द्र बोले ॥१३॥ कब मैं पुनः लौटकर माता-पितासे मिलकर सरयूतीरके पुष्पित वनमें अहेर खेलूँगा ? ॥१४॥ मैं सरयूवनमें अहेर खेलना बहुत पसन्द नहीं करता, किन्तु

राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन्रत्यर्थं मृगयावने । काले कृतां तां मनुजैर्धन्विनामभिकाङ्क्षिताम् ॥१६॥
स तमध्वानमैक्ष्वाकः सूतं मधुरया गिरा । तं तमर्थमभिप्रेत्य ययौ वाक्यमुदीरयन् ॥१७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः ५०

विशालान्कोसलान्रम्यान्यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः । अयोध्यामुन्मुखो धीमान्प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् १
आपृच्छे त्वां पुरिश्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते । दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च ॥ २ ॥
निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः । पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह संगतः ॥ ३ ॥
ततो रुचिरताम्राक्षो भुजमुद्यम्य दक्षिणम् । अश्रुपूर्णमुखो दीनोऽब्रवीज्जानपदं जनम् ॥ ४ ॥
अनुक्रोशो दया चैव यथार्हं मयि वः कृतः । चिरं दुःखस्य पापीयो गम्यतामर्थसिद्धये ॥ ५ ॥
ऽभिवाद्य महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् । विलपन्तो नरा घोरं व्यतिष्ठंश्च क्वचित्क्वचित् ॥ ६ ॥
तथा विलपतां तेषामतृप्तानां च राघवः । अचक्षुर्विषयं प्रायाद्यथार्कः क्षणदामुखे ॥ ७ ॥

यह मृगयाप्रेम लोकमें राजर्षियों द्वारा प्रशंसित है, अतएव सर्वथा निषिद्ध भी नहीं है ॥१५॥ वनमें अहेर खेलना राजर्षियोंके मन बहलावके लिए थी, समय-समयपर मनुपुत्रोंने अहेर खेला है, यह धनुर्धारियोंको प्रिय है, क्योंकि निशाना लगानेका अवसर मिलता है ॥१६॥ इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयोंमें सूतसे बातें करते हुए रामचन्द्रने उस रास्तेको पार किया ॥१७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका उनचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४९ ॥

लक्ष्मणके बड़े भाई रामचन्द्रने विशाल और रमणीय कोसलदेशको पार करके अयोध्याकी ओर मुँह किया और वे हाथ जोड़कर बोले ॥१॥ राजा काकुत्स्थके द्वारा परिपालित पुरिश्रेष्ठ अयोध्या, मैं तुमसे, तुमको पालन करनेवाले तथा तुम्हारेमें निवास करनेवाले देवताओंसे प्रार्थनापूर्वक वन जानेकी आज्ञा माँगता हूँ ॥२॥ वनवासकी अवधि पूरी होनेपर राजासे उऋण होकर पिता और मातासे मिलकर मैं तुमको पुनः देखूँगा ॥३॥ तदनन्तर सुन्दर और लाल आँखोंवाले रामचन्द्र दक्षिण भुजा उठाकर रोते हुए दीनतापूर्वक नगरवासियोंको लक्ष्य करके बोले ॥४॥ आप लोगोंने मेरा आदर तथा मुझपर दया यथायोग्य की, बहुत दिनों तक दुःख उठाना अनुचित है, अतएव आपलोग जाँय, हमलोग भी पिताकी आज्ञापालनरूप कार्य-सिद्धिके लिए वन जा रहे हैं ॥५॥ महात्मा रामचन्द्रको प्रणाम करते हुए उन लोगोंने उनकी प्रदक्षिणा की, पुनः घोर विलाप करते हुए वे इधर-उधर ठहर गये ॥६॥ वे विलाप करते ही थे, रामचन्द्रको देखनेसे उनकी तृप्ति नहीं हुई थी, इतनेमें ही रामचन्द्र उनकी आँखोंके ओझल हो गये, जिस प्रकार सायंकालमें सूर्य

ततो धान्यधनोपेतान्दानशीलजनाञ्छिवान् । अकुतश्चिद्भयान्रम्यांश्चैत्ययूपसमावृतान् ॥ ८ ॥
उद्यानाम्रवणोपेतान्संपन्नसलिलाशयान् । तुष्टपुष्टजनाकीर्णान् गोकुलाकुलसेवितान् ॥ ९ ॥
रक्षणीयान्नरेन्द्राणां ब्रह्मघोषाभिनादितान् । रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत ॥१०॥
मध्येन मुदितं स्फीतं रम्योद्यानसमाकुलम् । राज्यं भोज्यं नरेन्द्राणां ययौ धृतिमतां वरः ॥११॥
तत्र त्रिपथगां दिव्यां शीततोयामशैवलाम् । ददर्श राघवो गङ्गां रम्यामृषिनिषेविताम् ॥१२॥
आश्रमैरविदूरस्थैः श्रीमद्भिः समलंकृताम् । कालेऽप्सरोभिर्हृष्टाभिःसेविताम्भोह्रदां शिवाम् १३
देवदानवगन्धर्वैः किंनरैरुपशोभिताम् । नागगन्धर्वपत्नीभिः सेवितां सततं शिवाम् ॥१४॥
देवाक्रीडशताकीर्णां देवोद्यानयुतां नदीम् । देवार्थमाकाशगतां विख्यातां देवपद्मिनीम् ॥१५॥
जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम् । क्वचिद्वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम् ॥१६॥
क्वचित्स्तिमितगंभीरां क्वचिद्वेगसमाकुलाम् । क्वचिद्गम्भीरनिर्घोषां क्वचिद्भैरवनिःस्वनाम्॥१७॥
देवसंघाप्लुतजलां निर्मलोत्पलसंकुलाम् । क्वचिदाभोगपुलिनां क्वचिन्निर्मलवालुकाम् ॥१८॥

जनताकी आँखोंके ओझल हो जाते हैं ॥७॥ तदनन्तर रामचन्द्र उस कोसलके बाहर चले गये, जो सदा धनधान्यसे पूर्ण रहता है, जहाँ दानी लोग रहते हैं, जो प्रदेश कल्याणमय है, जहाँके रहनेवालोंको कहींसे भय नहीं होता, जो रमणीय है, जहाँ देवताओंके चौतरे तथा देववृक्ष हैं ॥८॥ जहाँ बाग तथा आम्रवन वर्तमान हैं, जहाँ भरे हुए जलाशय हैं, जहाँके मनुष्य सन्तुष्ट तथा पुष्ट हैं, गौ तथा अन्य पशु भैंस आदिसे जो पूर्ण है ॥९॥ जो राजाओंके रक्षा करने योग्य है, जो वेदघोषसे अनुनादित होता रहता है, ऐसे कोसलदेशको पुरुषसिंह रामचन्द्र रथसे पार कर गये ॥१०॥ धीर रामचन्द्र दूसरे राज्यके बीचसे चले, वह राज्य सुन्दर और स्वच्छ था तथा उनमें अनेक रमणीय उद्यान थे। वह राज्य राजाओंके भोग करनेके योग्य था ॥११॥ वहाँ राचन्द्रने दिव्य त्रिपथगा (गंगा) नदीको देखा, इसका जल शीतल था, उसमें शेवार नहीं था वह नदी रमणीय थी और उसके तीरपर ऋषिगण रहते थे ॥१२॥ उस नदीके तीरपर पास-पास ऋषियोंके सुन्दर आश्रम थे। स्नान आदिके समयमें प्रसन्न अप्सराएँ वहाँ आती थीं, वहाँ जलवाले कई झील थे और वह नदी शिवकी थी ॥१३॥ देव, दानव, गन्धर्व और किन्नर उस नदीकी सदा शोभा बढ़ाते हैं नाग और गन्धर्वकी स्त्रियाँ भी उस नदीके तीरपर रहती हैं ॥१४॥ देवताओंके क्रीडा योग्य सैकड़ों पर्वत उसके तीरपर वर्तमान हैं, उसके तीरपर कई देवताओंके उद्यान हैं, देवताओंके कल्याणके लिए यह नदी आकाशमें गई है, और इस प्रसिद्ध नदीके कमल देवताओंके काममें आने योग्य होते हैं ॥१५॥ जलके टकरानेसे जो अट्टहासके समान शब्द होता है उससे यह नदी भयङ्कर है, निर्मल फेन ही इसकी हँसी है, कहीं इसका जल वेणीके समान है, कहीं आवर्त (भँवर) से इसकी शोभा बढ़ रही है, ॥१६॥ कहीं यह नदी स्थिर गम्भीर है, कहीं बड़े वेगसे चलती है, कहीं मृदङ्गके समान इसका गम्भीर शब्द होता है और कहीं वज्रपातके समान भयानक शब्द होता है, ॥१७॥ देवता इसके जलमें स्नान करते हैं, निर्मल कमल खिले हुए हैं, कहीं इसका तीर जलसे भरा हुआ और कहीं

हंससारससंघुष्टां चक्रवाकोपशोभिताम् । सदामत्तैश्च विहगैरभिपन्नामनिन्दिताम् ॥१९॥
क्वचित्तीरुहजैर्वृक्षैर्मालाभिरिव शोभिताम् । क्वचित्फुल्लोत्पलच्छन्नां क्वचित्पद्मवनाकुलाम् ॥२०॥
क्वचित्कुमुदखण्डैश्च कुड्मलैरुपशोभिताम् । नानापुष्परजोध्वस्तां समदामिव च क्वचित् ॥२१॥
व्यपेतमलसंघातां मणिनिर्मलदर्शनाम् । दिशागजैर्वनगजैर्मत्तैश्च वरवारणैः ॥२२॥
देवराजोपवाह्यैश्च संनादितवनान्तराम् । प्रमदामिव यत्नेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥२३॥
फलपुष्पैः किसलयैर्वृतां गुल्मैर्द्विजैस्तथा । विष्णुपादच्युतां दिव्यामपापां पापनाशिनीम् ॥२४॥
शिशुमारैश्च नक्रैश्च भुजंगैश्च समन्विताम् । शंकरस्य जटाजूटाद्भ्रष्टां सागरतेजसा ॥२५॥
समुद्रमहिषीं गङ्गां सारसक्रौञ्चनादिताम् । आससाद महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥२६॥
तामूर्मिकलिलावर्तामन्ववेक्ष्य महारथः । सुमन्त्रमब्रवीत्सूतमिहैवाद्य वसामहे ॥२७॥
अविदूरादयं नद्या बहुपुष्पप्रवालवान् । सुमहानिङ्गुदीवृक्षो वसामोऽत्रैव सारथे ॥२८॥
प्रेक्षामि सरितां श्रेष्ठां संमान्यसलिलां शिवाम् । देवमानवगन्धर्वमृगपन्नगपक्षिणाम् ॥२९॥
लक्ष्मणश्च सुमन्त्रश्च बाढमित्येव राघवम् । उक्त्वा तमिङ्गुदीवृक्षं तदोपययतुर्हयैः ॥३०॥

दूर तक स्वच्छ बालू है ॥१८॥ इसके तीरपर हँस और सारस बोलते हैं, चकवाक इसके तीरकी शोभा बढ़ाते हैं, सदा प्रसन्न रहनेवाले पक्षी इसके तीरपर निवास करते हैं, यह बड़ीही सुन्दर नदी है ॥१९॥ कहीं तीरके वृक्ष मालाके समान इसकी शोभा बढ़ाते हैं, कहीं विकसित कमलोंसे इसका जल ढँक गया है और कहीं कमलोंका वन ही है ॥२०॥ कहीं कमलोंका वन है और उसमें अधिक नवीन कलियाँ हैं जिनसे इस नदीकी शोभा बढ़ रही है, अनेक तरहके पुष्पोंकी धूलिसे इस नदीका जलयुक्त है, कहीं यह मतवालीके समान मालूम होती है ॥२१॥ इसके जलसे सभी मल दूर हो जाते हैं, मणिके समान यह स्वच्छ मालूम होती है । दिग्गज जातीय हाथी, मतवाले बनैले हाथी, पोसुए हाथी, ॥२२॥ और देव तथा राजाओंके हाथीसे इस नदीके तीरके वन सदा प्रतिध्वनित होते रहते हैं, उत्तम भूषणोंसे स्त्रियोंके समान यह प्रयत्नपूर्वक भूषित की गई है ॥२३॥ फल, पुष्प, पत्र, गुल्म पक्षी आदि ही इसके भूषण हैं । यह देवी विष्णुके चरणोंसे निकली है, यह दिव्य है, पापरहित है और पाप-नाश करनेवाली है ॥२४॥ शिशुमार, मगर तथा साँप इस नदीमें हैं, भागीरथकी तपस्यासे शिवके जटाजूटसे निकलकर यह नदी पृथिवीमें आयी है ॥२५॥ यह गङ्गा समुद्रकी महारानी है, समुद्रमें मिलनेवाली नदियोंमें यह प्रधान नदी है, सारस क्रौंच इसके तीरपर बोला करते हैं । महाबाहु रामचन्द्र शृंगवेरपुरके सामने गंगातीरपर पहुँचे ॥२६॥ गंगामें भँवरवाली लहरियाँ उठ रही हैं यह देखकर महारथ रामचन्द्रने सारथि सुमन्त्रसे कहा कि आज हमलोग यहीं रहें ॥२७॥ नदीके पास ही बहुत बड़ा इंगुदीका वृक्ष है, इसमें खूब पत्ते भी हैं, फूल भी हैं । सारथि, हम लोग यहीं निवास करें ॥२८॥ मैं इस कल्याणकारिणी नदीको देखता हूँ, इसके जलका देवता, दानव, गन्धर्व, मृग, पन्नग, पक्षी आदर करते हैं ॥२९॥ लक्ष्मण और सुमन्त्रने रामचन्द्रकी

रामोऽभियाय तं रम्यं वृक्षमिक्ष्वाकुनन्दनः । रथादवतरत्तस्मात्सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥३१॥
सुमन्त्रोऽप्यवतीर्याथ मोचयित्वा हयोत्तमान् । वृक्षमूलगतं राममुपतस्थे कृताञ्जलिः ॥३२॥
तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा । निषादजान्यो बलवान्स्थपतिश्चेति विश्रुतः ॥३३॥
स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम् । वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः ॥३४॥
ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम् । सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद्गुहेन सः ॥३५॥
तमार्तः संपरिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत् । यथायोध्या तथेदं ते राम किं करवाणि ते ॥३६॥
ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम् । ततो गुणवदन्नाद्यमुपादादाय पृथग्विधम् ॥३७॥
अर्घ्यं चोपानयच्छीघ्रं वाक्यं चेदमुवाच ह । स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही ॥३८॥
वयं प्रेष्या भवान्भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः । भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चैतदुपस्थितम् ।
शयनानि च मुख्यानि वाजिनां खादनं च ते ॥३९॥
गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह । अर्चिताश्चैव हृष्टाश्च भवता सर्वदा वयम् ॥४०॥
पद्भ्यामभिगमाच्चैव स्नेहसंदर्शनेन च । भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन्वाक्यमब्रवीत् ॥४१॥
दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः । अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च ॥४२॥
यत्त्विदं भवता किंचित्प्रीत्या समुपकल्पितम् । सर्वं तदनुजानामि नहि वर्ते प्रतिग्रहे ॥४३॥

आज्ञा स्वीकार की और घोड़ोंके द्वारा इंगुदीवृक्षके पास गये ॥३०॥ उस रमणीय वृक्षके पास रथके जानेपर रामचन्द्र भी सीता और लक्ष्मणके साथ रथसे उतरे ॥३१॥ सुमन्त्रने भी रथसे उतरकर घोड़े रथसे खोले, और वे वृक्षके नीचे बैठे हुए रामचन्द्रके पास हाथ जोड़कर गये ॥३२॥ उस देशके राजाका नाम गुह था, वह रामचन्द्रका प्राणोंके समान मित्र था। वह बड़ा बली तथा निषाद जातिका था। वह उस देशका प्रसिद्ध राजा था ॥३३॥ पुरुषसिंह रामचन्द्र हमारे देशमें आये हैं, यह सुनकर बूढ़े अमात्यों तथा साथियोंसे युक्त होकर वहाँ आया ॥३४॥ दूरसे ही आये हुए निषादाधिपतिको देखकर रामचन्द्र लक्ष्मणके साथ गुहसे मिले ॥३५॥ दुःखी गुह रामचन्द्रका आलिङ्गन करके बोला, रामचन्द्र आपके लिए जैसी अयोध्या है वैसा ही इस देशको भी समझो, आज्ञा दो, आपके लिए हम क्या करें ॥३६॥ महाबाहो रामचन्द्र, ऐसा प्रिय अतिथि किसको मिलता है। तदनन्तर गुह तरह-तरहके अन्न आदि भोजनकी सामग्री लेकर ॥३७॥ और अर्घ्य लेकर रामचन्द्रके समीप आया और बोला, महाबाहो, आपका स्वागत है, यह मेरे राज्यकी समस्त पृथिवी आपकी ही है ॥३८॥ हमलोग आपके सेवक हैं और आप स्वामी हैं, आप इस राज्यका शासन करें। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय आदि उपस्थित है ॥३९॥ आपलोगोंके लिए पलंग और घोड़ोंके लिए भोजन (दाना घास) भी आया है। गुहके ऐसा कहनेपर रामचन्द्र उससे बोले, आपने हमलोगोंका सदा ही सत्कार किया है और उससे हमलोग प्रसन्न भी हुए हैं ॥४२॥ आप पैरोंसे चलकर हमारे यहाँ आये हैं, हमलोगोंके प्रति ऐसा स्नेह दिखाया है। ऐसा कहनेके पश्चात् अपने गोल बाहुओंसे गुहका आलिंगन करते हुए रामचन्द्र बोले ॥४१॥ गुह, यह प्रसन्नताकी बात है कि मैं बान्धवोंके सहित आपको निरोग देख रहा हूँ, आपके राज्य, मित्र और वनका तो कुशल है ॥४२॥ यह जो कुछ प्रेमसे

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम् । विद्धि प्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम् ॥४४॥
अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येन केनचित् । एतावतात्र भवता भविष्यामि सुपूजितः ॥४५॥
एते हि दयिता राज्ञः पितुर्दशरथस्य मे । एतैः सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः ॥४६॥
अश्वानां प्रतिपानं च खादनं चैव सोऽन्वशात् । गुहस्तत्रैव पुरुषांस्त्वरितं दीयतामिति ॥४७॥
ततश्चीरोत्तरासङ्गः संध्यामन्वास्य पश्चिमाम् । जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम् ॥४८॥
तस्य भूमौ शयानस्य पादौ प्रक्षाल्य लक्ष्मणः । सभार्यस्य ततोऽभ्येत्य तस्थौ वृक्षमुपाश्रितः ॥४९॥
गुहोऽपि सह सूतेन सौमित्रिमनुभाषयन् । अन्वजाग्रत्ततो राममप्रमत्तो धनुर्धरः ॥५०॥
तथाशयानस्य ततो यशस्विनो मनस्विनो दाशरथेर्महात्मनः ।
अदृष्टदुःखस्य सुखोचितस्य सा तदा व्यतीता सुचिरेण शर्वरी ॥५१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः ५१

तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम् । गुहः संतापसंतप्तो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता । प्रत्याश्वसिहि साध्वस्यां राजपुत्र यथासुखम् ॥ २ ॥

आप ले आये हैं वह सब मैं स्वीकार करता हूँ, पर मैं आजकल दान नहीं लेता ॥४३॥ कुशचीर और चर्म धारण करनेवाला, फल-मूल खानेवाला वनवासी तपस्वी आप मुझे समझें, मैं इसी धर्ममें दीक्षित हूँ ॥४४॥ घोड़ोंके खानेके लिए जो आप ले आये हैं उसे मैं ले लेता हूँ और सब चीजें मैं न लूँगा, आपकी यहाँ वस्तु लेकर मैं आपके द्वारा सत्कृत होऊँगा ॥४५॥ ये घोड़े राजा दशरथके बड़े ही प्रिय हैं, इनको उत्तम जोसन देनेसे ही मैं सत्कृत हो जाऊँगा ॥४६॥ रामचन्द्रकी बातें सुनकर गुहने अपने नौकरोंसे कहा कि घोड़ोंको खिलाओ-पिलाओ ॥४७॥ तदनन्तर रामचन्द्रने चीर ओढ़कर सायंकालकी सन्ध्या की और लक्ष्मणका लाया हुआ जल ही ग्रहण किया ॥४८॥ पत्नीके साथ भूमिपर सोये हुए रामचन्द्रके चरण लक्ष्मणने पोछे । पुनः वे आकर वृक्षके नीचे बैठ गये ॥४९॥ सूतके साथ गुह भी लक्ष्मणके पास आया और रामचन्द्रके गुणःसंबन्धी बातें करता तथा धनुष लेकर रात भर सावधान होकर जागता रहा ॥५०॥ यशस्वी, मनस्वी दसरथ-पुत्र महात्मा रामचन्द्र, जिन्होंने कभी दुःख नहीं देखा है, किन्तु जो सुखके अभ्यासी हैं, उनके लिए वह रात बड़े विलम्बसे बीती ॥५१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५० ॥

स्वभावतः भाई रामचन्द्रके सुखपूर्वक शयन करनेके लिए लक्ष्मण जाग रहे हैं, यह देखकर लक्ष्मणके दुःखसे गुहको बड़ा दुःख हुआ और वह लक्ष्मणसे बोला ॥१॥ तात, राजपुत्र, आपके लिए यह सुखशय्या

उचितोऽयं जनः सर्वः क्लेशानां त्वं सुखोचितः। गुप्त्यर्थं जागरिष्यामः काकुत्स्थय वयं निशाम् ॥३॥
नहि रामात्प्रियतमो ममास्ते भुवि कश्चन। ब्रवीम्येव च ते सत्यं सत्येनैव च ते शपे ॥ ४ ॥
अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन्सुमहद्यशः। धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामौ च पुष्कलौ ॥ ५ ॥
सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया। रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वथा ज्ञातिभिः सह॥ ६ ॥
न मेऽस्त्यविदितं किंचिद्वनेऽस्मिंश्चरतः सदा। चतुरङ्गं ह्यतिबलं सुमहत्संतरेमहि ॥ ७ ॥
लक्ष्मणस्तु ततोवाच रक्ष्यमाणास्त्वयानघ। नात्र भीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ८ ॥
कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया। शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानिवा॥ ९ ॥
यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि। तं पश्य सुखसंसुप्तं तृणेषु सह सीतया ॥१०॥
यो मन्त्रतपसा लब्धो विविधैश्च पराक्रमैः। एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः ॥११॥
अस्मिन्प्रव्रजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति। विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥१२॥
विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः। निर्घोषोपरतं तात मन्ये राजनिवेशनम् ॥१३॥
कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम। नाशंसे यदि जीवन्ति सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥१४॥
जीवेदपि हि मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया। तद्दुःखं यदि कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥१५॥

बनायी गयी है आप उसपर सुखपूर्वक विश्राम करें ॥२॥ सब प्रकारके क्लेशोंके सहनेका मुझे अभ्यास है, आप तो सुखमें पले हैं, इसलिये आप सोएँ, रामचन्द्रकी रक्षाके लिये हमलोग जागरण करेंगे ॥३॥ रामसे बढ़कर इस संसारमें मुझे दूसरा प्रिय नहीं है, मैं तुमसे यह सत्यकी शपथ करके सत्य-सत्य कहता हूँ ॥४॥ इनकी प्रसन्नतासे मैं संसारमें बड़े भारी यशकी कामना करता हूँ, विपुल धर्मप्राप्ति और पुष्कल अर्थ तथा कामकी भी प्राप्ति होगी ॥५॥ मैं अपने प्रियमित्र, सीताके साथ शयन किये हुए रामचन्द्रकी रक्षा धनुष लेकर अपने ज्ञातिके लोगोंके साथ करूँगा ॥६॥ मैं इस वनमें सदा घूमता रहता हूँ, इस कारण इस वनको कोई बात मुझसे छिपी नहीं है। बलवान् शत्रुकी चतुरंगिनी सेनाको भी हमलोग जीत सकते हैं ॥७॥ लक्ष्मण बोले—हे निष्पाप धर्म देखनेवाले तुम्हारे द्वारा रक्षित होनेके कारण ही हमलोग इस वनमें भयभीत नहीं हैं ॥८॥ पर रामचन्द्र सीताके साथ भूमिपर सो रहे हैं, ऐसी दशामें मैं कैसे सो सकता हूँ अथवा जीवनके अन्यसुखोंको भोग सकता हूँ ॥९॥ युद्धमें जिनके पराक्रमको देवता और असुर भी नहीं सह सकते, वे ही रामचन्द्र, देखिए, सीताके साथ जमीनपर सुखपूर्वक सो रहे हैं ॥१०॥ बड़े-बड़े उद्योग तथा मन्त्र और तपस्याबलसे राजा दसरथके ये ही सर्वप्रधान पुत्र उत्पन्न हुए हैं, ये दसरथके समान हैं ॥११॥ इनके वनवास चले आनेपर राजा दसरथ बहुत दिनों तक नहीं जी सकेंगे और यह पृथिवी शीघ्रही विधवा (बिना राजाकी) हो जायगी ॥१२॥ बहुत देर तक राम-रामकी रट लगानेसे जब स्त्रियाँ थक जायँगी, तब वे चुप हो जायँगी, अतएव मेरी समझसे राजाका घर इस समय बिना शब्दका सूना हो गया होगा ॥१३॥ कौसल्या, राजा तथा मेरी माता इस समय तक इस रातको जीते होंगे इसकी आशा मुझे नहीं है ॥१४॥ सम्भव है मेरी माता जीती हों; क्योंकि उन्हें शत्रुघ्नको देखनेकी आशा है, पर वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली कौसल्या नष्ट होगी, यही असहनीय दुःख है ॥१५॥

अनुरक्तजनाकीर्णा सुखालोकप्रियावहा । राजव्यसनसंसृष्टा सा पुरी विनशिष्यति ॥१६॥
कथं पुत्रं महात्मानं ज्येष्ठपुत्रमपश्यतः । शरीरं धारयिष्यन्ति प्राणा राज्ञो महात्मनः ॥१७॥
विनष्टे नृपतौ पश्चात्कौसल्या विनशिष्यति । अनन्तरं च मातापि मम नाशमुपैष्यति ॥१८॥
अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् । राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥१९॥
सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन्काले ह्युपस्थिते । प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति राघवम् ॥२०॥
रम्यचत्वरसंस्थानां संविभक्तमहापथाम् । हर्म्यप्रासादसंपन्नां गणिकावरशोभिताम् ॥२१॥
रथाश्वगजसंबाधां तूर्यनादनिनादिताम् । सर्वकल्याणसंपूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥२२॥
आरामोद्यानसंपन्नां समाजोत्सवशालिनीम् । सुखिता विचरिष्यंति राजधानीं पितुर्मम ॥२३॥
अपि जीवेद्दशरथो वनवासात्पुनर्वयम् । प्रत्यागम्य महात्मानमपि पश्याम सुव्रतम् ॥२४॥
अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिनो वयम् । निवृत्ते वनवासेऽस्मिन्नयोध्यां प्रविशेमहि ॥२५॥
परिदेवयमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः । तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥२६॥

तथाहि सत्यं ब्रुवति प्रजाहिते नरेन्द्रसूनौ गुरुसौहृदाद्गुहः ।
मुमोच वाष्पं व्यसनाभिपीडितो ज्वरातुरो नाग इव व्यथातुरः ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

रामचन्द्रमें अनुराग रखनेवाले मनुष्योंसे जो नगरी भरी हुई है, अतएव सुखकारी है तथा लोकको प्रिय है, वही नगरी राजाके दुःखसे नष्ट हो जायगी ॥१६॥ महात्मा बड़े पुत्रको बिना देखे राजाके प्राण कैसे शरीर धारण करेंगे अर्थात् रामचन्द्रके बिना राजा कैसे जी सकेंगे ॥१७॥ राजाके मरनेके पीछे कौसल्या मरेंगी, तदनन्तर मेरी माता मरेंगी ॥१८॥ मेरे पिता रामचन्द्रका राज्याभिषेक नहीं कर सकेंगे, इस अपने सर्वश्रेष्ठ मनोरथके विफल होनेके कारण अवश्य ही वे मरेंगे ॥१९॥ वह समय जब आवेगा अर्थात पिताकी मृत्युका समय जब आवेगा तब उन मरे हुए पिताके समस्त प्रेतकार्य जो करेंगे वे ही भाग्यवान् हैं, अर्थात् वे ही राज्य पावेंगे ॥२०॥ यदि राजा दसरथ जीते रहे तो अयोध्यावासी मेरे पिताकी राजधानी उस अयोध्यामें सुखसे विचरण करेंगे, जिसमें रमणीय चौराहे हैं, अलग-अलग सड़कें बनी हुई हैं, जिसमें धनी देवता तथा राजाके महल हैं, जहाँ श्रेष्ठ वाराङ्गनाएँ हैं, जो रथ, घोड़े और हाथीसे पूर्ण है, जहाँ बाजे बजते रहते हैं, जो सब प्रकारके कल्याणोंसे युक्त है जहाँके मनुष्य हृष्ट पुष्ट हैं, जहाँ साधारण बाग और राजाओंके बाग बने हुए हैं, जहाँ ब्राह्मण आदि वर्णोंके उत्सव होते रहते हैं । हम लोग भी वनवाससे लौटकर अपने सुव्रत महात्मा पिताका दर्शन करेंगे, ॥२१–२२–२३–२४॥ उस समय सत्यप्रतिज्ञ रामचन्द्रके साथ वनवासकी अवधि निवृत्त होनेपर अयोध्यामें प्रवेश करेंगे ॥२५॥ राजपुत्र महात्मा लक्ष्मण इस प्रकार रोते रहे और वह रात बीत गयी ॥२६॥ प्रजाके हितकारी राजपुत्र लक्ष्मणके इस प्रकार सत्य बातें कहनेपर रामचन्द्रमें प्रेमके कारण दुःखसे अभिभूत होकर गुह रोने लगा, जिस प्रकार ज्वरसे अभिभूत होकर हाथी रोता है ॥२७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक्यावनवाँ सर्ग समाप्त ॥५१॥

द्विपञ्चाशः सर्गः ५२

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः । उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ १ ॥
भास्करोदयकालोऽसौ गता भगवती निशा । असौ सुकृष्णो विहगः कोकिलस्तात कूजति ॥ २ ॥
बर्हिणानां च निर्घोषः श्रूयते नदतां वने । तराम जाह्नवीं सौम्य शीघ्रगां सागरंगमाम् ॥ ३ ॥
विज्ञाय रामस्य वचः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः । गुहमामन्त्र्य सूतं च सोऽतिष्ठद्भ्रातुरग्रतः ॥ ४ ॥
स तु रामस्य वचनं निशम्य प्रतिगृह्य च । स्थपतिस्तूर्णमाहूय सचिवानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥
अस्य वाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम् । सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर ॥ ६ ॥
तं निशम्य गुहादेशं गुहामात्यो गतो महान् । उपोह्य रुचिरां नावं गुहाय प्रत्यवेदयत् ॥ ७ ॥
ततः स प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो राघवमब्रवीत् । उपस्थितेयं नौर्देव भूयः किं करवाणि ते ॥ ८ ॥
तवामरसुतप्रख्य तर्तुं सागरगामिनीम् । नौरियं पुरुषव्याघ्र शिघ्रमारोह सुव्रत ॥ ९ ॥
अथोवाच महातेजा रामो गुहमिदं वचः । कृतकामोऽस्मि भवता शीघ्रमारोप्यतामिति ॥१०॥
ततः कलापान्संनह्य खड्गौ बद्ध्वा च धन्विनौ । जग्मतुर्येन तां गङ्गां सीतया सह राघवौ ॥११॥
राममेवं तु धर्मज्ञमुपागत्य विनीतवत् । किमहं करवाणीति सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥१२॥
ततोऽब्रवीद्दाशरथिः सुमन्त्रं स्पृशन्करेणोत्तमदक्षिणेन ।
सुमन्त्र शीघ्रं पुनरेव याहि राज्ञः सकाशे भव चाप्रमत्तः ॥१३॥

रातके बीत जानेपर पृथुवक्षा (विशाल छाती) महायशस्वी रामचन्द्र सुलक्षण सुमित्रापुत्र लक्ष्मणसे बोले ॥१॥ यह सूर्योदयका समय है भगवती रात बीत गयी, काली कोयल बोल रही है ॥२॥ वनमें मयूर बोल रहे हैं उनके शब्द सुन पड़ते हैं। सौम्य, समुद्रमें जानेवाली वेगवती गंगाको हमलोग पार करें ॥३॥ मित्रोंको प्रसन्न करनेवाले लक्ष्मण रामचन्द्रका अभिप्राय समझकर सूत और गुहसे नाव लानेके लिये कह, भाई रामचन्द्रके आगे जाकर खड़े हो गये॥४॥ रामचन्द्रकी आज्ञा सुनकर गुहने उसे ग्रहण किया और शीघ्र अपने सचिवोंको बुलाकर राजा गुह बोला ॥५॥ अरित्र (जल हटाकर नावको तीरपर लगानेवाला यन्त्र) और कर्णधारवाली मजबूत तथा शीघ्र चलनेवाली नाव घाटपर लाओ ॥६॥ गुहकी आज्ञा सुनकर उसका श्रेष्ठ सचिव गया और उत्तम नाव घाटपर लाकर गुहसे बोला अर्थात् नाव आ जानेकी खबर दी ॥७॥ तब गुह हाथ जोड़कर रामचन्द्रसे बोला—महाराज, यह नाव आ गयी, अब आपके लिए मैं और क्या करूँ ॥८॥ हे देवकुमारसदृश रामचन्द्र, गंगाको पार करनेके लिए आप शीघ्र इस नौकापर चढ़ें ॥९॥ महातेजस्वी रामचन्द्र गुहसे बोले—आपने हमलोगोंके मनोरथ पूरे किये, नौकापर चीजें रखवाइए ॥१०॥ तदनन्तर कवच धारण करके तूणीर, बाण और तलवार धारण करके धनुर्धारी राम तथा लक्ष्मण सीताके साथ उस मार्गसे गंगाके समीप गये, जिस मार्गसे लोग गंगा पार करनेके लिये जाते हैं ॥११॥ उस समय धर्मात्मा रामचन्द्रके समीप आकर सुमन्त्रने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर पूछा कि मैं क्या करूँ ॥१२॥ अपने श्रेष्ठ दहिने हाथसे सुमंत्रका स्पर्श करते हुए दशरथपुत्र रामचन्द्र बोले—

निवर्तस्वेत्युवाचैनमेतावद्धि कृतं मम । रथं विहाय पद्भ्यां तु गमिष्यामो महावनम् ॥१४॥
आत्मानं त्वभ्यनुज्ञातमवेक्ष्यार्तः स सारथिः । सुमन्त्रः पुरुषव्याघ्रमैक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥१५॥
नातिक्रान्तमिदं लोके पुरुषेणेह केनचित् । तव सभ्रातृभार्यस्य वासः प्राकृतवद्वने ॥१६॥
न मन्ये ब्रह्मचर्ये वा स्वधीते वा फलोदयः । मार्दवार्जवयोर्वापि त्वां चेद्व्यसनमागतम् ॥१७॥
सह राघव वैदेह्या भ्रात्रा चैव वने वसन् । त्वं गतिं प्राप्स्यसे वीर त्रींल्लोकांस्तु जयन्निव ॥१८॥
वयं खलु हता राम यत्त्वया ह्युपवञ्चिताः । कैकेय्या वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः ॥१९॥
इति ब्रुवन्नात्मसमं सुमन्त्रः सारथिस्तथा । दृष्ट्वा दूरगतं रामं दुःखार्तो रुरुदे चिरम् ॥२०॥
ततस्तु विगते बाष्पे सूतं स्पृष्टोदकं शुचिम् । रामस्तु मधुरं वाक्यं पुनः पुनरुवाच तम् ॥२१॥
इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये । यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु ॥२२॥
शोकोपहतचेताश्च वृद्धश्च जगतीपतिः । कामभारावसन्नश्च तस्मादेतद्ब्रवीमि ते ॥२३॥
यद्यथा ज्ञापयेत्किंचित्स महात्मा महीपतिः । कैकेय्याः प्रियकामार्थं कार्यं तदविकाङ्क्षया ॥२४॥
एतदर्थं हि राज्यानि प्रशासति नराधिपाः । यदेषां सर्वकृत्येषु मनो न प्रतिहन्यते ॥२५॥

सुमंत्र, तुम शीघ्रही पिताके पास जाओ और वहाँ सावधान होकर रहो ॥१३॥ तुम लौट जाओ, क्योंकि गंगातीरतक ही रथपर जानेकी आज्ञा हमने स्वीकार की है, अब हमलोग रथ छोड़कर पैरोंसे ही इस महावनमें जायँगे ॥१४॥ मुझे लौट आनेकी आज्ञा मिल गयी, यह जानकर सारथि सुमंत्र बहुतही दुःखी हुए और वे इक्ष्वाकुवंशी पुरुषसिंह रामचन्द्रसे बोले ॥१५॥ भाई और स्त्रीके साथ साधारण मनुष्योंके समान आपका वनमें रहना किसी भी मनुष्यको अच्छा नहीं लगता, फिर वह मुझे कैसे अच्छा लग सकता है ॥१६॥ आपपर भी जब यह दुःख आया है, तब मुझे मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य पालन, अध्ययन, दयालुता और अकुटिलता किसीका कुछ फल नहीं होता। यदि होता तो आपने इनका पालन किया है और आपको कुछ फल मिलना चाहिए था, पर आपको नहीं मिला ॥१७॥ रामचन्द्र, जानकी और लक्ष्मणके साथ वनमें निवास करनेके कारण आपको तीनों लोकोंको विजय करनेके समान प्रसिद्धि मिलेगी ॥१८॥ रामचन्द्र, आपके द्वारा त्याग होनेके कारण हमलोग तो मारे ही गये, अब हमलोग पापिन केकयीके अधीन रहेंगे और दुःख उठावेंगे ॥१९॥ इस प्रकार अपने पदके योग्य बातें कहकर सारथि सुमंत्र, रामचन्द्रको दूर गया देखकर, बड़ी देर तक रोते रहे ॥२०॥ जब आँसू रुका तब सुमंत्र आचमन करके पवित्र हुए, उस समय रामचन्द्रने मधुर स्वरमें उनसे बार-बार यह वचन कहा ॥२१॥ इक्ष्वाकुवंशका तुम्हारे समान मित्र मैं दूसरेको नहीं देखता, अतएव तुम वैसा प्रयत्न करना जिससे राजा दसरथ मेरे लिए दुःखित न हों ॥२२॥ राजा वृद्ध हैं, काम और राज्यभारसे दबे हुए हैं तथा शोकसे भी उनकी बुरी दशा है, इसीलिए तुमसे ऐसा कह रहा हूँ ॥२३॥ वे महात्मा राजा केकयीकी इच्छाके अनुकूल जो कुछ कहें वह सब उनके कहनेके अनुसार आदरपूर्वक करना ॥२४॥ राजाके मनोरथ बिना पूरे हुए

यद्यथा स महाराजो नालीकमधिगच्छति । न च ताम्यति शोकेन सुमन्त्र कुरु तत्तथा ॥२६॥
अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम् । ब्रूयास्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वचः ॥२७॥
न चाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च शोचति । अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्स्यामहेति वा ॥२८॥
चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनःपुनः । लक्ष्मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसे शीघ्रमागतान् ॥२९॥
एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुमन्त्र मे । अन्याश्च देवीः सहिताः कैकेयीं च पुनःपुनः ॥३०॥
आरोग्यं ब्रूहि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम् । सीताया मम चार्यस्य वचनाल्लक्ष्मणस्य च ॥३१॥
ब्रूयाश्चापि महाराजं भरतं क्षिप्रमानय । आगतश्चापि भरतः स्थाप्यो नृपमते पदे ॥३२॥
भरतं च परिष्वज्य यौवराज्येऽभिषिच्य च । अस्मत्संतापजं दुःखं न त्वामभिभविष्यति ॥३३॥
भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे । तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः ॥३४॥
यथा च तव कैकेयी सुमित्रा चाविशेषतः । तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः ॥३५॥
तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता । लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम् ॥३६॥
निवर्त्यमानो रामेण सुमन्त्रः प्रतिबोधितः । तत्सर्वं वचनं श्रुत्वा स्नेहात्काकुत्स्थमब्रवीत् ॥३७॥
यदहं नोपचारेण ब्रूयाः स्नेहादविक्लवम् । भक्तिमानिति तत्तावद्वाक्यं त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥३८॥

न रहे, इसी लिए वे राज्यका शासन करते हैं ।।२५।। जो कार्य राजाको अप्रिय न हो, जिस प्रकार वे शोकसे दुःखी न हों, सुमन्त्र, तुम वैसाही करना ।।२६।। जिन्होंने दुःख नहीं देखे हैं, जो जितेन्द्रिय-श्रेष्ठ और बूढ़े हैं उन राजाको प्रणाम करके मेरे सम्बन्धमें ये बातें तुम उनसे कहना ।।२७।। अयोध्यासे हम बाहर हैं इसका दुःख न मुझे है और न लक्ष्मणको है, हम लोगोंको वनमें रहना पड़ेगा इसका भी दुःख न तो मुझे है और न लक्ष्मणको है इस कारण हम लोगोंके लिए आप दुःख न करें ।।२८।। चौदह वर्षोंके बीतनेपर जब हम लोग वनसे लौटेंगे उस समय आप रामचन्द्र लक्ष्मण और सीताको आये हुए देखेंगे ।।२९।। सुमन्त्र ! राजा, मेरी माता कौसल्या, अन्य देवियाँ तथा कैकयीसे तुम मेरी ओरसे यही कहना ।।३०।। कौसल्यासे कहना कि रामचन्द्र और सीता निरोग हैं, लक्ष्मणकी ओरसे भी कहना कि लक्ष्मण निरोग हैं तथा हमलोगोंकी ओरसे उनको प्रणाम कहना ।।३१।। महाराजसे कहना कि वे भरतको शीघ्र बुलालें और भरतके आनेपर राजाके अभिमत पदपर उनका अभिषेक करें ।।३२।। राजासे कहना कि भरतका युवराजपदपर अभिषेक हो जानेसे तथा उनको आलिंगन करनेसे हमलोगोंके वियोगका दुःख राजाको न होगा ।।३३।। भरतसे भी कहना तुम राजासे जैसा व्यवहार करो वैसाही व्यवहार सब माताओंसे बिना भेदभावके रखो ।।३४।। जिस प्रकार केकयी और शत्रुघ्नके सम्बन्धसे सुमित्रा तुम्हारी माता हैं, उसी प्रकार मेरी माता देवी कौसल्या भी तुम्हारी माता हैं ।।३५।। पिताकी प्रसन्नताके लिए यौवराज्यपदके कर्तव्योंके पालन करनेसे तुम इहलोक और परलोक दोनों लोकोंमें सदा सुख पा सकते हो ।।३६।। रामचन्द्रने सुमन्त्रको जब लौट जानेके लिए कहा और अपना सन्देश दिया, तब उनकी सब बातें सुनकर वे स्नेहसे रामचन्द्रसे बोले ।।३७।। जो मैं आपसे ढीठ होकर बातें कहूँगा, वे उपचारसे आपको खुश करनेके लिए, शिष्टाचारकी बातें कही हुई नहीं हैं, किन्तु आपके प्रति जो मेरा स्नेह है उससे कही हुई हैं, अतएव

कथं हि त्वद्विहीनोऽहं प्रतियास्यामि तां पुरीम्। तव तात वियोगेन पुत्रशोकातुरामिव ॥३९॥
सराममपि तावन्मे रथं दृष्ट्वा तदा जनाः। विना रामं रथं दृष्ट्वा विदीर्येतापि सा पुरी ॥४०॥
दैन्यं हि नगरी गच्छेद्दृष्ट्वा शून्यमिमं रथम्। सूतावशेषं स्वं सैन्यं हतवीरमिवाहवे ॥४१॥
दूरेऽपि निवसन्तं त्वां मानसेनाग्रतः स्थितम्। चिन्तयन्तोऽद्य नूनं त्वां निराहाराः कृताः प्रजाः ॥४२॥
दृष्टं तद्वै त्वया राम यादृशं त्वत्प्रवासने। प्रजानां संकुलं वृत्तं त्वच्छोकक्लान्तचेतसाम् ॥४३॥
आर्तनादो हि यः पौरैरुन्मुक्तस्त्वत्प्रवासने। सरथं मां निशाम्यैव कुर्युः शतगुणं ततः ॥४४॥
अहं किं चापि वक्ष्यामि देवीं तव सुतो मया। नीतोऽसौ मातुलकुलं संतापं मा कृथा इति ॥४५॥
असत्यमपि नैवाहं ब्रूयां वचनमीदृशम्। कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः ॥४६॥
मम तावन्नियोगस्थास्त्वद्बन्धुजनवाहिनः। कथं रथं त्वया हीनं प्रवक्ष्यन्ति हयोत्तमाः ॥४७॥
तन्न शक्ष्याम्यहं गन्तुमयोध्यां त्वदृतेऽनघ। वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि ॥४८॥
यदि मे याचमानस्य त्यागमेव करिष्यसि। सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्र इह त्वया ॥४९॥

आप यह समझकर कि यह मेरा भक्त है मुझे क्षमा करें ॥३८॥ वह नगरी आपके वियोगसे पुत्र-शोकसे दुःखिनीके समान है, उस नगरीमें आपके बिना मैं कैसे जा सकूँगा ॥३९॥ पहले लोगोंने मेरे रथको रामसे युक्त देखा है, अब वे बिना रामके उसी रथको देखेंगे तो इससे वहाँके मनुष्य तथा वह समस्त नगरी दुःखसे विदीर्ण हो जायगी ॥४०॥ आपसे शून्य इस रथको देखकर वह नगरी दीन हो जायगी, दुःखिनी हो जायगी, जिस प्रकार रणमें वीर मारा जाय और सारथिमात्र ही बचा रहे ऐसी अपनी सेनाको देखनेसे दुःख होता है ॥४१॥ यद्यपि आप अयोध्याकी प्रजासे दूर हैं, तथापि उसके मनमें रहनेसे, सदा आपकी ही चिन्ता रहनेसे, आप उसके सामने ही हैं, आज आपके बिना रथ लेकर जब मैं जाऊँगा तब वह निराहार रह जायगी, बिना भोजन किये प्राण देनेके लिए तयार हो जायगी ॥४२॥ रामचन्द्र आपके प्रस्थान करनेके समयमें आपके वियोग दुःखसे दुःखी प्रजाने जैसा दुःख प्रकाश किया था वह आपने देखा ही था ॥४३॥ आपके चलनेके समय जैसा पुरवासियोंने आर्तनाद किया था, रथ पर अकेले मुझे लौटा देखकर वे उससे सौगुना अधिक आर्तनाद करेंगे ॥४४॥ मैं देवी कौसल्यासे क्या कहूँगा जिससे उनका शोक दूर हो, क्या मैं उनसे कहूँगा कि मैं आपके पुत्रको मामाके यहाँ पहुँचा आया, आप दुःख न करें ॥४५॥ इस प्रकारके असत्य वचन तो मैं कहूँगा ही नहीं और जो सत्य है अर्थात् आपके पुत्रको मैं वन भेज आया, यह अप्रिय है यह भी कैसे कहूँगा। अथवा आपका वन जाना असत्य भी होता तोभी मैं नहीं कहता, पर यह तो सत्य है, अतएव यह अप्रिय सत्य मैं कैसे कहूँगा ॥४६॥ ये घोड़े जिनकी देख-भाल मेरे अधीन है आपके बान्धवोंको ही ले चलते हैं, जब आप लोग कोई इस रथपर नहीं रहेंगे तब ये घोड़े रथ कैसे ले जायँगे ॥४७॥ अतएव निष्पाप, आपके बिना मैं अयोध्या नहीं जा सकता, अतएव अपने साथ आप मुझे वनमें चलनेकी आज्ञा दें ॥४८॥ इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भी आप मेरा त्याग करेंगे, मुझे साथ न ले चलेंगे तब आपके त्यक्त होनेपर मैं

भविष्यन्ति वने यानि तपोविघ्नकराणि ते । रथेन प्रतिबाधिष्ये तानि सर्वाणि राघव ॥५०॥
त्वत्कृते न मया प्राप्तं रथचर्याकृतं सुखम् । आशंसे त्वत्कृते नाहं वनवासकृतं सुखम् ॥५१॥
प्रसीदेच्छामि तेऽरण्ये भवितुं प्रत्यनन्तरः । प्रीत्याभिहितमिच्छामि भव मे प्रत्यनन्तरः ॥५२॥
इमेऽपि च हया वीर यदि ते वनवासिनः । परिचर्यां करिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति परमां गतिम्॥५३॥
तव शुश्रूषणं मूर्ध्ना करिष्यामि वने वसन् । अयोध्यां देवलोकं वा सर्वथा प्रजहाम्यहम् ॥५४॥
नहि शक्या प्रवेष्टुं सा मयाऽयोध्या त्वया विना । राजधानी महेन्द्रस्य यथा दुष्कृतकर्मणा ॥५५॥
वनवासे क्षयं प्राप्ते ममैष हि मनोरथः । यदनेन रथेनैव त्वां वहेयं पुरीं पुनः ॥५६॥
चतुर्दश हि वर्षाणि सहितस्य त्वया वने । क्षणभूतानि यास्यन्ति शतसंख्यानि चान्यथा ।५७।
भृत्यवत्सल तिष्ठन्तं भर्तृपुत्रगते पथि । भक्तं भृत्यं स्थितं स्थित्या न मां त्वं हातुमर्हसि ।५८।
एवं बहुविधं दीनं याचमानं पुनः पुनः । रामो भृत्यानुकम्पी तु सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥५९॥
जानामि परमां भक्तिमहं ते भर्तृवत्सल । शृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीमितः ॥६०॥
नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी । कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः ॥६१॥
विपरीते तुष्टिहीना वनवासं गते मयि । राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम् ।६२।

शीघ्र ही यहीं रथके साथ अग्निप्रवेश करूँगा ॥४९॥ रामचन्द्र, यदि मैं आपके साथ वनमें चलता तो रथके द्वारा आपकी तपस्याके समस्त विघ्न करनेवालोंको दूर हटाता ॥५०॥ रामचन्द्र आपने ही मुझे सारथिका पद देकर सुखी बनाया है, मैं आशा करता हूँ कि आपके द्वारा वनवासका भी सुख मिलेगा ॥५१॥ आप प्रसन्न हों, मैं वनमें आपका साथी होना चाहता हूँ, मैं चाहता हूँ कि आप प्रेमपूर्वक कहें कि तुम मेरे साथ चलो ॥५२॥ ये घोड़े यदि वनवासी आपकी कुछ सेवा कर सकें तो स्वामीकी सेवा करनेके कारण इनको भी बहुत सुख होगा ॥५३॥ वनमें रहकर मैं सब प्रकारसे आपकी सेवा करूँगा, आप यदि मुझे अपने साथ वनमें ले चलें तो अयोध्या और स्वर्गलोक तकका मैं त्याग कर सकता हूँ ॥५४॥ आपके बिना अयोध्या नगरीमें प्रवेश करना मेरे लिए अशक्य है, जिस प्रकार पापीके लिए इन्द्रकी राजधानी अमरावतीमें प्रवेश करना ॥५५॥ मेरा अभिलाष है कि वनवासकी अवधि पूरी होनेपर इसी रथपर पुनः मैं आपको राजधानीमें ले चलूँ ॥५६॥ आपके साथ वनमे रहनेसे ये वर्ष मेरे लिए एक क्षणके समान बीतेंगे, और यदि आपका साथ न हुआ तब तो ये ही वर्ष सौ वर्षोंके समान होंगे ॥५७॥ राजपुत्रने जिस मार्गका ग्रहण किया है, उस मार्गमें भृत्यको जैसा रहना चाहिए, मैं भी आपके साथ उसी रूपसे रहना चाहता हूँ, मैं सब भृत्योंमें अधिक आपका भक्त भृत्य हूँ और भृत्यके ही समान रहना चाहता हूँ, आपको मेरा त्याग नहीं करना चाहिए ॥५८॥ इस प्रकार अनेक तरहसे बार-बार सुमन्त्रके प्रार्थना करनेपर अपने भृत्योंपर प्रेम करनेवाले रामचन्द्र सुमन्त्रसे यह बोले ॥५९॥ स्वामिभक्त, आपकी श्रेष्ठ भक्तिको मैं जानता हूँ । सुनिए, जिसलिए मैं आपको यहाँसे अयोध्या भेज रहा हूँ ॥६०॥ जब आप यहाँसे अयोध्या लौट जायँगे, तब मेरी छोटी माता केकयीको इस बातका विश्वास हो जायगा कि रामचन्द्र वन गये ॥६१॥ मेरे वनवास जानेपर देवी केकयी सन्तुष्ट हो जायगी और धार्मिक राजाके मिथ्य-

एष मे प्रथमः कल्पो यदम्बा मे यवीयसी । भरतारक्षितं स्फीतं पुत्रराज्यमवाप्स्यते ॥६३॥
मम प्रियार्थं राज्ञश्च सुमन्त्र त्वं पुरीं व्रज । संदिष्टश्चापि यानर्थांस्तांस्तान्ब्रूयास्तथा तथा ॥६४॥
इत्युक्त्वा वचनं सूतं सान्त्वयित्वा पुनःपुनः । गुहं वचनमक्लीबो रामो हेतुमदब्रवीत् ॥६५॥
नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने । अवश्यमाश्रमे वासः कर्तव्यस्तद्गतो विधिः ॥६६॥
सोऽहं गृहीत्वा नियमं तपस्विजनभूषणम् । हितकामः पितुर्भूयः सीताया लक्ष्मणस्य च ॥६७॥
जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय । तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत् ॥६८॥
लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः । दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारयत् ॥६९॥
तौ तदा चीरसंपन्नौ जटामण्डलधारिणौ । अशोभेतामृषिसमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥७०॥
ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणः । व्रतमादिष्टवान्रामः सहायं गुहमब्रवीत् ॥७१॥
अप्रमत्तो बले कोशे दुर्गे जनपदे तथा । भवेथा गुह राज्यं हि दुरारक्षतमं मतम् ॥७२॥
ततस्तं समनुज्ञाप्य गुहमिक्ष्वाकुनन्दनः । जगाम तूर्णमव्यग्रः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥७३॥
स तु दृष्ट्वा नदीतीरे नावमिक्ष्वाकुनन्दनः । तितीर्षुः शीघ्रगां गङ्गामिदं वचनमब्रवीत् ॥७४॥
आरोह त्वं नरव्याघ्र स्थितां नावमिमां शनैः । सीतां चारोपयान्वक्षं परिगृह्य मनस्विनीम् ॥७५॥

वादी होनेकी शंका नहीं करेगी ॥६२॥ आपको अयोध्या भेजनेका सबसे प्रधान उद्देश्य मेरा यह है कि मेरी छोटी माता केकयी अपने पुत्र भरतके द्वारा अच्छी तरह शासित पुत्रराज्य पावे ॥६३॥ सुमन्त्र मेरी तथा राजाकी प्रसन्नताके लिये तुम अयोध्या जाओ और जिसके लिये जो सन्देश मैंने कहा है उससे वह सन्देश जाकर कहो ॥६४॥ सूतसे ऐसा कहकर तथा बार-बार उन्हें समझाकर गुहसे हेतुयुक्त वचन वे बोले ॥६५॥ गुह, इस समय मुझे मनुष्यवाले वनमें नहीं रहना चाहिए; किन्तु आश्रममें रहना चाहिए और उस विधिका पालन करना चाहिए जो आश्रममें रहनेवालोंके लिए निर्दिष्ट है ॥६६॥ इस कारण तपस्वियोंके नियम, भूशयन, जटाधारण आदि धारण करता हूँ। पिताके मनरथकी पूर्तिके लिए सीता और लक्ष्मणकी सम्मतिसे तपस्वियोंके भूषण जटा बनाकर मैं यहाँसे जाऊँगा, तुम वरका दूध ले आओ। गुहने शीघ्र ही वरका दूध लाकर राजपुत्रको दिया ॥६७-६८॥ रामचन्द्रने उस दूधसे अपनी तथा लक्ष्मणकी जटा बनायी, नरसिंह महाबाहु रामचन्द्र जटिल बन गये ॥६९॥ उस समय वे दोनों भाई राम और लक्ष्मण, चीर और जटा धारण करनेके कारण, ऋषियोंके समान शोभने लगे ॥७०॥ वानप्रस्थ धर्म ग्रहण करके लक्ष्मणके साथ रामचन्द्र ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करने लगे और वे अपने सहायक गुहसे इस प्रकार बोले ॥७१॥ सेना खजाना किला और राज्यके विषयमें सदा सावधान रहो; क्योंकि राज्यकी रक्षा बड़ी कठिनतासे होती है ॥७२॥ इक्ष्वाकुनन्दन रामचन्द्र इस प्रकार गुहको आज्ञा देकर लक्ष्मण और सीताके साथ अव्यग्रता पूर्वक शीघ्र वहाँसे चले ॥७३॥ नदीके तीरपर नाव देखकर वेगवती गंगाको पार जानेकी इच्छासे रामचन्द्र लक्ष्मणसे बोले ॥७४॥ नरव्याघ्र, यह नाव खड़ी है, इसको

स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन् । आरोप्य मैथिलीं पूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः ॥७६॥
अथारुरोह तेजस्वी स्वयं लक्ष्मणपूर्वजः । ततो निषादाधिपतिर्गुहो ज्ञातीनचोदयत् ॥७७॥
राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः । ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः ॥७८॥
आचम्य च यथाशास्त्रं नदीं तां सह सीतया । प्रणमत्प्रतिसंतुष्टो लक्ष्मणश्च महारथः ॥७९॥
अनुज्ञाय सुमन्त्रं च सबलं चैव तं गुहम् । आस्थाय नावं रामस्तु चोदयामास नाविकान् ॥८०॥
ततस्तैश्चालिता नौका कर्णधारसमाहिता । शुभस्फ्यवेगाभिहता शीघ्रं सलिलमत्यगात् ॥८१॥
मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता । वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत् ॥८२॥
पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः । निदेशं पालयत्वेनं गङ्गे त्वदभिरक्षितः ॥८३॥
चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने । भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति ॥८४॥
ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता । यक्ष्ये प्रमुदिता गङ्गे सर्वकामसमृद्धिनी ॥८५॥
त्वं हि त्रिपथगे देवि ब्रह्मलोकं समक्षसे । भार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन्संप्रदृश्यसे ॥८६॥
सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने । प्राप्तराज्ये नरव्याघ्रे शिवेन पुनरागते ॥८७॥
गवां शतसहस्रं च वस्त्राण्यन्नं च पेशलम् । ब्राह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया ॥८८॥
सुराघटसहस्रेण मांसभूतोदनेन च । यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवि पुरीं पुनरुपागता ॥८९॥

पकड़ लो और सीताको चढ़ाओ, तदनन्तर स्वयं चढ़ो ॥७५॥ भाईकी आज्ञा सुनकर उनका अभिप्राय जाननेवाले लक्ष्मणने नौकापर चढ़नेके सब साधन अनुकूल बना दिये, तदनन्तर जानकीको नौकापर चढ़ाकर स्वयं चढ़े ॥७६॥ तदनन्तर स्वयं लक्ष्मणके बड़े भाई तेजस्वी रामचन्द्र चढ़े, यह देखकर निषादाधिपती गुहने अपने बान्धवोंको नाव चलानेकी आज्ञा दी ॥७७॥ महातेजस्वी रामचन्द्र नौकापर चढ़कर अपने हितके उद्देश्यसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, देवतावाले मन्त्रका जप करने लगे ॥७८॥ शास्त्रविधिके अनुसार आचमन करके गंगा नदीको प्रसन्नतापूर्वक रामचन्द्रने सीताके साथ प्रणाम किया, तदनन्तर लक्ष्मणने भी प्रणाम किया ॥७९॥ सुमन्त्रको तथा अपने साथियोंके सहित गुहको आज्ञा देकर रामचन्द्र नावपर बैठे और नाव चलानेके लिये उन्होंने मल्लाहोंको आज्ञा दी ॥८०॥ सावधान मल्लाहोंवाली वह नौका वेगसे चलनेवाले डाँड चलानेके कारण शीघ्रतापूर्वक जलमें चली ॥८१॥ गंगाके बीचमें आकर सुन्दरी वैदेही हाथ जोड़कर गंगासे यह बोली ॥८२॥ बुद्धिमान राजा दसरथके पुत्र आपके द्वारा रक्षित होनेपर पिताको आज्ञाका पालन करेंगे ॥८३॥ पूरे चौदहवर्ष वनमें रहकर भाई लक्ष्मण और मेरे साथ ये पुनः लौटेंगे ॥८४॥ सुभगे, उस समय कुशलपूर्वक लौटी हुई मैं, सब मनोरथोंके पूर्ण होनेसे प्रसन्नता-पूर्वक तुम्हारी पूजा करूँगी ॥८५॥ त्रिपथगे देवि, तुम्हारी कीर्ति ब्रह्मलोकतक फैली है और तुम समुद्रकी स्त्री हो ॥८६॥ देवि, मैं तुमको प्रणाम करती हूँ तथा तुम्हारी स्तुती करती हूँ। जब रामचन्द्र कुशल पूर्वक लौटेंगे तथा राज्य पावेंगे, तब तुम्हारी प्रसन्नताके लिये सौ हजार गौ, वस्त्र तथा उत्तम अन्न ब्राह्मणोंको दूंगी ॥८७॥८८॥ देवि, पुनः लौटकर हजार घड़ा मदिरा तथा माँस युक्त भातसे तुम्हारी

यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि च सन्ति हि । तानि सर्वाणि यक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च॥९०॥
पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च संगतः । अयोध्यां वनवासात्तु प्रविशत्वनघोऽनघे ॥९१॥
तथा संभाषमाणा सा सीता गङ्गामनिन्दिता । दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत् ॥९२॥
तीरं तु समनुप्राप्य नावं हित्वा नरर्षभः । प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परंतपः ॥९३॥
अथाब्रवीन्महाबाहुः सुमित्रानन्दवर्धनम् । भव संरक्षणार्थाय सजने विजनेऽपि वा ॥९४॥
अवश्यं रक्षणं कार्यं मद्विधैर्विजने वने । अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु ॥९५॥
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सीतां त्वां चानुपालयन् । अन्योन्यस्य हि नो रक्षा कर्तव्या पुरुषर्षभ ॥९६॥
नहि तावदतिक्रान्ता सुकरा काचन क्रिया । अद्य दुःखं तु वैदेही वनवासस्य वेत्स्यति ॥९७॥
प्रनष्टजनसंबाधं क्षेत्रारामविवर्जितम् । विषमं च प्रपातं च वनमद्य प्रवेक्ष्यति ॥९८॥
श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रतस्थे लक्ष्मणोऽग्रतः । अनन्तरं च सीताया राघवो रघुनन्दनः ॥९९॥

गतं तु गङ्गापरपारमाशु रामं सुमन्त्रः सततं निरीक्ष्य ।
अध्वप्रकर्षाद्विनिवृत्तदृष्टिर्मुमोच बाष्पं व्यथितस्तपस्वी ॥१००॥
सलोकपालप्रतिमप्रभावस्तीर्त्वा महात्मा वरदो महानदीम् ।
ततः समृद्धाञ्छुभसस्यमालिनः क्षणेन वत्सान्मुदितानुपागमत् ॥१०१॥

पूजा करूँगी, तुम प्रसन्न होओ ॥८९॥ तुम्हारे तीरपर जो तीर्थ हैं, जो देवस्थान हैं उन सबकी मैं पूजा करूँगी ॥९०॥ हे निष्पापे, निष्पाप रामचन्द्र मेरे और भाई लक्ष्मणके साथ वनवाससे लौटकर पुनः अयोध्यामें प्रवेश करें ॥९१॥ इस प्रकार गंगासे पतिप्रिया सीता बातें कर रहीं थीं और नौका गङ्गाके दक्षिण तीरपर आकर लगी ॥९२॥ नरश्रेष्ठ रामचन्द्र तीरपर पहुँचकर नौकासे उतरे और शत्रुतापी वे सीता तथा लक्ष्मणके साथ चले ॥९३॥ अनन्तर महाबाहु रामचन्द्र लक्ष्मणसे बोले कि जनहीन तथा जनयुक्त स्थानोंमें सीताकी रक्षाके लिए तयार हो जाओ ॥९४॥ हम लोगोंका विजन वनमें सदा रक्षाके लिए तय्यार हो जाना चाहिए । लक्ष्मण तुम आगे चलो और सीता तुम्हारे पीछे-पीछे चले ॥९५॥ सीता और तुम्हारी रक्षा करते हुए पीछे-पीछे मैं चलूँगा, हम लोगोंको परस्परकी रक्षा करनी चाहिए ॥९६॥ कठिन कार्योंकी समाप्ति अभी नहीं हुई है, किन्तु उनका अब प्रारम्भ हुआ है । जानकी वनवासके दुःखों-को आज जानेगी ॥९७॥ आज हम लोगोंको उस वनमें जाना है जहाँ आदमियोंका नामोंनिशान नहीं है, वहाँ न खेत हैं और न बाग, ऊबड़-खाबड़ रास्ते हैं, गड्ढे भी हैं ॥९८॥ रामचन्द्रकी बात सुनकर लक्ष्मण आगे-आगे चले और सीताके पीछे-पीछे रामचन्द्र चले ॥९९॥ रामचन्द्र गंगाके उस पार चले गये, दुःखी और व्यथित सुमन्त्र बड़ी देरतक देखते रहे, उनके अधिक दूर चले जानेसे उन्होंने उधरसे अपनी आँखें हटालीं और वे रोने लगे ॥१००॥ लोकपालोंके समान प्रभाववाले वरद महात्मा रामचन्द्र गंगा पार करके वत्स्य देशमें गये । वत्स्य देश धनी और खूब अन्नवाला था तथा वहाँके वासी बड़े प्रसन्न रहते थे

तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान्वराहमृश्यं पृषतं महारुरुम् ।
आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ वासाय काले ययतुर्वनस्पतिम् ॥१०२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः ५३

स तं वृक्षं समासाद्य संध्यामन्वास्य पश्चिमाम् । रामो रमयतां श्रेष्ठ इति होवाच लक्ष्मणम् ॥ १ ॥
अद्येयं प्रथमा रात्रिर्याता जनपदाद्बहिः । या सुमन्त्रेण रहिता तां नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥
जागर्तव्यमतन्द्रिभ्यामद्यप्रभृति रात्रिषु । योगक्षेमौ हि सीताया वर्तेते लक्ष्मणावयोः ॥ ३ ॥
रात्रिं कथंचिदेवेमां सौमित्रे वर्तयामहे । अपवर्तामहे भूमावास्तीर्य स्वयमर्जितैः ॥ ४ ॥
स तु संविश्य मेदिन्यां महार्हशयनोचितः । इमाः सौमित्रये रामो व्याजहार कथाः शुभाः ॥ ५ ॥
ध्रुवमद्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण । कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति ॥ ६ ॥
सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात् । अपि न च्यावयेत्प्राणान्दृष्ट्वा भरतमागतम् ॥ ७ ॥
अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विना कृतः । किं करिष्यति कामात्मा कैकेय्या वशमागतः ॥ ८ ॥
इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम् । काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ॥ ९ ॥

॥१०१॥ वहाँ उन दोनोंने चार पशु वराह, ऋश्य, पृषत और रुरु (ऋश्य आदि मृगके भेद हैं) मृग और मेध्य (ऋषियोंका भोजन) लेकर विश्राम करनेके लिए वृक्षके पास गये ॥१०२॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका बावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

उस वृक्षके पास जाकर रामचन्द्रने सायंकालकी सन्ध्या की और रमण करनेवालोंमें श्रेष्ठ राम, लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले ॥१॥ नगरके बाहर हमलोगोंके लिए यह पहली रात है, आज सुमन्त्र भी नहीं हैं । तुम उदास न होना ॥२॥ आजसे लेकर रातको हम लोगोंको आलस्य छोड़कर जागना चाहिए, क्योंकि सीताकी रक्षाका भार हम हीं लोगोंपर है ॥३॥ किसी तरह हमलोग इस रातको बिता दें, कुस तृण आदि स्वयं लाकर जमीनमें बिछाकर लोट रहें ॥४॥ मूल्यवान पलँगपर सोनेवाले रामचन्द्र जमीनपर सोये और लक्ष्मणसे ये सुन्दर बातें उन्होंने कहीं—लक्ष्मण, निश्चय, आज महाराज दसरथ दुःखसे सो रहे होंगे और मनोरथ पूर्ण होनेसे केकयी प्रसन्न होगी ॥६॥ देवी केकयी भरतको आया देखकर राज्यके कारणसे राज्यका पूर्ण आधिपत्य पानेके लिए महाराजके प्राण न ले ले ॥७॥ मेरे चले आनेसे वृद्ध राजा इस समय अनाथ हो गये हैं । कामी राजा इस समय केकयीके अधीन हैं, वे क्या कर सकेंगे, किस प्रकार अपनी रक्षा कर सकेंगे ॥८॥ आये हुए इस दुःखको देखकर तथा राजाका मतिविभ्रम देखकर मैं समझता हूँ

को ह्यविद्वानपि पुमान्प्रमदायाः कृते त्यजेत् । छन्दानुवर्तिनं पुत्रं तातो मामिव लक्ष्मण ॥१०॥
सुखी बत सुभार्यश्च भरतः कैकयीसुतः । मुदितान्कोसलानेको यो भोक्ष्यत्यधिराजवत् ॥११॥
स हि राज्यस्य सर्वस्य सुखमेकं भविष्यति । ताते तु वयसातीते मयि चारण्यमाश्रिते ॥१२॥
अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते । एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ॥१३॥
मन्ये दशरथान्ताय मम प्रव्राजनाय च । कैकेयी सौम्य संप्राप्ता राज्याय भरतस्य च ॥१४॥
अपीदानीं तु कैकेयी सौभाग्यमदमोहिता । कौसल्यां च सुमित्रां च सा प्रबाधेत मत्कृते ॥१५॥
मातास्मत्कारणाद्देवी सुमित्रा दुःखमावसेत् । अयोध्यामित एव त्वं काले प्रविश लक्ष्मण ॥१६॥
अहमेको गमिष्यामि सीतया सह दण्डकान् ।अनाथाया हि नाथस्त्वं कौसल्याया भविष्यसि ।१७।
क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेषादन्यायमाचरेत् । परिदद्याद्धि धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम् ॥१८॥
नूनं जात्यन्तरे तात स्त्रियः पुत्रैर्वियोजिताः । जनन्या मम सौमित्रे तदप्येतदुपस्थितम् ॥१९॥
मया हि चिरपुष्टेन दुःखसंवर्धितेन च । विप्रयुज्यत कौसल्या फलकाले धिगस्तु माम् ॥२०॥
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् । सौमित्रे योऽहमम्बाया दद्मि शोकमनन्तकम् ॥२१॥
मन्ये प्रीतिविशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण सारिका । यत्तस्याः श्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश ॥२२॥

कि काम ही अर्थ और धर्मसे बड़ा है ॥९॥ लक्ष्मण, कौन बुद्धिमान मनुष्य स्त्रीके लिए अपने अनुकूल पुत्रका त्याग कर सकता है जिस प्रकार पिताने मेरा त्याग किया है ॥१०॥ केकयीका पुत्र भरत ही सुखी है, उसीकी स्त्री भाग्यवती है, जो भरत समृद्ध कोसलराज्यका भोग राजाके समान करेगा ॥११॥ राजा दसरथके अत्यन्त वृद्ध होनेसे तथा मेरे वनमें आनेसे समस्त राज्यका सुख केवल भरतको ही होगा ॥१२॥ धर्म और अर्थको छोड़कर जो केवल कामका ही अनुवर्तन करता है, कामके अधीन हो जाता है, वह आपत्तिमें पड़ता है, जैसे राजा दसरथ आपत्तिमें पड़े हुए हैं ॥१३॥ सौम्य, मैं समझता हूँ कि दसरथकी मृत्यु, मेरे वनवास और भरतके राज्यके लिए ही केकयीका जन्म हुआ है ॥१४॥ सौभाग्यमदसे उन्मत्त केकयी, सम्भव है कि मेरे कारण कौसल्या और सुमित्राको कष्ट दे, उनका अपमान करे ॥१५॥ हम लोगोंके कारणसे माता कौसल्या और सुमित्रा दुःखमें होंगी, अतएव लक्ष्मण, तुम यहाँसे प्रातःकाल अयोध्या जाओ ॥१६॥ मैं अकेले ही सीताके साथ दण्डक वनमें जाऊँगा, तुम्हारे अयोध्या जानेसे अनाथ कौसल्या सनाथ होंगी उन्हें ढाढ़स होगा ॥१७॥ केकयी छोटे काम करनेवाली है, वह द्वेषसे अन्याय भी कर सकती है, हे धर्मज्ञ, तुम्हारी और मेरी माताको वह विष दे सकती है ॥१८॥ दूसरे जन्ममें स्त्रियोंको पुत्रका वियोग देखा गया है पर वह पुत्रवियोगका दुःख मेरी माताको (इसी जन्ममें) आज प्राप्त हुआ ॥१९॥ माताने दुःखसे मेरा बहुत दिनोंतक पालन-पोषण किया, फलके समय, मेरे द्वारा सेवा पानेके समय, उनसे मेरा वियोग हो गया, मैं उनसे अलग हो गया ॥२०॥ कोई भी स्त्री ऐसा – मेरे समान पुत्र उत्पन्न न करे । लक्ष्मण, देखो मैं अपनी माताको कितना कष्ट दे रहा हूँ ॥२१॥ लक्ष्मण, मुझसे अधिक तो वह सारिका कौसल्यामें प्रेम करती है, जो कौसल्याको "दुश्मनके पैर काटो" यह वाक्य सुनाया करती है, मैं तो वह भी नहीं कहता

शोचन्त्याश्चाल्पभाग्याया न किंचिदुपकुर्वता। पुत्रेण किमपुत्राया मया कार्यमरिंदम ।।२३।।
अल्पभाग्या हि मे माता कौसल्या रहिता मया। शेते परमदुःखार्ता पतिता शोकसागरे ।।२४।।
एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण। तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम् ।।२५।।
अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ। तेन लक्ष्मण नाद्याहमात्मानमभिषेचये ।।२६।।
एतदन्यच्च करुणं विलप्य विजने बहु। अश्रुपूर्णमुखो दीनो निशि तूष्णीमुपाविशत् ।।२७।।
विलापोपरतं रामं गतार्चिषमिवानलम्। समुद्रमिव निर्वेगमाश्वासयत लक्ष्मणः ।।२८।।
ध्रुवमद्य पुरी राम अयोध्या युधिनां वर। निष्प्रभा त्वयि निष्क्रान्ते गतचन्द्रेव शर्वरी ।।२९।।
नैतदौपयिकं राम यदिदं परितप्यसे। विषादयसि सीतां च मां चैव पुरुषर्षभ ।।३०।।
न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतो ।।३१।।
नहि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परंतप। द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना ।।३२।।
ततस्तत्र समासीनौ नातिदूरे निरीक्ष्य ताम्। न्यग्रोधे सुकृतां शय्यां भेजाते धर्मवत्सलौ ।।३३।।

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं वचो निशम्य चैवं वनवासमादरात्।
समाः समस्ता विदधे परंतपः प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः ।।३४।।

।।२२।। भाग्यकी छोटी और दुःखमें पड़ी हुई कौसल्याका पुत्र होकर मैं कोई उपकार नहीं कर सकता, फिर मुझसे उनको क्या लाभ ? एक तरह तो वह पुत्रहीन ही हैं ।।२३।। मेरे न रहनेसे मेरी माता अभागिन हो गयी हैं, वे इस समय बड़ी दुःखिनी होंगी और शोकसमुद्रमें डूब रही होंगी ।।२४।। मैं अकेला ही क्रोध करके अयोध्या और समस्त पृथिवीको बाणोंसे जीत सकता हूँ, पर यहाँ पराक्रम देखाना व्यर्थ है। पराक्रमको दिखानेका अवसर नहीं है ।।२५।। निष्पाप, मैं पिताके प्रतिज्ञा-भंगरूप अधर्मसे डरता हूँ और परलोकसे डरता हूँ, इसी कारण अपना राज्याभिषेक नहीं कराता ।।२६।। विजन वनमें इस प्रकारका तथा और बहुत विलाप करके दुःखी, रोते हुए रामचन्द्र रातको चुप हो गये ।।२७।। विलाप करके चुप होनेपर रामचन्द्र ज्वालाहीन अग्निके समान तथा तरंगहीन समुद्रके समान हो गये। उस समय लक्ष्मणने उन्हें समझाया ।।२८।। वीरश्रेष्ठ रामचन्द्र, आपके चले आनेसे निश्चय अयोध्या पुत्रहीन हो गयी होगी, जिस प्रकार चन्द्रमाके बिना रात्रि प्रभाहीन हो जाती है ।।२९।। राम, जो आप यह दुःख कर रहे हैं यह उचित नहीं है, ऐसा करके आप सीताको तथा मुझको दुःख दे रहे हैं ।।३०।। राम, आपके बिना सीता और मैं नहीं जी सकता, जिस प्रकार जलसे निकलनेपर मछलियाँ नहीं जी सकतीं ।।३१।। हे शत्रु-तापी, आपके बिना मैं शत्रुघ्नको और माताको भी देखना नहीं चाहता, और क्या, स्वर्गको भी देखना नहीं चाहता ।।३२।। धर्मवत्सल राम और लक्ष्मण सुखपूर्वक वहाँ बैठे रहे, पुनः राम, लक्ष्मणकी बनायी शय्या-पर सोये ।।३३।। लक्ष्मणकी उत्तम और बहुतसी बातें आदरपूर्वक सुनकर और बनवासका धर्म ग्रहण

ततस्तु तस्मिन्विजने महाबलौ महावने राघववंशवर्धनौ।
न तौ भयं संभ्रममभ्युपेयतुर्यथैव सिंहौ गिरिसानुगचरौ ॥३५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३॥

चतुष्पञ्चाशः सर्गः ५४

ते तु तस्मिन्महावृक्षे उषित्वा रजनीं शुभाम् । विमलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्माद्देशात्प्रतस्थिरे ॥ १ ॥
यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाभिप्रवर्तते । जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद्वनम् ॥ २ ॥
ते भूमिभागान्विविधान्देशांश्चापि मनोहरान् । अदृष्टपूर्वान्पश्यन्तस्तत्र तत्र यशस्विनः ॥ ३ ॥
यथा क्षेमेण संपश्यन्पुष्पितान्विविधान्द्रुमान् । निवृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४ ॥
प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुत्तमम् । अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये संनिहितो मुनिः ॥ ५ ॥
नूनं प्राप्ताः स्म संभेदं गङ्गायमुनयोर्वयम् । तथाहि श्रूयते शब्दो वारिणोवारिघर्षजः ॥ ६ ॥
दारूणि परिभिन्नानि वनजैरुपजीविभिः । छिन्नाश्चाप्याश्रमे चैते दृश्यन्ते विविधा द्रुमाः ॥ ७ ॥
धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे । गङ्गायमुनयोः संधौ प्रापतुर्निलयं मुनेः ॥ ८ ॥
रामस्त्वाश्रममासाद्य त्रासयन्मृगपक्षिणः । गत्वा मुहूर्तमध्वानं भरद्वाजमुपागमत् ॥ ९ ॥

करके रामचन्द्रने बहुत दिनोंतक वनभ्रमण करनेकी इच्छा की ॥३४॥ रघुवंशको बढ़ानेवाले महाबली राम और लक्ष्मण उस विजन वनमें न डरे और न घबड़ाये, जिस प्रकार पर्वतवासी सिंह ॥३५॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका तिरपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५३ ॥

उन तीनोंने वह सुन्दर रात बड़े वृक्षके नीचे बितायी। प्रातःकाल विमल-सूर्यके उदय होनेपर वे वहाँसे चले ॥१॥ जहाँ भागीरथी गंगासे यमुना मिली हैं, वहाँ जानेके लिए वे सघन वनके बीचसे होकर चले ॥२॥ उन यशस्वी महानुभावोंने अनेक मैदान, मनोहर देशोंको देखते हुए—जो पहले कभी नहीं देखे हुये थे—चले ॥३॥ आनन्दपूर्वक विकसित वृक्षोंको देखते हुए रामचन्द्र चले। दिनके समाप्त होनेपर रामने लक्ष्मणसे कहा ॥४॥ प्रयागके पास भगवान् अग्निकी ध्वजा सगन्ध धूम देखो, इससे मालूम होता है कि मुनि यहीं हैं, कहीं बाहर नहीं गये हैं ॥५॥ निश्चय हमलोग गंगा-यमुनाके संगम स्थानपर पहुँच गये, क्योंकि दोनों नदियोंके जलके संघर्षका शब्द सुनायी पड़ रहा है ॥६॥ जंगली वस्तुओंसे जीनेवालोंके द्वारा काटी हुई लकड़ी दिखायी पड़ रही है, और आश्रममें कटे हुए अनेक वृक्ष दिखायी पड़ रहे हैं ॥७॥ धनुर्धारी वे दोनों, दिन ढलते-ढलते गंगा-यमुनाके संगमपर मुनिके आश्रमपर पहुँचे ॥८॥ आश्रमपर

ततस्त्वाश्रममासाद्य मुनेर्दर्शनकाङ्क्षिणौ । सीतयानुगतौ वीरौ दूरादेवावतस्थतुः ॥१०॥
स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्वृतम् । संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम् ॥११॥
हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागः कृताञ्जलिः । रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया चाभ्यवादयत ॥१२॥
न्यवेदयत चात्मानं तस्मै लक्ष्मणपूर्वजः । पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन्रामलक्ष्मणौ ॥१३॥
भार्या ममेयं कल्याणी वैदेही जनकात्मजा । मां चानुयाता विजनं तपोवनमनिन्दिता ॥१४॥
पित्रा प्रव्राज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः । अयमन्वगमद्भ्राता वनमेव धृतव्रतः ॥१५॥
पित्रा नियुक्ता भगवन्प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम् । धर्ममेवाचरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः ॥१६॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः । उपानयत धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः ॥१७॥
नानाविधानन्नरसान्वन्यमूलफलाश्रयान् । तेभ्यो ददौ तप्ततपा वासं चैवाभ्यकल्पयत् ॥१८॥
मृगपक्षिभिरासीनो मुनिभिश्च समन्ततः । राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनागतं मुनिः ॥१९॥
प्रतिगृह्य तु तामर्चामुपविष्टं स राघवम् । भरद्वाजोऽब्रवीद्वाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा ॥२०॥
चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्याम्यहमुपागतम् । श्रुतं तव मया चैव विवासनमकारणम् ॥२१॥
अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे । पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान्सुखम् ॥२२॥

पहुँचकर पशुओं और पक्षियोंको भयभीत करते हुए एक मुहूर्त चलकर—भरद्वाज मुनिके पास पहुँचे ॥९॥ आश्रमपर पहुँचकर वीर राम और लक्ष्मण सीताके साथ मुनिकी आज्ञा पानेके लिये ठहरे ॥१०॥ महाभाग रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीताके साथ हाथ जोड़कर ऋषिके आश्रममें गये और उनको देखते ही उन लोगोंने प्रणाम किये । मुनि अपने शिष्योंके साथ बैठे थे, वे उग्र तपस्या करनेवाले थे, एकाग्र थे, तपस्याके द्वारा उन्हें ज्ञानदृष्टि प्राप्त थी और वे हवन कर चुके थे ॥११-१२॥ रामचन्द्रने ऋषिसे अपना परिचय इस प्रकार दिया—भगवन्, हमलोग राजा दशरथके पुत्र हैं और हमलोगोंका नाम राम तथा लक्ष्मण है ॥१३॥ ये कल्याणी मेरी भार्या हैं, ये राजा जनककी पुत्री हैं, इनका नाम वैदेही है । ये अनिन्दिता सीता भी हमारे साथ वनमें आयी हैं ॥१४॥ पिताने जब मुझे वनवास दिया, तब ये सुमित्राके पुत्र मेरे प्रिय छोटे भाई भी मेरे साथ वन चले आये और मेरे साथ इन्होंने भी वनवासका व्रत धारण किया ॥१५॥ भगवन्, पिताकी आज्ञासे हमलोग यहाँ तपोवनमें आये हैं, हमलोग वनवासके समय धर्माचरण ही करेंगे और फल-मूलका आहार करेंगे ॥१६॥ बुद्धिमान राजपुत्रके वे वचन सुनकर धर्मात्मा भरद्वाज मधुपर्कके लिए गौ और अर्घ्यके लिए जल ले आये ॥१७॥ वनके फल और मूल जो अनेक प्रकारके खाद्य थे तथा जिनमें अनेक प्रकारके रस थे, तपस्वी ऋषिने उन लोगोंको दिये और उन लोगोंके रहनेके लिए स्थान भी दिये ॥१८॥ मुनि, पशु-पक्षियों तथा मुनियोंके साथ बैठे हुए थे, उन्होंने आये हुए रामचन्द्रका स्वागतके द्वारा सत्कार किया ॥१९॥ मुनिकी दी हुई पूजा ग्रहण करके जब रामचन्द्र बैठे, तब भरद्वाज धर्मयुक्त यह वचन बोले ॥२०॥ रामचन्द्र, बहुत दिनोंसे तुम्हारे यहाँ आनेकी मैं प्रतीक्षा कर रहा था, बिना कारण आपको वनवास दिया गया है यह बात मैंने भी सुनी है ॥२१॥ यमुना और गंगा इन दोनों नदियोंका संगम—स्थान बड़ा ही एकान्त है, पवित्र और रमणीय है, आप सुखपूर्वक यहाँ निवास करें

एवमुक्तस्तु वचनं भरद्वाजेन राघवः । प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः ॥२३॥
भगवन्नित आसन्नः पौरजानपदो जनः । सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम् ॥२४॥
आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः । अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये ॥२५॥
एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम् । रमते यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा ॥२६॥
एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो महामुनिः । राघवस्य तु तद्वाक्यमर्थग्राहकमब्रवीत् ॥२७॥
दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन्निवत्स्यसि । महर्षिसेवितः पुण्यः पर्वतः शुभदर्शनः ॥२८॥
गोलाङ्गूलानुचरितो वानरर्क्षनिषेवितः । चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसंनिभः ॥२९॥
यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते । कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः ॥३०॥
ऋषयस्तत्र बहवो विहृत्य शरदां शतम् । तपसा दिवमारूढाः कपालशिरसा सह ॥३१॥
प्रविविक्तमहं मन्ये तं वासं भवतः सुखम् । इह वा वनवासाय वस राम मया सह ॥३२॥
स रामं सर्वकामैस्तं भरद्वाजः प्रियातिथिम् । सभार्यं सह च भ्रात्रा प्रतिजग्राह हर्षयन् ॥३३॥
तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिमुपेयुषः । प्रपन्ना रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः ॥३४॥
सीतातृतीयः काकुत्स्थः परिश्रान्तः सुखोचितः । भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमुवसन्सुखम् ॥३५॥
प्रभातायां तु शर्वर्यां भरद्वाजमुपागमत् । उवाच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥३६॥

॥२२॥ भरद्वाजके ऐसा कहनेपर सब प्राणियोंके कल्याणमें लगे रहनेवाले रामचन्द्रने इन शुभ वचनोंके द्वारा उत्तर दिया ॥२३॥ भगवन्, यहाँ से पुरवासी और राज्यवासी पास ही हैं, यहाँ वे आसानीसे मुझे देख सकते हैं, अतएव इस आश्रममें मुझको और सीताको देखनेवाले लोग आवेंगे, इसी कारणसे मैं यहाँ रहना पसन्द नहीं करता ॥२४-२५॥ भगवन्, कहीं एकान्त स्थानमें सुखकर स्थान बताइये, जो सुख चाहनेवाली जनकनन्दिनीको पसन्द आवे ॥२६॥ रामचन्द्रका यह वचन सुनकर महामुनि भरद्वाज अर्थबोधक वाक्य बोले ॥२७॥ तात, यहाँ से दस कोशपर पर्वत है जहाँपर तुम निवास करोगे, वहाँ महर्षि रहते हैं, वह पर्वत बड़ा ही सुन्दर और पवित्र है ॥२८॥ वह गंधमादनके समान पर्वत है, उसका नाम चित्रकूट है और भालू वहाँ निवास करते हैं ॥२९॥ मनुष्य जहाँ से चित्रकूट पर्वतके शिखर देखता है वहींसे उसका मन पुण्यकर्ममें लग जाता है, पापकी ओर उसका मन नहीं जाता ॥३०॥ वहाँ अनेक ऋषि रहते हैं, जिन लोगोंने शिवके साथ सैकड़ों वर्ष विहार करके सशरीर स्वर्ग प्राप्त किया है ॥३१॥ वहाँ दुष्ट लोग नहीं रहते, बड़ा ही सुखकर स्थान है, वही स्थान आपके वासके लिए उपयुक्त होगा । राम, अथवा यहीं आप मेरे साथ रहें ॥३२॥ भरद्वाजने अपने प्रिय अतिथि लक्ष्मण और सीताके साथ रामचन्द्रके सब मनोरथ पूरे किये और उस रातको उन्होंने अपने ही यहाँ ठहराया ॥३३॥ रामचन्द्र प्रयागमें जब महर्षिके पास गये तब अनेक तरहकी बातें हुईं और बातोंमें ही रात हो गयी ॥३४॥ सीता लक्ष्मण और तीसरे रामचन्द्र, थक गये थे, उन्हें विश्रामकी आवश्यकता थी, अतएव उस रातको सुखपूर्वक उन लोगोंने भरद्वाजके आश्रममें निवास किया ॥३५॥ रात बीतनेपर प्रातःकाल रामचन्द्र मुनिके पास गये । मुनिका तेज जल रहा था,

शर्वरीं भगवन्नद्य सत्यशील तवाश्रमे । उषिताःस्मोऽह वसतिमनुजानातु नो भवान् ॥३७॥
रात्र्यां तु तस्यां व्युष्टायां भरद्वाजोऽब्रवीदिदम् । मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं व्रजेति ह ॥३८॥
वासमौपयिकं मन्ये तव राम महाबल । नानानगगणोपेतः किन्नरोरगसेवितः ॥३९॥
मयूरनादाभिरतो गजराजनिषेवितः । गम्यतां भवता शैलश्चित्रकूटः स विश्रुतः ॥४०॥
पुण्यश्च रमणीयश्च बहुमूलफलायुतः । तत्र कुञ्जरयूथानि मृगयूथानि चैव हि ॥४१॥
विचरन्ति वनान्तेषु तानि द्रक्ष्यसि राघव । सरित्प्रस्रवणप्रस्थान्दरीकन्दरनिर्झरान् ।
चरतः सीतया सार्धं नन्दिष्यति मनस्तव ॥४२॥
प्रहृष्टकोयष्टिभकोकिलस्वनैर्विनोदयन्तं च सुखं परं शिवम् ।
मृगैश्च मत्तैर्बहुभिश्च कुञ्जरैः सुरम्यमासाद्य समावसाश्रयम् ॥४३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुष्पञ्चाशःसर्गः ॥५४॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः ५५

उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिंदमौ । महर्षिमभिवाद्याथ जग्मतुस्तं गिरिं प्रति ॥ १ ॥
तेषां स्वस्त्ययनं चैव महर्षिः स चकार ह । प्रस्थितान्प्रेक्ष्य तांश्चैव पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ २ ॥

नरश्रेष्ठ रामचन्द्र उनसे बोले ॥३६॥ सत्यशील भगवन्, आपके ही आश्रममें रातभर हम लोगोंने निवास किया है, अब अपने वासस्थानपर जानेके लिए आप हम लोगोंको आज्ञा दें ॥३७॥ रात बीतनेपर प्रातःकाल भरद्वाजने कहा—राम, तुम चित्रकूट जाओ, वहाँ फल-फूल आदि मिलेंगे ॥३८॥ हे महाबल राम, वही स्थान तुम्हारे वासके लिए उचित है, वहाँ अनेक पर्वत हैं, वहाँ किन्नर नाग आदि रहते हैं ॥३९॥ वहाँ मयूरकी ध्वनि सुन पड़ती है, बड़े-बड़े हाथी रहते हैं, आप चित्रकूट नामसे प्रसिद्ध पर्वतपर ही जायँ ॥४०॥ वह पर्वत बड़ाही पवित्र और बड़ाही रमणीय है, वहाँ बहुत फल-मूल होते हैं, वहाँ हाथियोंके झुण्ड और मृगोंके झुण्ड ॥४१॥ वनमें घूमते हैं, उनको तुम देखोगे, नदी, सोते, पर्वतशिखर, दरी, कन्दरा और झरना तुम देखोगे ॥४२॥ प्रसन्न टिटिहरी और कोकिलके शब्दसे जो पर्वत लोगोंका मनोविनोद करता है, जो परम सुखकारी तथा कल्याणमय है, मृग तथा अनेक मतवाले हाथियोंसे रमणीय है, वहीं जाकर आश्रम बनाकर तुम निवास करो ॥४३॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका चौवनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५४ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले वे दोनों राजपुत्र उस रातको वहीं निवास कर प्रातःकाल महर्षियोंको प्रणाम कर उस पर्वतकी ओर चले ॥१॥ वे जा रहे हैं यह देखकर महर्षिने उन लोगोंके लिए स्वस्त्ययन किये, जानेके समयके उपयुक्त मङ्गलविधायिनी क्रियाएँ उन्होंने कीं, जिस प्रकार और सपुत्रके लिए पिता

ततः प्रचक्रमे वक्तुं वचनं स महामुनिः । भरद्वाजो महातेजा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३ ॥
गङ्गायमुनयोः संधिमादाय मनुजर्षभ । कालिन्दीमनुगच्छेतां नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम्॥ ४ ॥
अथासाद्य तु कालिन्दीं प्रतिस्रोतःसमागताम् । तस्यास्तीर्थं प्रचरितं प्रकामं प्रेक्ष्य राघव ।
तत्र यूयं प्लवं कृत्वा तरतांशुमतीं नदीम् ॥ ५ ॥
ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम् । परीतं बहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम् ॥ ६ ॥
तस्मिन्सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिषां क्रियाम् । समासाद्य च तं वृक्षं वसेद्वातिक्रमेत वा ॥ ७ ॥
क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं प्रेक्ष्य च काननम् । सल्लकीबदरीमिश्रं राम वन्यैश्च यामुनैः ॥ ८ ॥
स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतस्य बहुशो मया । रम्यो मार्दवयुक्तश्च दावैश्चैव विवर्जितः ॥ ९ ॥
इति पन्थानमादिश्य महर्षिः संन्यवर्तत । अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः ॥१०॥
उपावृत्ते मुनौ तस्मिन्रामो लक्ष्मणमब्रवीत् । कृतपुण्याः स्म भद्रं ते मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते ॥११॥
इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ । सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम् ॥१२॥
अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतस्विनीं नदीम् । चिन्तामापेदिरे सद्यो नदीजलतितीर्षवः ॥१३॥
तौ काष्ठसंघाटमथो चक्रतुः सुमहाप्लवम् । शुष्कैर्वंशैः समाकीर्णमुशीरैश्च समावृतम् ॥१४॥
ततो वैतसशाखाश्च जम्बुशाखाश्च वीर्यवान् । चकार लक्ष्मणश्छित्त्वा सीतायाःसुखमासनम् ॥१५॥

करता है ॥२॥ तदनन्तर महातेजस्वी महामुनि भरद्वाज सत्यपराक्रम रामचन्द्रसे इस प्रकार कहने लगे ॥३॥ मानवश्रेष्ठ, गङ्गा यमुनाके सङ्गम स्थानसे जो थोड़ी दूर पीछेकी ओर हट गयी है (गङ्गाके वेगसे) उस यमुना नदीके तीरसे आप लोग जायँ ॥४॥ राघव, यमुना नदीके प्रवाहके साथ अनेक नदियाँ उसमें मिल गयी हैं, उसकी पवित्र प्रखर धाराको देखकर आप लोग नौकाके द्वारा सूर्यकन्या यमुनाके पार जायँ ॥५॥ वहाँसे आगे आप लोगोंको श्यामवट वृक्ष मिलेगा, इसके पत्ते हरे हैं, इस वृक्षमें अनेक अन्य वृक्ष मिले हैं और वहाँ सिद्धगण रहते हैं ॥६॥ उस वृक्षसे सीता हाथ जोड़कर आशीर्वाद माँगे । वहाँ जाकर आप लोग चाहे ठहर जायँ या आगे चलें ॥७॥ वहाँसे एक कोश आगे चलनेपर नीलकानन मिलेगा, सल्लकी (हाथीके खानेका एक कटीला वृक्ष), बेर और जङ्गली जामुनके वन वहाँ है ॥८॥ वही चित्रकूटका मार्ग है, मैं बहुत बार उस मार्गसे गया हूँ, बड़ाही सुन्दर और रमणीय है, उस मार्गमें वनाग्नि भी नहीं है ॥९॥ मार्ग बतलाकर महर्षि चुप हो गये, रामचन्द्रने उन्हें प्रणाम किया और "आपके बतलाये मार्गसे ही हम जायँगे" ऐसा कहकर उन्हें लौटा दिया ॥१०॥ मुनिके लौट जानेपर रामचन्द्रने लक्ष्मणसे कहा—तुम्हारा कल्याण हो, हमलोग बड़े पुण्यात्मा हैं, क्योंकि मुनि हमपर दया करते हैं ॥११॥ इस प्रकार विचार करके वे दोनों पुरुषसिंह सीताको ही आगे करके यमुनाके तीरसे चले ॥१२॥ बड़े वेगवाली यमुना नदीके तीरपर वे आये, वे उस नदीको पार करना चाहते थे इस कारण चिन्तित हुए ॥१३॥ उन दोनोंने लकड़ियाँ एकट्ठी करके एक बड़ी भारी नौका बनायी, सूखी बनैली लकड़ियाँ उन लोगोंने उसमें लगायीं और खश भी लगाया ॥१४॥ पराक्रमी लक्ष्मणने बेतकी डाल और जामुनकी डाल काटकर सीताके लिए

तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां रामो दाशरथिः प्रियाम्। ईषत्स लज्जमानां तामध्यारोपयत प्लवम् ॥१६॥
पार्श्वे तत्र च वैदेह्या वसने भूषणानि च। प्लवे कठिनकाजं च रामश्चक्रे समाहितः ॥१७॥
आरोप्य सीतां प्रथमं संघाटं परिगृह्य तौ। ततः प्रतेरतुर्यत्तौ प्रीतौ दशरथात्मजौ ॥१८॥
कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामवन्दत। स्वस्ति देवि तरामि त्वां पारयेन्मे पतिर्व्रतम् ॥१९॥
यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च। स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ॥२०॥
कालिन्दीमथ सीता तु याचमाना कृताञ्जलिः। तीरमेवाभिसंप्राप्ता दक्षिणं वरवर्णिनी ॥२१॥
ततः प्लवेनांशुमतीं शीघ्रगामूर्मिमालिनीम्। तीरजैर्बहुभिर्वृक्षैः संतेरुर्यमुनां नदीम् ॥२२॥
ते तु ते प्लवमुत्सृज्य प्रस्थाय यमुनावनात्। श्यामं न्यग्रोधमासेदुः शीतलं हरितच्छदम् ॥२३॥
न्यग्रोधं समुपागम्य वैदेही चाभ्यवन्दत। नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्व्रतम् ॥२४॥
कौसल्यां चैव पश्येम सुमित्रां च यशस्विनीम्। इति सीताञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छन्मनस्विनी ॥२५॥
अवलोक्य ततः सीतामायाचन्तीमनिन्दिताम्। दयितां च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥२६॥
सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरतानुज। पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सायुधो द्विपदां वर ॥२७॥
यद्यत्फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा। तत्तत्प्रयच्छ वैदेह्या यत्रास्या रमते मनः ॥२८॥

आसन बनाया ॥१५॥ लक्ष्मीके समान अचिन्तनीय प्रभाववाली प्रिया सीताको, जो थोड़ी लज्जित हो रही थी, स्वयं दासरथि रामचन्द्रने नौकापर चढ़ाया ॥१६॥ उसी नौकापर जानकीके पास रामचन्द्रने वस्त्र, भूषण, खनती और पेटी सावधानीसे रखी ॥१७॥ नौका पकड़कर उन दोनों राम और लक्ष्मणने सीताको बैठाया, तदनन्तर सावधानीसे प्रसन्नतापूर्वक वे दोनों नदी पार करने लगे ॥१८॥ बीचमें आकर सीताने यमुनाको प्रणाम किया और वे बोलीं—देवि, मैं आपको पार कर रही हूँ, मेरे पति कल्याणपूर्वक अपना व्रत पूरा करें ॥१९॥ हजार गौ तथा सौ घड़े मदिरासे मैं आपकी पूजा करूँगी, जब रामचन्द्र मङ्गलपूर्वक अपनी नगरी अयोध्यामें पहुँच जायँगे ॥२०॥ सीता इस प्रकार हाथ जोड़कर यमुनाकी स्तुति करती रहीं और वे यमुनाके दक्षिण तीरपर पहुँच गयीं ॥२१॥ यमुनाके दक्षिण तीरपर अनेक वृक्ष थे, तरंगोंकी माला वह धारण किये हुई थी, वह बड़े वेगसे चल रही थी, राम आदिने उस यमुनाको नौकासे पार किया ॥२२॥ नौकाको वहीं छोड़कर उन लोगोंने यमुना-वनसे प्रस्थान किया और शीतल हरे पत्तोंवाले श्यामवटके समीप पहुँचे ॥२३॥ उस वटवृक्षके पास जाकर सीताने उसे प्रणाम किया, उन्होंने कहा—हे वट, तुमको नमस्कार, मेरे अपने चौदह वर्षके वनवास व्रतको पूरा करें ॥२४॥ कौसल्या और यशस्विनी सुमित्राको हम लोग देखें, ऐसी प्रार्थना करके और हाथ जोड़कर सीताने उस महावृक्षकी प्रदक्षिणा की ॥२५॥ प्रियदयिता सीताको महावृक्षसे प्रार्थना करती देखकर रामचन्द्रने लक्ष्मणसे कहा ॥२६॥ हे मनुष्यश्रेष्ठ, भरतके छोटे भाई, तुम सीताको लेकर आगे चलो, मैं पीछे-पीछे चलता हूँ ॥२७॥ जानकी जो-जो फल

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम् । अदृष्टरूपां पश्यन्ती रामं पप्रच्छ साबला ॥२९॥
रमणीयान्बहुविधान्पादपान्कुसुमोत्करान् । सीतावचनसंरब्ध आनयामास लक्ष्मणः ॥३०॥
विचित्रवालुकजलां हंससारसनादिताम् । रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम् ॥३१॥
क्रोशमात्रं ततो गत्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ । बहून्मेध्यान्मृगान्हत्वा चेरतुर्यमुनावने ॥३२॥
विहृत्य ते बर्हिणपूगनादिते शुभे वने वारणवानरायुते ।
समं नदीवप्रमुपेत्य सत्वरं निवासमाजग्मुरदीनदर्शनाः ॥३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः ५६

अथ रात्र्यां व्यतीतायामवसुप्तमनन्तरम् । प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुपुंगवः ॥ १ ॥
सौमित्रे शृणु वन्यानां वल्गु व्याहरतां स्वनम् । संप्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परंतप ॥ २ ॥
प्रसुप्तस्तु ततो भ्रात्रा समये प्रतिबोधितः । जहौ निद्रां च तन्द्रां च प्रसक्तं च परिश्रमम् ॥ ३ ॥
तत उत्थाय ते सर्वे स्पृष्ट्वा नद्याः शिवं जलम् । पन्थानमृषिभिर्जुष्टं चित्रकूटस्य तं ययुः ॥ ४ ॥
ततः संप्रस्थितः काले रामः सौमित्रिणा सह । सीतां कमलपत्राक्षीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

और फूल माँगे वही इसको दो अथवा जो इसे अच्छा लगे वह करो ॥२८॥ दो हाथियोंके बीचमें हथिनीके समान राम और लक्ष्मणके बीच सीता चलीं । एक-एक वृक्ष गुल्म और फूलोंवाली लताएँ जो सीताने पहले नहीं देखी थीं उन्हें देखकर रामचन्द्रसे उनके सम्बन्धमें पूछने लगीं ॥२९॥ सीताके कहनेसे लक्ष्मण शीघ्रतापूर्वक फूलवाले वृक्षोंकी अनेक डालियाँ ले आये ॥३०॥ यमुना नदीके तीरकी अनेक तरहकी बालू देखकर तथा हंस और सारसके शब्द सुनकर सीता बहुत प्रसन्न हुई ॥३१॥ राम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंने एक कोश जाकर अनेक पवित्र मृगोंको मारे और वे यमुना वनमें घूमने लगे ॥३२॥ उस सुन्दर वनमें मोरोंका समूह बोल रहा था, हाथी और वानर घूम रहे थे । देखनेमें सुन्दर वे राम, लक्ष्मण नदी तीरपर आकर वहाँसे शीघ्रही अपने स्थानपर आये ॥३३॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका पचपनवाँ सर्ग समाप्त ॥५५॥

रातके बीतनेपर भी थोड़ा सोये हुए लक्ष्मणको रामचन्द्रने धीरे-धीरे उठाया ॥१॥ लक्ष्मण, सुनो जंगली पशु-पक्षी सुन्दर बोल रहे हैं । यह प्रस्थान करनेका समय है, अब हम लोग चलें ॥२॥ रामचन्द्रके जगानेपर सोये हुए लक्ष्मणने निद्रा त्याग किया, आलस्य और थकावट भी उनकी जाती रही ॥३॥ उठकर तथा नदीमें स्नान आदि करके ऋषियोंसे सेवित मार्गसे वे चित्रकूट चले ॥४॥ लक्ष्मणके साथ रामचन्द्रने प्रातःकालही प्रस्थान किया, रास्तेमें राम कमलपत्राक्षी सीतासे इस प्रकार बोले ॥५॥

आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान्नगान् । स्वैःपुष्पैःकिंशुकान्पश्य मालिनः शिशिरात्यये॥६॥
पश्य भल्लातकान्बिल्वान्नरैरनुपसेवितान् । फलपुष्पैरवनतान्नूनं शक्ष्याम जीवितुम् ॥ ७ ॥
पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण । मधूनि मधुकारीभिः संभृतानि नगे नगे ॥ ८ ॥
एष क्रोशति नत्यूहस्तं शिखी प्रतिकूजति । रमणीये वनोद्देशे पुष्पसंस्तरसंकते ॥ ९ ॥
मातङ्गयूथानुसृतं पक्षिसंघानुनादितम् । चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं गिरिम् ॥१०॥
समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुभिरावृते । पुण्ये रंस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने ॥११॥
ततस्तौ पादचारेण गच्छन्तौ सह सीतया । रम्यमासेदतुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम् ॥१२॥
तं तु पर्वतमासाद्य नानापक्षिगणायुतम् । बहुमूलफलं रम्यं संपन्नसरसोदकम् ॥१३॥
मनोज्ञोऽयं गिरिः सौम्य नानाद्रुमलतायुतः । बहुमूलफलो रम्यःस्वाजीवः प्रतिभाति मे ॥१४॥
मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिञ्शिलोच्चये । अयं वासो भवेत्तात वयमत्र वसेमहि ॥१५॥
इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः । अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन् ॥१६॥
तान्महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित् । आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तं निवेद्य च ॥१७॥
ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः । संनिवेद्य यथान्यायमात्मानमृषये प्रभुः ॥१८॥

जानकी, देखो, वसन्त ऋतुमें पलाशके वृक्षोंने अपने पुष्पोंकी माला धारण कर रखी है, देखो ये फूले हुए पलाशवृक्ष मानो जल रहे हैं ॥६॥ देखो ये बहेड़ेके वृक्ष हैं, ये बेलके वृक्ष हैं, मनुष्योंके लिए ये दुर्गम हैं, ये फल-फूलसे झुके हुए हैं, अवश्य ही हम लोग यहाँ जी सकेंगे; क्योंकि भोजनके साधन फलादि यहाँ खूब हैं ॥७॥ मधुमक्षिकाओंके द्वारा संचित ये मधुके छत्ते देखो, लक्ष्मण, ये प्रत्येक वृक्षपर लटक रहे हैं और बड़े-बड़े हैं ॥८॥ दात्यूह नामक पक्षी बोल रहा है और उसके उत्तरमें मोर बोल रहा है देखो, इधर की वनभूमि रमणीय है पुष्पोंकी मानों यहाँ वृष्टि हो रही है, हाथियोंका समूह यहाँ वर्तमान है, पक्षि-समूह बोल रहा है, शिखर बड़े-बड़े हैं, ऐसे चित्रकूट पर्वतको देखो ॥९-१०॥ चित्रकूटके पवित्र वनके रमणीय समतल भूमिमें, जहाँ अनेक वृक्ष होंगे, हमलोग आनन्द करेंगे ॥११॥ सीताके साथ पैदल चलते हुए वे दोनों रमणीय चित्रकूट पर्वतपर पहुँचे ॥१२॥ उस पर्वतपर काफी मीठा जल था, बहुत फलमूल था, वह रमणीय पर्वत अनेक पक्षियोंसे युक्त था, उस पर्वतपर जाकर रामचन्द्रने कहा—सौम्य, यह पर्वत बड़ाही मनोहर है, इसमें अनेक वृक्ष और लताएँ हैं, इसमें फलमूल भी बहुत हैं, मुझे मालूम होता है कि यहाँ हम लोगोंको आसानीसे आहार मिला करेगा ॥१३-१४॥ मुनि और महात्मा इस पर्वतपर निवास करते हैं, यह रहनेके योग्य है, हम लोग भी यहीं निवास करेंगे ॥१५॥ राम, लक्ष्मण और सीता तीनोंने हाथ जोड़कर आश्रममें जाकर वाल्मीकि मुनिको प्रणाम किया ॥१६॥ धर्म जाननेवाले मुनिने प्रसन्नतापूर्वक उन लोगोंकी पूजा की "बैठिए, आप लोगोंका स्वागत है" ऐसा मुनिने उन लोगोंसे कहा ॥१७॥ लक्ष्मणने विधिपूर्वक अपना परिचय ऋषिको दिया, तदनन्तर महाबाहु राम लक्ष्मणसे बोले ॥१८॥

लक्ष्मणानय दारूणि दृढानि च वराणि च । कुरुष्वावसथं सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः ॥१९॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान्द्रुमान् । आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिंदमः ॥२०॥
तां निष्ठितां बद्धकटां दृष्ट्वा रामः सुदर्शनाम् । शुश्रूषमाणमेकाग्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥२१॥
ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम् । कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरजीविभिः ॥२२॥
मृगं हत्वानय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण । कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिर्धर्ममनुस्मर ॥२३॥
भ्रातुर्वचनमाज्ञाय लक्ष्मणः परवीरहा । चकार च यथोक्तं हि तं रामः पुनरब्रवीत् ॥२४॥
ऐणेयं श्रपयस्वैतच्छालां यक्ष्यामहे वयम् । त्वर सौम्यमुहूर्तोऽयं ध्रुवश्च दिवसो ह्ययम् ॥२५॥
स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान् । अथ चिक्षेप सौमित्रिः समिद्धे जातवेदसि ॥२६॥
तत्तु पक्वं समाज्ञाय निष्टप्तं छिन्नशोणितम् । लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीत् ॥२७॥
अयं सर्वः समस्ताङ्गः शृतः कृष्णमृगो मया । देवता देवसंकाश यजस्व कुशलो ह्यसि ॥२८॥
रामः स्नात्वा तु नियतो गुणवाञ्जपकोविदः । संग्रहेणाकरोत्सर्वान्मन्त्रान्सत्रावसानिकान् ॥२९॥
इष्ट्वा देवगणान्सर्वान्विवेशावसथं शुचिः । बभूव च मनोह्लादो रामस्यामिततेजसः ॥३०॥
वैश्वदेवबलिं कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च । वास्तुसंशमनीयानि मङ्गलानि प्रवर्तयन् ॥३१॥

लक्ष्मण, अच्छी और मजबूत लकड़ियाँ ले आओ, यहाँ घर बनाओ, यहाँ रहना मुझे अच्छा लगता है ॥१९॥ रामचन्द्रकी बात सुनकर लक्ष्मण अनेक वृक्ष ले आये, पुनः शत्रुतापन लक्ष्मणने पर्णशाला बनायी ॥२०॥ मजबूत काष्ठसे बनी होनेके कारण जो वर्षा आँधी सहनेके योग्य है, ऊपरसे छायी हुई है ऐसी पर्णशाला देखकर, सेवा करनेवाले तथा दूसरी आज्ञा सुननेके लिए एकाग्र लक्ष्मणसे राम इस प्रकार बोले ॥२१॥ हरिणका माँस लाकर हम लोग पर्णशालाकी अधिष्ठाताकी पूजा करेंगे, क्योंकि दीर्घ-जीवन चाहनेवालोंको वास्तुशमन करना चाहिए ॥२२॥ लक्ष्मण, तुम एक हरिण मार कर ले आओ, शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार ही चलना चाहिए, धर्मका स्मरण करो ॥२३॥ शत्रुहन्ता लक्ष्मणने भाईकी आज्ञा सुनकर उनके कहने अनुसार किया। यह देखकर रामचन्द्र पुनः बोले ॥२४॥ लक्ष्मण, इस हरिणके माँसको पकाओ, हम लोग शालाके अधिष्ठाता देवताकी पूजा करेंगे। शीघ्रता करो, आज सौम्य मुहूर्त है और दिन भी ध्रुव संज्ञक है ॥२५॥ प्रतापी लक्ष्मण पवित्र कृष्ण मृग मारकर ले आये, उन्होंने उसे धधकती आगमें डाल दिया ॥२६॥ वह पक गया है, खूब गरम है, उसमेंसे खून निकलना बन्द हो गया यह देखकर लक्ष्मण पुरुषव्याघ्र रामचन्द्रसे बोले ॥२७॥ यह कृष्णमृग अपने समस्त अंगोंके सहित पक गया है, देव-प्रतिम राम, आप इससे देव पूजा करेंगे, आप देव-पूजनमें बड़े निपुण हैं ॥२८॥ मन्त्रोंके रहस्य जाननेवाले गुणवान रामचन्द्रने स्नान किया और यज्ञ समाप्त होने तकके समस्त मन्त्रोंका संक्षेपसे जप किया अर्थात् मन्त्रपूर्वक सब क्रियाएँ उन्होंने कीं ॥२९॥ सब देवताओंकी पूजा करके पवित्र रामचन्द्रने घरमें प्रवेश किया, उस अमिततेजा रामचन्द्रको मानसिक आह्लाद हुआ ॥३०॥ वैश्वदेवबलि करके रुद्रदेवता और विष्णु देवताके लिए उन्होंने बलि की, और नवीन गृहके दोषोंको दूर करनेवाले

जपं च न्यायतः कृत्वा स्नात्वा नद्यां यथाविधि। पापसंशमनं रामश्चकार बलिमुत्तमम् ॥३२॥
वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्यायतनानि च। आश्रमस्यानुरूपाणि स्थापयामास राघवः ॥३३॥
तां वृक्षपर्णच्छदनां मनोज्ञां यथाप्रदेशं सुकृतां निवाताम्।
वासाय सर्वे विविशुः समेताः सभां यथा देवगणाः सुधर्माम् ॥३४॥
सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं नदीं च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम्।
ननन्द हृष्टो मृगपक्षिजुष्टां जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात् ॥३५॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥५६॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः ५७

कथयित्वा तु दुःखार्तः सुमन्त्रेण चिरं सह। रामे दक्षिणकूलस्थे जगाम स्वगृहं गुहः ॥ १ ॥
भरद्वाजाभिगमनं प्रयागे च सभाजनम्। आगिरेर्गमनं तेषां तत्रस्थैरभिलक्षितम् ॥ २ ॥
अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा हयोत्तमान्। अयोध्यामेव नगरीं प्रययौ गाढदुर्मनाः ॥ ३ ॥
स वनानि सुगन्धीनि सरितश्च सरांसि च। पश्यन्यत्तो ययौ शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च ॥ ४ ॥
ततः सायाह्नसमये द्वितीयेऽहनि सारथिः। अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह ॥ ५ ॥

अन्यान्य मांगलिक कृत्य भी उन्होंने किये ॥३१॥ विधिपूर्वक रामचन्द्रने जप किया और विधिपूर्वक नदीमें स्नान किया, तदनन्तर दोषोंको दूर करनेवाली उत्तम बलि उन्होंने की ॥३२॥ रामचन्द्रने उस आश्रमके अनुरूप वेदि (बलि देनेका स्थान) चैत्य (गणेशका स्थान), आयतन (विष्णु आदिका स्थान) स्थापित किये ॥३३॥ वृक्षोंके पत्तोंसे छायी हुई वह पर्णशाला बड़ीही सुन्दर बनी, उसमें हवा आदिकी रोक थी, उत्तम स्थानपर बनी थी, उसमें निवास करनेके लिए सभी लोगोंने साथही प्रवेश किया, जैसे देवगण देवसभा सुधर्मामें प्रवेश करते हैं ॥३४॥ रमणीय चित्रकूट पर्वत तथा सुन्दर घाटवाली माल्यवती नदी पाकर रामचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और अयोध्याके वियोगका दुःख उन्होंने छोड़ दिया ॥३५॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका छप्पनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

रामचन्द्र जब गंगाके दक्षिण तीरपर गये तब गुह बहुत ही दुःखी हुआ और वह बड़ी देरतक सुमंत्रके साथ रामचन्द्रके सम्बन्धकी बातें करता रहा, पुनः अपने घर गया ॥१॥ प्रयागमें रामचन्द्रका भरद्वाजके आश्रममें जाना और उनके द्वारा सत्कार तथा चित्रकूट जाने तकका समस्त वृत्तान्त अपने दूतों द्वारा गुहको मालूम हुआ ॥२॥ सुमन्त्रने भी गुहके द्वारा वे सब बातें जान लीं। पुनः उत्तम घोड़ोंको रथमें जोड़कर बड़ेही दुःखसे अयोध्या नगरीकी ओर वे चले ॥३॥ वे सुगन्धित वनों, नदियों, तलाबों, ग्रामों और नगरोंको देखते हुए शीघ्रतासे चले ॥४॥ सारथि दूसरे दिन सन्ध्याके समय अयोध्यामें आये और उसे

स शून्यामिव निःशब्दां दृष्ट्वा परमदुर्मनाः । सुमन्त्रश्चिन्तयामास शोकवेगसमाहतः ॥ ६ ॥
कच्चिन्न सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा । रामसंतापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी ॥ ७ ॥
इति चिन्तापरः सूतो वाजिभिः शीघ्रयायिभिः। नगरद्वारमासाद्य त्वरितः प्रविवेश ह ॥ ८ ॥
सुमन्त्रमभिधावन्तः शतशोऽथ सहस्रशः । क्व राम इति पृच्छन्तः सूतमभ्यद्रवन्नराः ॥ ९ ॥
तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छ्य राघवम् । अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना ॥१०॥
ते तीर्ण इति विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखा नराः । अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति विचुक्रुशुः ॥११॥
शुश्राव च वचस्तेषां वृन्दं वृन्दं च तिष्ठताम् । हताः स्म खलु ये नेह पश्याम इति राघवम् ॥१२॥
दानयज्ञविवाहेषु समाजेषु महत्सु च । न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु धार्मिकं राममन्तरा ॥१३॥
किं समर्थं जनस्यास्य किं प्रियं किं सुखावहम्। इति रामेण नगरं पित्रेव परिपालितम् ॥१४॥
वातायनगतानां च स्त्रीणामन्वन्तरापणम् । राममेवाभितप्तानां शुश्राव परिदेवनाम् ॥१५॥
स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहिताननः । यत्र राजा दशरथस्तदेवोपययौ गृहम् ॥१६॥
सोऽवतीर्य रथाच्छीघ्रं राजवेश्म प्रविश्य च । कक्ष्याः सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुलाः ॥१७॥
हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्याथ समागतम् । हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः ॥१८॥
आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः । अन्योन्यमभिवीक्षन्ते व्यक्तमार्ततराः स्त्रियः ॥१९॥

उन्होंने आनन्दहीन देखा ॥५॥ शोकवेगसे पीड़ित परमखिन्न सुमन्त्र जनशून्यके समान शब्दहीन उस नगरीको देखकर चिन्ता करने लगे ॥६॥ हाथी, घोड़े, मनुष्य और राजाके साथ रामवियोगके दुःखसे क्या यह समस्त नगरी जल गयी ।७। इस प्रकार सोचते हुए सुमन्त्र शीघ्र चलनेवाले घोड़ोंके द्वारा नगरद्वारपर आये और पुनः शीघ्रतापूर्वक उन्होंने नगरमें प्रवेश किया ॥८॥ सूतको देखकर सैकड़ों हजारों मनुष्य "रामचन्द्र कहाँ हैं" यह पूछते हुए उनके पीछे-पीछे दौड़े ॥९॥ सूतने उन लोगोंसे कहा --गंगा तीरपर रामचन्द्रसे पूछकर तथा धार्मिक महात्मा रामचन्द्रकी आज्ञा लेकर मैं लौट आया हूँ ।१०। रामचन्द्र गंगा पार चले गये—यह जान वे रोने लगे, अपनेको धिक्कार देने लगे। पुनः निःश्वास लेकर 'हा राम' कहकर वे विलाप करने लगे ॥११॥ कई दलोंमें बटे हुए उन मनुष्योंके वचन सुमन्त्रने सुनें, इस रथमें हम लोग रामचन्द्रको नहीं देखते, अब हम लोग तो मारे ही गये ।१२। दानयज्ञ, विवाह तथा बड़े-बड़े उत्सवोंके समयमें हम लोग अब लोगोंके बीचमें धार्मिक रामचन्द्रको नहीं देखते। १३॥ पिताके समान रामचन्द्रके द्वारा परिपालित वह समस्त नगरी यही सोचती थी कि अब हमारे लिए क्या उचित है, क्या प्रिय है तथा क्या सुखकारी है ॥१४॥ अनन्तर खिड़कीपर बैठी हुई और रामके लिये दुःखिनी स्त्रियोंका विलाप सुमन्त्रने बाजारके बीचमें सुने ।१५। मुँह ढाँपे सड़कके बीचसे सुमन्त्र उसी घरमें गये जहाँ राजा दसरथ थे ॥१६॥ रथसे शीघ्र उतरकर वे राजभवनमें गये और आदमियोंकी भीड़से होकर वे सात खण्ड पार कर गये ॥१७॥ सुमन्त्र ही लौटे हैं, इससे रामचन्द्रको न देखनेके कारण अटारियोंसे, सतमहले घरोंसे तथा राजाके घरोंसे स्त्रियोंका हाहाकार शब्द सुन पड़ा ॥१८॥ उनकी बड़ी-बड़ी उज्ज्वल आँखें

ततो दशरथस्त्रीणां प्रासादेभ्यस्ततस्ततः। रामशोकाभितप्तानां मन्दं शुश्राव जल्पितम् ॥२०॥
सह रामेण निर्यातो विना राममिहागतः। सूतः किं नाम कौसल्यां क्रोशन्तीं प्रतिवक्ष्यति ।२१।
यथा च मन्ये दुर्जीवमेवं न सुकरं ध्रुवम्। आच्छिद्य पुत्रे निर्याते कौसल्या यत्र जीवति ।२२।
सत्यरूपं तु तद्वाक्यं राजस्त्रीणां निशामयन्। प्रदीप्त इव शोकेन विवेश सहसा गृहम् ॥२३॥
स प्रविश्याष्टमीं कक्ष्यां राजानं दीनमातुरम्। पुत्रशोकपरिद्यूनमपश्यत्पाण्डुरे गृहे ॥२४॥
अभिगम्य तमासीनं राजानमभिवाद्य च। सुमन्त्रो रामवचनं यथोक्तं प्रत्यवेदयत् ॥२५॥
स तूष्णीमेव तच्छ्रुत्वा राजा विद्रुतमानसः। मूर्च्छितो न्यपतद्भूमौ रामशोकाभिपीडितः ॥२६॥
ततोऽन्तःपुरमाविद्धं मूर्च्छिते पृथिवीपतौ। उच्छ्रित्य बाहू चुक्रोश नृपतौ पतिते क्षितौ ॥२७॥
सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतितं पतिम्। उत्थापयामास तदा वचनं चेदमब्रवीत् ॥२८॥
इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः। वनवासादनुप्राप्तं कस्मान्न प्रतिभाषसे ॥२९॥
अद्येममनयं कृत्वा व्यपत्रपसि राघव। उत्तिष्ठ सुकृतं तेऽस्तु शोकेन स्यात्सहायता ॥३०॥
देव यस्या भयाद्रामं नानुपृच्छसि सारथिम्। नेह तिष्ठति कैकेयी विश्रब्धं प्रतिभाष्यताम् ॥३१॥
सा तथोक्त्वा महाराजं कौसल्या शोकलालसा। धरण्यां निपपाताशु बाष्पविप्लुतभाषिणी ॥३२॥

आँसूसे भर गयीं, वे दुःखसे रोती हुई आपसमें एक दूसरेको देखने लगीं ॥१९॥ रामचन्द्रके शोकसे पीड़ित दसरथकी स्त्रियोंकी धीरे-धीरे बातचीत राजमहलसे सुन पड़ी ॥२०॥ सुमन्त्र रामचन्द्रके साथ यहाँसे गये और उनके बिना लौटे, वे रोती हुई कौसल्याको क्या उत्तर देंगे ॥२१॥ राज्य त्याग करके पुत्रके चले जानेपर भी जिस उपायसे कौसल्या जीवन धारण कर सकें, ऐसा कोई उपाय निश्चय ही नहीं मालूम पड़ता, यदि उसके प्राण नहीं निकले किसी तरह जीती ही रही तो उसका वह जीवन रामचन्द्रके लौट आने तक बड़ा ही दुःखमय होगा ॥२२॥ राजस्त्रियोंका यथार्थ वचन सुनते हुए सुमन्त्र, शोकसे जले हुएके समान, राजाके घरमें शीघ्रतापूर्वक गये ॥२३॥ आठवें खण्डपर जाकर सुमन्त्रने राजाको पुत्रशोकसे मलिन, दुःखी और उत्कण्ठित देखा, राजा श्वेत घरमें पड़े हुए थे ॥२४॥ बैठे हुए राजाके पास जाकर और उनको प्रणाम करके रामचन्द्रने जो कहा था वह सब सुमन्त्रने दसरथको सुनाया ॥२५॥ राजाने चुप होकर सुमन्त्रकी सब बातें सुनीं, उनका मन व्याकुल हो गया, वे रामचन्द्रके शोकसे मूर्छित होकर पृथिवीपर गिर पड़े ॥२६॥ राजाके मूर्छित होनेपर समस्त राजपरिवार बड़ा दुःखी हुआ राजा जब जमीनपर गिरे तब सब लोग हाथ उठाकर रोने लगे ॥२७॥ कौसल्याने सुमित्राके साथ जमीनमें गिरे हुए पतिको उठाया और वे यह वचन बोलीं ॥२८॥ महभाग, कठिन काम करनेवाले रामचन्द्रके दूत ये बनसे आये हैं, इनसे आप क्यों नहीं बोलते ॥२९॥ राजन्, अन्याय करके अब आप लज्जित होते हैं, रामचन्द्रके बनवासको आप अन्याय क्यों समझते हैं, यह तो आपका सत्यपालन है, आप उठें, आप यदि इस तरहसे दुःख करेंगे तो आपके परिजन तो नष्ट ही हो जायँगे ॥३०॥ राजन्, जिसके भयसे रामचन्द्रका वृत्तान्त आप सारथिसे नहीं पूछते, वह केकयी यहाँ नहीं है, निश्चित होकर आप इनसे बातें करें ॥३१॥ शोकसे

विलपन्तीं तथा दृष्ट्वा कौसल्यां पतितां भुवि । पतिं चावेक्ष्य ताः सर्वाः समन्तादुरुदुःस्त्रियः ॥३३॥
ततस्तमन्तःपुरनादमुत्थितं समीक्ष्य वृद्धास्तरुणाश्च मानवाः ।
स्त्रियश्च सर्वा रुरुदुः समन्ततः पुरं तदासीत्पुनरेव संकुलम् ॥३४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥५७॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः ५८

प्रत्याश्वस्तो यदा राजा मोहात्प्रत्यागतस्मृतिः । तदाजुवाह तं सूतं रामवृत्तान्तकारणात् ॥ १ ॥
तदा सूतो महाराजं कृताञ्जलिरुपस्थितः । राममेवानुशोचन्तं दुःखशोकसमन्वितम् ॥ २ ॥
वृद्धं परमसंतप्तं नवग्रहमिवं द्विपम् । विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तमस्वस्थमिव कुञ्जरम् ॥ ३ ॥
राजा तु रजसा सूतं ध्वस्ताङ्गं समुपस्थितम् । अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत् ॥ ४ ॥
क नु वत्स्यति धर्मात्मा वृक्षमूलमुपाश्रितः । सोऽत्यन्तसुखितः सूत किमशिष्यति राघवः ॥ ५ ॥
दुःखस्यानुचितो दुःखं सुमन्त्र शयनोचितः । भूमिपालात्मजो भूमौ शेते कथमनाथवत् ॥ ६ ॥
यं यान्तमनुयान्ति स्म पदातिरथकुञ्जराः । स वत्स्यति कथं रामो विजनं वनमाश्रितः ॥ ७ ॥
व्यालैर्मृगैराचरितं कृष्णसर्पनिषेवितम् । कथं कुमारौ वैदेह्या सार्धं वनमुपाश्रितौ ॥ ८ ॥

पीड़ित कौसल्या राजासे ऐसा कहकर पृथिवीपर गिर पड़ीं, उनका गला भर आया, बोली नहीं निकली ॥३२॥ कौसल्या जमीनमें गिरी हैं और विलाप कर रही हैं यह देखकर तथा पतिकी वैसी दशा देखकर सब स्त्रियाँ रोने लगीं ॥३३॥ अन्तःपुरकी वह रोदनध्वनि सुनकर बूढ़े जवान सभी पुरुष तथा स्त्रियाँ रोने लगीं, वह समस्त घर पुनः रोदनसे व्याकुल हो गया ॥३४॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५७ ॥

मूर्च्छा भंग हो जाने पर राजा होशमें आये, उनका चित्त कुछ स्वस्थ हुआ, तब उन्होंने रामचन्द्रका समाचार सुननेके लिये सारथि सुमन्त्रको बुलाया ॥१॥ सुमन्त्र हाथ जोड़कर राजाके सामने आये, राजा रामचन्द्रको ही सोच रहे थे, वे दुःखी और शोकसन्तप्त थे ॥२॥ बूढ़े राजा नये पकड़े हाथीके समान परम सन्तप्त थे, वे रामचन्द्रका ध्यान कर रहे थे, बीमार हाथीके समान लम्बी साँस ले रहे थे ॥३॥ राजा दसरथ अपने सामने आये हुए सूतसे, जिनका शरीर धूलसे लिपटा हुआ था, आँसूसे मुँह भारी हुआ था, जो बहुत ही दुःखी थे—बहुत ही दुःखीके समान बोले ॥४॥ सूत, धर्मात्मा राम कहाँ निवास करते हैं, वृक्षोंका मूल ही उनका आश्रय है, फिर भी वे अत्यन्त सुखी हैं, उन्होंने तुमसे क्या कहा है ॥५॥ सुमन्त्र, जिसको दुःख नहीं होना चाहिए वह दुःख पा रहा है, जिसे पलंगपर सोना चाहिए वह राजपुत्र अनाथके समान जमीपर सो रहा है ॥६॥ जो रामचन्द्र कहीं बाहर जाते थे तो उनके साथ पैदल सेना, रथ और हाथी जाते थे, वे ही रामचन्द्र निर्जन वनमें कैसे निवास करेंगे ? ॥७॥ अजगर,

सुकुमार्या तपस्विन्या सुमन्त्र सह सीतया । राजपुत्रौ कथं पादैरवरुह्य रथाद्गतौ ॥ ९ ॥
सिद्धार्थः खलु सूत त्वं येन दृष्टौ ममात्मजौ । वनान्तं प्रविशन्तौ तावश्विनाविव मन्दरम् ॥१०॥
किमुवाच वचो रामः किमुवाच च लक्ष्मणः । सुमन्त्र वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली ॥११॥
आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय । जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु ॥१२॥
इति सूतो नरेन्द्रेण चोदितः सज्जमानया । उवाच वाचा राजानं स बाष्पपरिबद्धया ॥१३॥
अब्रवीन्मे महाराज धर्ममेवानुपालयन् । अञ्जलिं राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च ॥१४॥
सूत मद्वचनात्तस्य तातस्य विदितात्मनः । शिरसा वन्दनीयस्य वन्द्यौ पादौ महात्मनः ॥१५॥
सर्वमन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्वचनात्त्वया । आरोग्यमविशेषेण यथार्हमभिवादनम् ॥१६॥
माता च मम कौसल्या कुशलं चाभिवादनम् । अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्चैनामिदं वचः ॥१७॥
धर्मनित्या यथाकालमग्न्यगारपरा भव । देवि देवस्य पादौ च देववत्परिपालय ॥१८॥
अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु । अनुराजानमार्यां च कैकेयीमम्ब कारय ॥१९॥
कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या च राजवत् । अर्थज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर ॥२०॥
भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो मद्वचनेन च । सर्वास्वेव यथान्यायं वृत्तिं वर्तस्व मातृषु ॥२१॥

दुष्ट पशु तथा काले साँप वनमें रहते हैं, वहाँ ही दोनों राजकुमार जानकीके साथ कैसे रहते हैं ॥८॥ सुमन्त्र, सुकुमारी विचारी सीताके साथ दोनों राजपुत्र रथसे उतरकर पैदल कैसे गये ?॥९॥ सुमन्त्र, तुम्हीं भाग्यवान हो, तुम्हारा ही मनोरथ पूरा हुआ; क्योंकि तुमने मेरे पुत्रोंको वनमें प्रवेश करते हुए देखा है, जिस प्रकार मन्दराचलमें अश्विनीकुमार प्रवेश करते हों ॥१०॥ सुमन्त्र, रामचन्द्रने क्या कहा, लक्ष्मणने क्या कहा, और वनमें जाकर सीताने क्या कहा ? ॥११॥ सूत, रामचन्द्रके रहने, सोने, खाने आदिके सम्बन्धकी बातें कहो, इसीसे मैं जी सकूँगा, अर्थात् मेरा दुःख कम होगा, जिस प्रकार साधुओंके बीचमें गिरनेसे राजा ययातिका दुःख कम हुआ था ॥१२॥ इस प्रकार राजाके पूछनेपर सूत रामचन्द्र-सम्बन्धी बातें बोले । गला भरा होनेके कारण उनकी बात रुक जाती थी ॥१३॥ महाराज, धर्मका ही पालन करते हुए रामचन्द्रने हाथ जोड़कर तथा शिरसे प्रणाम करके मुझसे कहा है ॥१४॥ सूत, मेरे जो पिता संसारमें धर्मात्माके नामसे प्रसिद्ध हैं, जो वन्दनीय हैं, उन महात्माके चरणोंका मेरी ओरसे प्रणाम करना ॥१५॥ सूत, सब महारानियोंसे मेरे कहनेसे मेरा कुशल-मंगल कहना और प्रणाम कहना ॥१६॥ मेरी माता कौसल्यासे अवश्यही मेरा कुशल और प्रणाम कहना और उनसे यह बात कहना कि ॥१७॥ सदा धर्मका पालन करना, यथासमय अग्निहोत्र करना, देवताके समान राजाके चरणोंकी सेवा करना ॥१८॥ मेरी अन्य माताओंके साथ अभिमान और मान छोड़कर व्यवहार करो, जिस केकयीके अनुगत राजा हैं उस केकयीको भी शुद्ध विचारवाली बनाओ ॥१९॥ कुमार भरतके साथ राजाके समान व्यवहार करना, छोटा भी राजा पूज्य होता है—ऐसाही राजधर्म है ॥२०॥ भरतसे कुशल-संवाद कहकर मेरी ओरसे कहना कि

वक्तव्यश्च महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः। पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय ॥२२॥
अतिक्रान्तवया राजा मा स्मैनं व्यपरोरुधः। कुमारराज्ये जीवस्व तस्यैवाज्ञा प्रवर्तनात् ॥२३॥
अब्रवीच्चापि मां भूयो भृशमश्रूणि वर्तयन्। मातेव मम माता ते द्रष्टव्या पुत्रगर्धिनी ॥२४॥
इत्येवं मां महाबाहुर्ब्रुवन्नेव महायशाः। रामो राजीवपत्राक्षो भृशमश्रूण्यवर्तयत् ॥२५॥
लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो निःश्वसन्वाक्यमब्रवीत्। केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः ॥२६॥
राज्ञो तु खलु कैकेय्या लघु चाश्रुत्य शासनम्। कृतं कार्यमकार्यं वा वयं येनाभिपीडिताः ॥२७॥
यदि प्रव्राजितो रामो लोभकारणकारितम्। वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥२८॥
इदं तावद्यथाकाममीश्वरस्य कृते कृतम्। रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्षये ॥२९॥
असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाघवात्। जनयिष्यति संक्रोशं राघवस्य विवासनम् ॥३०॥
अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये। भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥३१॥
सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतं। सर्वलोकोऽनुरज्येत कथं चानेन कर्मणा ॥३२॥
सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्राज्य धार्मिकम्। सर्वलोकविरोधेन कथं राजा भविष्यति ॥३३॥
जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती तपस्विनी। भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मृता स्थिता ॥३४॥

सब माताओंकी यथायोग्य वे सेवा करें ॥२१॥ इक्ष्वाकुकुलनन्दन महाबाहु भरतसे कहना कि युवराजका पद पाकर वे राजासनपर अधिष्ठित पिताका पालन करें ॥२२॥ राजा वृद्ध हो गये हैं, उनकी इच्छाका भंग मत होने दो और उनकी ही आज्ञाके अनुसार यौवराज्यमें सन्तोष करो ॥२३॥ आँसू बहाते हुए उन्होंने और भी कहा है कि पुत्रपर स्नेह करनेवाली मेरी माताको अपनी माताके समान समझना ॥२४॥ इसी प्रकार महायशस्वी महाबाहु रामचन्द्रने बहुतसी बातें कहकर आँसू बहाये ॥२५॥ लक्ष्मणने क्रोध करके साँस छोड़ते हुए कहा है कि किस अपराधसे राजपुत्र रामचन्द्रको वनवास दिया गया है ॥२६॥ राजाने शीघ्रतापूर्वक कैकयीको राज्य दे दिया, उनका किया हुआ कार्य उचित हो या अनुचित, पर वनवाससे हमलोगोंको दुःख हो रहा है ॥२७॥ राजाने रामचन्द्रको जो वनवास दिया है, वह चाहे यशके लोभसे दिया हो अथवा वरदानके कारणसे हो, राजाने यह पाप ही किया है ॥२८॥ यह रामचन्द्रका वनवास राजाने अपनी इच्छासे दिया हो या ईश्वरकी प्रेरणासे दिया हो, क्योंकि रामके वनवासमें कोई स्पष्ट कारण नहीं दीख पड़ता ॥२९॥ बुद्धिके अभावसे बिना विचारे रामचन्द्रके विरुद्ध जो कार्य किया गया है, जो उनको वनवास दिया गया है, अवश्य ही उससे वन भेजनेवालेकी निन्दा होगी ॥३०॥ मैं महाराजको अपना पिता नहीं समझता, भ्राता, स्वामी, बन्धु, पिता मेरे जो कुछ हैं, वे रामचन्द्र ही हैं ॥३१॥ रामचन्द्र सबके प्रिय हैं, राजाने उनका निर्वासन किया है, भले ही राजा औरोंका हित करें, पर उनका यही एक काम ऐसा है जिससे कोई भी उनपर अनुराग नहीं कर सकता ॥३२॥ समस्त प्रजाके प्रिय धार्मिक रामचन्द्रको वनमें भेजकर राजाने सबका विरोध किया है, अब वे राजा कैसे रह सकते हैं ॥३३॥ विचारशील सीता तो हमलोगोंको भूल ही गयी है, राजभवनोंके सुखोंको वह भूल गयी है, वह दुःखकी

अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी । तेन दुःखेन रुदती नैव मां किंचिदब्रवीत् ॥३५॥
उद्वीक्षमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता । मुमोच सहसा बाष्पं मयान्तमुपवीक्ष्य सा ॥३६॥
तथैव रामोऽश्रुमुखः कृताञ्जलिः स्थितोऽब्रवील्लक्ष्मणबाहुपालितः ।
तथैव सीता रुदती तपस्विनी निरीक्षते राजरथं तथैव माम् ॥३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः ५९

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि । उष्णमश्रु विमुञ्चन्तो रामे संप्रस्थिते वनम् ॥ १ ॥
उभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम् । प्रस्थितो रथमास्थाय तद्दुःखमपि धारयन् ॥ २ ॥
गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्बहून् । आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति॥ ३ ॥
विषये ते महाराज महाव्यसनकर्शिताः । अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ॥४॥
उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च । परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥ ५ ॥
न च सर्पन्ति सत्त्वानि व्याला न प्रसरन्ति च । रामशोकाभिभूतं तं निष्कूजमिव तद्वनम् ॥ ६ ॥
लीनपुष्करपत्राश्च नद्यश्च कलुषोदकाः । संतप्तपद्माः पद्मिन्यो लीनमीनविहंगमाः ॥ ७ ॥

साँस ले रही थी और भूताविष्टके समान निश्चेष्ट बैठी रही, कुछ भी न बोली ॥३४॥ वह राजपुत्री है कभी उसने तो दुःख नहीं देखा है, इसी दुःखसे वह रोती रही, उसने कुछ कहा नहीं ॥३५॥ सूखे मुँहसे वह अपने पतिकी ओर देखती रही, मैं जा रहा हूँ यह देखकर सीताने आँसू बहाये ॥३६॥ लक्ष्मणके द्वारा सेवित रामचन्द्र डबडबाई हुई आँखोंसे और हाथ जोड़कर खड़े रहे तथा सीता भी रोती हुई मुझको और रथको देखती रही ॥३७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त ॥५८॥

रामके वन चले जानेपर जब मैं लौटा, तब मेरे घोड़े गरम आँसू बहाने लगे और मार्गमें पहलेके समान न चले ॥१॥ दोनों राजपुत्रोंको हाथ जोड़कर उनके वियोगसे दुःखी होनेपर भी मैंने रथपर बैठकर प्रस्थान किया ॥२॥ गुहके साथ वहाँ गङ्गा तीरपर ही मैं बहुत दिनों तक इस आशासे रहा कि रामचन्द्र पुनः मुझे बुलावें ॥३॥ महाराज आपके देशमें पुष्प, अंकुर, कलीके साथ वृक्ष भी इस बड़े दुःखसे दुःखी हुए हैं, अतएव वे मुरझा गये हैं ॥४॥ नदियों, छोटे और बड़े तालाबोंके जल सूख गये हैं, वन और बागके पत्ते सूख गये हैं ॥५॥ वनके प्राणी चलते नहीं, जहाँ के तहाँ पड़े हैं, अजगर भी नहीं चलते, वह समस्त वन रामचन्द्रके दुःखसे अभिभूत होकर मानो शब्दहीन हो गया है ॥६॥ नदियोंका जल गन्दा हो गया है, कमलके पत्ते सूख गये हैं, तालाबोंके कमल सूख गये हैं, मछलियाँ और जलपक्षी मूर्छित हो गये

जलजानि च पुष्पाणि माल्यानि स्थलजानि च । नातिभान्त्यल्पगन्धीनि फलानि च यथापुरम् ।८।
अत्रोद्यानानि शून्यानि प्रलीनविहगानि च । न चाभिरामानारामान्पश्यामि मनुजर्षभ ॥ ९ ॥
प्रविशन्तमयोध्यायां न कश्चिदभिनन्दति । नरा राममपश्यन्तो निःश्वसन्ति मुहुर्मुहुः ॥१०॥
देव राजरथं दृष्ट्वा विना राममिहागतम् । दूरादश्रुमुखः सर्वो राजमार्गे गतो जनः ॥११॥
हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्य रथमागतम् । हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः ॥१२॥
आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः । अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः॥१३॥
नामित्राणां न मित्राणामुदासीनजनस्य च । अहमार्ततया कंचिद्विशेषं नोपलक्षये ॥१४॥
अप्रहृष्टमनुष्या च दीननागतुरंगमा । आर्तस्वरपरिम्लानविनिःश्वसितनिःस्वना ॥१५॥
निरानन्दा महाराज रामप्रव्राजनातुरा । कौसल्या पुत्रहीनेव अयोध्या प्रतिभाति मे ॥१६॥
सूतस्य वचनं श्रुत्वा वाचा परमदीनया । बाष्पोपहतया सूतमिदं वचनमब्रवीत् ॥१७॥
कैकेय्या विनियुक्तेन पापाभिजनभावया । मया न मन्त्रकुशलैर्वृद्धैः सह समर्थितम् ॥१८॥
न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा सनैगमैः । मयायमर्थः संमोहात्स्त्रीहेतोः सहसा कृतः ॥१९॥
भवितव्यतया नूनमिदं वा व्यसनं महत् । कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सूत यदृच्छया ॥२०॥

हैं ॥७॥ जल और स्थलमें उत्पन्न होनेवाले पुष्प अल्पगन्ध हो गये हैं और इसीसे वे अच्छे नहीं मालूम होते, फल भी पहलेके समान नहीं होते ॥८॥ अयोध्याके बाग भी शून्य हो गये हैं, पक्षी भी चुप हो गये हैं, उपवन भी अब वैसे सुन्दर नहीं मालूम होते ॥९॥ अयोध्यामें प्रवेश करनेके समय मेरा किसीने भी स्वागत नहीं किया, क्योंकि रामको न देखनेके कारण वे सभी दुःखी हो गये और निःश्वास छोड़ने लगे ॥१०॥ रामके बिना ही आपका रथ लौटा है, यह दूरसे ही देखकर सब लोग रोने लगे और वहाँसे चले गये ॥११॥ रथको लौटा देखकर हर्म्य (धनियोंका घर), विमान (सतमहला घर), प्रासाद (राजाका घर) से सब स्त्रियाँ रामको न देखकर दुःखसे हाहाकार करने लगीं ॥१२॥ उज्ज्वल और विशाल उनकी आँखें आँसूसे भर गयीं, वे खिन्न शब्दसे रोती हुई आपसमें एक दूसरेको देखने लगीं ॥१३॥ शत्रु, मित्र और उदासीन मनुष्योंमें दुःखमें मैंने कोई भेद नहीं देखा, सभीको बराबर दुःख हुआ ॥१४॥ महाराज रामचन्द्रके वनवास चले जानेसे पुत्रहीन कौसल्याके समान अयोध्या हो गयी है। इस दुःखिनीके सभी आनन्द नष्ट हो गये हैं। अयोध्याके सभी मनुष्य दुःखी हैं। हाथी और घोड़े भी दुःखी हो गये हैं। आर्तस्वरके कारण लोग मलीन हो गये हैं। इस समल अयोध्यामें केवल लोगोंके निःश्वासका शब्द सुन पड़ता है ॥१५-१६॥ सूतके वचन सुनकर बड़े दुःखित शब्दसे, भरे हुए गलेसे, राजा सूतसे बोले ॥१७॥ पापीकुल, पापीदेशमें उत्पन्न तथा पापी अभिप्राय रखनेवाली कैकयीके कहनेसे मैंने सलाह देनेमें निपुण वृद्धोंसे सलाह न ली, उनसे विचार न किया ॥१८॥ मित्रोंसे तथा वेदज्ञ मन्त्रियोंसे भी मैंने इस विषयमें सलाह न ली, शीघ्रही स्त्रीके कहनेसे मैंने रामको वनवास देना निश्चित कर लिया ॥१९॥ सूत, भवित-

सूत यद्यस्ति ते किंचिन्मयापि सुकृतं कृतम् । त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः संत्वरयन्ति माम् ॥२१॥
यद्यद्यापि ममैवाज्ञा निवर्तयतु राघवम् । न शक्ष्यामि विना रामं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥२२॥
अथवापि महाबाहुर्गतो दूरं भविष्यति । मामेव रथमारोप्य शीघ्रं रामाय दर्शय ॥२३॥
वृत्तदंष्ट्रो महेष्वासः क्वासौ लक्ष्मणपूर्वजः । यदि जीवामि साध्वेनं पश्येयं सीतया सह ॥२४॥
अतो नु किं दुःखतरं योऽहमिक्ष्वाकुनन्दनम् । इमामवस्थामापन्नो नेह पश्यामि राघवम् ॥२५॥
हा राम रामानुज हा हा वैदेहि तपस्विनि । न मां जानीत दुःखेन म्रियमाणमनाथवत् ॥२६॥
स तेन राजा दुःखेन भृशमर्पितचेतनः । अवगाढः सुदुष्पारं शोकसागरमब्रवीत् ॥२७॥
रामशोकमहावेग सीताविरहपारगः । श्वसितोर्मिमहावर्तो बाष्पवेगजलाविलः ॥२८॥
बाहुविक्षेपमीनोऽसौ विक्रन्दितमहास्वनः । प्रकीर्णकेशशैवालः कैकेयीवडवामुखः ॥२९॥
ममाश्रुवेगप्रभवः कुब्जावाक्यमहाग्रहः । वरवेलो नृशंसाया रामप्रव्राजनायतः ॥३०॥
यस्मिन्वत निमग्नोऽहं कौसल्ये राघवं विना । दुस्तरो जीवता देवि मयायं शोकसागरः ॥३१॥

अशोभनं योऽहमिहाद्य राघवं दिदृक्षमाणो न लभे सलक्ष्मणम् ।
इतीव राजा विलपन्महायशाः पपात तूर्णं शयने स मूर्च्छितः ॥३२॥

व्यतावश यह बहुत बड़ा दुःख इस कुलके नाशके लिए आया है, अथवा विना किसी कारणके ही इस कुलके विनाशके लिए यह दुःख आया है ॥२०॥ सूत, यदि मैंने तुम्हारा थोड़ा भी उपकार किया है, तो तुम मुझे रामचन्द्रके पास पहुँचा दो, क्योंकि मेरे प्राण शीघ्रता कर रहे हैं, वे जाना चाहते हैं ॥२१॥ यदि आज भी मेरी आज्ञा मानी जाती हो तो शीघ्रतापूर्वक तुम रामको लौटा लाओ, बिना रामको देखे मैं एक मुहूर्त भी नहीं जी सकता ॥२२॥ अथवा रामचन्द्र बहुत दूर चले गये होंगे, अतएव मुझे ही रथपर बैठाकर ले चलो और रामको दिखाओ ॥२३॥ कुन्दकलीके समान दाँतवाले महाधनुधारी लक्ष्मणके बड़े भाई राम कहाँ हैं, यदि मैं जीता बचा तो अवश्य ही सीताके साथ मैं उनको देखूँगा ॥२४॥ इससे अधिक दुःख क्या होगा कि इस अवस्थामें भी मैं इक्ष्वाकुनन्दन रामचन्द्रको यहाँ नहीं देख रहा हूँ ॥२५॥ हा राम, हा लक्ष्मण, हा दुःखिनी सीता, मैं दुःखसे अनाथके समान मर रहा हूँ, यह तुम लोगोंको मालूम नहीं है ॥२६॥ उस दुःखसे राजाकी चेतनता जाती रही, पार न होने योग्य शोकसागरमें प्रविष्ट होकर वे बोले अथात् उन्होंने शोकसमुद्रका वर्णन किया ॥२७॥ रामचन्द्रका शोक उस समुद्रकी धारा है, सीताका विरह दूसरा पार है, साँस लेना लहरी और भँवर है, आँसूके वेगके कारण गन्दे जलवाला है, दुःखसे हाथका पटकना मछली है, रोना गर्जन है, बिखरे केश सेवार हैं, केकयी बड़वाग्नि है, मेरा अश्रुधारा उत्पन्न करनेवाला है, मन्थराके वचन बड़े-बड़े ग्राह हैं, दुष्ट केकयीके वर इस समुद्रके तीर हैं और रामचन्द्रका वनवास इसका विस्तार है ॥२८–२९–३०॥ कौसल्ये, रामचन्द्रके बिना मैं इसी समुद्रमें डूबा हुआ हूँ, मैं जीता हुआ इस शोकसमुद्रको पार नहीं कर सकता ॥३१॥ मैं रामचन्द्रको देखना चाहता हूँ, पर देख नहीं सकता, यह मेरा पाप है। महायशस्वी राजा इसी तरहका विलाप करते हुए शीघ्र ही मूर्छित

इति विलपति पार्थिवे प्रनष्टे करुणतरं द्विगुणं च रामहेतोः।
वचनमनुनिशम्य तस्य देवी भयमगमत्पुनरेव राममाता ॥३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५६ ॥

षष्टितमः सर्गः ६०

ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुनः। धरण्यां गतसत्त्वेव कौसल्या सूतमब्रवीत् ॥ १ ॥
नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः। तान्विना क्षणमप्यद्य जीवितुं नोत्सहे ह्यहम् ॥ २ ॥
निवर्तय रथं शीघ्रं दण्डकान्नय मामपि। अथ तान्नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३ ॥
बाष्पवेगोपहतया स वाचा सज्जमानया। इदमाश्वासयन्देवीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥
त्यज शोकं च मोहं च संभ्रमं दुःखजं तथा। व्यवधूय च संतापं वने वत्स्यति राघवः ॥ ५ ॥
लक्ष्मणश्चापि रामस्य पादौ परिचरन्वने। आराधयति धर्मज्ञः परलोकं जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥
विजनेऽपि वने सीता वासं प्राप्य गृहेष्विव। विस्रम्भं लभतेऽभीता रामे विन्यस्तमानसा ॥ ७ ॥
नास्या दैन्यं कृतं किंचित्सुसूक्ष्ममपि लक्ष्यते। उचितेव प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मे ॥ ८ ॥
नगरोपवनं गत्वा यथा स्म रमते पुरा। तथैव रमते सीता निर्जनेषु वनेष्वपि ॥ ९ ॥

होकर पलँगपर गिर पड़े ॥३२॥ इस प्रकार रामचन्द्रके लिए बड़े दुःखसे विलाप करते हुए राजा मूर्छित हो गये, उनके वचन सुनकर राममाता कौसल्या पुनः भयभीत हुई, दसरथके लिए चिन्तित हुई ॥३३॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका उनसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५९ ॥

भूताविष्टके समान काँपती निष्प्राणके समान पृथ्वीपर पड़ी हुई कौसल्या सूतसे बोलीं ॥१॥ जहाँ रामचन्द्र हैं वहाँ तुम मुझे ले चलो, लक्ष्मण और सीता जहाँ हैं वहाँ ले चलो, उनके बिना मैं एक क्षण भी जी नहीं सकती ॥२॥ रथ लौटा लो और मुझे दण्डकारण्यमें ले चलो, यदि मैं उन लोगोंके पास नहीं गयी तो अवश्य ही मर जाऊँगी ॥३॥ हाथ जोड़कर, गला भरा होनेके कारण गिरते वचनोंके द्वारा, वे कौसल्याको सममाने लगे ॥४॥ दुःखसे उत्पन्न शोक, मोह तथा घबड़ाहट छोड़ो, क्योंकि रामचन्द्र तुम लोगोंके वियोग-दुःख भूलकर वनमें निवास करते हैं ॥५॥ जितेन्द्रिय लक्ष्मण भी वनमें श्रीरामचन्द्रकी सेवा करते हुए परलोककी आराधना कर रहे हैं ॥६॥ सीता निर्जन वनमें भी घरके समान निर्भय होकर निवास करती हैं, वे रामचन्द्रमें मन लगाकर उनका प्रेम पा रही हैं ॥७॥ सीता वनवाससे थोड़ीभी दुःखिनी नहीं मालूम होतीं। मुझे तो मालूम होता है कि सीता वनवासके सर्वथा योग्य हैं ॥८॥ सीता जैसे पहले नगरके बागमें जाकर क्रीड़ा करती थीं, उसी प्रकार निर्जन वनमें भी वे क्रीड़ा करती हैं, दोनोंमें

बालेव रमते सीता बालचन्द्रनिभानना । रामा रामे ह्यदीनात्मा विजनेऽपि वने सती ॥१०॥
तद्गतं हृदयं यस्यास्तदधीनं च जीवितम् । अयोध्या हि भवेदस्या रामहीना तथा वनम् ॥११॥
परिपृच्छति वैदेही ग्रामांश्च नगराणि च । गतिं दृष्ट्वा नदीनां च पादपान्विविधानपि ॥१२॥
रामं वा लक्ष्मणं वापि दृष्ट्वा जानाति जानकी । अयोध्या क्रोशमात्रे तु विहारमिव संश्रिता ॥१३॥
इदमेव स्मराम्यस्याः सहसैवोपजल्पितम् । कैकेयीसंश्रितं जल्पं नेदानीं प्रतिभाति माम् ॥१४॥
ध्वंसयित्वा तु तद्वाक्यं प्रमादात्पर्युपस्थितम् । ह्लादनं वचनं सूतो देव्या मधुरमब्रवीत् ॥१५॥
अध्वना वातवेगेन संभ्रमेणातपेन च । न विगच्छति वैदेह्याश्चन्द्रांशुसदृशी प्रभा ॥१६॥
सदृशं शतपत्रस्य पूर्णचन्द्रोपमप्रभम् । वदनं तद्वदान्याया वैदेह्या न विकम्पते ॥१७॥
अलक्तकरसरक्ताभावलक्तकरसवर्जितौ । अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ ॥१८॥
नूपुरोत्कृष्टलीलेव खेलं गच्छति भामिनी । इदानीमपि वैदेही तद्रागान्न्यस्तभूषणा ॥१९॥
गजं वा वीक्ष्य सिंहं वा व्याघ्रं वा वनमाश्रिता । नाहारयति संत्रासं बाहू रामस्य संश्रिता ॥२०॥
नशोच्यास्ते नचात्मा ते शोच्यो नापि जनाधिपः । इदं हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम् ॥२१॥
विधूय शोकं परिहृष्टमानसा महर्षियाते पथि सुव्यवस्थिताः ।
वने रता वन्यफलाशनाः पितुः शुभां प्रतिज्ञां प्रतिपालयन्ति ते ॥२२॥

कोई भेद नहीं है ॥९॥ पूर्ण चन्द्रके समान मुँहवाली सती सीता निर्जन वनमें रामचन्द्रके साथ बालिकाके समान खेलती है ॥१०॥ सीताका मन रामचन्द्रमें है, उनका जीवन रामचन्द्रके अधीन है, अतएव रामके साथ सीताके लिए वन ही अयोध्या है, और रामके विना अयोध्या वन है ॥११॥ नदीकी धारा, गाँव, नगर तथा अनेक प्रकारके वृक्षोंको देखकर जानकी उनका परिचय रामसे या लक्ष्मणसे पूछती है और पूछकर जानती है । अयोध्यासे कोश भरके विहारस्थानमें जैसी वह प्रसन्न रहा करती थी, वैसीही प्रसन्न है ॥१२-१३॥ सीताकी येही बातें मुझे स्मरण हैं, केकयीके सम्बन्धमें सहसा उनके मुँहसे निकली हुई बात इस समय स्मरण नहीं है ॥१४॥ असावधानीसे सारथिके मुँहसे केकयीवाली बात निकल गयी, उन्होंने शीघ्रही वह बात उलट दी और वे कौसल्याको प्रसन्न करनेवाला मधुर वचन बोले ॥१५॥ मार्ग चलनेसे, वायुके वेगसे, हिंस्र जन्तुओंके दर्शनसे, घबड़ाहटसे तथा धूपसे सीताकी चन्द्रमाके समान प्रभा मलिन नहीं होती ॥१६॥ कमलके समान और पूर्णचन्द्रके समान उदार सीताका मुँह मलिन नहीं होता ॥१७॥ महावरके रसके समान लाल वर्णवाले सीताके चरण महावरके विना भी आज भी कमलकोशके समान रक्तवर्णके हैं ॥१८॥ रामचन्द्रमें प्रेमके कारण सीताने भूषणोंका त्याग नहीं किया, अतएव पाय-जेबके कारण उनकी सविलास गति आज भी हंस आदिके गमनको तिरस्कृत करती है ।१९॥ वनमें निवास करती हुई सीता हाथी, सिंह या बाघको देखकर भयभीत नहीं होती, क्योंकि वह रामचन्द्रकी बाहुओंके बीचमें वर्तमान रहती है ॥२०॥ वे राम लक्ष्मण और सीता शोचनीय नहीं हैं, तुम और राजा भी शोचनीय नहीं हो । यह चरित्र बहुत दिनोंतक लोकमें प्रतिष्ठा पावेगा ॥२१॥ वे दुःख दूर करके प्रसन्नतापूर्वक महर्षियोंके मार्गमें स्थित हुए हैं वे वनमें प्रसन्न हैं, बनैले फल खाते हैं और पिताकी उत्तम

तथापि सूतेन सुयुक्तवादिना निवार्यमाणा सुतशोककर्शिता ।
न चैव देवी विरराम कूजितात्प्रियेति पुत्रेति च राघवेति च ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः ६१

वनं गते धर्मरते रामे रमयतां वरे । कौसल्या रुदती चार्ता भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
यद्यपि त्रिषु लोकेषु प्रथितं ते महद्यशः । सानुक्रोशो वदान्यश्च प्रियवादी च राघवः ॥ २ ॥
कथं नरवरश्रेष्ठ पुत्रौ तौ सह सीतया । दुःखितौ सुखसंवृद्धौ कथं दुःखं सहिष्यतः ॥ ३ ॥
सा नूनं तरुणी श्यामा सुकुमारी सुखोचिता । कथमुष्णं च शीतं च मैथिली विसहिष्यते ॥ ४ ॥
भुक्त्वाशनं विशालाक्षी सूपदंशान्वितं शुभम् । वन्यं नैवारमाहारं कथं सीतोपभोक्ष्यते ॥ ५ ॥
गीतवादित्रनिर्घोषं श्रुत्वा शुभसमन्विता । कथं क्रव्यादसिंहानां शब्दं श्रोष्यत्यशोभनम् ॥६॥
महेन्द्रध्वजसंकाशः क नु शेते महाभुजः । भुजं परिघसंकाशमुपधाय महाबलः ॥ ७ ॥
पद्मवर्णं सुकेशान्तं पद्मनिःश्वासमुत्तमम् । कदा द्रक्ष्यामि रामस्य वदनं पुष्करेक्षणम् ॥ ८ ॥
वज्रसारमयं नूनं हृदयं मे न संशयः । अपश्यन्त्या न तं यद्वै फलतीदं सहस्रधा ॥ ९ ॥

आज्ञाका पालन करते हैं ॥२२॥ युक्तियुक्त बोलनेवाले सारथिने पुत्रशोकसे पीड़ित कौसल्याको बहुत समझाया, दुःख करनेसे मना किया, फिर भी कौसल्या, हा राम, हा पुत्र, हा राघव, कहती ही रहीं ॥२३॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका साठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६० ॥

धर्मात्मा रामचन्द्रके वन जानेपर दुःखिनी कौसल्या रोती हुई अपने पतिसे इस प्रकार बोली ॥१॥ यद्यपि तीनों लोकोंमें आपका यश बहुत प्रसिद्ध है, आप दयालु, दाता और प्रियवादी समझे जाते हैं ॥२॥ हे नरश्रेष्ठ, वे दोनों लड़के सीताके साथ जो सुखसे पले हैं, कैसे वनके दुःख सहेंगे ॥३॥ वह सुख करनेके योग्य सुकुमारी श्यामा सीता वनमें गरमी सरदी कैसे बरदास्त करेगी ॥४॥ जो सीता दाल तथा उत्तम शाक तरकारीके साथ अन्न खाती थी, वह जंगली तिन्नीका चावल कैसे खायगी ॥५॥ जो सीता मांगलिक गान और वाद्य सुनती थी, वह सीता वनमें मांसभक्षी जन्तुओं तथा सिंहोंका भयानक शब्द कैसे सुनेगी ॥६॥ इन्द्रध्वजके समान सबको उत्सव देनेवाले महाभुज रामचन्द्र, परिघके समान अपनी भुजाका तकिया बनाकर इस समय कहाँ सोते होंगे ॥७॥ रामचन्द्रका मुखकमल मैं कब देखूँगी, जो मुख कमलके समान है, जिसके पास उत्तम केश है तथा जिससे कमलकी गन्धके समान निःश्वास निकलता है ॥८॥ अवश्य ही मेरा यह हृदय लोहेका बना हुआ है, इसमें सन्देह नहीं, इसीसे रामचन्द्रको न देखने

यत्त्वया करुणं कर्म व्यपोह्य मम बान्धवाः। निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने ॥१०॥
यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति। जह्याद्राज्यं च कोशं च भरतो नोपलक्ष्यते ॥११॥
भोजयन्ति किल श्राद्धे केचित्स्वानेव बान्धवान्। ततः पश्चात्समीक्षन्ते कृतकार्या द्विजोत्तमान् ॥१२॥
तत्र ये गुणवन्तश्च विद्वांसश्च द्विजातयः। न पश्चात्तेऽभिमन्यन्ते सुधामपि सुरोपमा ॥१३॥
ब्राह्मणेष्वपि वृत्तेषु भुक्तशेषं द्विजोत्तमाः। नाभ्युपेतुमलं प्राज्ञाः शृङ्गच्छेदमिवर्षभाः ॥१४॥
एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशांपते। भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमन्यते ॥१५॥
न परेणाहृतं भक्ष्यं व्याघ्रः खादितुमिच्छति। एवमेव नरव्याघ्रः परलीढं न मन्यते ॥१६॥
हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपाश्च खादिराः। नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे ॥१७॥
तथा ह्यात्तमिदं राज्यं हृतसारां सुरामिव। नाभिमन्तुमलं रामो नष्टसोममिवाध्वरम् ॥१८॥
नैवंविधमसत्कारं राघवो मर्षयिष्यति। बलवानिव शार्दूलो वालधेरभिमर्शनम् ॥१९॥
नैतस्य सहिता लोका भयं कुर्युर्महामृधे। अधर्मं त्विह धर्मात्मा लोकं धर्मेण योजयेत् ॥२०॥
नन्वसौ काञ्चनैर्बाणैर्महावीर्यो महाभुजः। युगान्त इव भूतानि सागरानपि निर्दहेत् ॥२१॥

पर भी यह हजारों टुकड़े होकर फट नहीं जाता ॥९॥ आपके द्वारा निकाले हुए मेरे बान्धव राम आदि नगर छोड़कर वनमें घूम रहे है, उन्हें सुख करना उचित था, पर वे दुःख उठा रहे हैं, यह जो आपने काम किया है सो निर्दय काम है ॥१०॥ यदि पन्द्रहवें वर्षपर रामचन्द्र पुनः लौट भी आवें तो भी राज्य और खजाना भरत छोड़ देगा, इस बातका विश्वास नहीं होता ॥११॥ मनुष्य श्राद्धमें पहले अपने बान्धवोंको ही खिलाता है, पुनः कार्य हो जानेपर अन्य श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको ढूँढ़ता है ॥१२॥ उनमें जो गुणवान तथा विद्वान ब्राह्मण होते हैं, देवताके समान पूज्य होते हैं, वे अमृत तुल्य अन्नका भी आदर नहीं करते ॥१३॥ यद्यपि पहले भोजन करनेवाले भी ब्राह्मण ही होते हैं, तथापि वे बुद्धिमान ब्राह्मण इसको अपना अपमान समझते है और स्वीकार नहीं करते, जिस प्रकार बैल अपना सींग कटाना पसन्द नहीं करते ॥१४॥ इसी प्रकार, महाराज, छोटे भाईने जिस राज्यका भोग किया है, उसी राज्यको अवस्थासे बड़ा और गुणसे श्रेष्ठ बड़ा भाई क्यों न तिरस्कार करे ॥१५॥ बाघ दूसरेके द्वारा लाया हुआ भोजन खाना नहीं चाहता, इसी प्रकार नरव्याघ्र रामचन्द्र भी दूसरेका भोगा राज्य स्वीकार न करेंगे ॥१६॥ हवि, घी, पुरोडाश, कुश, यज्ञीय खम्भा, खैरकी लकड़ीकी बनी चीजें एक यज्ञमें काममें आनेसे उच्छिष्ट हो जाती हैं, अतएव इनका उपयोग दूसरे यज्ञमें नहीं होता ॥१७॥ हृतसार मदिरा और उपयुक्तसोम यज्ञके समान भरतके द्वारा उपभुक्त इस राज्यको रामचन्द्र कैसे ग्रहण करेंगे ॥१८॥ रामचन्द्र इस प्रकारका तिरस्कार सह न सकेंगे, जिस प्रकार बलवान् सिंह अपनी पूँछका पकड़ा जाना नहीं सह सकता ॥१९॥ सब लोग मिलकर भी महायुद्धमें रामचन्द्रको भयभीत नहीं कर सकते, अतएव रामचन्द्रने भयभीत होकर राज्य नहीं छोड़ा, किन्तु अधर्म समझकर। वे धर्मात्मा लोकको धर्मपर आरूढ़ करते हैं ॥२०॥ वे महाबली और महाभुज रामचन्द्र अपने सुवर्णभूषित बाणोंसे प्रलयकालमें महादेवके समान सब प्राणियों तथा

स तादृशः सिंहबलो वृषभाक्षो नरर्षभः । स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्मजो यथा ॥२२॥
द्विजातिचरितो धर्मः शास्त्रे दृष्टः सनातनैः । यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे विवासिते ॥२३॥
गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः । तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नैव विद्यते ॥२४॥
तत्र त्वं मम नैवासि रामश्च वनमाहितः । न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा हा हता त्वया ॥२५॥

हतं त्वया राष्ट्रमिदं सराज्यं हताः स्म सर्वाः सह मन्त्रिभिश्च ।
हता सपुत्रास्मि हताश्च पौराः सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ ॥२६॥
इमां गिरं दारुणशब्दसंहितां निशम्य रामेति मुमोह दुःखितः ।
ततः स शोकं प्रविवेश पार्थिवः स्वदुष्कृतं चापि पुनस्तथास्मरत् ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥६१॥

द्विषष्टितमः सर्गः ६२

एवं तु क्रुद्धया राजा राममात्रा सशोकया । श्रावितः परुषं वाक्यं चिन्तयामास दुःखितः ॥ १ ॥
चिन्तयित्वा स च नृपो मोहव्याकुलितेन्द्रियः । अथ दीर्घेण कालेन संज्ञामाप परंतपः ॥ २ ॥
स संज्ञामुपलभ्यैव दीर्घमुष्णं च निःश्वसन् । कौसल्यां पार्श्वतो दृष्ट्वा ततश्चिन्तामुपागमत् ॥ ३ ॥

समुद्रोंको भी जला सकते हैं ॥२१॥ वे सिंहके समान बलवान्, वृषभके समान कन्धावाले स्वयं अपने पिताके द्वारा राज्यमे निर्वासित किये गये हैं, जिस प्रकार मछलियाँ अपने बच्चेको खा जाती है ॥२२॥ सनातन ऋषियोंने द्विजातियोंके जो धर्म, शास्त्रमें बतलाये हैं, उन्हीं धर्मोंके पालन करनेवाले मेरे पुत्रको आपने वनवास दिया है ॥२३॥ पति स्त्रियोंका प्रधान रक्षक है, दूसरा रक्षक पुत्र है, और तीसरा रक्षक बान्धव हैं, चौथा कोई नहीं है जो स्त्रियोंका रक्षक हो ॥२४। उन तीनोंमें आप तो मेरे हैं ही नहीं, पुत्र वनमें है, और मैं वन जाना चाहती नहीं, अतएव आपने मेरा सर्वथा सर्वनाश कर दिया ॥२५। राज्यका बहिरंग और अन्तरंग दोनोंका आपने नाश किया, आपने मन्त्रियों के साथ सब प्रजाओंका नाश किया पुत्रके साथ मेरा तथा पुरवासियोंका भी आपने नाश किया, हाँ आपके पुत्र भरत और स्त्री केकयी प्रसन्न हैं। अर्थात इन दोनोंको प्रसन्न करनेके लिये आपने इतने अनर्थ किये ॥२६॥ कठोर शब्दवाली इस वाणीको सुनकर दुःखित राजा "राम" कहकर मूर्छित हो गये और अपने पापोंको स्मरण करते हुए वे शोकमग्न हो गये ॥२७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एकसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६१ ॥

शोकयुत राममाताने क्रोध करके राजा दसरथको ऐसे कठोर वचन सुनाये, राजा दुःखित होकर चिन्ता करने लगे ॥१॥ चिन्ता करते-करते राजा मूर्छित हो गये और बड़ी देरके बाद वे होशमें आये ॥२॥ होश आनेपर उन्होंने लम्बी और गरम साँस ली और अपने पास कौसल्याको खड़ी देखकर वे पुनः

तस्य चिन्तयमानस्य प्रत्यभात्कर्म दुष्कृतम् । यदनेन कृतं पूर्वमज्ञानाच्छब्दवेधिना ॥ ४ ॥
अमनास्तेन शोकेन रामशोकेन च प्रभुः । द्वाभ्यामपि महाराजः शोकाभ्यामभितप्यते ॥ ५ ॥
दह्यमानस्तु शोकाभ्यां कौसल्यामाह दुःखितः । वेपमानोऽञ्जलिं कृत्वा प्रसादार्थमवाङ्मुखः ॥ ६ ॥
प्रसादये त्वां कौसल्ये, रचितोऽयं मयाञ्जलिः । वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि ॥ ७ ॥
भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान्निर्गुणोऽपि वा । धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम् ॥ ८ ॥
सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा । नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम् ॥९॥
तद्वाक्यं करुणं राज्ञःश्रुत्वा दीनस्य भाषितम् । कौसल्या व्यसृजद्बाष्पं प्रणालीव नवोदकम् ।१०।
सा मूर्ध्नि बद्ध्वा रुदती राज्ञः पद्ममिवाञ्जलिम् । संभ्रमादब्रवीत्त्रस्ता त्वरमाणाक्षरं वचः ॥११॥
प्रसीद शिरसा याचे भूमौ निपतितास्मि ते । याचितास्मि हता देव क्षन्तव्याहं नहि त्वया ॥१२॥
नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता । उभयोर्लोकयोर्लोके पत्या या संप्रसाद्यते ॥१३॥
जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम् । पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम् ॥१४॥
शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम् । शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥१५॥
शक्यमापतितः सोढुं प्रहारो रिपुहस्ततः । सोढुमापतितःशोकः सुसूक्ष्मोऽपि न शक्यते ॥१६॥

विचार करने लगे ॥३॥ विचार करते-करते उन्हें अपने पहलेके किए हुए एक पापका स्मरण हुआ। शब्दवेधी बाण चलानेवाले राजाने अज्ञानसे वह पाप किया था ॥४॥ उस अपने पुराने पापके शोकसे तथा रामचन्द्रके शोकसे राजा उदास हो गये। इन दोनों शोकोंसे राजा मनही मन जलने लगे ॥५॥ दोनों शोकोंसे जलते हुए दुःखित राजा काँपते हुए हाथ जोड़कर तथा सिर नीचा करके कौसल्याको प्रसन्न करनेके लिए उनसे बोले ॥६॥ कौसल्ये, तुम शत्रुओंपर भी दया करती हो, तुम्हारा दयालु स्वभाव है, मैं हाथ जोड़ता हूँ तुम प्रसन्न हो जाओ ॥७॥ देवि, धर्मका विचार रखनेवाली स्त्रियोंके लिए गुणवान् हो या निर्गुण, पति प्रत्यक्ष देवता है ॥८॥ तुम सदा धर्माचरण करनेवाली हो, भलाई-बुराई जानती हो, उत्कर्ष अपकर्ष जानती हो, तुम्हें अप्रिय बातें नहीं बोलनी चाहिए, तुम दुःखित हो तो मैं तुमसे अधिक दुःखित हूँ ॥९॥ दुःखी राजाके दयनीय वचन सुनकर कौसल्या अश्रुत्याग करने लगी, जैसे नालीसे नया जल बहता हो ॥१०॥ कौसल्याने राजाकी अंजलि पकड़ ली और कमलके समान उसे अपने मस्तकपर रखकर डरी हुई वह घबड़ाहटके साथ शीघ्रतापूर्वक वचन बोली ॥११॥ आप प्रसन्न हों, मैं भूमिमें सिर रखकर प्रार्थना करती हूँ। देव, मैं पुत्रवियोगसे पीड़ित हूँ, आप मुझे क्षमा करें, यही मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ ॥१२॥ श्लाघनीय प्रसादन करने योग्य पति जिस स्त्रीका प्रसादन करे उस स्त्रीका यह लोक तथा परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं ॥१३॥ धर्मज्ञ, मैं स्त्रियोंका धर्म जानती हूँ और आप सत्यवादी हैं यह भी जानती हूँ, मैंने जो कुछ कहा है वह पुत्रशोकसे पीड़ित होकर कहा है ॥१४॥ शोकसे धीरता नष्ट हो जाती है, शोकसे ज्ञान नष्ट हो जाता है, शोक सभीका नाश कर देता है, शोकके समान शत्रु दूसरा नहीं है ॥१५॥ शत्रुका प्रहार यदि आ पड़े तो मनुष्य सह सकता है, पर थोड़ा भी शोक नहीं

वनवासाय रामस्य पञ्चरात्रोऽत्र गण्यते । यः शोकहतहर्षायाः पञ्चवर्षोपमो मम ॥१७॥
तं हि चिन्तयमानायाः शोकोऽयं हृदि वर्धते । नदीनामिव वेगेन समुद्रसलिलं महत् ॥१८॥
एवं हि कथयन्त्यास्तु कौसल्यायाः शुभं वचः । मन्दरश्मिरभूत्सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥१९॥
अथ प्रह्लादितो वाक्यैर्देव्या कौसल्यया नृपः । शोकेन च समाक्रान्तो निद्राया वशमेयिवान्॥२०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥६२॥

त्रिषष्टितमः सर्गः ६३

प्रतिबुद्धो मुहूर्तेन शोकोपहतचेतनः । अथ राजा दशरथः स चिन्तामभ्यपद्यत ॥ १ ॥
रामलक्ष्मणयोश्चैव विवासाद्वासवोपमम् । आपेदे उपसर्गस्तं तमः सूर्यमिवासुरम् ॥ २ ॥
सभार्ये हि गते रामे कौसल्यां कोसलेश्वरः । विवक्षुरसितापाङ्गीं स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ॥ ३ ॥
स राजा रजनीं षष्ठीं रामे प्रव्राजिते वनम् । अर्धरात्रे दशरथः सोऽस्मरद् दुष्कृतं कृतम् ॥ ४ ॥
स राजा पुत्रशोकार्तः स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः । कौसल्यां पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥
यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाशुभम् । तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः ॥ ६ ॥
गुरुलाघवमर्थानामारम्भे कर्मणां फलम् । दोषं वा यो न जानाति स बाल इति होच्यते ॥ ७ ॥

सहा जाता ॥१६॥ रामचन्द्रको वनवास गये आज पाँचवीं रात बीत रही है, मेरे लिए जिसके समस्त आनन्द शोकसे नष्ट हो गये हैं—ये पाँचवर्षके समान हैं ॥१७॥ रामचन्द्रकी चिन्ता करनेके कारण मेरे हृदयमें शोक बढ़ता है, जिस प्रकार नदियोंके वेगसे समुद्र बढ़ता है ॥१८॥ कौसल्या इस प्रकार सुन्दर वचन बोल रही थी, उसी समय सूर्यकी किरण धीमी पड़ गयीं, रात हो गयी ॥१९॥ देवी कौसल्याके वचनोंसे राजा प्रसन्न हुए और शोकसे दुःखी । उसी समय राजाको नींद आयी ॥२०॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका बासठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६२ ॥

एक मुहूर्तके बाद राजा दसरथ जागे, शोकसे उनका ज्ञान नष्ट हो गया था, पुनः राजा दसरथ चिन्तित होगये ॥१॥ राम और लक्ष्मणको वनवास देनेसे राजाको शोकने आ घेरा था, जिस प्रकार राहु-सम्बन्धी अन्धकार सूर्यको घेर लेता है ॥२॥ अपनी स्त्रीके साथ रामचन्द्रके वनमें चले जानेपर कोसलेश्वर राजा दसरथ अपने पापोंको स्मरण करके कौसल्यासे कहनेके लिए तयार हुए ॥३॥ रामचन्द्रके वन चले जानेपर छठवीं रातको आधी रातमें राजाने अपने पूर्वकृत पापोंको स्मरण किया ॥४॥ पुत्रशोकसे पीड़ित राजा दसरथने अपना पूर्वपाप स्मरण किया और पुत्रशोकसे पीड़ित कौसल्यासे वे इस तरह बोले ॥५॥ कल्याणि, मनुष्य उत्तम या निन्दित जो कर्म करता है, उसके उसी कर्मका फल सुख या दुःख कर्ताको मिलता है ॥६॥ जो ऐहिक तथा पारलौकिक कर्मोंके आरम्भके समय उनके फलकी गुरुता और

कश्चिदाम्रवणं छित्त्वा पलाशाँश्च निषिञ्चति । पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे ॥ ८ ॥
अविज्ञाय फलं यो हि कर्म त्वेवानुधावति । स शोचेत्फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः ॥ ९ ॥
सोऽहमाम्रवणं छित्त्वा पलाशाँश्च न्यषेचयम् । रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः ॥१०॥
लब्धशब्देन कौसल्ये कुमारेण धनुष्मता । कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम् ॥११॥
तदिदं मेऽनुसंप्राप्तं देवि दुःखं स्वयंकृतम् । संमोहादिह बालेन यथा स्याद्भक्षितं विषम् ॥१२॥
यथान्यः पुरुषः कश्चित्पलाशैर्मोहितो भवेत् । एवं मयाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम् ॥१३॥
देव्यनूढा त्वमभवो युवराजो भवाम्यहम् । ततः प्रावृडनुप्राप्ता मम कामविवर्धिनी ॥१४॥
अपास्य हि रसान्भौमांस्तप्त्वा च जगदंशुभिः । परेताचरितां भीमां रविराचरते दिशम् ॥१५॥
उष्णमन्तर्दधे सद्यः स्निग्धा ददृशिरे घनाः । ततो जहृषिरे सर्वे भेकसारङ्गबर्हिणः ॥१६॥
क्लिन्नपक्षोत्तराः स्नाताः कृच्छ्रादिव पतत्रिणः । वृष्टिवातावधूताग्रान्पादपानभिपेदिरे ॥१७॥
पतितेनाम्भसा छन्नः पतमानेन चासकृत् । आबभौ मत्तसारङ्गस्तोयराशिरिवाचलः ॥१८॥
पाण्डुरारुणवर्णानि स्रोतांसि विमलान्यपि । सुस्रुवुर्गिरिधातुभ्यः सभस्मानि भुजंगवत् ॥१९॥
तस्मिन्नतिसुखे काले धनुष्मानिषुमान्रथी । व्यायामकृतसंकल्पः सरयूमन्वगां नदीम् ॥२०॥

लघुताका विचार नहीं करते, जो उनके गुण-दोषोंका विचार नहीं करते, वे बालक कहे जाते हैं ॥७॥ कई लोग आमके वृक्षोंको काटकर पलाशके वृक्षोंको सींचते हैं, वे लोभी पलाशके फूलोंको देखकर उसके उत्तम फल होनेकी आशा करते हैं, पर फलके समयमें उन्हें हताश होना पड़ता है ॥८॥ जो लोग फलका बिना विचार किये ही केवल कर्म करते जाते हैं, उन्हें फलके समयमें हताश होना पड़ता है, जैसे पलास वृक्षको सींचनेवाले हताश होते हैं ॥९॥ मैंने भी आमके वृक्षको काटकर पलास सींचा है । मैंने भी फलके समयमें रामका त्याग किया है, अब मूर्ख मैं सोच रहा हूँ ॥१०॥ "कुमार शब्दवेधी हैं" इस प्रसिद्धि पानेके कारण बाल्यावस्थामें धनुष धारण करनेवाले मैंने यह पाप किया ॥११॥ देवि, वही मेरा स्वयं किया हुआ दुःख आज मुझे मिल रहा है, जिस प्रकार अज्ञानसे बालक विष खाकर दुःख भोगता है ॥१२॥ जिस प्रकार कोई पुरुष पलासके फूलोंसे मोहित होकर अनिष्ट फल पाता है, उसी प्रकार बिना जानेही शब्दवेधी होनेका यह फल मैं पा रहा हूँ ॥१३॥ देवि, उस समय तुम्हारा ब्याह नहीं हुआ था, मैं भी युवराज ही था उस समय काम बढ़ानेवाली वर्षाऋतु आयी ॥१४॥ पृथिवीके रसको सींचकर और किरणोंसे जगत्को तपाकर, प्रेत-सेवित भयानक दक्षिण दिशामें सूर्य गये थे ॥१५॥ गरमी दूर हुई, आँखोंको प्यारे मेघ दिखायी पड़े, मेढक, चातक और मोर प्रसन्न हुए ॥१६॥ स्नान किये हुए पक्षी जिनके पंखका ऊपरी हिस्सा भींग गया है वे बड़े कष्टसे वृष्टि और हवासे जिनका सिर काँप गया है उन वृक्षोंपर गये ॥१७॥ गिरे हुए और गिरते हुए जलसे भींगा हुआ मतवाला हाथी निश्चल समुद्रके समान मालूम पड़ता था ॥१८॥ विमल सोते भी पर्वतकी धातुओंके सम्पर्कसे कहीं पीले, कहीं लाल और कहीं भस्मके रङ्गके साँपके समान टेढ़े-मेढ़े चलने लगे ॥१९॥ उस अत्यन्त रमणीय समयमें धनुष-बाण लेकर तथा

निपाने महिषं रात्रौ गजं वाभ्यागतं मृगम् । अन्यद्वा श्वापदं किंचिज्जिघांसुरजितेन्द्रियः ॥२१॥
अथान्धकारे त्वश्रौषं जले कुम्भस्य पूर्यतः । अचक्षुर्विषये घोषं वारणस्येव नर्दतः ॥२२॥
ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमाशीविषोपमम् । शब्दं प्रति गजप्रेप्सुरभिलक्ष्यमपातयम् ॥२३॥
अमुञ्चं निशितं बाणमहमाशीविषोपमम् । तत्र वागुषसि व्यक्ता प्रादुरासीद्वनौकसः ॥२४॥
हाहेति पततस्तोये बाणाद्व्यथितमर्मणः । तस्मिन्निपतिते भूमौ वागभूत्तत्र मानुषी ॥२५॥
कथमस्मद्विधे शस्त्रं निपतेच्च तपस्विनि । प्रविविक्तां नदीं रात्रावुदाहारोऽहमागतः ॥२६॥
इषुणाभिहतः केन कस्य वापकृतं मया । ऋषेर्हि न्यस्तदण्डस्य वने वन्येन जीवतः ॥२७॥
कथं नु शस्त्रेण वधो मद्विधस्य विधीयते । जटाभारधरस्यैव वल्कलाजिनवाससः ॥२८॥
को वधेन ममार्थी स्यात्किं वास्यापकृतं मया । एवं निष्फलमारब्धं केवलानर्थसंहितम् ॥२९॥
न कश्चित्साधु मन्येत यथैव गुरुतल्पगम् । नेमं तथानुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥३०॥
मातरं पितरं चोभावनुशोचामि मद्वधे । तदेतन्मिथुनं वृद्धं चिरकालभृतं मया ॥३१॥
मयि पञ्चत्वमापन्ने कां वृत्तिं वर्तयिष्यति । वृद्धौ च मातापितरावहं चैकेषुणा हतः ॥३२॥
केन स्म निहताः सर्वे सुबालेनाकृतात्मना । तां गिरं करुणां श्रुत्वा मम धर्मानुकाङ्क्षिणः ॥३३॥

रथपर व्यायाम करनेकी इच्छासे मैं सरयू नदीके तीर गया ॥२०॥ नदीके तीर पर रातमें जल पीनेके लिए आये हुए भैंस, हाथी, हरिण अथवा अन्य किसी जङ्गली जानवरको मारनेके लिए मैं सरयू तीरपर गया, उस समय मेरी इन्द्रियाँ मेरे अधीन न थीं ॥२१॥ वहाँ मैंने अन्धकारमें घड़ा भरनेका शब्द सुना, वह शब्द आँखोंकी ओटमें हुआ, वह शब्द हाथीके गर्जनके समान मालूम पड़ा ॥२२॥ तदन्तर मैंने तीखा बाण निकालकर जो विषैले सर्पके समान था, हाथी पानेकी इच्छासे शब्दको लक्ष्य करके चला दिया ॥२३॥ सर्पके समान भयानक अपना तीखा बाण मैंने जहाँ छोड़ा था वहाँ स्पष्ट किसी तपस्वीकी बोलीके समान शब्द सुनायी पड़ा ॥२४॥ बाण लगनेसे मर्मस्थानमें पीड़ा होनेके कारण जलमें गिरते हुए उस तपस्वीका 'हाहा" शब्द सुन पड़ा, जब वह जमीनमें गिर पड़ा, तब स्पष्ट मनुष्यका शब्द सुन पड़ा ॥२५॥ "हमारे समान तपस्वीपर यह शस्त्र क्यों गिरा ? निर्जन नदी तीरपर रात्रिमें जल लेनेके लिए मैं आया था ॥२६॥ किसने हमें बाणसे मारा, मैंने किसका अपकार किया है ? मैं ऋषि हूँ दूसरोंको पीड़ा देना मैंने छोड़ दिया है; वनमें उत्पन्न होनेवाली चीजोंसे मेरी जीविका चलती है ॥२७॥ मेरे समान ऋषिका शस्त्रसे कैसे वध किया गया, मैं जटा धारण करनेवाला वल्कल और अजिन पहननेवाला हूँ ॥२८॥ मेरे वधसे किसीको क्या लाभ होगा, मैंने किसीकी कौन बुराई की है ? करनेवालेने यह निष्फल काम किया है, इससे उसको हानि ही होगी ॥२९॥ जिस प्रकार गुरुस्त्रीगामीको कोई अच्छा नहीं समझता, उसी प्रकार अनर्थक ऋषिहत्या करनेवाले इसको भी कोई अच्छा नहीं समझेगा। मैं अपनी मृत्युकी चिन्ता नहीं करता ॥३०॥ किन्तु अपनी मृत्युसे माता-पिताके लिए शोक करता हूँ। इन दोनों वृद्धोंका बहुत दिनोंसे मैंने पालन किया है ॥३१॥ मैं तो यहाँ एक बाणसे मारा गया, मेरे मर जानेपर वे किस प्रकार जीयेंगे, कैसे खाये पीयेंगे; क्योंकि वे दोनों वृद्ध हैं ॥३२॥ किस अजितेन्द्रिय मूर्खने हमें मारा है ?

कराभ्यां सशरं चापं व्यथितस्यापतद्भुवि । तस्याहं करुणं श्रुत्वा ऋषेर्विलपतो निशि ॥३४॥
संभ्रान्तः शोकवेगेन भृशमासं विचेतनः । तं देशमहमागम्य दीनसत्त्वः सुदुर्मनाः ॥३५॥
अपश्यमिषुणा तीरे सरय्वास्तापसं हतम् । अवकीर्णजटाभारं प्रविद्धकलशोदकम् ॥३६॥
पांसुशोणितदिग्धाङ्गं शयानं शल्यवेधितम् । स मामुद्वीक्ष्य नेत्राभ्यां त्रस्तमस्वस्थचेतनम् ॥३७॥
इत्युवाच वचः क्रूरं दिधक्षन्निव तेजसा । किं तवापकृतं राजन्वने निवसता मया ॥३८॥
जिहीर्षुरम्भो गुर्वर्थं यदहं ताडितस्त्वया । एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहते मयि ॥३९॥
द्वावन्धौ निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे । तौ नूनं दुर्बलावन्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ ॥४०॥
चिरमाशां कृतां कष्टां तृष्णां संधारयिष्यतः । न नूनं तपसो वास्ति फलयोगः श्रुतस्य वा ॥४१॥
पिता यन्मां न जानीते शयानं पतितं भुवि । जानन्नपि च किं कुर्यादशक्तश्चापरिक्रमः ॥४२॥
भिद्यमानमिवाशक्तस्त्रातुमन्यो नगो नगम् । पितुस्त्वमेव मे गत्वा शीघ्रमाचक्ष्व राघव ॥४३॥
न त्वामनुदहेत्क्रुद्धो वनमग्निरिवैधितः । इयमेकपदी राजन्यतो मे पितुराश्रमः ॥४४॥
तं प्रसादय गत्वा त्वं न त्वा संकुपितः शपेत् । विशल्यं कुरु मां राजन्मर्म मे निशितः शरः ॥४५॥

धर्ममें अनुराग रखनेवाले मेरे हाथसे ये दयनीय शब्द सुनकर ॥३३॥ बाण युक्त धनुष जमीनपर छूटकर गिर पड़ा । उस रातको विलाप करनेवाले ऋषिके उन दयनीय शब्दोंको सुनकर मैं बहुत व्यथित हुआ ॥३४॥ मैं घबड़ा गया, शोकसे मैं अचेत होने लगा । क्षीणबल और उदास होकर मैं उस स्थानपर आया, जहाँ ऋषि पड़े हुए थे ॥३५॥ सरयूके तीरपर बाणसे मारे गये ऋषिको मैंने देखा, उनकी जटा बिखर गयी थी, और घड़ेका जल गिर गया था ॥३६॥ धूल और खूनसे वे लिपटे हुए थे, बाणसे बिध जानेके कारण पड़े हुए थे । यह देखकर मैं डर गया, मेरे होस उड़ गये ! ऋषि मुझे आँखोंसे देखकर ॥३७॥ और अपने तेजसे जलाते हुए ये कठोर वचन बोले । राजन्, वनमें रहनेवाले मैंने तुम्हारा क्या अपकार किया है ॥३८॥ मैं अपने पिता-माताके लिए जल लेने आया था और आपने मुझे मारा । तुमने मर्म-स्थानमें मुझे एक बाण मारा ॥३९॥ मुझे मारकर तुमने मेरे अन्धे पिता और माताको भी मार डाला । वे मेरे माता-पिता दुबले और अन्धे हैं और इस समय प्यासे मेरी प्रतिक्षा करते होंगे ॥४०॥ जल लेकर मेरे लौट आनेकी आशासे वे बड़ी देर तक प्यास रोकेंगे, मेरे पिता कोई तपस्वी नहीं हैं और ज्ञानी भी नहीं हैं ॥४१॥ अतएव वे यह नहीं जानते कि मैं यहाँ जमीनमें पड़ा सो रहा हूँ, और जानकर भी वे क्या करेंगे, वे अशक्त हैं, चलने-फिरनेकी उनमें शक्ति नहीं है ॥४२॥ जिस प्रकार गिरते हुए वृक्षको दूसरा वृक्ष रक्षा नहीं कर सकता, वैसेही वे भी मेरी रक्षा नहीं कर सकते । अतएव दसरथ, तुम्हीं मेरे पितासे शीघ्र जाकर यह वृत्तान्त कहो ४३॥ प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार वनको जला देती है, उस प्रकार क्रोध करके मेरे पिता तुमको जला नहीं डालेंगे । राजन्, यहाँसे इस पगडंडीपर मेरे पिताका आश्रम है ॥४४॥ तुम जाकर उनको प्रसन्न करो, जिससे वे तुमको शाप न दें । मेरे शरीरसे बाण निकाल

रुणद्धि मृदु सोत्सेधं तीरमम्बुरयो यथा । सशल्यः क्लिश्यते प्राणैर्विशल्यो विनशिष्यति॥४६॥
इति मामविशच्चिन्ता तस्य शल्यापकर्षणे । दुःखितस्य च दीनस्य मम शोकातुरस्य च ॥४७॥
लक्षयामास स ऋषिश्चिन्तां मुनिसुतस्तदा । ताम्यमानं स मां कृच्छ्रादुवाच परमार्थवित् ॥४८॥
सीदमानो विवृत्ताङ्गोऽचेष्टमानो गतः क्षयम् । संस्तभ्य शोकं धैर्येण स्थिरचित्तो भवाम्यहम्॥४९॥
ब्रह्महत्याकृतं तापं हृदयादपनीयताम् । न द्विजातिरहं राजन्मा भूत्ते मनसो व्यथा ॥५०॥
शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप । इतीव वदतः कृच्छ्राद्बाणाभिहतमर्मणः ॥५१॥
विघूर्णतो विचेष्टस्य वेपमानस्य भूतले । तस्य त्वाताम्यमानस्य तं बाणमहमुद्धरम् ।
स मामुद्वीक्ष्य संत्रस्तो जहौ प्राणांस्तपोधनः ॥५२॥
जलार्द्रगात्रं तु विलप्य कृच्छ्रं मर्मव्रणं संततमुच्छ्वसन्तम् ।
ततः सरय्वां तमहं शयानं समीक्ष्य भद्रे सुभृशं विषण्णः ॥५३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥
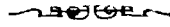
लो, राजन्, यह तीखा बाण मेरे मर्मको पीड़ित कर रहा है, जिस प्रकार ऊँचे नदीतीरको जलका वेग । मैंने सोचा, बाण रहनेसे इन्हें पीड़ा होती है, यदि बाण निकालता हूँ तो इनके प्राण भी निकल जाँयगे ॥४५-४६॥ उनके बाण निकालनेमें मुझे इस प्रकारकी चिन्ता होने लगी, मैं उस समय दुःखी असहाय शोकातुर हो गया था ॥४७॥ मेरी चिन्ताका कारण वे मुनिपुत्र ऋषि जान गये । यथार्थ बात जाननेवाले ऋषि दुःखसे पीड़ित मुझसे बड़े कष्टसे बोले ॥४८॥ ऋषिको बड़ा कष्ट हो रहा था, उनके अंग शिथिल हो रहे थे, हाथ पैर नहीं उठते थे । धैर्यसे अपने शोकको रोककर वे बोले—अब मैं अपने चित्तको स्थिर कर रहा हूँ ॥४९॥ राजन, तुम पर ब्रह्महत्याका पाप लगा है, यह सन्देह तुम अपने मनसे निकाल दो, क्योंकि मैं द्विजाती नही हूँ अतएव इस कारण होनेवाले भयको तुम अपने मनसे निकाल दो ॥५०॥ नराधिप, मैं शूद्राके गर्भसे वैश्यके द्वारा उत्पन्न हुआ हूँ । बाणसे उनका मर्म विध गया था, बड़े कष्टोंसे वे इतना कह सके ॥५१॥ अनन्तर वे भी घूमने लगे, कभी निश्चेष्ट हो गये, कभी पृथिवीमें लोटने लगे, इस प्रकार दुःखी मुनिके शरीरसे मैंने बाण निकाल लिया । मुझको देखकर ऋषि डरे और उनके प्राण निकल गये ॥५२॥ सरयूमें गिरनेके कारण उनका शरीर जलसे भींग गया था, मर्मस्थानमें आघात लगनेसे वे बड़े कष्टसे विलाप कर रहे थे, बीच-बीचमें साँस ले रहे थे । इस अवस्थामें मुनिपुत्रको देखकर मुझे बड़ा कष्ट हुआ ॥५३॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका तीरसठवाँ सर्ग समाप्त ॥६३॥

चतुःषष्टितमः सर्गः ६४

वधमप्रतिरूपं तु महर्षेस्तस्य राघवः । विलपन्नेव धर्मात्मा कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
तदज्ञानान्महत्पापं कृत्वा संकुलितेन्द्रियः । एकस्त्वचिन्तयं बुद्ध्या कथं नु सुकृतं भवेत् ॥ २ ॥
ततस्तं घटमादाय पूर्णं परमवारिणा । आश्रमं तमहं प्राप्य यथाख्यातपथं गतः ॥ ३ ॥
तत्राहं दुर्बलावन्धौ वृद्धावपरिणायकौ । अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षाविव द्विजौ ॥ ४ ॥
तन्निमित्ताभिरासीनौ कथाभिरपरिश्रमौ । तामाशां मत्कृते हीनावुपासीनावनाथवत् ॥ ५ ॥
शोकोपहतचित्तश्च भयसंत्रस्तचेतनः । तच्चाश्रमपदं गत्वा भूयः शोकमहं गतः ॥ ६ ॥
पदशब्दं तु मे श्रुत्वा मुनिर्वाक्यमभाषत । किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं क्षिप्रमानय ॥ ७ ॥
यन्निमित्तमिदं तात सलिले क्रीडितं त्वया । उत्कण्ठिता ते मातेयं प्रविश क्षिप्रमाश्रमम् ॥ ८ ॥
यद्व्यलीकं कृतं पुत्र मात्रा ते यदि वा मया । न तन्मनसि कर्तव्यं त्वया तात तपस्विना ॥ ९ ॥
त्वं गतिस्त्वगतीनां च चक्षुस्त्वं हीनचक्षुषाम् । समासक्तास्त्वयि प्राणाः कथं त्वं नाभिभाषसे ।१०।
मुनिमव्यक्तया वाचा तमहं सज्जमानया । हीनव्यञ्जनया प्रेक्ष्य भीतचित्त इवाब्रुवम् ॥११॥
मनसः कर्म चेष्टाभिरभिसंस्तभ्य वाग्बलम् । आचचक्षे त्वहं तस्मै पुत्रव्यसनजं भयम् ॥१२॥
क्षत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः । सज्जनावमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम् ॥१३॥

धर्मात्मा राजा दसरथने मुनिका ऐसा अयोग्य वध स्मरण किया, पुनः रामचन्द्रका स्मरण कर विलाप करते हुए वे कौसल्यासे इस प्रकार बोले ॥१॥ अज्ञानसे मैंने वैसा पाप किया जिससे चित्त व्याकुल हो गया, वहाँ अकेला ही मैंने उपाय सोचा जिससे कुछ पुण्य हो, मुनि-कुमारके वधका पाप दूर हो, सरयूके स्वच्छ जलसे भरा घड़ा लेकर मैं मुनि-कुमारके बतलाये रास्तेसे उस आश्रमपर गया ॥३॥ वहाँ मैंने उनके पिता-माताको देखा, वे दुबले, अन्धे और बूढ़े थे, उनका रक्षक दूसरा कोई नहीं था। वे कटे पाँखवाले पक्षियोंके समान असहाय थे ॥४॥ पुत्र-सम्बन्धी बातें करनेसे वे प्रसन्न मालूम पड़ते थे, पुत्रके आनेकी आशासे वे बैठे थे, पर मैंने उनकी वह आशा नष्ट कर दी थी और वे अनाथसे हो गये थे ॥५॥ मेरा चित्त पहलेसे ही शोकके कारण व्याकुल था, मैं डरा हुआ था, मुनिके उस आश्रममें जानेसे मेरा शोक और बढ़ गया ॥६॥ मेरे पैरोंकी आहट पाकर मुनिने कहा, बेटा क्यों देर लगा रहे हो, शीघ्र जल ले आओ ॥७॥ जिस जलक्रीड़ा करनेके कारण तुमने इतना विलम्ब लगाया, उससे तुम्हारी माता तुम्हारे अशुभकी आशङ्कासे उत्कण्ठित हो गयी है, तुम शीघ्र आश्रममें आओ ॥८॥ मैंने या तुम्हारी माताने यदि कोई अपराध किया हो तो तुम उस अपराधको मनमें न रखो, भूल जाओ, क्योंकि तुम तो तपस्वी हो ॥९॥ हम गतिहीनोंकी तुम्हीं गति हो, हम अन्धोंकी तुम्हीं आँख हो, हम लोगोंके प्राण तुम्हींमें लगे हुए हैं, तुम बोलते क्यों नहीं? ॥१०॥ मुनिको देखकर मैं भयभीत हो गया, गद्गद व्यञ्जनोंसे रहित अव्यक्त स्वरमें मैं बोला ॥११॥ मैंने मानसिक भयको बाहरी चेष्टाओंसे छिपाकर और बोलीको साफ करके पुत्रका मृत्यु-संवाद उन मुनिको सुनाया ॥१२॥ मैं दसरथ नामका क्षत्रिय हूँ, महात्मन्,

भगवंश्चापहस्तोऽहं सरयूतीरमागतः । जिघांसुः श्वापदं किंचिन्निपाने वागतं गजम् ॥१४॥
ततः श्रुतो मया शब्दो जले कुम्भस्य पूर्यतः । द्विपोऽयमिति मत्वाहं बाणेनाभिहतो मया ॥१५॥
गत्वा तस्यास्ततस्तीरमपश्यमिषुणा हृदि । विनिर्भिन्नं गतप्राणं शयानं भुवि तापसम् ॥१६॥
ततस्तस्यैव वचनादुपेत्य परितप्यतः । स मया सहसा बाण उद्धृतो मर्मतस्तदा ॥१७॥
स चोद्धृतेन बाणेन सहसा स्वर्गमास्थितः । भगवन्तावुभौ शोचन्नन्धाविति विलप्य च ॥१८॥
अज्ञानाद्भवतः पुत्रः सहसाभिहतो मया । शेषमेवंगते यत्स्यात्तत्प्रसीदतु मे मुनिः ॥१९॥
स तच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं मया तदघशंसिना । नाशकत्तीव्रमायासं स कर्तुं भगवानृषिः ॥२०॥
स बाष्पपूर्णवदनो निःश्वसञ्शोकमूर्च्छितः । मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥२१॥
यद्येतदशुभं कर्म न स्म मे कथयेः स्वयम् । फलेन्मूर्धा स्म ते राजन्सद्यः शतसहस्रधा ॥२२॥
क्षत्रियेण वधो राजन्वानप्रस्थे विशेषतः । ज्ञानपूर्वं कृतःस्थानाच्च्यावयेदपि वज्रिणम् ॥२३॥
सप्तधा तु भवेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति । ज्ञानाद्विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ॥२४॥
अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं ते तेन जीवसे । अपि ह्यकुशलं न स्याद्राघवाणां कुतो भवान् ॥२५॥
नय नौ नृप तं देशमिति मां चाभ्यभाषत । अद्य तं द्रष्टुमिच्छावः पुत्रं पश्चिमदर्शनम् ॥२६॥

आपका पुत्र नहीं । अपने दुष्कर्मोंसे सज्जनोंके द्वारा तिरस्कृत यह दुःख पाया है ॥१३॥ भगवन्, हाथमें वाण लेकर जल पीनेके लिए आये हुए किसी जंगली क्रूर पशुको या हाथीको मारनेके लिये मैं सरयू तीरपर आया था ॥१४॥ जलमें घड़ा भरनेका शब्द मैंने सुना, हाथी समझकर मैंने वाण मारा ॥१५॥ सरयूके तीरपर जाकर मैंने देखा कि एक तापसके हृदयमें वाण लगा है और वह मृतप्राय होकर जमीनपर पड़ा है ॥१६॥ वाण लगनेसे वे तपस्वी बड़े दुःखी हो रहे थे, जाकर मैंने उन्हींके कहनेसे उनके मर्मस्थानसे वाण निकाल लिया ॥१७॥ वाण निकलते ही वे मुनि शीघ्र ही स्वर्ग चले गये, मरनेके पहले उन्होंने अपने अन्धे असहाय माता-पिताके लिए बड़ा शोक किया ॥१८॥ अज्ञानसे ही आपके पुत्रको मैंने मार दिया । ऐसा हो जानेपर अवशिष्टके लिये—आप लोगोंकी रक्षाके लिये—आप मुझपर प्रसन्न हों, अर्थात् मुझे आज्ञा दें ॥१९॥ उनका दुःख कहनेवाले मेरे द्वारा वैसा कठोर वचन सुनकर भी उन ऋषिने शक्ति होनेपर भी मुझे कठोर शाप नहीं दिया ॥२०॥ ऋषिका शोक बढ़ गया, उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगा, वे लम्बी साँस लेने लगे । हाथ जोड़े मैं उनके पास खड़ा था, वे महातेजस्वी ऋषि मुझसे बोले ॥२१॥ राजन्, अपना किया यह अशुभ कर्म यदि तुम स्वयं मुझसे न कहते तो अवश्य ही तुम्हारे माथेके हजारों टुकड़े हो जाते ॥२२॥ राजन्, ज्ञानपूर्वक यदि क्षत्रिय वानप्रस्थाश्रमीका वध करे तो वह, इन्द्र ही क्यों न हो, स्थानभ्रष्ट हो जाता है ॥२३॥ जो मुनि तपस्यामें वर्तमान है और वह ब्रह्मवेत्ता है, उसपर जानबूझकर यदि कोई वाण चलावे तो उसके मस्तकके कई टुकड़े हो जाते हैं ॥२४॥ तुमने यह काम बिना जाने-बूझे किया है इसीसे तुम जीते हो । यदि तुमने जानबूझकर यह किया होता तो समस्त रघुकुल नष्ट हो जाता, तुम्हारी क्या बात ? ॥२५॥ उन्होंने मुझसे कहा कि राजन्,

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रकीर्णाजिनवाससम् । शयानं भुवि निःसंज्ञं धर्मराजवशंगतम् ॥२७॥
अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ । अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया ॥२८॥
तौ पुत्रमात्मनः स्पृष्ट्वा तमासाद्य तपस्विनौ । निपेततुः शरीरेऽस्य पिता चैनमुवाच ह ॥२९॥
नाभिवादयसे माऽद्य न च मामभिभाषसे । किं च शेषे तु भूमौ त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि ॥३०॥
नन्वहं तेऽप्रियः पुत्र मातरं पश्य धार्मिकीम् । किं च नालिङ्गसे पुत्र सुकुमारवचो वद ॥३१॥
कस्य वा पररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयंगमम् । अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वान्यद्विशेषतः ॥३२॥
को मां संध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः । श्लाघयिष्यत्युपासीनः पुत्रशोकभयार्दितम् ॥३३॥
कन्दमूलफलं हृत्वा यो मां प्रियमिवातिथिम् । भोजयिष्यत्यकर्मण्यमप्रग्रहमनायकम् ॥३४॥
इमामन्धां च वृद्धां च मातरं ते तपस्विनीम् । कथं पुत्र भरिष्यामि कृपणां पुत्रगर्धिनीम् ॥३५॥
तिष्ठ मा मा गमः पुत्र यमस्य सदनं प्रति । श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥३६॥
उभावपि च शोकार्तावनाथौ कृपणौ वने । क्षिप्रमेव गमिष्यावस्त्वया हीनौ यमक्षयम् ॥३७॥
ततो वैवस्वतं दृष्ट्वा तं प्रवक्ष्यामि भारतीम् । क्षमतां धर्मराजो मे बिभृयात्पितरावयम् ॥३८॥
दातुमर्हति धर्मात्मा लोकपालो महायशाः । ईदृशस्य ममाक्षय्यामेकामभयदक्षिणाम् ॥३९॥

तुम मुझे उस स्थानपर ले चलो जहाँ मेरा मृत पुत्र वर्तमान है, हम लोग अपने पुत्रको अन्तिम बार एक बार देख लेना चाहते हैं ॥२६॥ जिसके अंग रुधिरसे सने हैं, मृगचर्म और वस्त्र इधर-उधर बिखरे हैं, जो मरकर यमराजके अधीन हो गया है और जमीनपर पड़ा है ॥२७॥ मैं अकेला ही उन दोनों दुःखियोंको वहाँ ले गया, मुनि और उनकी स्त्रीसे उनके पुत्रका स्पर्श कराया ॥२८॥ वे दोनों तपस्वी अपने पुत्रका स्पर्श करके उसके शरीरपर गिर पड़े और पिताने पुत्रको लक्ष्य करके कहा ॥२९॥ पुत्र, तुम हम लोगोंको प्रणाम नहीं करते, बोलते भी नहीं हो, जमीनपर क्यों पड़े हो, क्यों तुम हम लोगोंपर कुपित हुए हो ? ॥३०॥ पुत्र, यदि मैं तुम्हारा अप्रिय हूँ तो धार्मिक अपनी माताकी ओर देखो, सुकुमार, अपनी मातासे लिपट क्यों नहीं जाते, कहो ॥३१॥ आधी रातको बादकी रातमें किसके शास्त्र तथा पुराण आदिके पढ़नेका हृदयप्रिय शब्द हम सुनेंगे ॥३२॥ स्नान करके सन्ध्योपासन और अग्निमें हवन करके अब कौन पुत्र-शोकसे पीड़ित मुझको मेरे पास बैठकर प्रसन्न करेगा ॥३३॥ किसी काम करनेमें असमर्थ दरिद्र और अनाथ मुझको मेरे प्रिय अतिथिके समान कन्दमूल लाकर कौन भोजन करावेगा ॥३४॥ पुत्र, इस अन्धी और बूढ़ी बिचारी तुम्हारी माताको मैं कैसे खिला सकूँगा, क्योंकि मैं भी अन्धा हूँ, यह गरीबिन तुमपर बहुत प्रेम करती है ॥३५॥ पुत्र, ठहरो, अभी तुम यमराजके घर मत जाओ, कल हमारे और अपनी माताके साथ चलना ॥३६॥ हम दोनों शोकसे पीड़ित हैं, अनाथ हैं, दीन हैं, तुम्हारे न रहनेसे हमलोगोंकी भी शीघ्र ही मृत्यु हो जायगी ॥३७॥ इस प्रकार यमराजके पास जाकर हम लोग उनसे कहेंगे, कि आप हमारे पुत्रको क्षमा करें, अपने पास इसे न रखें; क्योंकि यह अपने पिता-माताकी सेवा करता है, उनको पालता है ॥३८॥ लोकपाल धर्मराज बड़े यशस्वी और बड़े धर्मात्मा

अपापोऽसि यथा पुत्र निहतः पापकर्मणा । तेन सत्येन गच्छाशु ये लोकास्त्वस्त्रयोधिनाम् ॥४०॥
यां हि शूरा गतिं यान्ति सङ्ग्रामेष्वनिवर्तिनः । हतास्त्वभिमुखाः पुत्र गतिं तां परमां व्रज ॥४१॥
यां गतिं सगरः शैब्यो दिलीपो जनमेजयः । नहुषो धुन्धुमारश्च प्राप्तास्तां गच्छ पुत्रक ॥४२॥
या गतिः सर्वभूतानां स्वाध्यायात्तपसश्च या । भूमिदस्याहिताग्नेश्च एकपत्नीव्रतस्य च ॥४३॥
गोसहस्रप्रदातॄणां गुरुसेवाभृतामपि । देहन्यासकृतां या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥४४॥
न हि त्वस्मिन्कुले जातो गच्छत्यकुशलां गतिम्। स तु यास्यति येन त्वं निहतो मम बान्धवः ॥४५॥
एवं स कृपणं तत्र पर्यदेवयतासकृत् । तथोक्त्वा कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया ॥४६॥
स तु दिव्येन रूपेण मुनिपुत्रः स्वकर्मभिः । स्वर्गमध्यारुहत्क्षिप्रं शक्रेण सह धर्मवित् ॥४७॥
आबभाषे च तौ वृद्धौ शक्रेण सह तापसः । आश्वस्य च मुहूर्तं तु पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥४८॥
स्थानमस्मि महत्प्राप्तो भवतोः परिचारणात् । भवन्तावपि च क्षिप्रं मम मूलमुपैष्यथः ॥४९॥
एवमुक्त्वा तु दिव्येन विमानेन वपुष्मता । आरुरोह दिवं क्षिप्रं मुनिपुत्रो जितेन्द्रियः ॥५०॥
स कृत्वाथोदकं तूर्णं तापसः सह भार्यया । मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥५१॥
अद्यैव जहि मां राजन्मरणे नास्ति मे व्यथा । यः शरेणैकपुत्रं मां त्वमकार्षीरपुत्रकम् ॥५२॥

हैं, वे अवश्य ही मुझे यह एक अक्षय अभय दक्षिणा देंगे । शस्त्राघातसे पुत्रकी मृत्यु न होने देंगे ॥३९॥ पुत्र, तुम पापहीन हो, पापी क्षत्रियके द्वारा मारे गये हो । तथापि मेरे सत्यसे अस्त्र-युद्धमें मारे जाने-वालोंके लोकमें (स्वर्गमें) जाओ ॥४०॥ युद्धमें पीठ न दिखानेवाले वीर सामने मरकर जो गति पाते हैं पुत्र, तुम भी उसी श्रेष्ठ गतिको पाओ ॥४१॥ पुत्र, राजा सगर, शिवि, दिलीप, जनमेजय, नहुष और धुन्धुमार आदिने जो गति पायी है, पुत्र, तुम भी उसी गतिको पाओ ॥४२॥ सब प्राणियोंकी जो गति है, स्वाध्याय और तपस्यासे जो गति प्राप्त होती है, भूमिदान करनेवाले, अग्निहोत्र करनेवाले और एकपत्नीव्रत पालन करनेवालेकी जो गति होती है ॥४३॥ एक हजार गौ देनेवालोंकी जो गति होती है, गुरुसेवा और गुरु-पोषण करनेवालोंकी जो गति होती है तथा हिमालयमें जाकर शरीर-त्याग करनेवालोंकी जो गति होती है पुत्र, तुम्हें भी वही गति प्राप्त हो ॥४४॥ इस कुलमें जो उत्पन्न होता है वह बुरी गति नहीं पाता, बुरी गति उसकी होगी जिसने तुम्हें मारा है ॥४५॥ इस प्रकार बहुत देरतक दुःखित होकर वे रोते रहे, पुनः वे स्त्रीके साथ उन्हें जलाञ्जलि देनेके लिये तयार हुए ॥४६॥ उस धर्मात्मा मुनिपुत्रने शीघ्र ही अपने कर्मोंसे दिव्यरूप प्राप्त करके इन्द्रके साथ स्वर्ग प्राप्त किया ॥४७॥ इन्द्रके साथ उस तपस्वीने पिता-माताको आश्वासित किया, थोड़ी देरके बाद पुनः वह पितासे बोला ॥४८॥ आप लोग पिता-माताकी सेवा करनेसे मैंने बहुत ऊँचा स्थान पाया है, आप लोग भी शीघ्र ही मेरे पास आवेंगे ॥४९॥ इतना कहकर जितेन्द्रिय मुनिपुत्र शरीर धर कर दिव्य विमानसे शीघ्र ही स्वर्ग चले गये ॥५०॥ उन वृद्ध तपस्वीने स्त्रीके साथ शीघ्र ही पुत्रको जलांजलि दी । पुनः वे हाथ जोड़कर खड़े हुए मुझसे बोले ॥५१॥ राजन्, आज ही तुम मुझे भी मार डालो, मरनेमें मुझे दुःख नहीं है, तुमने बाणके द्वारा मेरे पुत्रको मार डाला,

त्वयापि च यदज्ञानान्निहतो मे स बालकः । तेन त्वामपि शप्स्येऽहं सुदुःखमतिदारुणम् ॥५३॥
पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम सांप्रतम् । एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं करिष्यसि ॥५४॥
अज्ञानात्तु हतो यस्मात्क्षत्रियेण त्वया मुनिः । तस्मात्त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप ॥५५॥
त्वामप्येतादृशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति । जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणाम् ॥५६॥
एवं शापं मयि न्यस्य विलप्य करुणं बहु । चितामारोप्य देहं तन्मिथुनं स्वर्गमभ्ययात् ॥५७॥
तदेतच्चिन्तयानेन स्मृतं पापं मया स्वयम् । तदा बाल्यात्कृतं देवि शब्दवेध्यनुकर्षिणा ॥५८॥
तस्यायं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः । अपथ्यैः सह संभुक्ते व्याधिरन्नरसे यथा ॥५९॥
तस्मान्मा मा गतं भद्रे तस्योदारस्य तद्वचः । इत्युक्त्वा स रुदंस्त्रस्तो भार्यामाह तु भूमिपः ॥६०॥
यदहं पुत्रशोकेन संत्यजिष्यामि जीवितम् । चक्षुर्भ्यां त्वां न पश्यामि कौसल्ये त्वं हि मां स्पृश६१
यमक्षयमनुप्राप्ता द्रक्ष्यन्ति नहि मानवाः । यदि मां संस्पृशेद्रामः सकृदन्वारभेत वा ॥६२॥
धनं वा यौवराज्यं वा जीवेयमिति मे मतिः । न तन्मे सदृशं देवि यन्मया राघवे कृतम् ॥६३॥
सदृशं तत्तु तस्यैव यदनेन कृतं मयि । दुर्वृत्तमपि कः पुत्रं त्यजेद्भुवि विचक्षणः ॥६४॥
कश्च प्रव्राज्यमानो वा नासूयेत्पितरं सुतः । चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते ॥६५॥

मुझे अपुत्र बना डाला ॥५२॥ तुमने अज्ञानसे मेरे एक बच्चेको मार डाला, अतएव मैं तुम्हें भी बहुत ही कठोर दुःखदायी शाप दूँगा ॥५३॥ जिस प्रकार पुत्रकी मृत्युका दुःख मैं इस समय भोग रहा हूँ, राजन्, तुम भी पुत्र-शोकसे ही मृत्यु पाओगे ॥५४॥ क्षत्रिय होकर तुमने अज्ञानसे मुनिका वध किया है, इस कारण ब्रह्महत्याका पाप तुम्हें नहीं लगेगा ॥५५॥ पर इस समय जैसी हमारी दशा हो रही है वैसी ही भयानक और प्राण लेनेवाली दशा तुम्हारी भी शीघ्र ही होगी। जिस प्रकार दान करनेवालोंको उसका फल अवश्य मिलता है ॥५६॥ इस प्रकार मुझको शाप देकर तथा दुःखसे बहुत विलाप करके वे दोनों स्त्री-पुरुष चितामें जलकर स्वर्ग चले गये ॥५७॥ देवि, शब्दवेधी होनेके आकर्षणसे बाल्यावस्थामें मैंने जो पाप किया है, वह सोचते-सोचते आज स्वयं स्मरण हो आया ॥५८॥ देवि, उसी पापकर्मका फल यह उपस्थित हुआ है, अपथ्य वस्तुओंके साथ अन्न खानेसे जैसे रोग पैदा हो जाता है, उसी तरह पापका फलभोग आज मुझे करना पड़ता है ॥५९॥ उस उदार मुनिका वह वचन आज फल रहा है। इतना कहकर राजा दसरथ भयभीत होकर रोने लगे और वे कौसल्यासे बोले ॥६०॥ अब मैं पुत्रशोकसे प्राण त्याग करूँगा। कौसल्ये, मैं आँखोंसे तुम्हें नहीं देख रहा हूँ, तुम मेरा स्पर्श करो ॥६१॥ जो मनुष्य मरनेवाले होते हैं, वे कुछ देख नहीं सकते। हाँ, यदि रामचन्द्र आकर अपने हाथोंसे छुएँ अथवा किसी दूसरी वस्तुके ही द्वारा छुएँ ॥६२॥ खजाना ग्रहण करें और युवराज पद लें तो मैं समझता हूँ कि मैं जी सकूँगा, पर रामचन्द्रके साथ जो व्यवहार मैंने किया है यह मेरे लिये उचित नहीं था ॥६३॥ पर रामचन्द्रने मेरे साथ जो व्यवहार किया है अर्थात् मेरी आज्ञाको पालनेके लिये वे वन चले गये यह उन्हींके योग्य है। कोई बुद्धिमान अपने बुरे पुत्रका भी त्याग नहीं कर सकता ॥६४॥ वनमें जाता हुआ

दूता वैवस्वतस्यैते कौसल्ये त्वरयन्ति माम् । अतस्तु किं दुःखतरं यदहं जीवितक्षये ॥६६॥
नहि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम् । तस्यदर्शनजः शोकः सुतस्याप्रतिकर्मणः ॥६७॥
उच्छोषयति वै प्राणान्वारि स्तोकमिवातपः । न ते मनुष्या देवास्ते ये चारुशुभकुण्डलम् ॥६८॥
मुखं द्रक्ष्यन्ति रामस्य वर्षे पञ्चदशे पुनः । पद्मपत्रेक्षणं सुभ्रु सुदंष्ट्रं चारुनासिकम् ॥६९॥
धन्या द्रक्ष्यन्ति रामस्य ताराधिपसमं मुखम् । सदृशं शारदस्येन्दोः फुल्लस्य कमलस्य च ॥७०॥
सुगन्धि मम रामस्य धन्या द्रक्ष्यन्ति ये मुखम् । निवृत्तवनवासं तमयोध्यां पुनरागतम् ॥७१॥
द्रक्ष्यन्ति सुखिनो रामं शुक्रं मार्गगतं यथा । कौसल्ये चित्तमोहेन हृदयं सीदतीव मे ॥७२॥
वेदये न च संयुक्ताञ्शब्दस्पर्शरसानहम् । चित्तनाशाद्विपद्यन्ते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि हि ।
क्षीणस्नेहस्य दीपस्य संरक्ता रश्मयो यथा ॥७३॥
अयमात्मभवः शोको मामनाथमचेतनम् । संसाधयति वेगेन यथा कूलं नदीरयः ॥७४॥
हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन । हा पितृप्रिय मे नाथ हा ममासि गतः सुत ॥७५॥
हा कौसल्ये न पश्यामि हा सुमित्रे तपस्विनी । हा नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि ॥७६॥
इति मातुश्च रामस्य सुमित्रायाश्च संनिधौ । राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् ॥७७॥

कौन पुत्र पितापर क्रोध न करेगा । अब मैं आँखोंसे तुमको नहीं देख रहा हूँ, मेरी स्मरणशक्ति भी क्षीण हो रही है ॥६५॥ कौसल्या अब यमराजके दूत मुझे शीघ्रता करनेको कह रहे हैं । इससे अधिक और दुःख क्या होगा कि मैं मरनेके समय ॥६६॥ सत्य पराक्रम धर्मज्ञ रामचन्द्रको नहीं देख रहा हूँ । पुत्रके कर्तव्य-पालन करनेवालोंमें रामचन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं । उन्हें न देख सकनेका शोक ॥६७॥ मेरे प्राणोंको सुखा रहा है, जिस प्रकार थोड़े जलको धूप सुखा देती है । वे मनुष्य-देवता हैं जो सुन्दर कुण्डलवाला, ॥६८॥ कमलके समान आँखवाला, सुन्दर दाँतवाला और सुन्दर नाकवाला मुख आजके पन्द्रहवें वर्ष अर्थात् वनसे लौटनेपर देखेंगे ॥६९॥ वे धन्य हैं जो चन्द्रमाके समान अथवा शरदृऋतुके चन्द्रमाके समान रामचन्द्रका मुँह देखेंगे । प्रफुल्ल कमलके समान ॥७०॥ सुगन्धित रामचन्द्रका मुख, वनवाससे लौटकर पुनः अयोध्या आनेपर जो देखेंगे वे धन्य हैं ॥७१॥ मार्गमें जो रामचन्द्रको देखेंगे वे ही सुखी हैं । जिस प्रकार मार्गगत शुक्रको देखकर मनुष्य सुखी होता है । कौसल्ये, मूर्च्छा होनेसे मेरा हृदय बहुत ही दुःखी हो रहा है ॥७२॥ शब्द नहीं सुन पड़ता, स्पर्श नहीं मालूम पड़ता और इसका भी ज्ञान नहीं है, चेतनाके नष्ट होनेसे मेरी सब इन्द्रियाँ नष्ट हो रही हैं, जिस प्रकार तेलके न रहनेसे दीपकका प्रकाश क्षीण हो जाता है ॥७३॥ यह मेरा ही उत्पन्न किया हुआ शोक, मुझको इस समय पीड़ित कर रहा है जिस प्रकार नदीका वेग तीरको काटता है ॥७४॥ हा राघव, हा मेरे दुःख दूर करनेवाले महाबाहु, हे पितृप्रिय, हे मेरे स्वामी, कहाँ गये हो ? ॥७५॥ हा कौसल्ये, हा तपस्विनी सुमित्रे, मैं नहीं देख रहा हूँ, हा क्रूर मेरी शत्रु, कुलघातक केकयि ॥७६॥ रामचन्द्रकी माता और सुमित्राके समीप शोक करते हुए राजा दसरथने प्राण

तथा तु दीनः कथयन्नराधिपः प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः ।
गतेऽर्धरात्रे भृशदुःखपीडितस्तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः ॥७८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः ६५

अथ रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरेवापरेऽहनि । वन्दिनः पर्युपातिष्ठंस्तत्पार्थिवनिवेशनम् ॥ १ ॥
सूताः परमसंस्कारा मागधाश्चोत्तमश्रुताः । गायकाः श्रुतशीलाश्च निगदन्तः पृथक्पृथक् ॥ २ ॥
राजानं स्तुवतां तेषामुदात्ताभिहिताशिषाम् । प्रासादाभोगविस्तीर्णः स्तुतिशब्दो ह्यवर्तत ॥ ३ ॥
ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः । अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादानवादयन् ॥ ४ ॥
तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धाश्च सस्वनुः । शाखास्थाः पञ्जरस्थाश्च ये राजकुलगोचराः ॥ ५ ॥
व्याहृताःपुण्यशब्दाश्च वीणानां चापि निःस्वनाः।आशीर्गेयं च गाथानां पूरयामास वेश्म तत् ॥ ६ ॥
ततः शुचिसमाचाराः पर्युपस्थानकोविदाः । स्त्रीवर्षवरभूयिष्ठा उपतस्थुर्यथा पुरा ॥ ७ ॥
हरिचंदनसंपृक्तमुदकं काञ्चनैर्घटैः । आनिन्युः स्नानशिक्षाज्ञा यथाकालं यथाविधि॥ ८ ॥
मङ्गलालम्भनीयानि प्राशनीयान्युपस्करान् । उपानिन्युस्तथा पुण्याः कुमारीबहुलाः स्त्रियः॥ ९ ॥

त्याग किये ॥७७॥ इस प्रकार कहते हुए तथा बड़ी पीड़ा सहते हुए राजा दसरथने इस प्रकार दुःखी होकर कहा, अपने प्रिय पुत्रको बनवास देनेसे वे नितान्त दुःखी हो गये थे। आधी रातको दुःखसे पीड़ित राजा दसरथने प्राण त्याग किये ॥७८॥

आदिकाव्य वा ल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका चौंसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६४ ॥

रातके बीत जानेपर दूसरे दिन प्रातःकाल ही स्तुति पाठ करनेवाले बन्दी राजाके घर आये ॥१॥ व्याकरण आदिका उत्तम ज्ञान रखनेवाले पुराण कहनेवाले सूत बहुश्रुत वंश-वर्णन करनेवाले मागध, और सुनने-सुनानेमें दक्ष गायक अलग-अलग अपनी-अपनी बात कहते हुए आये ॥२॥ वे राजाकी स्तुति करने लगे, बड़े उत्तम-उत्तम आशीर्वाद देने लगे, उनकी स्तुतिका वह शब्द राजमहलमें फैल गया ॥३॥ सूत हाथ बनाकर राजाकी स्तुति करने लगे और साथ ही राजाके उत्तम उत्तम कार्योंका वर्णन भी करने लगे ॥४॥ उस शब्दसे राजकुलमें वृक्षोंकी शाखाओंपर तथा पिंजड़ेमें रहनेवाले पक्षी जाग गये और बोलने लगे ॥५॥ उन पक्षियोंके कहे हुए पवित्र शब्द, वीणाके शब्द, ब्राह्मणोंकी बनायी गाथाके आशीर्वाद गानसे वह राजभवन भर गया ॥६॥ तदनन्तर शुद्ध आचारवाले, राजसेवामें निपुण, स्त्री नपुंसक आदि पहलेके समान आये ॥७॥ सोनेके घड़ेमें चन्दन मिला हुआ जल, यथासमय नियमानुसार स्नान करानेवाले भृत्य ले आये ॥८॥ स्पर्श करने योग्य मांगलिक वस्तु, मुँह धानेके बाद चाहनेकी चीजें और वस्त्र आभूषण आदि स्त्रियाँ जिनमें कुमारियोंकी संख्या अधिक थी, राजाके पास ले आयीं ॥९॥

सर्वं लक्षणसंपन्नं सर्वं विधिवदर्चितम् । सर्वं सुगुणलक्ष्मीवत्तद्बभूवाभिहारिकम् ॥१०॥
ततः सूर्योदयं यावत्सर्वं परिसमुत्सुकम् । तस्थावनुपसंप्राप्तं किंस्विदित्युपशङ्कितम् ॥११॥
अथ याः कोशलेन्द्रस्य शयनं प्रत्यनन्तराः । ताः स्त्रियस्तु समागम्य भर्तारं प्रत्यबोधयन् ॥१२॥
अथाप्युचितवृत्तास्ता विनयेन नयेन च । नह्यस्य शयनं स्पृष्ट्वा किंचिदप्युपलेभिरे ॥१३॥
ताः स्त्रियः स्वप्नशीलज्ञाश्चेष्टां संचलनादिषु । ता वेपथुपरीताश्च राज्ञः प्राणेषु शङ्किताः ॥१४॥
प्रतिस्रोतस्तृणाग्राणां सदृशं संचकाशिरे । अथ संदेहमानानां स्त्रीणां दृष्ट्वा च पार्थिवम् ।
यत्तदाशङ्कितं पापं तदा जज्ञे विनिश्चयः ॥१५॥
कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकपराजिते । प्रसुप्तेन प्रबुद्ध्येते यथाकालसमन्विते ॥१६॥
निष्प्रभा सा विवर्णा च सन्ना शोकेन संनता । न व्यराजत कौसल्या तारेव तिमिरावृता ॥१७॥
कौसल्यानन्तरं राज्ञः सुमित्रा तदनन्तरम् । न स्म विभ्राजिते देवी शोकाश्रुलुलितानना ॥१८॥
ते च दृष्ट्वा तदा सुप्ते उभे देव्यौ च तं नृपम् । सुप्तमेवोद्गतप्राणमन्तःपुरमदृश्यत ॥१९॥
ततः प्रचुक्रुशुर्दीनाः सस्वरं ता वराङ्गनाः । करेणव इवारण्ये स्थानप्रच्युतयूथपाः ॥२०॥
तासामाक्रन्दशब्देन सहसोद्गतचेतने । कौसल्या च सुमित्रा च त्यक्तनिद्रे बभूवतुः ॥२१॥

प्रातःकाल राजाके पास लायी जानेवाली सब वस्तुएँ—जो सब लक्षणोंसे युक्त थीं, अधिक मात्रामें थीं, उत्तम गुणवाली और सुन्दर थीं - लायी गईं ॥१०॥ सूर्योदय होनेतक राजाके दर्शनके लिये सभी लोग उत्सुक होकर वहीं ठहरे रहे, पर राजाका दर्शन नहीं हुआ इस कारण, यह क्या है, अभी तक राजा क्यों नहीं आये इस बातकी सब लोगोंको शङ्का हुई ॥११॥ जो स्त्रियाँ राजाके शयनस्थानके पास थीं, वे उठकर राजाके यहाँ आयीं और उन्हें उठाने लगीं ॥१२॥ जगानेपर भी जब राजा नहीं जगे, तब उचित व्यवहार करनेवाली उन स्त्रियोंने विनय और अनेक उपायोंसे राजाको स्पर्श किया, पर राजामें कोई भी निद्राके लक्षण नहीं देखे ॥१३॥ निद्राके लक्षण जाननेवाली स्त्रियोंने हृदय और हाथके मूल आदिमें जब नाड़ीका पता नहीं पाया, तब राजाके प्राणोंके विषयमें उन्हें सन्देह हुआ। राजा मर तो नहीं गये, ऐसा सन्देह हुआ और वे काँपने लगीं ॥१४॥ नदीके सोतेके सामने रहनेवाले तृणके समान वे काँपने लगीं। राजाको देखकर स्त्रियोंको जिस अमंगलकी आशङ्का हुई थी, उसका अब निश्चय हो गया ॥१५॥ पुत्र-शोकसे पीड़ित कौसल्या और सुमित्रा मृतकके समान सोयी हुई थीं और वे अबतक नहीं उठ सकी थीं ॥१६॥ शोकसे झुलसी हुई कौसल्याके हाथ पैर छूट गये, वह अन्धकारावृत ताराके समान प्रभाहीन और फिट्ट हो गयीं ॥१७॥ राजाके शोभाहीन होनेपर कौसल्याकी और उसके अनन्तर सुमित्राकी शोभा नष्ट हो गयी, इन दोनोंकी आँखें आँसूसे भर गयीं। अर्थात् मृत राजा दसरथसे कौसल्या और सुमित्राका कोई भेद न था ॥१८॥ सोती हुई कौसल्या और सुमित्रा इन दोनों देवियोंको देखकर तथा राजाको देखकर समस्त अन्तःपुरमें रहनेवाली स्त्रियोंके मानों प्राण निकल गये, सब मृतकके समान हो गयीं ॥१९॥ वे सब दुःखिनी स्त्रियाँ चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगीं, जिस प्रकार यूथपति हाथीके चले जानेसे वनमें हाथिनियाँ दुःखी हो जाती हैं ॥२०॥ उन स्त्रियोंके आर्तनादसे कौसल्या और सुमित्रा होशमें आगयीं,

कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम्। हा भर्तेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीतले ॥२२॥
सा कोसलेन्द्रदुहिता चेष्टमाना महीतले । न भ्राजते रजोध्वस्ता तारेव गगनच्युता ॥२३॥
नृपे शान्तगुणे जाते कौसल्यां पतितां भुवि । अपश्यंस्ताः स्त्रियः सर्वा हतां नागवधूमिव ॥२४॥
ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैकेयीप्रमुखाः स्त्रियः । रुदत्यः शोकसंतप्ता निपेतुर्गतचेतनाः ॥२५॥
ताभिः स बलवान्नादः क्रोशन्तीभिरनुद्रुतः । येन स्फीतीकृतो भूयस्तद्गृहं समनादयत् ॥२६॥
तत्परित्रस्तसंभ्रान्तपर्युत्सुकजनाकुलम् । सर्वतस्तुमुलाक्रन्दं परितापार्तबान्धवम् ॥२७॥
सद्योनिपतितानन्दं दीनं विक्लवदर्शनम् । बभूव नरदेवस्य सद्म दिष्टान्तमीयुषः ॥२८॥
अतीतमाज्ञाय तु पार्थिवर्षभं यशस्विनं तं परिवार्य पत्नयः ।
भृशं रुदन्त्यः करुणं सुदुःखिताः प्रगृह्य बाहू व्यलपन्ननाथवत् ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥६५॥

षट्षष्टितमः सर्गः ६६

तमग्निमिव संशान्तमम्बुहीनमिवार्णवम् । गतप्रभमिवादित्यं स्वर्गस्थं प्रेक्ष्य भूमिपम् ॥ १ ॥
कौसल्या बाष्पपूर्णाक्षी विविधं शोककर्शिता । उपगृह्य शिरो राज्ञः कैकेयीं प्रत्यभाषत ॥ २ ॥

उनकी निद्रा टूट गयी ॥२१॥ कौसल्या और सुमित्रा दोनोंने राजाको देखा, उनका स्पर्श किया, पुनः वे हा भर्ता, कहकर भूमि पर गिर पड़ीं ॥२२॥ कोसलराजकी कन्या वे कौसल्या पृथिवीमें छटपटाने लगीं, आकाशसे गिरी धूल लिपटी ताराके समान उनकी शोभा नष्ट हो गयी ॥२३॥ राजाके मरनेपर पृथिवीमें गिरी हुई कौसल्याको स्त्रियोंने मरी हुई नागवधूके समान देखा ॥२४॥ अनन्तर राजाकी अन्य केकयी आदि स्त्रियाँ शोकसे संतप्त होकर रोने लगीं, पुनः वे बेहोश होकर गिर पड़ीं ॥२५॥ इन रोनेवाली स्त्रियोंके शब्दसे वह शब्द बड़ा हो गया और बढ़कर वह शब्द समस्त राजमहलमें गूंज गया ॥२६॥ वह समस्त घर डरे हुए, घबड़ाये हुए तथा उत्कण्ठित मनुष्योंसे भर गया, चारों तरफ घोर रोदनध्वनी होने लगी, राजाके सभी बन्धु परितापसे पीड़ित हो गये ॥२७॥ स्वर्ग गये राजाके घरका आनन्द जाता रहा, वह घर दीन तथा देखनेसे दुःख उत्पन्न करनेवाला हो गया ॥२८॥ राजश्रेष्ठ यशस्वी राजा मर गये यह जानकर उनकी स्त्रियाँ उन्हें घेरकर बहुत ही दुखित होकर करुण स्वरमें रोने लगीं और परस्पर हाथ पकड़कर अनाथिनीके समान रोने लगीं ॥२९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका पैंसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६५ ॥

बुझी हुई आगके समान, जलहीन समुद्रके समान और प्रभाहीन सूर्यके समान स्वर्गगत राजाको देखकर ॥१॥ शोकपीड़ित आँखोंमें आँसू भरकर तथा राजाका सिर लेकर कौसल्या केकयीसे बोली ॥२॥

सकामा भव कैकेयि भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् । त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा नृशंसे दुष्टचारिणि ॥ ३ ॥
विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम । विपथे सार्थहीनेव नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ४ ॥
भर्तारं तु परित्यज्य का स्त्री दैवतमात्मनः । इच्छेज्जीवितुमन्यत्र कैकेय्यास्त्यक्तधर्मणः ॥ ५ ॥
न लुब्धो बुद्ध्यते दोषान्किंपाकमिव भक्षयन् । कुब्जानिमित्तं कैकेय्या राघवाणां कुलं हतम् ॥ ६ ॥
अनियोगे नियुक्तेन राज्ञा रामं विवासितम् । सभार्यं जनकः श्रुत्वा परितप्स्यत्यहं यथा ॥ ७ ॥
स मामनाथां विधवां नाद्य जानाति धार्मिकः । रामः कमलपत्राक्षो जीवन्नाशमितो गतः ॥ ८ ॥
विदेहराजस्य सुता तथा चारुतपस्विनी । दुःखस्यानुचिता दुःखं वने पर्युद्विजिष्यति ॥ ९ ॥
नदतां भीमघोषाणां निशासु मृगपक्षिणाम् । निशम्यमाना संत्रस्ता राघवं संश्रयिष्यति ॥१०॥
वृद्धश्चैवाल्पपुत्रश्च वैदेहीमनुचिन्तयन् । सोऽपि शोकसमाविष्टो नूनं त्यक्ष्यति जीवितम् ।११।
साहमद्यैव दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता । इदं शरीरमालिङ्ग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥१२॥
तां ततः संपरिष्वज्य विलपन्तीं तपस्विनीम् । व्यपनिन्युः सुदुःखार्तां कौसल्यां व्यावहारिकाः१३
तैलद्रोण्यां तदामात्याः संवेश्य जगतीपतिम् । राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टाश्चक्रुः कर्माण्यनन्तरम् ॥१४॥
न तु संकालनं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः । सर्वज्ञाः कर्तुमीषुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम् ॥१५॥

क्रूर स्वभाव और दुष्टाचरणवाली कैकयी, राजाको इस लोकसे विदा करके तुम निश्चिन्त होकर निर्विघ्न राज्यभोग करो और मनोरथ पूर्ण होनेसे आनन्द मनाओ ॥३॥ रा चन्द्र मुझे छोड़कर गये और मेरे पति स्वर्गगामी हुए, भयानक मार्गमें साथियोंसे रहित पथिकके समान अब मैं जीना नहीं चाहती ॥४॥ अपने देवस्वरूप पतिका परित्याग करके कौनसी स्त्री, स्त्री-धर्मका त्याग करनेवाली कैकयीको छोड़कर, जीना चाहेगी ॥५॥ लोभी मनुष्य दोषोंको नहीं देखता, जिस प्रकार क्रोध आदिके कारण नीमखाने-वालेको उसका कडुआपन नहीं मालूम होता। कैकयीने कुब्जा मन्थराके कारण इस रघुकुलका विनाश किया है ॥६॥ कैकयीके अनुचित हठ मान कर राजाने स्त्रीके साथ रामचन्द्रको वन भेज दिया, इस संवादको सुनकर राजा जनक हमारे ही समान दुःखी होंगे ॥७॥ मैं विधवा होकर अनाथ हो गयी यह बात कमलपत्रके समान नेत्रवाले धार्मिक रामचन्द्र नहीं जानते, वे तो यहाँसे उस देशमें चले गये, जहाँ ऋषियोंका वास होता है ॥८॥ पतिसेवाके लिए तपस्या करनेवाली जनकराजकी कन्या सीता, जो दुःख सहनेके योग्य नहीं है, वनमें दुःख पाकर व्याकुल हो जायगी ॥९॥ भयानक शब्दवाले पशु-पक्षियोंका शब्द रातमें सुनकर वह डर जायगी और रामचन्द्रसे लिपट जायगी ॥१०॥ राजा जनक भी बूढ़े हैं, उन्हें यही एक कन्या है, वे सदा सीताकी चिन्ता करते-करते शोकसे व्याकुल होकर प्राण त्याग कर देंगे ॥११॥ अतएव मैं भी आज ही शरीरत्याग करूँगी, मैं पतिव्रता हूँ, पतिका शरीर लेकर चीतामें प्रवेश करूँगी ॥१२॥ राजाको पकड़कर विलाप करती हुई दुःखिनी कौसल्याको सचिवोंने वहाँसे हटाया ॥१३॥ तेल पूर्ण कड़ाहमें उन सचिवोंने राजाके शरीरको रखा, तथा आगे होनेवाले राजाके कर्मोंको उन लोगोंने वसिष्ठकी आज्ञासे किया ॥१४॥ पुत्रके न रहनेके कारण उन लोगोंने राजाका प्रेत संस्कार करना उचित

तैलद्रोण्यां शायितं तं सचिवैस्तु नराधिपम् । हा मृतोऽयमिति ज्ञात्वा स्त्रियस्ताः पर्यदेवयन् ॥१६॥
बाहूनुच्छ्रित्य कृपणा नेत्रप्रस्रवणैर्मुखैः । रुदत्यः शोकसंतप्ताः कृपणं पर्यदेवयन् ॥१७॥
हा महाराज रामेण संततं प्रियवादिना । विहीनाः सत्यसंधेन किमर्थं विजहासि नः ॥१८॥
कैकेय्या दुष्टभावाया राघवेण विवर्जिताः । कथं सपत्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम् ॥१९॥
स हि नाथः स चास्माकं तव च प्रभुरात्मवान् । वनं रामो गतः श्रीमान्विहाय नृपतिश्रियम् ॥२०॥
त्वया तेन च वीरेण विना व्यसनमोहिताः । कथं वयं निवत्स्यामः कैकेय्या च विदूषिताः ॥२१॥
यया च राजा रामश्च लक्ष्मणश्च महाबलः । सीतया सह संत्यक्ताः सा कमन्यं न हास्यति ॥२२॥
ता बाष्पेण च संवीताः शोकेन विपुलेन च । व्यचेष्टन्त निरानन्दा राघवस्य वरस्त्रियः ॥२३॥
निशा नक्षत्रहीनेव स्त्रीव भर्तृविवर्जिता । पुरी नाराजतायोध्या हीना राज्ञा महात्मना ॥२४॥
बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना । शून्यचत्वरवेश्मान्ता न बभ्राज यथापुरम् ॥२५॥

गते तु शोकात्त्रिदिवं नराधिपे महीतलस्थासु नृपाङ्गनासु च ।
निवृत्तचारः सहसा गतो रविः प्रवृत्तचारा रजनी ह्युपस्थिता ॥२६॥
ऋते तु पुत्राद्दहनं महीपतेर्नारोचयंस्ते सुहृदः समागताः ।
इतीव तस्मिञ्शयने न्यवेशयन्विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥२७॥

नहीं समझा, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे, सब विधि जाननेवाले थे, अतएव उन लोगोंने राजाके शरीरको सुरक्षित रखा ॥१५॥ तैलद्रोणी (तेलसे भरे कड़ाह) में राजाके शरीरको जब सचीवोंने रखा, तब अन्य सब स्त्रियाँ, राजा मर गये यह जानकर, रोने लगीं ॥१६॥ उनकी आँखोंसे पनाला बहने लगा, वे हाथ उठाकर बड़े शोक और दुःखसे रोने लगीं ॥१७॥ महाराज, सत्य प्रतिज्ञ, प्रियवादी रामचन्द्रसे हीन हम लोगोंका त्याग आप क्यों कर रहे हैं ॥१८॥ केकयी बड़े दुष्ट विचारकी है रामचन्द्र भी नहीं हैं अब हम विधवा अपनी सौतके पास कैसे रह सकेंगी ॥१९॥ जो रामचन्द्र सब प्रकारसे समर्थ हैं, धीर हैं, हमारे तथा आपके स्वामी हैं, वे ही रामचन्द्र राज्य लक्ष्मीको छोड़कर वन चले गये ॥२०॥ आप और वीर रामचन्द्रके न रहनेसे हम लोग दुःखविमूढ़ हो गयी हैं, दुःखके कारण हम लोगोंका कर्तव्य-ज्ञान नष्ट हो गया है, इसी कारण हमलोगोंमें अनेक दोष उत्पन्न हो गये हैं, अब हमलोग केकयीके साथ कैसे रह सकेंगी ॥२१॥ जिस केकयीने राजाका, रामका, महाबली लक्ष्मणका तथा सीताका परित्याग किया है, वह और किस-किसका परित्याग न कर सकेगी, ॥२२॥ उन दसरथकी स्त्रियोंका आनन्द नष्ट हो गया था, आँसू बह रहा था, वे शोकमग्न हो रही थीं, उन लोगोंने इसी प्रकारकी बहुतसी बातें कहीं ॥२३॥ नक्षत्रहीन रात्रिके समान, पतिहीन स्त्रीके समान महात्मा राजा दसरथके बिना अयोध्यानगरी श्रीहीन हो गयी ॥२४॥ नगरवासियोंकी आँखोंसे आँसू बहने लगा, वहाँकी स्त्रियाँ हाहाकार करने लगीं, चौक और द्वार शून्य हो गये, उस नगरीकी शोभा पहलेके समान न रही ॥२५॥ शोकसे राजाके स्वर्ग चले जानेपर और महारानियोंके पृथिवीमें हो रहनेपर किरणें समेटकर सूर्य अस्ताचलपर चले गये और अन्धकारके साथ रात आयी ॥२६॥ उस समय आये हुए राजाके मित्रोंने पुत्रके न रहनेके कारण उनका अग्नि संस्कार

गतप्रभा द्यौरिव भास्करं विना व्यपेतनक्षत्रगणेव शर्वरी।
पुरी बभासे रहिता महात्मना कण्ठास्रकण्ठाकुलमार्गचत्वरा ॥२८॥
नराश्च नार्यश्च समेत्य संघशो विगर्हमाणा भरतस्य मातरम्।
तदा नगर्यां नरदेवसंक्षये बभूवुरार्ता न च शर्म लेभिरे ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥६६॥

सप्तषष्टितमः सर्गः ६७

आक्रन्दिता निरानन्दा सास्रकण्ठजनाविला। अयोध्यायामवतता सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥
व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः। समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्विजातयः ॥ २ ॥
मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च कश्यपः। कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महायशाः ॥ ३ ॥
एते द्विजाः सहामात्यैः पृथग्वाचमुदीरयन्। वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम् ॥ ४ ॥
अतीता शर्वरी दुःखं या नो वर्षशतोपमा। अस्मिन्पञ्चत्वमापन्ने पुत्रशोकेन पार्थिवे ॥ ५ ॥
स्वर्गस्थश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः। लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह ॥ ६ ॥
उभौ भरतशत्रुघ्नौ केकयेषु परंतपौ। पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने ॥ ७ ॥

करना उचित नहीं समझा, इसीसे राजाके शरीरको उन लोगोंने सुरक्षित रखा, क्योंकि राजाका अब पुनः दर्शन होनेवाला नहीं था ॥२७॥ सूर्यके बिना प्रभाहीन आकाशके समान, नक्षत्रहीन रात्रिके समान, राजा दसरथके बिना अयोध्यापुरी मालूम होने लगी। वहाँके मार्ग और चौक रोते हुए मनुष्योंसे भर गये ॥२८॥ स्त्रियाँ और पुरुष दल, दलमें एकत्र होकर भरतकी माता केकयीकी निन्दा करने लगे। उस समय राजाके मरनेपर उस नगरीमें सभी लोग दुःखी हुए, कोई भी सुखी न था ॥२९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका छाछठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६६ ॥

उस रातको अयोध्यामें सभी रोते रहे, सभी आनन्दहीन थे, सभीका गला दुःखसे भरा हुआ था, अयोध्यामें वह लम्बी रात इस प्रकार व्यतीत हुई ॥१॥ रातके बीत जाने और सूर्योदय होनेपर राज्यके सभी विभागोंके कार्यकर्ता और ब्राह्मण एकत्र होकर सभामें आये ॥२॥ मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम और महायशस्वी जाबालि ॥३॥ इन सब ब्राह्मणोंने अमात्योंके साथ भिन्न मत प्रकाशित किया, इस प्रकार कुछ निश्चय न हो सका, तब वे सब लोग श्रेष्ठ राजपुरोहित वशिष्ठकी ओर देखने लगे, निर्णयके लिए उनके मतकी अपेक्षा करते हुए बोले ॥४॥ पुत्रशोकसे राजा दसरथके स्वर्गगामी होनेके कारण यह दुःखकी रात सौ वर्षोंके समान भारी बीत गयी ॥५॥ महाराज स्वर्गगामी हुए, रामचन्द्रने वनमें निवास किया, तेजस्वी लक्ष्मण भी रामचन्द्रके साथ ही वन गये ॥६॥ भरत और शत्रुघ्न

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम् । अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात् ॥ ८ ॥
नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः । अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा ॥ ९ ॥
नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते । नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे ॥१०॥
अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके । इदमत्याहितं चान्यत्कुतः सत्यमराजके ॥११॥
नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः । उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि च ॥१२॥
नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः । सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।१३।
नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः । ब्राह्मणा वसुसंपूर्णा विसृजन्त्याप्तदक्षिणाः ॥१४॥
नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः । उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः ॥१५॥
नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिणः । कथाभिरभिरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥१६॥
नाराजके जनपदे तूद्यानानि समागताः । सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः ॥१७॥
नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः । शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः ॥१८॥
नाराजके जनपदे वाहनैः शीघ्रवाहिभिः । नरा निर्यान्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः ॥१९॥
नाराजके जनपदे बद्धघण्टा विषाणिनः । अटन्ति राजमार्गेषु कुञ्जराः षष्टिहायनाः ॥२०॥
नाराजके जनपदे शरान्संततमस्यताम् । श्रूयते तलनिर्घोष इष्वस्त्राणामुपासने ॥२१॥

ये दोनों भी केकय देशमें अपने नानाके नगरमें सुन्दर घरमें हैं ॥७॥ इक्ष्वाकु-वंशियोंमेंका कोई आज ही राजा बनाना चाहिए, क्योंकि हम लोगोंका यह राष्ट्र राजाके न रहनेसे नष्ट हो जायगा ॥८॥ क्योंकि राजहीन देशमें घोर गर्जन करनेवाला विद्युन्माली नामका मेघ पृथिवीपर दिव्य जल नहीं बरसाता ॥९॥ राजहीन देशमें खेत नहीं बोये जा सकते । राजहीन देशमें पिताके अधीन पुत्र और पतिके अधीन स्त्री नहीं रहती ॥१०॥ राजहीन देशमें अपना धन, धन नहीं है, अपनी स्त्री, स्त्री नहीं है, यह बड़े भयकी बात है, फिर उस देशमें सत्य कैसे रह सकता है ॥११॥ राजहीन देशमें निर्णयके लिए मनुष्य पञ्चायत नहीं कर सकते, निश्चिन्त होकर सुन्दर बाग तथा फुलवाड़ी नहीं लगा सकते ॥१२॥ राजहीन देशमें यज्ञ करनेवाले जितेन्द्रिय और व्रतधारी ब्राह्मण यज्ञ नहीं कर सकते ॥१३॥ राजहीन देशमें बड़े यज्ञोंमें यज्ञ करनेवाले धनी ब्राह्मण भी ऋत्विजोंको शास्त्रोक्त दक्षिणा नहीं देते ॥१४॥ राजहीन देशमें नट नर्तक आदि खुश नहीं रहते, देशको उन्नत करनेवाले उत्सव तथा सभाएँ भी नहीं होतीं ॥१५॥ राजहीन देशमें किसी विषयके लिए विवाद करनेवालोंके मनोरथ सिद्ध नहीं होते, अर्थात् उनका यथार्थ निर्णय नहीं होता, कथामें प्रेम रखनेवाले कथा कहनेवालोंकी कथामें अनुराग नहीं रखते ॥१६॥ राजहीन देशमें सायंकालमें कन्याएँ सुवर्णके भूषण पहन कर खेलनेके लिए नहीं जातीं ॥१७॥ राजहीन देशमें धनी लोग जो कृषि और गोरक्षासे जीते हैं सुरक्षित नहीं रहते, वे द्वार खोलकर रातको अपने घरों में नहीं सो सकते ॥१८॥ राजहीन देशमें कामी पुरुष स्त्रियोंके साथ शीघ्र चलनेवाले वाहनोंपर चढ़कर जङ्गलमें नहीं जा सकते ॥१९॥ राजहीन देशमें दँतैले साठ वर्षके हाथी घंटा बाँधकर सड़कोंपर नहीं चलते ॥२०॥ राजहीन देशमें लक्ष्यपर शर

नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः । गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः ॥२२॥
नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी । भावयन्नात्मनात्मानं यत्र सायंगृहो मुनिः ॥२३॥
नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते । न चाप्यराजके सेना शत्रून्विषहते युधि ॥२४॥
नाराजके जनपदे हृष्टैः परमवाजिभिः । नराः संयान्ति सहसा रथैश्च प्रतिमण्डिताः ॥२५॥
नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः । संवदन्तोपतिष्ठन्ते वनेषूपवनेषु वा ॥२६॥
नाराजके जनपदे माल्यमोदकदक्षिणाः । देवताभ्यर्चनार्थाय कल्प्यन्ते नियतैर्जनैः ॥२७॥
नाराजके जनपदे चन्दनागुरुरूषिताः । राजपुत्रा विराजन्ते वसन्ते इव शालिनीः ॥२८॥
यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाप्यतृणं वनम् । अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥२९॥
ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं धूमो ज्ञानं विभावसोः । तेषां यो नो ध्वजो राजा स देवत्वमितो गतः ॥३०॥
नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् । मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥३१॥
ये हि संभिन्नमर्यादा नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः । तेऽपि भावाय कल्पन्ते राजदण्डनिपीडिताः ॥३२॥
यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते । तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः ॥३३॥
राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम् । राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥३४॥
यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः । विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता ततः ॥३५॥

फकनेवालोंका बाणविद्याके अभ्यासके समयका ताल ठोकनेका शब्द नहीं सुनायी पड़ता ॥२१॥ राजहीन देशमें बहुत दूर जानेवाले बनिए बेचनेकी बहुत सी वस्तु लेकर कुशलपूर्वक मार्गमें नहीं जा सकते ॥२२॥ राजहीन देशमें अकेला चलनेवाला जितेन्द्रिय मुनि अन्तःकरणमें परमात्माका चिन्तन करता हुआ जहाँ उसे सन्ध्या होती है वहीं निवास करता है ॥२३॥ राजहीन देशमें मनुष्यको लाभ नहीं होता और न उसकी वस्तुओंकी रक्षा ही होती है, अराजक देशमें सेना शत्रुओंका सामना भी नहीं कर सकती ॥२४॥ राजहीन देशमें भूषित होकर मनुष्य बलवान् घोड़ोंपर या रथपर चढ़कर नहीं चल सकते ॥२५॥ राजहीन देशमें शास्त्रज्ञ मनुष्य वन तथा उपवनमें शास्त्रार्थ करते हुए आपसमें नहीं मिलते ॥२६॥ राजहीन देशमें मनको वशमें रखनेवाले मनुष्योंके द्वारा देवताकी पूजाके लिए माला लड्डू और दक्षिणा नहीं दी जाती ॥२७॥ राजहीन देशमें चन्दन अगरुसे भूषित राजपुत्र वसन्तके शस्यके समान नहीं शोभित होते ॥२८॥ बिना जलकी नदियाँ, बिना घासका वन और बिना गोपालकी गौ जैसी होती हैं, वैसी ही राजहीन राष्ट्र होता है ॥२९॥ रथ ध्वजाके द्वारा पहचाना जाता है, धूमसे अग्निका ज्ञान होता है, हम लोगोंका ज्ञान जिस राजासे होता था, वे राजा यहाँसे स्वर्ग चले गये ॥३०॥ राजहीन राष्ट्रमें मनुष्यका कुछ भी अपना नहीं होता । मछलियोंके समान मनुष्य परस्पर खा जाते हैं ॥३१॥ वर्णाश्रमकी मर्यादा जिन्होंने तोड़ दी है जिन्हें पहले राजदण्ड दिया जाता था, वे नास्तिक शंकारहित होकर प्रभावशाली हो जाते हैं ॥३२॥ जिस प्रकार दृष्टि शरीरके हित करने और अहित दूर करनेमें सदा लगी रहती है, उसी प्रकार राजा राष्ट्रके सत्य और धर्मका प्रवर्तक है ॥३३॥ राजा सत्य है, धर्म है, राजा कुलवानोंका कुल है, राजा माता पिता है, राजा मनुष्योंका हितकारी है ॥३४॥ बड़े चरित्रबलसे युक्त राजासे यम, कुबेर, इन्द्र और महाबली

अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किंचन। राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन्साध्वसाधुनी ॥३६॥
जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम्। नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः ॥३७॥
स नः समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं नृपं विना राष्ट्रमरण्यभूतम्।
कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं त्वमेव राजानमिहाभिषेचय ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥६७॥

अष्टषष्टितमः सर्गः ६८

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा वसिष्ठः प्रत्युवाच ह। मित्रामात्यजनान्सर्वान्ब्राह्मणांस्तानिदं वचः ॥ १ ॥
यदसौ मातुलकुले दत्तराज्यः परं सुखी। भरतो वसति भ्रात्रा शत्रुघ्नेन मुदान्वितः ॥ २ ॥
तच्छीघ्रं जवना दूता गच्छन्तु त्वरितं हयैः। आनेतुं भ्रातरौ वीरौ किं समीक्षामहे वयम् ॥ ३ ॥
गच्छन्त्विति ततः सर्वे वसिष्ठं वाक्यमब्रुवन्। तेषां तद्वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥
एहि सिद्धार्थ विजय जयन्ताशोकनन्दन। श्रूयतामितिकर्तव्यं सर्वानेव ब्रवीमि वः ॥ ५ ॥
पुरं राजगृहं गत्वा शीघ्रं शीघ्रजवैर्हयैः। त्यक्तशोकैरिदं वाच्यः शासनाद्भरतो मम ॥ ६ ॥
पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः। त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ७ ॥

इन्द्र भी छोटे ही हैं ॥३५॥ साधु और असाधु अच्छे या बुरेका विभाग करनेवाला राजा यदि लोकमें न होता तो अन्धकारयुक्त दिनके समान कुछ भी मालूम न पड़ता ॥३६॥ राजाके जीवन कालमें भी हमलोग आपकी बातोंका उल्लङ्घन नहीं करते थे, जिस प्रकार समुद्र तटका अतिक्रमण नहीं करता ॥३७॥ अतएव द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठ, आपके साथ हम लोगोंका जो व्यवहार है उसे देखकर, तथा राजाके बिना वन बना हुआ इस देशको देखकर, इक्ष्वाकुवंशी कुमारको तथा किसी दूसरेको आप ही यहाँ राजा बनावें ॥३८॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सड़सठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६७ ॥

मार्कण्डेय आदि ब्राह्मणोंके वचन सुनकर वसिष्ठने मित्रों, अमात्यों तथा ब्राह्मणोंको ऐसा उत्तर दिया ॥१॥ जिन भरतको राजाने राज्य दिया है, वे भरत इस समय मामाके घर भाईके साथ सुखपूर्वक निवास करते हैं ॥२॥ इस कारण शीघ्र ही वेगवाले दूत दोनों वीर भाइयोंको बुला लानेके लिए तेज घोड़ोंपर जाँय, इसमें हम लोगोंको विचार क्या करना है अर्थात राजाने ही भरतको राज्य दिया है ॥३॥ सब लोगोंने कहा कि दूत भेजे जाँय। उनके वचन सुनकर वशिष्ठ पुनः बोले ॥४॥ सिद्धार्थ, विजय, जयन्त, अशोक, नन्दन आप सब लोग अपना कर्तव्य सुनें मैं आप सब लोगोंसे कह रहा हूँ ॥५॥ शीघ्र चलनेवाले घोड़ोंके द्वारा शीघ्र राजगृह नामक नगरमें जाकर और शोक त्यागकर मेरी आज्ञासे भरतसे यह कहना ॥६॥ पुरोहितने तुमको कुशल कहा है, सब मन्त्रियोंने भी कुशल कहा है, शीघ्रतापूर्वक यहाँसे

मा चास्मै प्रोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम् । भवन्तः शंसिषुर्गत्वा राघवाणामितः क्षयम् ॥ ८ ॥
कौशेयानि च वस्त्राणि भूषणानि वराणि च । क्षिप्रमादाय राज्ञश्च भरतस्य च गच्छत ॥ ९ ॥
दत्तपथ्यशना दूता जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम् । केकयांस्ते गमिष्यन्तो हयानारुह्य संमतान् ॥१०॥
ततः प्रास्थानिकं कृत्वा कार्यशेषमनन्तरम् । वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञाता दूताः संत्वरितं ययुः ॥११॥
न्यन्तेनापरतालस्य प्रलम्बस्योत्तरं प्रति । निषेवमाणास्ते जग्मुर्नदीं मध्येन मालिनीम् ॥१२॥
ते हास्तिनपुरे गङ्गां तीर्त्वा प्रत्यङ्मुखा ययुः । पञ्चालदेशमासाद्य मध्येन कुरुजाङ्गलम् ॥१३॥
सरांसि च सुफुल्लानि नदीश्च विमलोदकाः । निरीक्षमाणा जग्मुस्ते दूताः कार्यवशाद्द्रुतम्॥१४॥
ते प्रसन्नोदकां दिव्यां नानाविहगसेविताम् । उपातिजग्मुर्वेगेन शरदण्डां जलाकुलाम् ॥१५॥
निकूलवृक्षमासाद्य दिव्यं सत्योपयाचनम् । अभिगम्याभिवाद्यं तं कुलिङ्गां प्राविशन्पुरीम् ॥१६॥
अभिकालं ततः प्राप्य तेजोभिभवनाच्च्युताः । पितृपैतामहीं पुण्यां तेरुरिक्षुमतीं नदीम् ॥१७॥
अवेक्ष्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान्वेदपारगान् । ययुर्मध्येन बाल्हीकान्सुदामानं च पर्वतम् ॥१८॥
विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम् । नदीर्वापीतटाकानि पल्वलानि सरांसि च ॥१९॥
पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहान्व्याघ्रान्मृगान्द्विपान् । ययुः पथातिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥२०॥

चलो, तुमसे आवश्यक काम है ॥७॥ तुम लोग भरतसे यह न कहना कि रामचन्द्र वन गये हैं, उनसे पिताकी मृत्युकी भी बात मत कहना और न इन कारणोंसे रघुवंशियोंका जो सर्वनाश हो गया है वह भी न कहना ॥८॥ राजा केकयराजके लिए और भरतके लिए रेशमी वस्त्र तथा उत्तम भूषण लेकर तुम लोग शीघ्र जाओ ॥९॥ केकय देशको जानेवाले वे दूत घोड़ोंपर चढ़कर मार्गमें खाने आदिकी सामग्री लेकर अपने-अपने घर गये ॥१०॥ प्रस्थानके समयके मङ्गल कृत्य करके तथा यात्रामें उपयोगी चीजें लेकर पुनः वशिष्ठकी आज्ञा लेकर शीघ्रतापूर्वक चले ॥११॥ अपरताल नामक देशके दक्षिणकी ओरसे तथा प्रलम्ब नामक देशके उत्तरकी ओरसे अर्थात् दोनों देशोंके बीचसे मालिनी नदीके तीर-तीर चले ॥१२॥ वे दूत हस्तिनापुरमें गङ्गा पार करके पश्चिमकी ओर चले, यहाँसे पाञ्चाल देशमें जाकर कुरुजाङ्गल देशके बीचसे वे चले ॥१३॥ प्रफुल्ल कमलवाले तालाब और निर्मल जलवाली नदियाँ देखते हुए वे कार्यवश शीघ्रतापूर्वक चले ॥१४॥ वे प्रसन्न जलवाली, नाना पक्षियोंसे सेवित और जलसे भरी शरदण्डा नामकी नदीके तीर गये ॥१५॥ वे शरदण्डाके पश्चिम तीरवाले दिव्य वृक्षके पास गये, इस वृक्षसे जो प्रार्थना की जाती है वह सत्य होती है, उस वृक्षको प्रणाम करके वे कुलिङ्गा नामकी नगरीमें गये ॥१६॥ तेजोभि-भवन नामक स्थानसे चलकर वे अभिकाल नामक गाँवमें पहुँचे, तदनन्तर उन लोगोंने इक्ष्वाकुवंशियोंके पिता पितामहोंकी पवित्र इक्षुमति नदीको पार किया ॥१७॥ अञ्जलि भर जल पीकर तपस्या करनेवाले ब्राह्मणोंको देखकर वाल्हीक देशके मध्यसे होते हुए वे सुदामा नामक पर्वतपर गये ॥१८॥ विष्णुके चरणाङ्कित स्थान विपाशा नदी, उसके तीरका शाल्मली (सेमर) का वृक्ष, नदी, बावली, तालाब, छोटे तालाब, झीलको तथा, ॥१९॥ अनेक प्रकारके सिंह, व्याघ्र, मृग और हाथियोंको देखते हुए, स्वामीकी

ते श्रान्तवाहना दूता विकृष्टेन सता पथा । गिरिव्रजं पुरवरं शीघ्रमासेदुरञ्जसा ॥२१॥
भर्तुः प्रियार्थं कुलरक्षणार्थं भर्तुश्च वंशस्य परिग्रहार्थम् ।
अहेडमानास्त्वरया स्म दूता रात्र्यां तु ते तत्पुरमेव याताः ॥२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे ऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः ६९

यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम् । भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः ॥ १ ॥
व्युष्टामेव तु तां रात्रिं दृष्ट्वा तं स्वप्नमप्रियम् । पुत्रो राजाधिराजस्य सुभृशं पर्यतप्यत ॥ २ ॥
तप्यमानं तमाज्ञाय वयस्याः प्रियवादिनः । आयासं विनयिष्यन्तः सभायां चक्रिरे कथाः ॥ ३ ॥
वादयन्ति तदा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे । नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च ॥ ४ ॥
स तैर्महात्मा भरतः सखिभिः प्रियवादिभिः । गोष्ठीहास्यानि कुर्वद्भिर्न प्राहृष्यत राघवः ॥ ५ ॥
तमब्रवीत्प्रियसखो भरतं सखिभिर्वृतम् । सुहृद्भिः पर्युपासीनः किं सखे नानुमोदसे ॥ ६ ॥
एवं ब्रुवाणं सुहृदं भरतः प्रत्युवाच ह । शृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम् ॥ ७ ॥
स्वप्ने पितरमद्राक्षं मलिनं मुक्तमूर्धजम् । पतन्तमद्रिशिखरात्कलुषे गोमये ह्रदे ॥ ८ ॥

आज्ञा पूर्ण करनेके लिए बहुत लम्बे रास्तेसे चले ॥२०॥ वे दूत निर्विघ्नतापूर्वक लम्बे रास्तेको तय करते हुए शीघ्रतापूर्वक गिरिव्रज नामक उत्तम नगरमें पहुँचे। उनके घोड़े थक गये थे ॥२१॥ वसिष्ठकी प्रसन्नताके लिए, प्रजाकी रक्षाके लिये तथा दसरथके वंशजके राज्य ग्रहण करनेके लिए आदरपूर्वक शीघ्रतासे वे दूत उसी रातको उस नगरमें गये ॥२२॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका अड़सठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६८ ॥

उन दूतोंने जिस रातको उस गिरिव्रज नामक नगरीमें प्रवेश किया, उसी रातको भरतने एक अशुभ स्वप्न देखा ॥१॥ प्रातःकाल होते ही उस रातको देखे हुए अशुभ स्वप्नसे राजाधिराज दसरथके पुत्र बहुत ही दुःखी हुए, ॥२॥ भरत दुःखी हैं यह जानकर उनके प्रियवादी मित्र उनका दुःख दूर करनेके लिए तरह-तरहकी कथाएँ कहने लगे ॥३॥ भरतकी शान्तिके लिए कई लोग बीणा बजाने लगे, कई नाच कराने लगे, कई हास्यरस प्रधान अनेक नाटक कहने लगे ॥४॥ उन प्रिय करनेवाले मित्रोंके द्वारा गोष्ठीके उचित हँसी करनेपर भी महात्मा भरत प्रसन्न नहीं हुए ॥५॥ मित्रोंसेयुक्त भरतसे उनके एक प्रिय मित्रने कहा—आप मित्रोंके साथ बैठे हैं, फिर भी प्रसन्न क्यों नहीं हैं ॥६॥ मित्रके ऐसा कहनेपर भरतने उत्तर दिया—सुनो, जिस कारणसे मैं ऐसा दुःखी हूँ ॥७॥ मैंने स्वप्नमें पिताको देखा है, वे मुरझाये हुए थे, उनके बाल

प्लवमानश्च मे दृष्टः स तस्मिन्गोमये ह्रदे । पिबन्नञ्जलिना तैलं हसन्निव मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥
ततस्तिलौदनं भुक्त्वा पुनः पुनरधःशिराः । तैलेनाभ्यक्तसर्वाङ्गस्तैलमेवान्वगाहत ॥१०॥
स्वप्नेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं च पतितं भुवि । उपरुद्धां च जगतीं तमसेव समावृताम् ॥११॥
औपवाह्यस्य नागस्य विषाणं शकलीकृतम् । सहसा चापि संशान्ता ज्वलिता जातवेदसः ॥१२॥
अवदीर्णां च पृथिवीं शुष्कांश्च विविधान्द्रुमान् । अहं पश्यामि विध्वस्तान्सधूमांश्चैव पर्वतान् ॥१३॥
पीठे कार्ष्णायसे चैव निषण्णं कृष्णवाससम् । प्रहरन्ति स्म राजानं प्रमदाः कृष्णपिङ्गलाः ॥१४॥
त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः । रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः ॥१५॥
प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी । प्रकर्षन्ती मया दृष्टा राक्षसी विकृतानना ॥१६॥
एवमेतन्मया दृष्टमिमां रात्रिं भयावहाम् । अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति ॥१७॥
नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि । अचिरात्तस्य धूमाग्रं चितायां सम्प्रदृश्यते ॥१८॥
एतन्निमित्तं दीनोऽहं न वचः प्रतिपूजये । शुष्यतीव च मे कण्ठो न स्वस्थमिव मे मनः ॥१९॥
न पश्यामि भयस्थानं भयं चैवोपधारये । भ्रष्टश्च स्वरयोगो मे छाया चापगता मम ।
जुगुप्स इव चात्मानं न च पश्यामि कारणम् ॥२०॥

खुले हुए थे, पर्वतके शिखरसे गोबर भरे हुए तालाबमें वे गिर पड़े हैं ॥८॥ वे उस गोबरके तालाबमें तैरने लगे, वे अंजलिसे तेल पीते थे और बार-बार हँसते थे ॥९॥ पुन. तिल और चावल उन्होंने खाया, उनका शिर निचे हो गया, उनके समस्त शरीरमें तेल लगाया गया और वे तेलमें ही डुबाए गये ॥१०॥ स्वप्नमें मैंने देखा कि समुद्र सूख गया है, चन्द्रमा पृथिवीपर गिर पड़े हैं, समस्त संसार राक्षसोंसे पीड़ित हुआ है और अन्धकारसे ढँक गया है ॥११॥ राजाकी सवारीके हाथीके दाँत चूर-चूर हो गये हैं, धधकती हुई आग सहसा बुझ गयी है ॥१२॥ मैंने देखा है कि पृथिवी फट गयी है, बहुतसे वृक्ष सूख गये हैं, पर्वत गिर गये हैं और उनमेंसे धूँआ निकल रहा है ॥१३॥ मैंने देखा है कि लोहेके पीढ़ापर काले वस्त्र पहनकर मेरे पिता बैठे हैं और काली तथा धूसर रंगकी स्त्रियाँ उन्हें मार रही हैं ॥१४॥ धर्मात्मा राजा लाल माला तथा लाल चन्दन धारण किये हुए हैं और गधेके रथपर बैठकर शीघ्रतापूर्वक दक्षिणकी ओर गये हैं ॥१५॥ मैंने स्वप्नमें देखा है कि लाल वस्त्र पहने हुए भयानक मुखवाली एक राक्षसी राजाको खींच रही है और वह हँस रही है ॥१६॥ इस भयानक रात्रिको मैंने ऐसे स्वप्न देखे हैं। मैं, रामचन्द्र, राजा दशरथ या लक्ष्मण इनमेंसे कोई-न-कोई अवश्य मरेगा ॥१७॥ स्वप्नमें गधेके रथपर चढ़कर जाता हुआ जो मनुष्य दीख पड़ा, शीघ्र ही उसकी चितासे धूँआ उठता दिखायी पड़ता है अर्थात् वह मर जाता है ॥१८॥ इसी कारण मैं दुःखी हूँ, आप लोगोंकी बातोंका आदर मैं नहीं करता। मेरा गला सूख रहा है, मन भी चञ्चल है ॥१९॥ भयका कोई कारण नहीं है, फिर भी मुझे भय मालूम पड़ता है, मेरी आवाज धीमी पड़ गयी है, मेरी कान्ति भी नष्ट हो गयी है। अपनेको धिक्कार दे रहा हूँ, पर कारण कुछ

इमां च दुःस्वप्नगतिं निशम्य हि त्वनेकरूपामवितर्कितां पुरा ।
भयं महत्तद्धृदयान्न याति मे विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥२१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः ७०

भरते ब्रुवति स्वप्नं दूतास्ते क्लान्तवाहनाः । प्रविश्यासह्यपरिखं रम्यं राजगृहं पुरम् ॥ १ ॥
समागम्य च राज्ञा ते राजपुत्रेण चार्चिताः । राज्ञः पादौ गृहीत्वा च तमूचुर्भरतं वचः ॥ २ ॥
पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः । त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ३ ॥
इमानि च महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च । प्रतिगृह्य विशालाक्ष मातुलस्य च दापय ॥ ४ ॥
अत्र विंशतिकोट्यस्तु नृपतेर्मातुलस्य ते । दशकोट्यस्तु संपूर्णास्तथैव च नृपात्मज ॥ ५ ॥
प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं स्वनुरक्तः सुहृज्जने । दूतानुवाच भरतः कामैः संप्रतिपूज्य तान् ॥ ६ ॥
कच्चित्स कुशली राजा पिता दशरथो मम । कच्चिदारोग्यता रामे लक्ष्मणे च महात्मनि ॥ ७ ॥
आर्या च धर्मनिरता धर्मज्ञा धर्मवादिनी । अरोगा चापि कौसल्या माता रामस्य धीमतः ॥ ८ ॥
कच्चित्सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या । शत्रुघ्नस्य च वीरस्य अरोगा चापि मध्यमा ॥ ९ ॥

भी दीख नहीं पड़ता ॥२०॥ ऐसे ही अनेक दुःस्वप्न मैंने देखे हैं, पहले इनके संबन्धमें मैंने कुछ भी नहीं सोचा था, इसी कारण मेरे हृदयमें बड़ा भारी भय बैठ गया है, मैं सोच रहा हूँ कि राजाके दर्शन अब न होंगे ॥२१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६९ ॥

भरत इस प्रकार अपने स्वप्नका वृत्तान्त कह रहे थे, उसी समय दूत उस रमणीय नगरमें—खाईके कारण जिसमें प्रवेश करना कठिन है—आये, उन दूतोंके वाहन थके हुए थे ॥१॥ आये हुए उन दूतोंका राजा और राजपुत्र भरतने सत्कार किया। वे राजाको प्रणाम करके भरतसे बोले ॥२॥ पुरोहित वसिष्ठने तुम्हारी कुशल पूछी है और सब मन्त्रियोंने कुशल पूछी है, तुम शीघ्र यहाँसे चलो, तुमसे आवश्यक काम है ॥३॥ इन बहुमूल्य वस्त्रों और भूषणोंको लेकर तुम अपने मामाको दिलवा दो ॥४॥ इन वस्तुओं-मेंसे बीस करोड़ राजा (आपके नाना) के लिये हैं और दस करोड़ आपके मामाके लिये ॥५॥ दूतोंका दिया हुआ सब वस्त्र आभूषण आदि लेकर भरतने अपने हितकारी मामा आदिको दे दिये, दूतोंको आवश्यक वस्तुओंसे सन्तुष्ट करके वे उनसे बोले ॥६॥ मेरे पिता राजा दसरथ तो कुशलसे हैं महात्मा राम और लक्ष्मण निरोग तो हैं ॥७॥ धर्म करनेवाली और धर्म जाननेवाली और धर्मका उपदेश देनेवाली आर्या कौसल्या, जो बुद्धिमान रामकी माता हैं, निरोग तो हैं ॥८॥ धर्म जाननेवाली लक्ष्मण और शत्रुघ्नकी

आत्मकामा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमानिनी। अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह ॥१०॥
एवमुक्तास्तु ते दूता भरतेन महात्मना । ऊचुः संप्रश्रितं वाक्यमिदं तं भरतं तदा ॥११॥
कुशलास्ते नरव्याघ्र येषां कुशलमिच्छसि । श्रीश्च त्वां वृणुते पद्मा युज्यतां चापि ते रथः ॥१२॥
भरतश्चापि तान्दूतानेवमुक्तोऽभ्यभाषत । आपृच्छेऽहं महाराजं दूताः संत्वरयन्ति माम् ॥१३॥
एवमुक्त्वा तु तान्दूतान्भरतः पार्थिवात्मजः । दूतैः संचोदितो वाक्यं मातामहमुवाच ह ॥१४॥
राजन्पितुर्गमिष्यामि सकाशं दूतचोदितः । पुनरप्यहमेष्यामि यदा मे त्वं स्मरिष्यसि ॥१५॥
भरतेनैवमुक्तस्तु नृपो मातामहस्तदा । तमुवाच शुभं वाक्यं शिरस्याघ्राय राघवम् ॥१६॥
गच्छ तातानुजाने त्वां कैकेयी सुप्रजास्त्वया । मातरं कुशलं ब्रूयाः पितरं च परंतप ॥१७॥
पुरोहितं च कुशलं ये चान्ये द्विजसत्तमाः । तौ च तात महेष्वासौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥१८॥
तस्मै हस्त्युत्तमांश्चित्रान्कम्बलानजिनानि च । सत्कृत्य केकयो राजा भरताय ददौ धनम् ॥१९॥
अन्तःपुरेऽतिसंवृद्धान्व्याघ्रवीर्यबलोपमान् । दंष्ट्रायुक्तान्महाकायाञ्शुनश्चोपायनं ददौ ॥२०॥
रुक्मनिष्कसहस्रे द्वे षोडशाश्वशतानि च । सत्कृत्य कैकयीपुत्रं केकयो धनमादिशत् ॥२१॥
तदामात्यानभिप्रेतान्विश्वास्यांश्च गुणान्वितान् । ददावश्वपतिः शीघ्रं भरतायानुयायिनः ॥२२॥
ऐरावतानैन्द्रशिरान्नगान्वै प्रियदर्शनान् । खराञ्शीघ्रान्सुसंयुक्तान्मातुलोऽस्मै धनं ददौ ।२३।

माता मेरी मझली माँ सुमित्रा तो निरोग हैं ॥९॥ अपना मनोरथ साधनेवाली, सदा क्रोधसे भरी रहने-वाली और अपनेको बुद्धिमती समझनेवाली मेरी माता केकयी निरोग तो हैं, उन्होंने क्या कहा है ॥१०॥ महात्मा भरतके ऐसा पूछनेपर वे दूत विनयपूर्वक भरतसे यह वचन बोले ॥११॥ हे नरश्रेष्ठ, वे सब कुशलसे हैं जिनका कुशल तुम चाहते हो, कमलहस्ता लक्ष्मी तुम्हारा वरण कर रही हैं, तुम रथ जुतवाओ ॥१२॥ दूतोंके ऐसा कहनेपर भरतने कहा कि मैं महाराजसे आज्ञा लेता हूँ, उनसे कहता हूँ कि दूत मुझे शीघ्र जानेके लिए कह रहे हैं ॥१३॥ राजकुमार भरत दूतोंसे ऐसा कहकर, दूतोंकी प्रेरणासे अपने नानासे इस प्रकार बोले ॥१४॥ राजन्, दूतोंके कहनेसे मैं अपने पिताके पास जाता हूँ, जब आप मेरा स्मरण करेंगे, मुझे बुलावेंगे तब पुनः मैं आऊँगा ॥१५॥ भरतके ऐसा कहनेपर भरतके नाना केकयराज उनका सिर सूँघकर यह शुभ वचन उनसे बोले ॥१६॥ तात, जाओ, मैं तुम्हें जानेकी आज्ञा देता हूँ, केकयी तुमसे सुपुत्रवाली है । शत्रुतापन अपने पितासे और अपनी मातासे यहाँकी कुशल कहना ॥१७॥ पुरोहित वशिष्ठसे कुशल कहना, अन्य श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे भी कुशल कहना, महाधनुर्धारी दोनों भाई राम और लक्ष्मणसे भी यहाँकी कुशल कहना ॥१८॥ केकयराजने भरतका सत्कार करके उत्तम हाथी, सुन्दर कम्बल, मृग आदिके चर्म तथा धन उनको दिये ॥१९॥ अन्तःपुरमें बड़े यत्नसे पाले गये बाघके समान पराक्रमी और बलवान दाँतवाले बड़े-बड़े कुत्ते उन्होंने भरतको भेंटमें दिये ॥२०॥ दो हजार सोनेका निष्क औ सोलह सौ घोड़े सत्कारपूर्वक केकयीपुत्र भरतको केकय राजाने दिये ॥२१॥ अपने प्रिय विश्वासी और गुणी सचिवोंको भरतके साथ जानेके लिए राजा अश्वपतिने भेजा ॥२२॥ भरतके मामाने उन्हें ऐरावत वंशके तथा इन्द्रसिर

स दत्तं केकयेन्द्रेण धनं तन्नाभ्यनन्दत । भरतः कैकयीपुत्रो गमनत्वरया तदा ॥२४॥
बभूव ह्यस्य हृदये चिन्ता सुमहती तदा । त्वरया चापि दूतानां स्वप्नस्यापि च दर्शनात् ॥२५॥
स स्ववेश्माभ्यतिक्रम्य नरनागाश्वसंकुलम् । प्रपेदे सुमहच्छ्रीमान्राजमार्गमनुत्तमम् ॥२६॥
अभ्यतीत्य ततोऽपश्यदन्तःपुरमनुत्तमम् । ततस्तद्भरतः श्रीमानाविवेशानिवारितः ॥२७॥
स मातामहमापृच्छ्य मातुलं च युधाजितम् । रथमारुह्य भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥२८॥
रथान्मण्डलचक्रांश्च योजयित्वा परं शतम् । उष्ट्रगोऽश्वखरैर्भृत्या भरतं यान्तमन्वयुः ॥२९॥

बलेन गुप्तो भरतो महात्मा सहार्यकस्यात्मसमैरमात्यैः ।
आदाय शत्रुघ्नमपेतशत्रुर्गृहाद्ययौ सिद्ध इवेन्द्रलोकात् ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः ७१

स प्राङ्मुखो राजगृहादभिनिर्याय वीर्यवान् । ततः सुदामां द्युतिमान्संतीर्यावेक्ष्य तां नदीम् ॥ १ ॥
ह्लादिनीं दूरपारां च प्रत्यक्स्रोतस्तरंगिणीम् । शतद्रुमतरच्छ्रीमान्नदीमिक्ष्वाकुनन्दनः ॥ २ ॥
ऐलधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्वतान् । शिलामाकुर्वन्तीं तीर्त्वा आग्नेयं शल्यकर्षणम्॥ ३ ॥

देशसे हाथी और शिक्षित तथा तेज चलनेवाले खच्चर दिये ॥२३॥ जानेकी जल्दीके कारण केकयीपुत्र भरत केकयराजके दिये हुए उस धनसे प्रसन्न नहीं हुए ॥२४॥ उस समय भरतके हृदयमें बड़ी चिन्ता हो गयी थी, क्योंकि एक तो दूत चलनेकी शीघ्रता कर रहे थे और दूसरे दुःखस्वप्न देखा था ॥२५॥ मनुष्य, हाथी और घोड़ोंसे भरे हुए उस राजमहलसे निकलकर श्रीमान् भरत विशाल और उत्तम सड़कपर आये ॥२६॥ उस सड़कको पारकर भरतने उत्तम रनिवासको देखा, तदनन्तर श्रीमान् भरतने बिना रोक-टोकसे उस राजमहलमें प्रवेश किया ॥२७॥ अपने नाना तथा मामा युधाजितसे पूछकर शत्रुघ्नके साथ रथपर चढ़कर चले ॥२८॥ गोल पहियावाले सैकड़ों रथोंमें ऊँट, घोड़े तथा खच्चर जोतकर भरतके भृत्य उनके पीछे-पीछे चले ॥२९॥ नानाकी भेजी हुई सेनासे रक्षित भरत नानाके समान उनके सचिवोंके साथ शत्रुघ्नको लेकर नानाके घरसे चले, जैसे इन्द्रलोकसे सिद्ध चलते हों ॥३०॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७० ॥

राजगृह नामक नगरसे चलकर पराक्रमी भरत पूर्वकी ओर चले। उन्होंने सुदामा नामकी नदीको पार किया और उसकी शोभा देखी ॥१॥ चौड़े पारवाली तथा पश्चिमकी ओर बहनेवाली ह्लादिनी नदीको पारकर इक्ष्वाकुनन्दन भरतने शतद्रु नदीको पार किया ॥२॥ ऐलधान नामक गाँवके पासवाली नदीको पारकर भरत अपरपर्वत नामक प्रान्तमें आये, वहाँकी शिला नामकी नदीको पारकर आग्नेय और शल्य-

सत्यसंधः शुचिर्भूत्वा प्रेक्षमाणः शिलावहाम् । अभ्यगात्स महाशैलान्वनं चैत्ररथं प्रति ॥ ४ ॥
सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रतिपद्य च । उत्तरान्वीरमत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद्वनम् ॥ ५ ॥
वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां ह्लादिनीं पर्वतावृताम् । यमुनां प्राप्य संतीर्णो बलमाश्वासयत्तदा ॥ ६ ॥
शीतीकृत्वा तु गात्राणि क्लान्तानाश्वास्य वाजिनः । तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥७॥
राजपुत्रो महारण्यमनभीक्ष्णोपसेवितम् । भद्रो भद्रेण यानेन मारुतः खमिवात्यगात् ॥ ८ ॥
भागीरथीं दुष्प्रतरां सोंऽशुधाने महानदीम् । उपायाद्राघवस्तूर्णं प्राग्वटे विश्रुते पुरे ॥ ९ ॥
स गङ्गां प्राग्वटे तीर्त्वा समयात्कुटिकोष्टिकाम् । सबलस्तां स तीर्त्वाथ समगाद्धर्मवर्धनम् ॥१०॥
तोरणं दक्षिणार्धेन जम्बूप्रस्थं समागतम् । वरूथं च ययौ रम्यं ग्रामं दशरथात्मजः ॥११॥
तत्र रम्ये वने वासं कृत्वासौ प्राङ्मुखो ययौ । उद्यानमुज्जिहानायाः प्रियका यत्र पादपाः ॥१२॥
स ताँस्तु प्रियकान्प्राप्य शीघ्रानास्थाय वाजिनः । अनुज्ञाप्याथ भरतो वाहिनीं त्वरितो ययौ ॥१३॥
वासं कृत्वा सर्वतीर्थे तीर्त्वा चोत्तरगां नदीम् । अन्या नदीश्च विविधैः पार्वतीयैस्तुरंगमैः ॥१४॥
हस्तिपृष्ठकमासाद्य कुटिकामप्यवर्तत । ततार च नरव्याघ्रो लौहित्ये च कपीवतीम् ॥१५॥
एकसाले स्थाणुमतीं विनये गोमतीं नदीम् । कलिङ्गनगरे चापि प्राप्य सालवनं तदा ॥१६॥

कर्षण नामक गाँवमें आये ॥३। सत्यप्रतिज्ञ भरत पवित्र होकर शिलावह नदीको देखते हुए पवित्र पर्वतोंको लाँघकर और चैत्ररथ वनके पास आये ॥४॥ सरस्वती और गङ्गा दोनों नदियोंके संगमपर आकर वीरमत्स्य नामक देशके उत्तरकी ओरसे जाकर वे भारुण्डनामक वनमें गये ॥५॥ वेगसे चलनेवाली, स्नान करनेवालोंको आनन्दित करनेवाली और पर्वतोंसे घिरी हुई कुलिङ्गा नदी और यमुना नदीके समीप जाकर भरतने उन नदियोंको पार किया और अपनी सेनाको विश्राम कराया ॥६॥ स्नान कराकर घोड़े ठंडे किये गये, घास आदि देकर वे सन्तुष्ट किये गये। स्नान जलपान करके तथा जल लेकर भरत वहाँसे चले ॥७। राजपुत्र भरतने सदा मनुष्यहीन महारण्यको सुन्दर रथसे पार किया, जिस प्रकार वायु आकाशको पार करता है ॥८॥ अंशुधान नगरके पास महानदी गंगा पार करने योग्य नहीं है, यह देखकर भरत शीघ्र ही प्राग्वट नामक प्रसिद्ध नगरमें आये ॥९॥ प्राग्वटके पास गंगाको पार करके कुटिकोष्टिका नदीके पास आये, उस नदीको पार करके वे धर्मवर्धन नामक नगरमें आये ॥१०॥ भरत तोरण नामक गाँवके दक्षिणकी ओरसे जम्बूप्रस्थ नामक नगरमें आये, वहाँसे दसरथपुत्र भरत वरूथ नामक रमणीय गाँवमें आये ॥११॥ उस नगरीके पासवाले रमणीय वनमें निवास करके भरत पूर्वकी ओर चले, वे उज्जिहाना नगरीके बागमें आये जहाँ कदम्बके वृक्ष हैं ॥१२॥ उन कदम्ब वृक्षोंके पास आकर शीघ्र चलनेवाले घोड़ेपर चढ़कर सेनाको पीछे-पीछे आनेकी आज्ञा देकर भरत शीघ्रतापूर्वक आगे चले ॥१३॥ सर्वतीर्थ नामक नगरमें रातको निवास करके उत्तर बहनेवाली नदीको तथा अन्य अनेक नदियोंको उन्होंने पहाड़ी घोड़ोंके द्वारा पार किया ॥१४॥ हाथीपर चढ़कर उन्होंने कुटिका नदीको पार किया, पुनः नरश्रेष्ठ भरतने लौहित्य नामक नगरके पास कपिवती नदीको पार किया ॥१५॥ एक साल नामक नगरके पास

भरतः क्षिप्रमागच्छत्सुपरिश्रान्तवाहनः । वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये ॥१७॥
अयोध्यां मनुना राज्ञा निर्मितां स ददर्श ह । तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि ॥१८॥
अयोध्यामग्रतो दृष्ट्वा सारथिं चेदमब्रवीत् । एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी ॥१९॥
अयोध्या दृश्यते दूरात्सारथे पाण्डुमृत्तिका । यज्वभिर्गुणसंपन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥२०॥
भूयिष्ठमृद्धैराकीर्णा राजर्षिवरपालिता । अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान् ॥२१॥
समन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम् । उद्यानानि हि सायाह्ने क्रीडित्वोपरतैर्नरैः ॥२२॥
समन्ताद्विप्रधावद्भिः प्रकाशन्ते ममान्यथा । तान्यद्यानुरुदन्तीव परित्यक्तानि कामिभिः ॥२३॥
अरण्यभूतेव पुरी सारथे प्रतिभाति माम् । नह्यत्र यानैर्दृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः ।
निर्यान्तो वाभियान्तो वा नरमुख्या यथा पुरा ॥२४॥
उद्यानानि पुरा भान्ति मत्तप्रमुदितानि च । जनानां रतिसंयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च ॥२५॥
तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः । स्रस्तपर्णैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः ॥२६॥
नाद्यापि श्रूयते शब्दो मत्तानां मृगपक्षिणाम् । स रक्तां मधुरां वाणीं कलं व्याहरतां बहु ॥२७॥
चन्दनागुरुसंपृक्तधूपसंमूर्च्छितोऽमलः । प्रवाति पवनः श्रीमान्किं नु नाद्य यथा पुरा ॥२८॥

स्थाणुमति नदीको, विनत नामक नगरके पास गोमती नदीको पार करके भरत कलिंग नगरके पासवाले साल वनमें गये ॥१६॥ घोड़ोंके थक जानेपर भी भरतने रातको ही चलकर उस वनको पार किया, प्रातःकाल राजा मनुकी बसायी अयोध्या नगरीको उन्होंने देखा, मार्गमें सात रात निवासकर आठवें दिन प्रातःकाल उन्होंने अयोध्या नगरीको देखा ॥१७।१८॥ आगे अयोध्याको देखकर भरत सारथिसे बोले—यह पवित्र उद्यानवाली यशस्विनी अयोध्या नगरी मुझे प्रसन्न नहीं मालूम पड़ती ।।१९।। यह दूरसे ही अयोध्या दीख पड़ती है, इसकी मिट्टी सफेद मालूम पड़ती है, अर्थात् यह आजकल लीपी पोती नहीं जाती । यज्ञ करनेवाले गुणी वेदपारंग ब्राह्मण यहाँ रहते हैं ।।२०।। इस नगरीमें अनेक धनी रहते हैं, राजर्षि दसरथ इसका पालन करते हैं, इस नगरीमें पहले तुमुल शब्द सुनायी पड़ता था ।।२१।। स्त्री पुरुषोंका चारों तरफ होनेवाला वह शब्द मैं नहीं सुनता । जिन उद्यानोंमें सायंकाल मनुष्य क्रीड़ा करके लौटते थे ।।२२।। और चारों ओर दौड़नेवाले मनुष्योंसे जो बाग शोभित होते थे, आज वे ही बाग जिन्हें कामियोंने छोड़ रखा है, अतएव वे रो रहे हैं, अतएव वे मुझे दूसरी तरहके मालूम होते हैं ।।२३।। यह नगरी मुझे वनके समान मालूम पड़ती है, सवारियों, हाथियों और घोड़ोंपर धनी मनुष्य न तो अयोध्यामें जाते हैं और न अयोध्यासे बाहर निकलते हैं, जैसे पहले होता था ।।२४।। ये बाग पहले बहुत ही सन्तुष्ट और प्रसन्न मालूम होते थे और प्रेमियोंके मिलनेके लिए नितान्त गुणवान थे, ये बाग पहले बहुत सुन्दर मालूम होते थे ।।२५।। उन्हीं बागोंको आज हम चारों ओरसे आनन्दहीन देख रहे हैं वृक्षोंके पत्ते गिर रहे है; मालूम होता है मानो ये वृक्ष रो रहे हैं ।।२६।। मत्त मृगों और पक्षियोंके शब्द अभी नहीं सुन पड़ते, जो पहले अनुरागयुक्त मधुर और रमणीय बहुत बोला करते थे ।।२७।। चन्दन, अगरकी गन्धसे, युक्त, धूप गन्धसे और अधिक सुगन्धित विमल वायु आज पहलेके समान नहीं बहती

भेरीमृदङ्गवीणानां कोणसंघट्टितः पुनः । किमद्य शब्दो विरतः सदाऽदीनगतिः पुरा ॥२९॥
अनिष्टानि च पापानि पश्यामि विविधानि च निमित्तान्यमनोज्ञानि तेन सीदति मे मनः ॥३०॥
सर्वथा कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु । तथा ह्यसति संमोहे हृदयं सीदतीव मे ॥३१॥
विषण्णः श्रान्तहृदयस्त्रस्तः संलुलितेन्द्रियः । भरतः प्रविवेशाशु पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ॥३२॥
द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशच्छ्रान्तवाहनः । द्वाःस्थैरुत्थाय विजयं पृष्टस्तैः सहितो ययौ ॥३३॥
स त्वनेकाग्रहृदयो द्वाःस्थं प्रत्यर्च्य तं जनम् । सूतमश्वपतेः क्लान्तमब्रवीत्तत्र राघवः ॥३४॥
किमहं त्वरयानीतः कारणेन विनानघ । अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं च पततीव मे ॥३५॥
श्रुता नु यादृशाः पूर्वं नृपतीनां विनाशने । आकारास्तानहं सर्वानिह पश्यामि सारथे ॥३६॥
संमार्जनविहीनानि परुषाण्युपलक्षये । असंयतकवाटानि श्रीविहीनानि सर्वशः ॥३७॥
बलिकर्मविहीनानि धूपसंमोदनेन च । अनाशितकुटुम्बानि प्रभाहीनजनानि च ॥३८॥
अलक्ष्मीकानि पश्यामि कुटुम्बिभवनान्यहम् । अपेतमाल्यशोभानि असंमृष्टाजिराणि च ॥३९॥
देवागाराणि शून्यानि न भान्तीह यथा पुरा । देवतार्चाः प्रविद्धाश्च यज्ञगोष्ठास्तथैव च ॥४०॥
माल्यापणेषु राजन्ते नाद्य पण्यानि वा तथा । दृश्यन्ते वणिजोऽप्यद्य न यथापूर्वमत्र वै ॥४१॥

है ॥२८॥ कोण (वीणा आदि बजानेका डंडा) के संघटनसे भेरी, मृदङ्ग, वीणा आदिका जो दूरतक फैलनेवाला शब्द होता था वह क्या रुक गया ? ॥२९॥ अनिष्टसूचक क्रूर अनेक शकुन मैं देख रहा हूँ, बाईं आँखका फरकना आदि अशुभकी सूचना भी हो रही है, जिससे मेरा मन दुःखी हो रहा है ॥३०॥ ये जो सब बुरे अशकुन हो रहे हैं, इससे मालूम होता है कि हमारे बान्धवोंका सकुशल होना दुर्लभ है। हमारे बान्धवोंमें कोई-न-कोई बुरी घटना अवश्य हुई होगी, अतएव मेरा हृदय दुःखी हो रहा है, ।३१॥ दुःखी, बैठे दिल, डरे हुए, शिथिलइन्द्रिय भरतने इक्ष्वाकुपालित अयोध्या नगरीमें शीघ्र प्रवेश किया ॥३२॥ भरतके वाहन थक गये थे, वैजयन्त नामक द्वारसे उन्होंने प्रवेश किया। द्वारपालोंने उनसे विजय प्रश्न किया, भरत उनके साथ आगे गये ॥३३॥ भरतका हृदय व्याकुल था, उन्होंने द्वारपालको सत्कार-पूर्वक लौटा दिया, पुनः वे थके हुए अश्वपतिके सारथिसे बोले ॥३४॥ बिना कारण मैं शीघ्र ही दूतोंके द्वारा बुलाया गया हूँ, मुझसे कारण नहीं बतलाया गया है, केवल शीघ्र आनेको कहा गया है, इससे मेरे हृदयमें अशुभकी आशङ्का हो रही है, मेरा स्वभाव भी गिर रहा है अर्थात् मैं घबड़ा रहा हूँ ॥३५॥ राजाओंके विनाशकालमें जो लक्षण मैंने सुने हैं, उन सब लक्षणोंको मैं यहाँ देख रहा हूँ ॥३६॥ गृहस्थोंके घर झाड़े-बुहारे नहीं गये हैं अतएव वे देखनेमें रूखे मालूम पड़ते हैं, किवाड़ खुले हैं, सभी शोभा नष्ट हो गयी है ॥३७॥ देवता और पितरोंके लिए बलि नहीं दी गयी है, धूपकी सुगन्ध भी नहीं आती, परिवारके लोगोंने भोजन नहीं किया है, सभीके मुँह प्रभाहीन हो गये हैं ॥३८॥ कुटुम्बियोंके घरोंको मैं शोभाहीन देख रहा हूँ, देव-मन्दिरोंमें पुष्पोंकी शोभा नहीं है, आँगन बुहारे नहीं गये हैं ॥३९॥ देव-मन्दिरोंकी शोभा पहलेके समान नहीं है वे आज मनुष्योंसे शून्य हैं, देवताओंकी पूजा बन्द हो गयी है, यज्ञस्थानोंमें यज्ञ नहीं होते ॥४०॥ मालाके बाजारमें आज कुछ भी बिकनेकी वस्तु नहीं है, पहलेके समान

ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारयन्त्रिताः । देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिमृगास्तथा ॥४२॥
मलिनं चाश्रुपूर्णाक्षं दीनं ध्यानपरं कृशम् । सस्त्रीपुंसं च पश्यामि जनमुत्कण्ठितं पुरे ॥४३॥
इत्येवमुक्त्वा भरतः सूतं तं दीनमानसः । तान्यनिष्टान्ययोध्यायां प्रेक्ष्य राजगृहं ययौ ॥४४॥
तां शून्यशृङ्गाटकवेश्मरथ्यां रजोरुणद्वारकवाटयन्त्राम् ।
दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरीप्रकाशां दुःखेन संपूर्णतरो बभूव ॥४५॥
बभूव पश्यन्मनसोऽप्रियाणि यान्यन्यदा नास्य पुरे बभूवुः ।
अवाक्शिरा दीनमना न हृष्टः पितुर्महात्मा प्रविवेश वेश्म ॥४६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥७१॥

द्विसप्ततितमः सर्गः ७२

अपश्यंस्तु ततस्तत्र पितरं पितुरालये । जगाम भरतो द्रष्टुं मातरं मातुरालये ॥ १ ॥
अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रोषितं सुतम् । उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम् ॥ २ ॥
स प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविवर्जितम् । भरतः प्रेक्ष्य जग्राह जनन्याश्चरणौ शुभौ ॥ ३ ॥
तं मूर्ध्नि समुपाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनम् । अङ्के भरतमारोप्य प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

बनिये भी यहाँ नहीं दिखायी नहीं पड़ते ॥४१॥ चिन्तासे इन बनियोंका हृदय व्याकुल हो गया है और व्यापारके नष्ट होनेसे ये संकुचित हो गये हैं। देव-मन्दिर तथा देवस्थानोंमें पशु, पक्षी आदि दुःखी होकर बैठे हैं ॥४२॥ मलिन आँखोंसे आँसू भरे, दीन, चिन्तामें मग्न कृश अयोध्यावासी स्त्री-पुरुष देख पड़ते हैं, सभी मनुष्य—क्या हो रहा है यह जाननेके लिए उत्कण्ठित हैं ॥४३॥ भरत दुःखी मनसे इस प्रकार सारथिसे कहकर तथा अयोध्याके उन अनिष्ट चिह्नोंको देखकर राजमहलमें गये ॥४४॥ अयोध्याके चौक, घर और गलियाँ सूनी हैं, धूलसे द्वारके किवाड़की सिकड़ी आदि मलिन हो गयी हैं, इन्द्रपुरीके समान शोभित होनेवाली नगरीकी यह दशा देखकर भरत दुःखसे भर गये ॥४५॥ जो बातें इस नगरीमें कभी नहीं हुई थीं, उन मनको बुरी लगनेवाली बातोंको देखकर दुःखी भरतने सिर झुका लिया, वे दुःखी होकर पिताके घरमें गये ॥४६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७१ ॥

पिताके घरमें पिताको न देखकर माताको देखनेके लिए भरत माताके घरमें गये ॥१॥ प्रवासमें गया हुआ पुत्र आ गया है यह देखकर केकयी प्रसन्न होकर सोनेसे आसन परसे कूद पड़ी ॥२॥ अपनी माताके घरमें प्रवेश करते ही धर्मात्मा भरतने उसे श्रीहीन देखा और उन्होंने अपनी माताके शुभ चरण ग्रहण किये ॥३॥ यशस्वी भरतका सिर सूँघकर उनका आलिंगनकर तथा उनको गोदमें बैठाकर केकयी पूछने

अद्य ते कतिचिद्रात्र्यश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः । अपि नाध्वश्रमः शीघ्रं रथेनापततस्तव ॥ ५ ॥
आर्यकस्ते सुकुशली युधाजिन्मातुलस्तव । प्रवासाच्च सुखं पुत्र सर्वं मे वक्तुमर्हसि ॥ ६ ॥
एवं पृष्टस्तु कैकेय्या प्रियं पार्थिवनन्दनः । आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः ॥ ७ ॥
अद्य मे सप्तमी रात्रीश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः । अम्बायाःकुशली तातो युधाजिन्मातुलश्च मे ॥ ८ ॥
यन्मे धनं च रत्नं च ददौ राजा परंतपः । परिश्रान्तं पथ्यभवत्ततोऽहं पूर्वमागतः ॥ ९ ॥
राजवाक्यहरैर्दूतैस्त्वर्यमाणोऽहमागतः । यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदम्बा वक्तुमर्हति ॥१०॥
शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्को हेमभूषितः । न चायमिक्ष्वाकुजनः प्रहृष्टः प्रतिभाति मे ॥११॥
राजा भवति भूयिष्ठमिहाम्बाया निवेशने । तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः ॥१२॥
पितुर्ग्रहीष्ये पादौ च तं ममाख्याहि पृच्छतः । आहोस्विदम्बाज्येष्ठायाः कौसल्याया निवेशने।१३।
तं प्रत्युवाच कैकेयी प्रियवद्घोरमप्रियम् । अजानन्तं प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता ॥१४॥
या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः । राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतां गतिः ॥१५॥
तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं धर्माभिजनवाञ्छुचिः । पपात सहसा भूमौ पितृशोकबलार्दितः ॥१६॥
हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचमुदीरयन् । निपपात महाबाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान् ॥१७॥

लगी ॥४॥ अपने नानाके घरसे चले हुए तुमको आज कितनी रातें बीतीं, रथसे शीघ्रतापूर्वक आनेके कारण क्या तुम्हें मार्गकी थकावट नहीं मालूम होती ॥५॥ तुम्हारे नाना तो सकुशल हैं ? तुम्हारे मामा युधाजित सकुशल तो हैं ? प्रवासमें तुम्हें क्या दुःख-सुख हुए, इन सब मेरे प्रश्नोंके उत्तर दो ॥६॥ कैकयीने भरतसे ये सब शुभ समाचार पूछे । राजीवलोचन भरतने मातासे सब कहा ॥७॥ नानाके घरसे चले हुए मुझे आज सातवीं रात है, माताके पिता अर्थात् मेरे नाना सकुशल हैं, मेरे मामा युधाजित भी सकुशल हैं ॥८॥ शत्रुतापी राजाने मुझे जो धन और रत्न दिये हैं, उससे वाहन थक गये, अतएव मैं पहले चला आया ॥९॥ राजाकी आज्ञा ले जानेवाले दूतोंके कहनेसे मैं यहाँ शीघ्र आया हूँ । अब जो मैं पूछता हूँ उसका उत्तर माता दें ॥१०॥ यह सोनेसे मढ़ा हुआ तुम्हारा सोनेवाला पलँग सूना क्यों है अर्थात् राजा यहाँ क्यों नहीं हैं, राजा दशरथके ये भृत्य आदि मुझे प्रसन्न नहीं दीख पड़ते ॥११॥ राजा प्रायः मेरी माता कैकयीके ही घरमें रहा करते हैं, पर आज मैं उन्हें यहाँ नहीं देख रहा हूँ, उन्हींको देखनेके लिये मैं यहाँ आया हूँ ॥१२॥ मैं पिताका चरणवन्दन करना चाहता हूँ, मैं आपसे पिताके सम्बन्धमें पूछ रहा हूँ आप बतलावें, मेरी बड़ी माता कौसल्याके घरमें तो वे नहीं हैं ॥१३॥ राज्यलोभसे मोहित और सब बातें जानती हुई कैकयी कुछ भी न जाननेवाले भरतसे बहुत ही अप्रिय बात, प्रियबातके समान बोली ॥१४॥ सब प्राणियोंकी जो गति होती है, वही गति तुम्हारे पिताकी भी हुई, महात्मा तेजस्वी और यज्ञ करनेवाले राजाने सज्जनोंकी गति पायी है ॥१५॥ धार्मिक कुलीन पवित्र भरत यह वचन सुनकर पिताके शोकसे पीड़ित होकर सहसा भूमिमें गिर पड़े ॥१६॥ हाय, मैं मारा गया, ऐसा दुःखी और दीन

ततः शोकेन संवीतः पितुर्मरणदुःखितः । विललाप महातेजा भ्रान्ताकुलितचेतनः ॥१८॥
एतत्सुरुचिरं भाति पितुर्मे शयनं पुरा । शशिनेवामलं रात्रौ गगनं तोयदात्यये ॥१९॥
तदिदं न विभात्यद्य विहीनं तेन धीमता । व्योमेव शशिना हीनमप्शुष्क इव सागरः ॥२०॥
बाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वात्मना परिपीडितः । प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद्वस्त्रेण जयतां वरः ॥२१॥
तमार्तं देवसंकाशं समीक्ष्य पतितं भुवि । निकृत्तमिव सालस्य स्कन्धं परशुना वने ॥२२॥
माता मातङ्गसंकाशं चन्द्रार्कसदृशं सुतम् । उत्थापयित्वा शोकार्तं वचनं चेदमब्रवीत् ॥२३॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे राजन्नत्र महायशः । त्वद्विधा नहि शोचन्ति सन्तः सदसि संमताः ॥२४॥
दानयज्ञाधिकारा हि शीलश्रुतितपोनुगा । बुद्धिस्ते बुद्धिसंपन्न प्रभेवार्कस्य मन्दिरे ॥२५॥
स रुदित्वा चिरं कालं भूमौ परिविवृत्य च । जननीं प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृतः ॥२६॥
अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते । इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम् ॥२७॥
तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम । पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥२८॥
अम्ब केनात्यगाद्राजा व्याधिना मय्यनागते । धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ।२९।
न नूनं मां महाराजः प्राप्तं जनाति कीर्तिमान् । उपजिघ्रेत्तु मां मूर्ध्नि तातः संनाम्य सत्वरम् ॥३०॥

वचन कहते हुए महाबाहु बलवान् भरत बाहु पटककर जमीनपर गिर पड़े ॥१७॥ पिताकी मृत्युसे दुःखित और शोकमें मग्न भरत विलाप करने लगे, महातेजस्वी भरतकी चेतना भ्रान्त और व्याकुल हो गयी ॥१८॥ यह पलंग, मेरे पितासे पहले बहुत सुन्दर मालूम पड़ता था, जिस प्रकार मेघोंके हट जानेपर रातमें चन्द्रमासे आकाश विमल मालूम होता है ॥१९॥ इन बुद्धिमान राजा दसरथके न होनेसे आज यह पलंग नहीं शोभता जैसे चन्द्रमाके बिना आकाश और जलके सूखनेपर समुद्र नहीं शोभते ॥ २० ॥ शोकसे पीड़ित तपस्वियोंमें श्रेष्ठ भरतने वस्त्रसे अपना मुँह ढँक लिया और वे शोकवाष्प कण्ठसे छोड़ते हुए विलाप करने लगे ॥२१॥ वनमें फरसासे कटी हुई साल वृक्षकी मोटी डालके समान देवतुल्य भरतको भूमिमें पड़ा देखकर ॥२२॥ माता हाथीके समान विशालकाय, चन्द्रमा और सूर्यके समान द्युतिमान् शोकार्त पुत्रको उठाकर यह बात बोली ॥२३॥ महायशस्वी राजन, उठो, क्यों सो रहे हो, तुम्हारे समान पूज्य सज्जन शोक नहीं करते ॥२४॥ बुद्धिसम्पन्न, जिस प्रकार सूर्य-मण्डलमें प्रभा रहती है उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि, दान और यज्ञमें लगी रहती है, सदाचार, शास्त्राध्ययन और तपस्यामें तत्पर रहती है ॥२५॥ भरत बहुत देरतक रोते रहे, भूमिमें लोटते रहे, पुनः बहुत ही शोकित होकर वे अपनी मातासे बोले ॥२६॥ राजा दसरथ रामचन्द्रका राज्याभिषेक करेंगे और वे स्वयं यज्ञ करेंगे यही सोचकर बड़ी प्रसन्नतासे मैंने यात्रा की थी ॥२७॥ पर यहाँ तो उलटा ही देख रहा हूँ, इससे मेरा हृदय विदीर्ण हो गया है, जो पिता सदा मेरे कल्याणमें लगे रहते थे आज मैं उनको नहीं देख रहा हूँ ॥२८॥ माता, मेरे आनेके पहले किस रोगसे पिता परलोकवासी हुए हैं, राम आदि धन्य हैं, जिन्होंने स्वयं पिताका अन्तिम संस्कार किया है ॥२९॥ मैं यहाँ आ गया हूँ यह बात निश्चय ही कीर्तिमान्

क स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः । यो हि मां रजसाध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति ॥३१॥
यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि संमतः । तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥३२॥
पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः । तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥३३॥
धर्मविद्धर्मशीलश्च महाभागो दृढव्रत । आर्ये किमब्रवीद्राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥३४॥
पश्चिमं साधुसंदेशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः । इति पृष्टा यथातत्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥३५॥
रामेति राजा विलपन्हा सीते लक्ष्मणेति च । स महात्मा परं लोकं गतो मतिमतां वरः ॥३६॥
इतीमां पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव । कालधर्मं परिक्षिप्तः पाशैरिव महागजः ॥३७॥
सिद्धार्थास्तु नरा राममागतं सह सीतया । लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥३८॥
तच्छ्रुत्वा विषसादैवं द्वितीयाप्रियशंसनात् । विषण्णवदनो भूत्वा भूयः पप्रच्छ मातरम् ॥३९॥
क चेदानीं स धर्मात्मा कौसल्यानन्दवर्धनः । लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च समागतः ॥४०॥
तथा पृष्टा यथान्यायमाख्यातुमुपचक्रमे । मातास्य युगपद्वाक्यं विप्रियं प्रियशंसया ॥४१॥
स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महावनम् । दण्डकान्सह वैदेह्या लक्ष्मणानुचरो गतः ॥४२॥
तच्छ्रुत्वा भरतस्त्रस्तो भ्रातुश्चारित्रशङ्कया । स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात्प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥४३॥
कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित् । कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥४४॥

महाराजको नहीं मालूम है, यदि उन्हें यह बात मालूम होती तो वे अवश्य ही मेरा सिर नवाकर सूँघते ॥३०॥ धूलसे भरे मुझे अपने हाथोंसे जो झाड़ते, उन सरल स्वभाव पिताका वह सुखस्पर्श हाथ कहाँ है ॥३१॥ जो मेरे भाई पिता और बन्धु हैं, और मैं जिनका प्रियदास हूँ उन सरल स्वभाव रामचन्द्रके विषयमें मुझसे शीघ्र कहो, वे कहाँ हैं, कैसे हैं आदि ॥३२॥ धर्म जाननेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके बड़े भाई पिताके तुल्य होते हैं, मैं उनका चरण वन्दन करूँगा, वे ही इस समय मेरे अवलम्ब हैं ॥३३॥ धर्म जाननेवाले धर्मात्मा दृढ़व्रत सत्यपराक्रम मेरे पिता राजा दसरथने रामचन्द्रसे क्या कहा है ॥३४॥ अपने सम्बन्धमें पिताका अन्तिम सन्देश सुनना चाहता हूँ । भरतके ऐसा पूछनेपर केकयीने यथार्थ बातें कहीं ॥३५॥ हा राम, हा लक्ष्मण, हा सीते, ऐसा विलाप करते हुए बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महात्मा राजाने परलोक यात्रा की ॥३६॥ पाशसे जिस प्रकार हाथी विवश होता है उसी प्रकार काल धर्मसे विवश तुम्हारे पिताने अन्त समयमें यह बात कही है ॥३७॥ सीताके साथ आये हुए राम और लक्ष्मणको जो मनुष्य देखेंगे, उन्हींका मनोरथ सिद्ध होगा ॥३८॥ केकयीके यह दूसरी अप्रियबात कहनेसे भरतको बहुत दुःख हुआ । दुःखी होकर पुनः उन्होंने मातासे पूछा ॥३९॥ वे धर्मात्मा कौशल्यानन्दवर्धन भाई, लक्ष्मण और सीताके साथ कहाँ हैं ॥४०॥ भरतके ऐसा पूछनेपर केकयी विधिपूर्वक कहने लगी, उसने अप्रिय बात कही, पर उसके मनसे वह बात अप्रिय न थी, वह समझती थी कि इससे भरत प्रसन्न होगा ॥४१॥ वे राजपुत्र वल्कल धारण करके लक्ष्मण और सीताके साथ दण्डक वनमें चले गये ॥४२॥ अपने कुलमें श्रेष्ठता प्राप्त किये हुए भाई रामचन्द्रके चरित्रमें कलंककी आशंकासे भरत डर गये, वे पुनः मातासे पूछने लगे ॥४३॥ ब्राह्मणका या किसी दूसरेका धन तो

कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते । कस्मात्स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः ।४५।
अथास्य चपला माता तत्स्वकर्म यथातथम् । तेनैव स्त्रीस्वभावेन व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥४६॥
एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना । उवाच वचनं हृष्टा वृथापण्डितमानिनी ॥४७॥
न ब्राह्मणधनं किंचिद्धृतं रामेण कस्यचित् । कश्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ।
न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥४८॥
मया तु पुत्र श्रुत्वैव रामस्येहाभिषेचनम् । याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य विवासनम् ॥४९॥
स स्ववृत्तिं समास्थाय पिता ते तत्तथाकरोत् । रामस्तु सहसौमित्रिः प्रेषितः सह सीतया ॥५०॥
तमपश्यन्प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः । पुत्रशोकपरिद्यूनः पञ्चत्वमुपपेदिवान् ॥५१॥
त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम् । त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ॥५२॥
मा शोकं मा च संतापं धैर्यमाश्रय पुत्रक । त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनामयम् ॥५३॥
तत्पुत्र शीघ्रं विधिना विधिज्ञैर्वसिष्ठमुख्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः ।
संकाल्य राजानमदीनसत्त्वमात्मानमुर्व्यामभिषेचयस्व ॥५४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः ॥७२॥
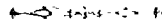
रामचन्द्रने हरण नहीं किया है, या अनपराधी किसी धनी या दरिद्रको मारा है ॥४४॥ अथवा परस्त्रीका संसर्ग किया है, किस कारण मेरे भाई राम दण्डकारण्यमें निर्वासित किये गये हैं ॥४५॥ भरतकी चञ्चल माताने अपना सब कर्म स्त्री स्वभावके चञ्चल होनेके कारण जो जैसे हुआ था वह सब कहा ॥४६॥ महात्मा भरतके ऐसा कहनेपर अपनेको व्यर्थ पण्डित समझनेवाली केकयी प्रसन्न होकर बोली ॥४७॥ रामचन्द्रने ब्राह्मण धन नहीं लिया है और न किसी दूसरेका ही धन लिया है, अनपराधी किसी धनी या दरिद्रका भी वध नहीं किया है, रामचन्द्र परस्त्रियोंको तो आँखोंसे भी नहीं देखते ॥४८॥ पुत्र, रामचन्द्रका राज्याभिषेक हो रहा है यह जब मैंने सुना, तब तुम्हारे पितासे तुम्हारे लिए राज्यकी, और रामचन्द्रके लिए वनवासकी मैंने प्रार्थना की ॥४९॥ तुम्हारे पिताने अपनी प्रतिज्ञाका स्मरण करके वैसा ही किया और लक्ष्मण तथा सीताके साथ रामचन्द्रको वनवास दिया ॥५०॥ उस अपने प्रियपुत्र रामचन्द्रको न देखनेके कारण महायशस्वी राजा पुत्रशोकसे क्षीण होकर परलोकवासी हुए ॥५१॥ धर्मज्ञ, अब तुम राज्य ग्रहण करो, तुम्हारे ही लिए मैंने यह सब ऐसा किया है ॥५२॥ प्रियपुत्र, शोकसन्ताप छोड़ो, धैर्य धारण करो, यह नगरी तथा उपद्रवहीन राज्य तुम्हारे अधीन है ॥५३॥ अतएव विधि जाननेवाले वसिष्ठ आदि ब्राह्मणोंके साथ तुम पराक्रमी राजाका अन्तिम संस्कार करो और पृथिवीके राज्यपर अपना अभिषेक कराओ ॥५३॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥७२॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः ७३

श्रुत्वा च स पितुर्वृत्तं भ्रातरौ च विवासितौ । भरतो दुःखसंतप्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
किं नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः । विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च ॥ २ ॥
दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददाः । राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम् ॥ ३ ॥
कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता । अङ्गारमुपगुह्य स्म पिता मे नावबुद्धवान् ॥ ४ ॥
मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनि । सुखं परिहृतं मोहात्कुलेऽस्मिन्कुलपांसिनी ॥ ५ ॥
त्वां प्राप्य हि पिता मेऽद्य सत्यसंधो महायशाः । तीव्रदुःखाभिसंतप्तो वृत्तो दशरथो नृपः ॥ ६ ॥
विनाशितो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः । कस्मात्प्रव्राजितो रामः कस्मादेव वनं गतः ॥ ७ ॥
कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकाभिपीडिते । दुष्करं यदि जीवेतां प्राप्य त्वां जननीं मम ॥ ८ ॥
नन्वार्योऽपि च धर्मात्मा त्वयि वृत्तिमनुत्तमाम् । वर्तते गुरुवृत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते ॥ ९ ॥
तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी । त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते ॥१०॥
तस्याः पुत्रं महात्मानं चीरवल्कलवाससम् । प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसे ॥११॥
अपापदर्शिनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम् । प्रव्राज्य चीरवसनं किं नु पश्यसि कारणम् ॥१२॥

भरतने पिताके वृत्तान्त सुने, भाइयोंके निर्वासनकी बात सुनी, वे दुःखसन्तप्त होकर ऐसा बोले ॥१॥ पिता और पिताके समान भाईसे मैं हीन हूँ, दुःखी हूँ मारे गयेके समान हूँ, मुझे राज्य लेकर क्या करना है ॥२॥ दुःखमें तुमने दुःख दिया, घावमें तुमने क्षार छिड़का, पिताको मार डाला और भाईको वनवासी बनाया ॥३॥ मेरे कुलके विनाशके लिये तुम कालरात्रि बनकर आयी हो, बिना समझे ही अनजानमें मेरे पिताने जलती आग पकड़ी थी ॥४॥ बुरे अभिप्राय रखनेवाली तुमने राजाको मार डाला। कुलनाशिन, तुमने अज्ञानसे इस कुलका सुख नष्ट कर डाला ॥५॥ तुम्हारे कारण मेरे पिता सत्यप्रतिज्ञ महायशस्वी राजा दसरथ भयानक दुःख उठाकर मर गये ॥६॥ धर्मवत्सल मेरे पिता महाराजका तुमने किस कारणसे विनाश किया, किस कारणसे रामचन्द्र निर्वासित किये गये और किस कारणसे वन गये ॥७॥ पुत्र-शोकसे पीड़ित कौसल्या और सुमित्रा यदि तुम्हारे साथ रहकर जीवित रह सकें तो यह उन लोगोंके लिये कठिन होगा ॥८॥ बड़ोंके साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिए इस बातको जाननेवाले धर्मात्मा पूज्य रामचन्द्र तुम्हारे साथ बड़ा उत्तम व्यवहार करते हैं, माताके साथ जैसा व्यवहार करना चाहिए वे वैसा ही व्यवहार करते हैं ॥९॥ मेरी बड़ी माता कौसल्या जो तुम्हारी अपेक्षा अधिक परिणाम देख सकती हैं, वे भी धर्म-पूर्वक बहिनके समान तुम्हारे साथ व्यवहार करती हैं ॥१०॥ उनके महात्मा पुत्रको चीरवल्कल पहनाकर तुमने वनमें भेज दिया, पापिन, फिर भी इससे तुमको दुःख नहीं हो रहा है ॥११॥ जो यशस्वी रामचन्द्र अपने आश्रितोंके अपराधोंकी ओर नहीं देखते और जो उदार हैं, उनको चीर वस्त्र देकर तुमने वनमें

लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं यथा । तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वया नीतो महानयम् ॥१३॥
अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन्रामलक्ष्मणौ । केन शक्तिप्रभावेण राज्यं रक्षितुमुत्सहे ॥१४॥
तं हि नित्यं महाराजो बलवन्तं महौजसम् । उपाश्रितोऽभूद्धर्मात्मा मेरुर्मेरुवनं यथा ॥१५॥
सोऽहं कथमिमं भारं महाधुर्यसमुद्यतम् । दम्यो धुरमिवासाद्य सहेयं केन चौजसा ॥१६॥
अथवा मे भवेच्छक्तिर्योगैर्बुद्धिबलेन वा । सकामां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्द्धिनीम् ॥१७॥
न मे विकाङ्क्षा जायते त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम् । यदि रामस्य नावेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत्सदा ॥१८॥
उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी । साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ॥१९॥
अस्मिन्कुले हि सर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते । अपरे भ्रातरस्तस्मिन्प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥२०॥
न हि मन्ये नृशंसे त्वं राजधर्ममवेक्षसे । गतिं वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ॥२१॥
सततं राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते । राज्ञामेतत्समं तत्स्यादिक्ष्वाकूणां विशेषतः ॥२२॥
तेषां धर्मैकरक्षाणां कुलचारित्रशोभिनाम् । अद्य चारित्रशौटीर्यं त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥२३॥
तवापि सुमहाभागे जनेन्द्रकुलपूर्वके । बुद्धिमोहः कथमयं संभूतस्त्वयि गर्हितः ॥२४॥
न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये । यया व्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम ॥२५॥

भेजा है उससे तुम्हें क्या लाभ हुआ ॥१२॥ लोभिन, तुमको मालूम न था कि मैं रामचन्द्रमें कैसी भक्ति रखता हूँ इसी कारण राज्यके लिये तुमने यह महान् अनर्थ कर डाला है ॥१३॥ पुरुषसिंह राम और लक्ष्मणको बिना देखे किस शक्तिके प्रभावसे मैं राज्यकी रक्षा कर सकूँगा ॥१४॥ बली और पराक्रमी रामचन्द्रका आश्रय धर्मात्मा महाराज सदा लिया करते थे, जिस प्रकार मेरु पर्वत मेरु वनका आश्रय लिया करता है ॥१५॥ बड़े बलीके द्वारा उठाया हुआ यह राज्यभार मैं रामचन्द्रके बिना किस बलसे उठा सकूँगा । जिस प्रकार बच्छा भार पाकर दुःखी होता है वैसा ही दुःखी मैं भी होऊँगा ॥१६॥ अथवा बुद्धि-बल और योगबलसे मैं राज्य-पालनकी शक्ति प्राप्त भी कर सकता हूँ, पर मैं पुत्र ही पर प्रेम रखनेवाली तुम्हारे मनोरथ पूरे होने न दूँगा ॥१७॥ बुरा निश्चय करनेवाली तुम्हारा त्याग मैं अवश्य ही करता, पर रामचन्द्र सदा तुमको माताके समान देखते हैं इसी कारण मैं त्याग नहीं कर रहा हूँ ॥१८॥ पापिन्, तू सज्जनोंके चरित्रसे गिर गयी, मेरे पूर्वजोंने जिस बुद्धिकी निन्दा की थी अर्थात् बड़ेके रहते छोटेको राज्य नहीं मिलना चाहिए—वह बुद्धि तुममें उत्पन्न कैसे हुई ॥१९॥ इस कुलमें जो सबसे बड़ा होता है उसीका राज्याभिषेक होता है, दूसरे भाई उसके अधीन रहकर कार्य करते हैं ॥२०॥ क्रूर, तुम्हें राजनीति-का ज्ञान नहीं है और राजधर्मके अव्यभिचरित फलोंका भी तुम्हें ज्ञान नहीं है ऐसा मैं समझता हूँ ॥२१॥ राजपुत्रोंमें जो सबसे बड़ा होता है वही राजा बनाया जाता है, इस बातको सभी राजा मानते हैं । इक्ष्वाकुवंशी राजा तो इस बातको विशेष मानते हैं ॥२२॥ जिन्होंने सदा कुलधर्मकी रक्षा की है, जो कुलोचित आचारके पालनसे प्रसिद्ध हुए हैं, उनका वह उन्नत चरित्रवाला कुल आज तुम्हारे कारण नष्ट हुआ ॥२३॥ तुम बहुत बड़े ऐश्वर्यवाले केकयराजके वंशमें उत्पन्न हुई हो, फिर यह निन्दित दुर्बुद्धि कहाँसे उत्पन्न हुई ॥२४॥ तुमने मेरे प्राण लेनेवाला दुःख उत्पन्न किया है, अतएव पापिन, मैं तुम्हारा

एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तवानघे । निवर्तयिष्यामि वनाद् भ्रातरं स्वजनप्रियम् ॥२६॥
निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः । दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥२७॥
इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा प्रियेतरैर्वाक्यगणैस्तुदंस्ताम् ।
शोकार्दितश्चापि ननाद भूयः सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः ॥२८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः ७४

तां तथा गर्हयित्वा तु मातरं भरतस्तदा । रोषेण महताविष्टः पुनरेवाब्रवीद्वचः ॥ १ ॥
राज्याद्भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणी । परित्यक्तासि धर्मेण मा मृतं रुदती भव ॥ २ ॥
किं नु तेऽदूषयद्रामो राजा वा भृशधार्मिकः । ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्यमागतौ ॥ ३ ॥
भ्रूणहत्यामसि प्राप्ता कुलस्यास्य विनाशनात् । कैकेयि नरकं गच्छ मा च तातसलोकताम् ॥ ४ ॥
यत्त्वया हीदृशं पापं कृतं घोरेण कर्मणा । सर्वलोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम् ॥ ५ ॥
त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः । अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥ ६ ॥
मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके । न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि ॥ ७ ॥

मनोरथ पूर्ण होने न दूँगा ॥२५॥ यह मैं अभी तुम्हें दुःख देनेके लिये स्वजनप्रिय भाई रामचन्द्रको बनसे लौटा लाऊँगा ॥२६॥ मैं रामचन्द्रको लौटा लाऊँगा और उन दीप्ततेजा रामचन्द्रका दास बनकर प्रसन्नतापूर्वक रहूँगा ॥२७॥ महात्मा भरतने अप्रिय वचनोंसे केकयीको दुःखित करते हुए ये बातें कहीं, पुनः वे शोकसे पीड़ित होकर चिल्लाने लगे जिस प्रकार मन्दर पर्वतकी कन्दरामें सिंह गर्जता है ॥२८॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७३ ॥

अपनी माताकी इस प्रकार निन्दा करके बड़े क्रोधसे युक्त भरत पुनः इस प्रकार बोले ॥१॥ क्रूर केकयी, तुम राज्य भ्रष्ट होओ तुम्हारे आचरण दुष्ट हैं, तुमने धर्मका त्याग किया है, मृतपतिके लिये मत रोओ, अर्थात् धर्महीन तुमको पतिके लिये रोनेका अधिकार नहीं है ॥२॥ रामने तुम्हारा क्या बुरा किया किया था और अत्यन्त धार्मिक राजाने ही तुम्हारा क्या बिगाड़ा था, जिस कारण तुमने एकको मृत्यु और दूसरेको वनवास एक ही समयमें दिया ॥३॥ इस कुलके नाश करनेसे तुम्हें भ्रूण हत्याका पाप लगा है, केकयी, तुम नरकमें जाओ पिताका लोक तुम्हें न प्राप्त हो ॥४॥ राक्षसोंके आचरणके समान क्रूर काम जो तुमने किया है, सर्वलोकप्रिय रामचन्द्रको जो वनमें भेजा है, उससे मैं भी भयभीत हो गया हूँ, मैं भी अपना कर्त्तव्य निश्चित करते डरता हूँ ॥५॥ तुम्हारे कारण मेरे पिता मरे और रामचन्द्र वनवासी हुए, और सर्वत्र लोकमें तुमने हमें अपयश दिया ॥६॥ क्रूर, राज्य चाहनेवाली तुम माताके रूपमें

कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः। दुःखेन महताविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषिणीम् ॥ ८ ॥
न त्वमश्वपतेः कन्या धर्मराजस्य धीमतः। राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः ॥ ९ ॥
यत्त्वया धार्मिको रामो नित्यं सत्यपरायणः। वनं प्रस्थापितो वीरः पितापि त्रिदिवं गतः ॥१०॥
यत्प्रधानासि तत्पापं मयि पित्रा विना कृते। भ्रातृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाप्रिये ॥११॥
कौसल्यां धर्मसंयुक्तां वियुक्तां पापनिश्चये। कृत्वा कं प्राप्स्यसे ह्यद्य लोकं निरयगामिनी ॥१२॥
किं नावबुध्यसे क्रूरे नियतं बन्धुसंश्रयम्। ज्येष्ठं पितृसमं रामं कौसल्यायात्मसंभवम् ॥१३॥
अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चाभिजायते। तस्मात्प्रियतरो मातुःप्रिया एव तु बान्धवाः ॥१४॥
अन्यदा किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरसंमता। वहमानौ ददर्शोर्व्यां पुत्रौ विगतचेतसौ ॥१५॥
तावर्धदिवसं श्रान्तौ दृष्ट्वा पुत्रौ महीतले। रुरोद पुत्रशोकेन बाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥१६॥
अधस्ताद्व्रजतस्तस्याः सुरराज्ञो महात्मनः। बिन्दवः पतिता गात्रे सूक्ष्माः सुरभिगन्धिनः ॥१७॥
निरीक्षमाणस्तां शक्रो ददर्श सुरभिं स्थिताम्। आकाशे विष्ठितां दीनां रुदतीं भृशदुःखिताम् ॥१८॥
तां दृष्ट्वा शोकसंतप्तां वज्रपाणिर्यशस्विनीम्। इन्द्रः प्राञ्जलिरुद्विग्नः सुरराजोऽब्रवीद्वचः ॥१९॥
भयं कच्चिन्न चास्मासु कुतश्चिद्विद्यते महत्। कुतो निमित्तः शोकस्ते ब्रूहि सर्वहितैषिणि ॥२०॥

मेरी शत्रु हो। तुमको हमसे नहीं बोलना चाहिए, तुम्हारे आचरण बुरे हैं, तुमने अपने पतिको मारा है ॥७॥ कौसल्या, सुमित्रा तथा और जो मेरी माताएँ हैं वे सब कुलघातिनी तुम्हारे कारण बड़ा दुःख उठा रही हैं ॥८॥ धर्मात्मा बुद्धिमान् अश्वपतिकी तुम कन्या नहीं हो, कुल-नाश करनेवाली राक्षसी, तुम अपने पिताके उत्पन्न हुई हो ॥९॥ क्योंकि सदा सत्यपरायण धार्मिक रामचन्द्रको तुमने वनमें भेज दिया है, जिससे मेरे पिता स्वर्गगामी हुए हैं ॥१०॥ जो पाप तुममें अधिक है उसका फल पितासे रहित तथा भाइयोंसे त्यक्त और सबके अप्रिय मुझको भोगना पड़ता है ॥११॥ धार्मिक कौसल्याको पति, पुत्रसे रहित करके ऐ नरकमें जानेवाली, तुम किस लोकमें जाओगी ॥१२॥ क्रूर, बन्धुओंके आश्रयदाता कौसल्याके पुत्र रामचन्द्रको जो मेरे पिताके समान बड़े भाई हैं—नहीं समझ सकी हो। तुम उनको साधारण अन्य भाइयोंके समान समझती हो ॥१३॥ पुत्र अंग प्रत्यंग तथा हृदयसे उत्पन्न होता है, अतएव वह माताको सबसे अधिक प्रिय होता है। अन्य बान्धव तो केवल प्रिय होते है ॥१४॥ एक समय देवताओंके द्वारा पूजित और अपना धर्म जाननेवाली कामधेनुने अपने दो पुत्रोंको देखा कि उसके दो पुत्र हल जोतते-जोतते बेहोश हो गये हैं ॥१५॥ दोपहर तक हल चलानेके कारण थके हुए अतएव पृथिवीमें गिरे हुए अपने पुत्रोंको देखकर कामधेनु पुत्रशोकसे रोने लगी, आँसूसे उसकी आँखें भर आयीं ॥१६॥ देवराज महात्मा इन्द्र कामधेनुके नीचेकी ओरसे उसी समय जा रहे थे, उनकी देहपर सुगन्धित दो बूँद आँसू गिरे ॥१७॥ इन्द्रने ऊपर आँख उठाकर देखा कि आकाशमें कामधेनु दुःखी होकर बैठी है और जोरसे रो रही है ॥१८॥ यशस्विनी कामधेनुको शोकपीड़ित देखकर वज्रपाणि इन्द्र बहुत ही दुःखी हुए और वे हाथ जोड़कर बोले ॥१९॥ किसी शत्रुके द्वारा हम लोगोंपर कोई भय आनेवाला है क्या ?

एवमुक्ता तु सुरभिः सुरराजेन धीमता । प्रत्युवाच ततो धीरा वाक्यं वाक्यविशारदा ॥२१॥
शान्तं पापं न वः किंचित्कुतश्चिदमराधिप । अहं तु मग्नौ शोचामि स्वपुत्रौ विषमे स्थितौ ॥२२॥
एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ । बध्यमानौ बलीवर्दौ कर्षकेण दुरात्मना ॥२३॥
मम कायात्प्रसूतौ हि दुःखितौ भारपीडितौ । यौ दृष्ट्वा परितप्येऽहं नास्ति पुत्रसमः प्रियः ॥२४॥
यस्याः पुत्रसहस्रैस्तु कृत्स्नं व्याप्तमिदं जगत् । तां दृष्ट्वा रुदतीं शक्रो न सुतान्मन्यते परम् ॥२५॥
इन्द्रो ह्यश्रुनिपातं तं स्वगात्रे पुण्यगन्धिनम् । सुरभिं मन्यते दृष्ट्वा भूयसीं तामिहेश्वरः ॥२६॥
समाप्रतिमवृत्ताया लोकधारणकाम्यया । श्रीमत्या गुणमुख्यायाः स्वभावपरिचेष्टया ॥२७॥
यस्याः पुत्रसहस्राणि सापि शोचति कामधुक् । किं पुनर्या विना रामं कौसल्या वर्तयिष्यति॥२८॥
एकपुत्रा च साध्वी च विवत्सेयं त्वया कृता । तस्मात्त्वं सततं दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे ॥२९॥
अहं त्वपचितिं भ्रातुः पितुश्च सकलामिमाम् । वर्धनं यशसश्चापि करिष्यामि न संशयः ॥३०॥
आनाय्य च महाबाहुं कोशलेन्द्रं महाबलम् । स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम् ॥३१॥
नह्यहं पापसंकल्पे पापे पापं त्वया कृतम् । शक्तो धारयितुं पौरैरश्रुकण्ठैर्निरीक्षितः ॥३२॥

सर्वहितैषिणि, तुम किस कारण शोक कर रही हो ॥२०॥ बुद्धिमान् इन्द्रके ऐसा कहनेपर वाक्य बोलनेमें चतुर और धीरकाय धेनु उत्तरमें उनसे बोली ॥२१॥ नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है, देवराज, आप लोगोंपर कोई संकट आनेवाला नहीं है । मैं संकटमें पड़े हुए अपने दो पुत्रोंके लिए रो रही हूँ ॥२२॥ दुष्ट किसान मेरे पुत्र बैलोंको मार रहा है, ये सूर्यकी किरणोंसे तप रहे हैं, ये दुबले पतले बड़े ही दुःखी हो रहे हैं ॥२३॥ ये मेरे शरीरसे उत्पन्न हैं और आज भारसे पीड़ित होकर दुःख उठा रहे हैं, इनको इस अवस्थामें देखकर मुझे दुःख हो रहा है, क्योंकि पुत्रके समान प्रिय दूसरा नहीं है ॥२४॥ जिस कामधेनुके हजारों पुत्रोंसे यह समस्त संसार भरा हुआ है वह भी पुत्रके लिए रो रही है (फिर कौसल्याकी क्या दशा होगी), इससे इन्द्रने समझा कि पुत्रसे बढ़कर प्रिय दूसरा नहीं है ॥२५॥ इन्द्रके शरीरपर दो बूँद सुगन्धित आँसू पड़े थे इस कारण इन्द्रने उसे सुरभि समझा, श्रेष्ठ गन्धवाली जाना ॥२६॥ कामधेनु सबसे समान और उत्तम व्यवहार करनेवाली है, मनुष्योंके मनोरथ पूर्ण करनेवाली है, लोकपालन करनेकी इच्छा रखनेवाली है, और सत्व गुण प्रधान है, वह भी स्वभावके वशवर्ती है, शोक मोह आदिके अधीन है ॥२७॥ ऐसी कामधेनुके जिसके हजारों पुत्र हैं वह भी दो पुत्रोंके लिए शोक कर रही है, फिर एक पुत्रवाली कौसल्या किस प्रकार जीवन धारण कर सकेगी ॥२८॥ एक पुत्रवाली साध्वी कौसल्याको तुमने पुत्रहीन बनाया, इस कारण तुम सदा इस लोक और परलोकमें दुःख पावोगी ॥२९॥ मैं इस समस्त राज्यसे अपने भ्राता और पिताकी सेवा करूँगा । भ्राताको राज्य दूँगा और पिताको पिण्डदान आदि कार्य करूँगा । जिससे मेरा यश बढ़ेगा, तुम्हारा पुत्र होनेके कारण जो कलंक लगा है वह दूर होगा, इसमें सन्देह नहीं ॥३०॥ महाबली महाबाहु कोसलाधीश रामचन्द्रको यहाँ बुलवाऊँगा और स्वयं मुनियोंके वनमें जाकर रहूँगा ॥३१॥ पापिन, तुम्हारे द्वारा किया हुआ पाप—रामचन्द्रको वनमें भेजकर

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा विश दण्डकान्। रज्जुं बद्ध्वाथवा कण्ठे नहि तेऽन्यत्परायणम्।३३।
अहमप्यवनीं प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे। कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः ॥३४॥
इति नाग इवारण्ये तोमराङ्कुशतोदितः। पपात भुवि संक्रुद्धो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥३५॥
संरक्तनेत्रः शिथिलाम्बरस्तथा विधूतसर्वाभरणः परंतपः।
बभूव भूमौ पतितो नृपात्मजः शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्षये ॥३६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः ७५

दीर्घकालात्समुत्थाय संज्ञां लब्ध्वा स वीर्यवान्। नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां दीनामुद्वीक्ष्य मातरम्॥ १ ॥
सोऽमात्यमध्ये भरतो जननीमभ्यकुत्सयत्। राज्यं न कामये जातु मन्त्रये नापि मातरम् ॥ २ ॥
अभिषेकं न जानामि योऽभूद्राज्ञा समीक्षितः। विप्रकृष्टे ह्ययं देशे शत्रुघ्नसहितोऽभवम् ॥ ३ ॥
वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः। विवासनं च सौमित्रेः सीतायाश्च यथाभवत् ॥ ४ ॥
तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः। कौसल्या शब्दमाज्ञाय सुमित्रां चेदमब्रवीत् ॥ ५ ॥
आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः। तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम् ॥ ६ ॥

राज्य मुझे देना—मैं नहीं सह सकता, क्योंकि अश्रुगद्गद होकर नगरवासियोंका मेरी ओर देखना मुझे असह्य है ॥३२॥ इस कारण अब तुम स्वयं अग्निप्रवेश करो या दण्डकारण्यमें जाओ अथवा गलेमें रस्सी बाँधकर मर जाओ, तुम्हारे लिये अब दूसरा उपाय नहीं है ॥३३॥ सत्यपराक्रम रामचन्द्रके अयोध्या आनेपर मेरा कलंक दूर होगा और मैं कृतकृत्य हो सकूँगा ॥३४॥ अंकुश और तोमरसे पीड़ित हाथी, जैसे वनमें गिर पड़ता है वैसेही भरत जमीनपर गिर पड़े और वे क्रोधित सर्पके समान साँस छोड़ने लगे ॥३५॥ शत्रुतापन भरतकी आँखें लाल हो गईं, वस्त्र ढीले हो गये, सब गहने टूटकर गिर पड़े और स्वयं राजकुमार भरत जमीनपर गिर पड़े जिस प्रकार उत्सवके अन्तमें इन्द्रकी ध्वजा गिर पड़ती है ॥३६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७४ ॥

बहुत देरके बाद होशमें आकर बली भरत उठे और अश्रुपूर्ण आँखोंसे दुःखिनी (मनोरथ भंग होनेके कारण) माताकी ओर उन्होंने देखा ॥१॥ भरतने राजमन्त्रियोंके सामने अपनी माताकी निन्दा की, उन्होंने कहा—मैंने कभी राज्यकी कामना नहीं की और न मैंने राज्यके लिये मातासे कभी कुछ कहा है ॥२॥ राजा दसरथने जिस अभिषेककी तैयारी की थी, उसका भी पता मुझे नहीं है, उस समय मैं और शत्रुघ्न यहाँसे दूर देशमें वर्तमान थे ॥३॥ महात्मा रामचन्द्रके वनवासकी भी बात मैं नहीं जानता, लक्ष्मण और सीताका निर्वासन जिस प्रकार हुआ उसका भी बात मुझे मालूम नहीं ॥४॥ भरत इस प्रकार कह रहे थे कौसल्याने शब्दसे जाना कि भरत आ गये, अतएव वे सुमित्रासे बोलीं ॥५॥ क्रूरकर्म करनेवाली केकयीका

एवमुक्त्वा सुमित्रां तां विवर्णवदना कृशा । प्रतस्थे भरतो यत्र वेपमाना विचेतना ॥ ७ ॥
स तु राजत्मजश्चापि शत्रुघ्नसहितस्तदा । प्रतस्थे भरतो येन कौसल्याया निवेशनम् ॥ ८ ॥
ततः शत्रुघ्नभरतौ कौसल्यां प्रेक्ष्य दुःखितौ । पर्यष्वजेतां दुखार्तां पतितां नष्टचेतनाम् ॥ ६ ॥
रुदन्तौ रुदती दुःखात्समेत्यार्या मनस्विनी । भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता ॥१०॥
इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम् । संप्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा ॥११॥
प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम् । कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी ॥१२॥
क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति । हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः ॥१३॥
अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम् । अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये येन राघवः ॥१४॥
कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि । यत्रासौ पुरुषव्याघ्रस्तप्यते मे सुतस्तपः ॥१५॥
इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम् । हस्त्यश्वरथसंपूर्णं राज्यं निर्यातितं तया ॥१६॥
इत्यादि बहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः संभर्त्सितोऽनघः । विव्यथे भरतस्तीव्रव्रणे तुद्येव सूचिना ॥१७॥
पपात चरणौ तस्यास्तदा संभ्रान्तचेतनः । विलप्य बहुधाऽसंज्ञो लब्धसंज्ञस्तदाभवत् ॥१८॥
एवं विलपमानां तां प्राञ्जलिर्भरतस्तदा । कौसल्यां प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृताम् ॥१६॥
आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामकल्मषम् । विपुलां च मम प्रीतिं स्थिरां जानासि राघवे ॥२०॥

बेटा भरत आ गया, वह दीर्घदर्शी है । भावी फलाफलके विषयमें ज्ञान रखता है, मैं उसे देखना चाहती हूँ ॥६॥ सुमित्रासे ऐसा कहकर दुर्बल बेसुध शुष्कमुख कौसल्या जहाँ भरत थे वहाँ गयीं ॥७॥ राजकुमार भरत और शत्रुघ्न भी उस रास्तेसे चले जिससे कौसल्याके घरमें जाया जाता था ॥८॥ कौसल्याको देखकर शत्रुघ्न और भरत बहुत ही दुःखी हुए और उन लोगोंने दुःखिनी तथा जमीनमें पड़ी हुई बेसुध कौसल्या का आलिंगन किया ॥९॥ और वे रोने लगे । उनके पास आकर दुःखिनी आर्या कौसल्या बोलीं ॥१०॥ यह शत्रुहीन राज्य तुमको मिला, तुमने राज्य चाहा और वह तुम्हें मिला । केकयीने बड़े ही निन्दित कर्मके द्वारा इस राज्यको राजासे पाया है ॥११॥ क्रूर केकयीने मेरे पुत्रको वल्कल वस्त्र पहनाकर वनवासी बना दिया, इससे उसे क्या फल मिला ॥१२॥ मुझे भी केकयी शीघ्र वनमें भेज दे, जहाँ मेरा सुन्दर यशस्वी पुत्र है ॥१३॥ अथवा मैं स्वयं ही सुमित्राको साथ लेकर और अग्निहोत्रकी सामग्री साथ लेकर सुखपूर्वक उस मार्गसे जाऊँगी जिससे जानेपर रामचन्द्र मिलेंगे ॥१४॥ अथवा पुरुषश्रेष्ठ मेरा पुत्र जहाँ तपस्या कर रहा है, वहाँ तुम स्वयं ले जाकर पहुँचा दो ॥१५॥ धन-धान्यसे युक्त हाथी घोड़ा रथसे पूर्ण यह विशाल राज्य केकयीने राजासे लेकर तुमको दे दिया ॥१६॥ इस प्रकारके अनेक कठोर वचनोंसे कौसल्याने भरत का तिरस्कार किया, जिनसे घावमें सूई छेदनेके समान वे दुःखी हुए ॥१७॥ बेसुध होकर भरत कौसल्याके चरणोंपर गिर पड़े, पुनः बहुत बिलाप करके वे बेहोश हो गये, पुनः उन्हें होश आया ॥१८॥ इस प्रकार बिलाप करती हुई तथा अनेक तरहसे शोकोंसे व्याकुल कौसल्यासे हाथ जोड़कर भरत बोले ॥१९॥ आर्ये, बिना जाने ही क्यों अपराधहीन मेरा तिरस्कार कर रही हो । आप जानती हैं

कृतशास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूत्तस्य कदाचन । सत्यसंधः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२१॥
प्रैष्यं पापीयसां यातु सूर्यं च प्रतिमेहतु । हन्तु पादेन गां सुप्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२२॥
कारयित्वा महत्कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम् । अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२३॥
परिपालयमानस्य राज्ञो भूतानि पुत्रवत् । ततस्तु द्रुह्यतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२४॥
बलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षितुः प्रजाः । अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२५॥
संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे वै यज्ञदक्षिणाम् । तां चापलपतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२६॥
हस्त्यश्वरथसंबाधे युद्धे शस्त्रसमाकुले । मा स्म कार्षीत्सतां धर्मं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२७॥
उपदिष्टं सुसूक्ष्मार्थं शास्त्रं यत्नेन धीमता । स नाशयतु दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२८॥
मा च तं व्यूढबाह्वंसं चन्द्रभास्करतेजसम् । द्राक्षीद्राज्यस्थमासीनं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२९॥
पायसं कृसरं छागं वृथा सोऽश्नातु निर्घृणः । गुरूँश्चाप्यवजानातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३०॥
गवां स्पृशतु पादेन गुरून्परिवदेत च । मित्रे द्रुह्येत सोऽत्यर्थं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३१॥
विश्वासात्कथितं किंचित्परिवादं मिथः क्वचित् । विवृणोति स दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३२॥

कि रामचन्द्रमें मेरा अधिक प्रेम है ॥२०॥ सज्जनश्रेष्ठ आर्य रामचन्द्र जिनकी सम्मतिसे वन गये हों, (उनको वन भेजनेके लिए जिसने परामर्श दिया हो) उसकी बुद्धि शास्त्रका अनुगमन न करे। अर्थात् अपनी ख्यातीके विरुद्ध वह चले ॥२१॥ वह नीचका दास हो, वह सूर्यकी ओर पेशाब करे और वह सोयी हुई गौको पैरसे मारे जिसकी सम्मितिसे रामचन्द्र वन गये हों ॥२२॥ जो स्वामी भृत्यसे बहुत बड़ा काम करा ले और उसे कुछ न दे अथवा उसका सब धन ले ले तो उसको जितना पाप होता हो वह उसे हो, जिसके परामर्शसे रामचन्द्र वन गये हों ॥२३॥ पुत्रके समान पालन करनेवाले राजाके प्रति जो प्रजा-विद्रोह करे उसका जो पाप होता हो वह उसे हो, जिसके परामर्शसे रामचन्द्र वन गये हों ॥२४॥ जो राजा प्रजासे कर ले और उसकी रक्षा न करे उसको जो पाप होता हो वह पाप उसे हो, जिसके परामर्शसे रामचन्द्र वन गये हों ॥२५॥ यज्ञमें तपस्वियोंसे दक्षिणा देनेकी प्रतिज्ञा करके पुनः उससे जो बदल जाय उसको जो पाप होता हो, वह पाप उसे हो, जिसके परामर्शसे रामचन्द्र वन गये हों ॥२६॥ हाथी रथ, घोड़े आदिसे युक्त तथा अस्त्र-शस्त्रसे समाकुल युद्धमें जो सज्जनोंके धर्मका पालन करे उसको जो पाप होता हो वह पाप उसे हो, जिसके परामर्श से रामचन्द्र वन गये हों ॥२७॥ बुद्धिमान् गुरुके द्वारा प्रयत्न पूर्वक उपदिष्ट शास्त्र वह दुष्टात्मा भूल जाय जिसके परामर्शसे रामचन्द्र वन गये हों ॥२८॥ लम्बी बाहु और कन्धेवाले, और चन्द्र सूर्यके समान तेजस्वी रामचन्द्रको राजसिंहासन पर बैठा न देख सके, जिसके परामर्श से रामचन्द्र वन गये हों ॥२९॥ पायस, खिचड़ी, माँस बिना देवताको अर्पित कियेही वह खाय, गुरुओंका तिरस्कार करे, जिसके परामर्शसे रामचन्द्र वन गये हो ॥३०॥ वह गौओंको पैरसे छूए, गुरुकी निन्दा करे, मित्रोंका अत्यन्त द्रोह करे जिसके परामर्शसे रामचन्द्र वन गये हों ॥३१॥ विश्वाससे किसीसे किसीकी निन्दा कोई करे और वह दुष्ट विश्वासघात करके उसे प्रकाशित कर दे उसको

अकर्ता चाकृतज्ञश्च त्यक्तश्च निरपत्रपः । लोके भवतु विद्विष्टो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३३॥
पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः । स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३४॥
अप्राप्य सदृशान्दारानतपत्यः प्रमीयताम् । अनवाप्य क्रियां धर्म्यां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३५॥
मात्मनः संततिं द्राक्षीत्स्वेषु दारेषु दुःखितः । आयुः समग्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३६॥
राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते । भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥३७॥
लाक्षया मधुमांसेन लोहेन च विषेण च । सदैव बिभृयाद्भृत्यान्यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३८॥
सङ्ग्रामे समुपोढे च शत्रुपक्षभयंकरे । पलायमानो वध्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३९॥
कपालपाणिः पृथिवीमटतां चीरसंवृतः । भिक्षमाणो यथोन्मत्तो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४०॥
मद्यप्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः । कामक्रोधाभिभूतश्च यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४१॥
मास्या धर्मे मनो भूयादधर्मं स निषेवताम् । अपात्रवर्षी भवतु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४२॥
सञ्चितान्यस्य वित्तानि विविधानि सहस्रशः । दस्युभिर्विप्रलुप्यन्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४३॥
उभे संध्ये शयानस्य यत्पापं परिकल्प्यते । तच्च पापं भवेत्तस्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४४॥
यदग्निदायके पापं यत्पापं गुरुतल्पगे । मित्रद्रोहे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥४५॥

जो पाप होता है वह उसे हो जिसके परामर्श से रामचन्द्र वन गये हों ॥३२॥ जो उपकार करनेवालेका प्रत्युपकार न करे, अतएव अकृतज्ञ, समाजके द्वारा त्यक्त, निर्लज्ज, लोकमें निन्दित हो जिसके परामर्शसे रामचन्द्र वन गये हों ॥३३॥ पुत्र भृत्य दास आदि घरमें वर्तमान हों पर वह स्वयं उनको बिना खिलाये उत्तम भोजन करे जिसके परामर्शसे रामचन्द्र वन गये हों ॥३४॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वन गये हों वह अपने योग्य स्त्री न पाकर पुत्रहीन ही मर जाय और अग्निहोत्र आदि धार्मिक क्रियाओंका फल बिना पाये ही वह मरे ॥३५॥ जिसके परामर्शसे रामचन्द्र वन गये हों वह अपनी स्त्रीमें पुत्रका मुँह न देखे, और पूरी आयु न पाकर मर जाय ॥३६॥ राजा स्त्री बालक और वृद्धके बध करनेमें जो पाप कहा गया है, दासके त्याग करनेमें जो पाप कहा गया है वह पाप उसे हो ॥३७॥ जिसके परामर्शसे रामचन्द्र वन गये हों वह लाख मधु माँस लोहा और विषके बेचनेसे प्राप्त धनके द्वारा अपने पुत्र आदिका पालन करे ॥३८॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों वह शत्रुओंको भय देनेवाले संग्राममें भागता हुआ शत्रुके द्वारा मारा जाय ॥३९॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों वह हाथमें खप्पर लेकर चीथरा पहनकर उन्मत्त के समान पृथिवीमें घूमे और भीख माँगे ॥४०॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों, वह शराबी हो जाय, परस्त्रीगामी और जुआड़ी हो जाय, वह कामी और क्रोधी हो जाय ॥४१॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों उसका मन धर्ममें न लगे, वह अधर्मकी सेवा करे और वह अपात्र को दान दे ॥४२॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वन गये हों उसके संचित सब प्रकारके धन चोरोंके द्वारा चोरी चला जाय ॥४३॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वन गये हों उसे सायंकाल और प्रातःकाल दोनों सन्ध्यामें सोनेवालेका पाप हो ॥४४॥ आग लगनेवालेका जो पाप होता हो, गुरुस्त्रीगामी

देवतानां पितॄणां च मातापित्रोस्तथैव च । मा स्म कार्षीत्स शुश्रूषां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४६॥
सतां लोकात्सतां कीर्त्याः सज्जुष्टात्कर्मणस्तथा । भ्रश्यतु क्षिप्रमद्यैव यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४७॥
अपास्य मातृशुश्रूषामनर्थे सोऽवतिष्ठताम् । दीर्घबाहुर्महावक्षा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४८॥
बहुभृत्यो दरिद्रश्च ज्वररोगसमन्वितः । समायात्सततं क्लेशं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४९॥
आशामाशंसमानानां दीनानामूर्ध्वचक्षुषाम् । अर्थिनां वितथां कुर्याद्यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५०॥
मायया रमतां नित्यं परुषः पिशुनोऽशुचिः । राज्ञो भीतस्त्वधर्मात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५१॥
ऋतुस्नातां सतीं भार्यामृतुकालानुरोधिनीम् । अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५२॥
विप्रलुप्तप्रजातस्य दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यत् । तदेतत्प्रतिपद्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५३॥
ब्राह्मणायोद्यतां पूजां विहन्तु कलुषेन्द्रियः । बालवत्सां च गां दोग्धु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५४॥
धर्मदारान्परित्यज्य परदारान्निषेवताम् । त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५५॥
पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके । यत्तदेकः स लभतां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५६॥
तृषार्तं सति पानीये विप्रलम्भेन योजयन् । यत्पापं लभते तत्स्याद्यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५७॥
भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः । तेन पापेन युज्यते यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५८॥

को जो पाप होता हो और मित्रद्रोहका जो पाप होता हो वह पाप उसे हो ॥४५॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों, वह देवताओं पितरों और माता पिताओंकी सेवा न कर सके ॥४६॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों वह सज्जनोंके लोकसे, सज्जनोंकी कीर्तिसे तथा सज्जनोंके कर्मसे भ्रष्ट हो जावे ॥४७॥ विशाल बाहु और चौड़ी छातीवाले रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों, वह माताकी सेवा छोड़कर बुरे मार्गमें प्रवृत्त हो ॥४८॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों वह दरिद्र बहुपुत्रवान हो और सदा ज्वर रोगसे पीड़ित रहा करे ॥४९॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों उसकी आशा व्यर्थ हो, वह अपना मनोरथ सुनावे और दीनतापूर्वक दाताका मुख देखे, तौभी दाता उसकी आशा व्यर्थ कर दे ॥५०॥ जिसके परामर्शसे रामचन्द्र वन गये हों वह चुगला अपवित्र अधर्मी राजासे भीत होकर छलके द्वारा अपना जीवन बितावे ॥५१॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वन गये हों वह दुष्टात्मा ऋतु समयमें पतिकी प्रार्थना करनेवाली ऋतुस्नाता सती स्त्रीकी प्रार्थना न माने ॥५२॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों वह उस ब्राह्मणका पाप पावे जिसने अपने बच्चोंका भोजन न देकर मार डाला हो ॥५३॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों वह ब्राह्मणको दी जाती हुई पूजा रोके और बालवत्सा गौको दुहे अर्थात् इनका पाप पावे ॥५४॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों वह पाणिगृहीताभार्याका त्याग करे, धर्मरतिका त्याग कर वह परदाराका अनुरागी हो ॥५५॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों विष आदिसे पीनेका पानी दूषित करनेवालेका पाप तथा विष देनेवालेका पाप अकेला ही पावे ॥५६॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों उसका वह पाप लगे जो जल रहनेपर भी प्यासेको उसका पता न बतलावे, किन्तु छिपा दे ॥५७॥ रामचन्द्र जिसके परामर्शसे वनमें गये हों

एवमाश्वासयन्नेव दुःखार्तोऽनुपपात ह । विहीनतां पतिपुत्राभ्यां कौसल्यां पार्थिवात्मजः ५९
तदा तं शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम् । भरतं शोकसंतप्तं कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥६०॥
मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते । शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे ॥६१॥
दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्ष्मणः । वत्स सत्यप्रतिज्ञो हि सतां लोकानवाप्स्यसि ॥६२॥
इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम् । परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता ॥६३॥
एवं विलपमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः । मोहाच्च शोकसंरम्भाद्बभूव लुलितं मनः ॥६४॥
लालप्यमानस्य विचेतनस्य प्रनष्टबुद्धेः पतितस्य भूमौ ।
मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च दीर्घं सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः ॥६५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥७५॥

षट्सप्ततितमः सर्गः ७६

तमेवं शोकसंतप्तं भरतं कैकयीसुतम् । उवाच वदतां श्रेष्ठो वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः ॥ १ ॥
अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः । प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम् ॥ २ ॥
वसिष्ठस्य वचः श्रुत्वा भरतो धरणीं गतः । प्रेतकृत्यानि सर्वाणि कारयामास धर्मवित् ॥ ३ ॥

उसे वह पाप लगे जो झगड़ा करनेवाले दो मनुष्योंमें एकके पक्षपातमें उसीके फायदेका निर्णय करे ॥५८॥ राजकुमार भरत पति-पुत्र-हीना कौसल्याको इस प्रकार समझाते हुए ही दुःखित होकर गिर पड़े ॥५९॥ बड़े कठिन-कठिन शपथ करते हुए शोकसन्तप्त अतएव अचेतन भरतसे कौसल्या बोली ॥६०॥ पुत्र, तुम्हारे इन शपथोंसे मेरे निकलते हुए प्राण रुक गये हैं और तुम्हारे शपथ करनेसे मेरा दुःख और अधिक बढ़ रहा है ॥६१॥ यह प्रसन्नताकी बात है कि सुन्दर लक्षणोंवाली तुम्हारी यह आत्मा (अन्तःकरण) धर्मसे विचलित नहीं हुई । वत्स, यदि तुम्हारी प्रतिज्ञाएँ सत्य हैं तो तुमको सज्जनोंके लोक मिलेंगे । ६२॥ ऐसा कहकर और भ्रातृप्रेमी भरतको गोदमें लेकर दुःखिनी कौसल्याने आलिङ्गन किया और वे रोने लगीं ॥६३॥ इस प्रकार विलाप करनेसे दुःख-पीड़ित महात्मा भरतका मन शोकसे और मोहसे क्षुभित हो गया ॥६४॥ भरत भूमिपर पड़े हुए थे, उनकी बुद्धि नष्ट हो गयी थी, उनका बाहरी ज्ञान नष्ट हो गया था, वे बहुत बकबक करते थे और बार-बार निःश्वास लेते थे, इस प्रकार बड़े दुःखसे उनकी वह रात बीती ॥६५॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७५ ॥

इस प्रकार शोक-सन्तप्त केकयी पुत्र भरतसे, बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ, सुन्दर वचन बोलनेवाले वसिष्ठ ऋषि बोले ॥१॥ राजपुत्र, अब शोक व्यर्थ है, यशस्वी राजपुत्र तुम्हारा कल्याण हो, अब वह समय उपस्थित है कि राजाको ले चलनेका प्रबन्ध करना चाहिए ॥२॥ वसिष्ठके वचन सुनकर भरतने उन्हें

उद्धृत्य तैलसंसेकात्स तु भूमौ निवेशितम् । आपीतवर्णवदनं प्रसुप्तमिव भूमिपम् ॥ ४ ॥
संवेश्य शयने चाग्र्ये नानारत्नपरिष्कृते । ततो दशरथं पुत्रो विललाप सुदुःखितः ॥ ५ ॥
किं ते व्यवसितं राजन्प्रोषिते मय्यनागते । विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ ६ ॥
क यास्यसे महाराज हित्वेमं दुःखितं जनम् । हीनं पुरुषसिंहेन रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ७ ॥
योगक्षेमं तु तेऽव्यग्रं कोऽस्मिन्कल्पयिता पुरे । त्वयि प्रयाते स्वस्तात रामे च वनमाश्रिते ॥ ८ ॥
विधवा पृथिवी राजंस्त्वया हीना न राजते । हीनचन्द्रेव रजनी नगरी प्रतिभाति माम् ॥ ९ ॥
एवं विलपमानं तं भरतं दीनमानसम् । अब्रवीद्वचनं भूयो वसिष्ठस्तु महामुनि ॥१०॥
प्रेतकार्याणि यान्यस्य कर्तव्यानि विशांपतेः । तान्यव्यग्रं महाबाहो क्रियतामविचारितम् ॥११॥
तथेति भरतो वाक्यं वसिष्ठस्याभिपूज्य तत् । ऋत्विक्पुरोहिताचार्यांस्त्वरयामास सर्वशः ॥१२॥
ये त्वग्नयो नरेन्द्रस्य अग्न्यगाराद्बहिष्कृताः । ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव ते हूयन्ते यथाविधि ॥१३॥
शिबिकायामथारोप्य राजानं गतचेतनम् । बाष्पकण्ठा विमनसस्तमूचुः परिचारकाः ॥१४॥
हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च । प्रकिरन्तो जना मार्गे नृपतेरग्रतो ययुः ॥१५॥
चन्दनागुरुनिर्यासान्सरलं पद्मकं तथा । देवदारुणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथापरे ॥१६॥
गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र गत्वाथ भूमिपम् । तत्र संवेशयामासुश्चितामध्ये तमृत्विजः ॥१७॥

प्रणाम किया, धर्मज्ञ भरतने मन्त्रियोंके द्वारा राजाके प्रेतकृत्य के सब प्रबन्ध कराये ॥३॥ राजाका शरीर तेलसे निकालकर भूमिपर रखा गया, राजाका शरीर कुछ पीला हो गया था, वे सोते हुएसे मालूम पड़ते थे ॥४॥ उनका शरीर बहुत ही उत्तम बिछौनेपर रखा गया, उस बिछौनेमें तरह-तरहके रत्न जड़े हुए थे। राजाको इस दशामें देखकर भरत बहुत ही दुःखी हुए और विलाप करने लगे ॥५॥ राजन्, रामचन्द्र और लक्ष्मणको वनमें भेजकर तथा मेरे आनेके पहलेही आपने यह क्या निश्चय किया, स्वर्ग जानेका विचार क्यों किया ॥६॥ पुरुषसिंह सरल स्वभाव रामचन्द्रसे हीन दुःखी मुझको छोड़कर आप कहाँ जायेंगे ॥७॥ आपके स्वर्ग चले जानेपर और रामचन्द्रके वन चले जानेपर आपके इस नगरमें प्रजाओंका योगक्षेम कौन करेगा ॥८॥ राजन्, आपके बिना यह पृथिवी विधवाके समान नहीं शोभती। चन्द्रहीन रात्रिके समान यह नगरी मुझे मालूम होती है ॥९॥ दुःखितमना भरत इस प्रकार विलाप करने लगे। महामुनि वसिष्ठ उनसे पुनः बोले ॥१०॥ इन राजाके जो कुछ प्रेतकृत्य हैं वे सब सावधान होकर बिना सन्देहके करो। अर्थात् इन कृत्योंके फलाफलके सम्बन्धमें विचार मत करो ॥११॥ 'जी हाँ' कहकर भरतने वसिष्ठकी आज्ञा स्वीकार की और ऋत्विक् पुरोहित तथा आचार्योंको शीघ्रता करनेके लिए उन्होंने कहा ॥१२॥ राजाकी अग्निशालासे जो अग्नि ऋत्विक् और याजकके द्वारा बाहर निकाली गई थी उसमें हवन किया गया ॥१३॥ निष्प्राण राजाका शरीर सवारीपर रख भृत्य उन्हें ले चले, वे उदास थे, उनका गला भरा हुआ था ॥१४॥ राजाके आगे-आगे लोग सोना और चाँदीके फूल तथा और अनेक तरहके फूल लुटाते जाते थे ॥१५॥ चन्दन, अगुरु, गुग्गुल, सरस, पद्मक तथा देवदारुकी लकड़ी लाकर लोग राजाकी चितामें रखने लगे ॥१६॥ और भी अनेक सुगन्धित वस्तु उस चितामें रखी गयीं, ऋत्विजोंने

तदा हुताशनं हुत्वा जेपुस्तस्य तदृत्विजः । जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ॥१८॥
शिबिकाभिश्च यानैश्च यथार्हं तस्य योषितः । नगरान्निर्ययुस्तत्र वृद्धैः परिवृतास्तथा ॥१९॥
प्रसव्यं चापि तं चक्रुर्ऋत्विजोऽग्निचितं नृपम् । स्त्रियश्च शोकसंतप्ताः कौसल्याप्रमुखास्तदा ॥२०॥
क्रौञ्चीनामिव नारीणां निनादस्तत्र शुश्रुवे । आर्तानां करुणं काले क्रोशन्तीनां सहस्रशः ॥२१॥
ततो रुदन्त्यो विवशा विलप्य च पुनःपुनः । यानेभ्यः सरयूतीरमवतेरुर्नृपाङ्गनाः ॥२२॥
कृत्वोदकं ते भरतेन सार्धं नृपाङ्गना मन्त्रिपुरोहिताश्च ।
पुरं प्रविश्याश्रुपरीतनेत्रा भूमौ दशाहं व्यनयन्त दुःखम् ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः ॥७६॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः ७७

ततो दशाहेऽतिगते कृतशौचो नृपात्मजः । द्वादशेऽहनि संप्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत् ॥ १ ॥
ब्राह्मणेभ्यो धनं रत्नं ददावन्नं च पुष्कलम् । बास्तिकं बहु शुक्लं च गाश्चापि बहुशस्तदा ॥ २ ॥
दासीर्दासांश्च यानानि वेश्मानि सुमहान्ति च । ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदेहिकम् ॥३॥
ततः प्रभातसमये दिवसे च त्रयोदशे । विललाप महाबाहुर्भरतः शोकमूर्च्छितः ॥ ४ ॥

राजाके उस शरीरको चितामें रखा ॥१७॥ राजाके ऋत्विजोंने अग्निमें हवन किया तथा मन्त्रोंका जप किया और साम गानेवालोंने शास्त्रानुसार साम मन्त्रोंका गान किया ॥१८॥ राजाकी स्त्रियाँ सवारियोंपर तथा अन्य यानोंपर वृद्धोंके साथ नगरसे बाहर आयीं ॥१९॥ आग दी हुई राजाकी चिताकी ऋत्विजोंने तथा शोकसन्तप्त कौसल्या आदि स्त्रियोंने प्रदक्षिणा की ॥२०॥ उस समय दुःखसे विलाप करती हुई क्रौंचियों (टिटिहिरियों) के रोनेके समान हजारों दुःखिनी स्त्रियोंके रोनेका शब्द सुन पड़ा ॥२१॥ रोती-रोती वे स्त्रियाँ मुरझा गयीं, बार-बार उन लोगोंने विलाप किया, पुनः वे राजस्त्रियाँ सरयूके तीरपर सवारियोंसे उतरीं ॥२२॥ राजाकी वे स्त्रियाँ तथा मन्त्री और पुरोहित आदिने भरतके साथ राजाको जलाञ्जलि दी, वहाँसे रोते हुए वे नगरमें आये और उन लोगोंने दस दिन भूमि-शयन आदिके द्वारा दुःखपूर्वक बिताये ॥२३॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥७६॥
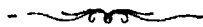
तदनन्तर दस दिन बीतनेपर राजकुमार भरतने ग्यारहवें दिनके आत्मशुद्धि करनेवाले कर्म किये । पुनः बारहवें दिनके आनेपर उन्होंने राजाके सब श्राद्ध कर्म किये ॥१॥ ब्राह्मणोंको धन रत्न तथा बहुतसा अन्न, अनेक प्रकारके दामी वस्त्र, बकरी और अनेक गौ उन्होंने दिये ॥२॥ दासियाँ, दास यान तथा बड़े-बड़े घर उन्होंने राजाके लिए परलोकके ब्राह्मणोंको लिए दिये ॥३॥ तेरहवें दिन महाबाहु भरतने राजाके लिए

शब्दापिहितकण्ठश्च शोधनार्थमुपागतः । चितामूले पितुर्वाक्यमिदमाह सुदुःखितः ॥ ५ ॥
तात यस्मिन्निसृष्टोऽहं त्वया भ्रातरि राघवे । तस्मिन्वनं प्रव्रजिते शून्ये त्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ॥६॥
यस्या गतिरनाथायाः पुत्रः प्रव्राजितो वनम् । तामम्बां तात कौसल्यां त्यक्त्वा त्वं क्व गतो नृप ॥७॥
दृष्ट्वा भस्मारुणं तच्च दग्धास्थि स्थानमण्डलम् । पितुः शरीरनिर्वाणं निष्टनन्विषसाद ह ॥ ८ ॥
सतु दृष्ट्वा रुदन्दीनः पपात धरणीतले । उत्थाप्यमानः शक्रस्य यन्त्रध्वज इवोच्छ्रितः ॥ ९ ॥
अभिपेततुस्ततः सर्वे तस्यामात्याः शुचिव्रतम् । अन्तकाले निपतितं ययातिमृषयो यथा ॥१०॥
शत्रुघ्नश्चापि भरतं दृष्ट्वा शोकपरिप्लुतम् । विसंज्ञो न्यपतद्भूमौ भूमिपालमनुस्मरन् ॥११॥
उन्मत्त इव निश्चितो विललाप सुदुःखिताः । स्मृत्वा पितुर्गुणाङ्गानि तानि तानि तदातदा ॥१२॥
मन्थराप्रभवस्तीव्रः कैकेयीग्राहसंकुलः । वरदानमयोऽक्षोभ्योऽमज्जयच्छोकसागरः ॥१३॥
सुकुमारं च बालं च सततं लालितं त्वया । क्व तात भरतं हित्वा विलपन्तं गतो भवान् ॥१४॥
ननु भोज्येषु पानेषु वस्त्रेष्वाभरणेषु च । प्रवारयति सर्वान्नास्तन्नः कोऽद्य करिष्यति ॥१५॥
अवदारणकाले तु पृथिवी नावदीर्यते । विहीना या त्वया राज्ञा धर्मज्ञेन महात्मना ॥१६॥
पितरि स्वर्गमापन्ने रामे चारण्यमाश्रिते । किं मे जीवितसामर्थ्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥१७॥

विलाप किया और वे शोकसे मूर्च्छित हो गये ॥४॥ अस्थिसञ्चय करनेके लिये वे चिताके पास आये, उनका गला भरा हुआ था, आवाज नहीं निकलती थी, बड़े दुःखी होकर उन्होंने पिताके लिए यह कहा ॥५॥ पिता जिस भाई रामचन्द्रको आपने मुझे सौंपा था, आज वे वनमें चले गये मैं निरालम्ब हूँ, आपने बिना आधारके मुझे छोड़ा ॥६॥ जिस अनाथा कौसल्याका अवलम्ब पुत्र वनमें भेजा गया, राजन्, उस माता कौसल्याको छोड़कर आप आप कहाँ चले गये ॥७॥ राजाकी जली हुई हड्डियोंके स्थानको देखकर, जो जलनेसे लाल हो गया था और जहाँ पिताके शरीरका विनाश हुआ था, भरत जोर-जोरसे रोने लगे और दुःखी हुए ॥८॥ वह सब देखकर दुःखी भरत रोने लगे और जमीनपर गिर पड़े । ऊपर उठी इन्द्रकी ध्वजाके समान लोगोंसे उठाये जानेपर ॥९॥ शुद्ध व्रतवाले भरतके साथ उनके सचिव भी पृथिवीमें गिर पड़े, जिस प्रकार अन्तकालमें राजा ययातिके साथ ऋषि गिरे थे ॥१०॥ भरतको शोकव्याप्त देखकर शत्रुघ्न भी राजाका स्मरण करते हुए बेहोश हो गये और वे जमीनपर गिर पड़े ॥११॥ समय-समय पर प्रकाशित हुए राजाके गुणों और उनके अंगोको स्मरण करके शत्रुघ्न बहुत दुःखी हुए और वे बेसुध होकर उन्मत्तके समान विलाप करने लगे ॥१२॥ मन्थरासे उत्पन्न केकयीके वचन-रूपी ग्राहोंसे भरा हुआ वरदान रूपी अक्षोभ्य शोक-सागरने शत्रुघ्नको डुबा लिया ॥१३॥ सुकुमार बालक जिसका तुमने सदा लालन किया है, उस रोते हुए भरतको छोड़कर पिता आप कहाँ चले गये ॥१४॥ भोजनों, पानों (पेय पदार्थ), वस्त्रों और आभरणोंको आप हम लोगोंसे पसन्द कराया करते थे, आज वह कौन करावेगा ॥१५॥ आपके समान धर्मज्ञ महात्मा राजाके न रहनेपर इस पृथिवीको फट जाना चाहिए था, सो यह फटती क्यों नहीं ॥१६॥ पिताके स्वर्ग चले जाने और रामके वन चले जानेपर मुझमें अब जीनेकी कौन

हीनो भ्राता च पित्रा च शून्यामिक्ष्वाकुपालिताम्। अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि प्रवेक्ष्यामि तपोवनम्॥१८॥
तयोर्विलपितं श्रुत्वा व्यसनं चाप्यवेक्ष्य तत्। भृशमार्ततरा भूयः सर्व एवानुगामिनः॥१९॥
ततो विषण्णौ श्रान्तौ च शत्रुघ्नभरतावुभौ। धरायां स्म व्यचेष्टेतां भग्नशृङ्गाविवर्षभौ॥२०॥
ततः प्रकृतिमान्वैद्यः पितुरेषां पुरोहितः। वसिष्ठो भरतं वाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह॥२१॥
त्रयोदशोऽयं दिवसः पितुर्वृत्तस्य ते विभो। सावशेषास्थिनिचये किमिह त्वं विलम्बसे॥२२॥
त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः। तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि॥२३॥
सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च। श्रावयामास तत्त्वज्ञः सर्वभूतभवाभवौ॥२४॥
उत्थितौ तौ नरव्याघ्रौ प्रकाशेते यशस्विनौ। वर्षातपपरिग्लानौ पृथगिन्द्रध्वजाविव॥२५॥
अश्रूणि परिमृद्नन्तौ रक्ताक्षौ दीनभाषिणौ। अमात्यास्त्वरयन्ति स्म तनयौ चापराः क्रियाः॥२६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः॥ ७७॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः ७८

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः। भरतं शोकसंतप्तमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥
गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः। स रामः सत्त्वसंपन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम्॥ २॥

सामर्थ्य है, अब मैं क्यों जाऊँगा, अब मैं अग्निमें प्रवेश करूँगा॥१७॥ पिता और भाईसे शून्य इक्ष्वाकु-वंशीय राजाओंके द्वारा पालित इस अयोध्या नगरीमें मैं अब प्रवेश न करूँगा, अब मैं तपोवनमें प्रवेश करूँगा॥१८॥ उन दोनों भरत और शत्रुघ्नका ऐसा विलाप सुनकर तथा उन लोगोंपर आया हुआ ऐसा कष्ट देखकर उनके साथवाले सभी अनुगामी अधिक दुःखी हुए॥१९॥ तदन्तर दुःखी और थके हुए भरत और शत्रुघ्न पृथिवीपर सींग टूटे हुए दो बैलोंके समान लोटने लगे॥२०॥ तदन्तर उदार स्वभाववाले ब्रह्मज्ञानी और इनके पिताके पुरोहित वसिष्ठ भरतको उठाकर ऐसा बोले॥२१॥ विभो, तुम्हारे पिताके मरनेका आज यह तेरहवाँ दिन है, अभी अस्थिसंचय नहीं हुआ है, क्यों विलम्ब करते हो॥२२॥ सभी प्राणियोंको ये तीन द्वन्द्व (जोड़े) भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु अनिवार्य हैं, ये सभीको होते हैं, इनसे कोई बच नहीं सकता, अतएव इस अपरिहार्य विषयमें तुमको ऐसा शोक नहीं करना चाहिए॥२३॥ तत्वज्ञ सुमन्त्रने शत्रुघ्नको उठाया और उन्हें प्रसन्न करके उन्होंने प्राणियोंके जन्म तथा मृत्युकी बातें समझायीं॥२४॥ वे दोनों यशस्वी नरश्रेष्ठ उठकर वर्षा और धूपमें म्लान इन्द्रध्वजके समान मालूम होने लगे॥२५॥ वे आँखें पोंछ रहे थे, उनकी आँखें लाल हो गयीं थीं, वे बड़े दुःखी होकर बोल रहे थे। उन दोनों राजपुत्रोंको सचिवोंने अन्य क्रियाएँ करनेके लिये प्रेरित किया॥२६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त॥ ७७॥

शोक-संतप्त भरत रामचन्द्रके पास जानेका विचार करने लगे, लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न उनसे ऐसा बोले॥१॥ जो रामचन्द्र दुःखके समय सब प्राणियोंके अवलम्ब हैं, हम लोगोंके लिये तो बात ही

बलवान्वीर्यसंपन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ । किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥ ३ ॥
पूर्वमेव तु निग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ । उत्पथं यः समारूढो नार्या राजा वशं गतः ॥ ४ ॥
इति संभाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे । प्राग्द्वारेऽभूत्तदा कुब्जा सर्वाभरणभूषिता ॥ ५ ॥
लिप्ता चन्दनसारेण राजवस्त्राणि बिभ्रती । विविधं विविधैस्तैस्तैर्भूषणैश्च विभूषिता ॥ ६ ॥
मेखलादामभिश्चित्रैरन्यैश्च वरभूषणैः । बभासे बहुभिर्बद्धा रज्जुभिरिव वानरी ॥ ७ ॥
तां समीक्ष्य तदा द्वाःस्थो भृशं पापस्य कारिणीम् । गृहीत्वा करुणं कुब्जां शत्रुघ्नाय न्यवेदयत् ॥ ८ ॥
यस्याः कृते वने रामो न्यस्तदेहश्च वः पिता । सेयं पाप नृशंसा च तस्याः कुरु यथामिति ॥ ९ ॥
शत्रुघ्नश्च तदाज्ञाय वचनं भृशदुःखितः । अन्तःपुरचरान्सर्वानित्युवाच धृतव्रतः ॥१०॥
तीव्रमुत्पादितं दुःखं भ्रातॄणां मे तथा पितुः । यथा सेयं नृशंसस्य कर्मणः फलमश्नुताम् ॥११॥
एवमुक्त्वा च तेनाशु सखीजनसमावृता । गृहीता बलवत्कुब्जा सा तद्गृहमनादयत् ॥१२॥
ततः सुभृशसंतप्तस्तस्याः सर्वः सखीजनः । क्रुद्धमाज्ञाय शत्रुघ्नं व्यपलायत सर्वशः ॥१३॥
अमन्त्रयत कृत्स्नश्च तस्याः सर्वः सखीजनः । यथायं समुपक्रान्तो निःशेषं नः करिष्यति ॥१४॥
सानुक्रोशां वदान्यां च धर्मज्ञां च यशस्विनीम् । कौसल्यां शरणं यामः सा हि नोऽस्ति ध्रुवा गतिः १५

क्या, वे ही पराक्रमी रामचन्द्र स्त्रीके साथ वन भेज दिये गये हैं ॥२॥ लक्ष्मण तो बलवान और वीर हैं, उन्होंने पिताको दबाकर रामचन्द्रको वनवाससे क्यों नहीं मुक्त किया। ३॥ राजा दसरथने स्त्रीके वश होकर जब न्याय मार्गका उल्लंघन किया और रामचन्द्रको वन भेजा, उसके पहले ही उचित अनुचितका विचार करके राजाको रोकना चाहिये था, जबरदस्ती राजाको ऐसा काम नहीं करने देना चाहिये था ॥४॥ लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न जब इस प्रकार बोल रहे थे, तब सब आभूषणोंसे विभूषित कुब्जा पूर्वके द्वारपर खड़ी देख पड़ी ॥५॥ चन्दन-सार (चन्दनका अतर) वह लगाये हुए थी, राजोचित वस्त्र धारण किये हुई थी तथा अन्य अनेक प्रकारके विभूषणोंसे विभूषित थी ॥६। जड़ाऊ करधनी तथा अन्य अनेक भूषणोंसे वह रस्सीमें बँधी वानरीके समान मालूम पड़ती थी ॥७। अनेक पापोंके करनेवाली उस कुब्जाको द्वारपालने देखा, और उसे पकड़कर वह जबरदस्ती शत्रुघ्नके पास ले आया ॥८॥ उसने शत्रुघ्नसे कहा जिसके कारण रामचन्द्र वनमें गये हैं और आपके पिताने शरीर त्याग किया है वही क्रूर पापिन यह है इसके लिये आपकी जो इच्छा हो वह आप करें ॥९॥ नितान्त दुःखी शत्रुघ्नने द्वारपालके वचन समझकर रनिवासमें रहनेवाले सब लोगोंसे कहा ॥१०॥ इसने मेरे भाइयों तथा पिताको बड़ा दुःख दिया है, अब यह अपने क्रूर कर्मका फल पावे ॥११॥ ऐसा कहकर शत्रुघ्नने सखियोंसे घिरी मन्थराको बलपूर्वक पकड़ा जिससे उसने उस समूचे घरको अपने चीत्कारसे गुंजा दिया ॥१२॥ इससे उसकी सब सखियाँ अत्यन्त क्रुद्ध हुई और वे शत्रुघ्नको कोपित जानकर इधर-उधर भाग गयीं ॥१३॥ मन्थराकी सब सखियोंने विचार कर निश्चय किया कि शत्रुघ्नका जो ढंग है उससे मालूम पड़ता है कि ये हम लोगोंको मार ही डालेंगे ॥१४॥ अतएव इस समय हम लोगोंको दयालु, दानी, धर्म जाननेवाली

स च रोषेण संवीतः शत्रुघ्नः शत्रुशासनः । संचकर्ष तदा कुब्जां क्रोशतीं पृथिवीतले ॥१६॥
तस्यां ह्याकृष्यमाणायां मन्थरायां ततस्ततः । चित्रं बहुविधं भाण्डं पृथिव्यां तद्व्यशीर्यत ॥१७॥
तेन भाण्डेन विस्तीर्णं श्रीमद्राजनिवेशनम् । अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा ॥१८॥
स बली बलवत्क्रोधाद्गृहीत्वा पुरुषर्षभः । कैकेयीमभिनिर्भर्त्स्य बभाषे परुषं वचः ॥१९॥
तैर्वाक्यैः परुषैर्दुःखैः कैकेयी भृशदुःखिता । शत्रुघ्नभयसंत्रस्ता पुत्रं शरणमागता ॥२०॥
तं प्रेक्ष्य भरतः क्रुद्धं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् । अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति ॥२१॥
हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् । यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥२२॥
इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः । त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ॥२३॥
भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः । न्यवर्तत ततो दोषात्तां मुमोच च मूर्च्छिताम् ॥२४॥
सा पादमूले कैकेय्या मन्थरा निपपात ह । निःश्वसन्ती सुदुःखार्ता कृपणं विललाप ह ॥२५॥

शत्रुघ्नविक्षेपविमूढसंज्ञां समीक्ष्य कुब्जां भरतस्य माता ।
शनैः समाश्वासयदार्तरूपां क्रौञ्चीं विलग्नामिव वीक्षमाणाम् ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

यशस्विनी कौसल्याकी शरण जाना चाहिए, वे ही इस समय हम लोगोंकी रक्षा कर सकेंगी ॥१५॥ शत्रुओंका शासन करनेवाले शत्रुघ्न क्रोधमें भरकर मन्थराको जमीनमें पटककर खींचने लगे और वह चिल्लाने लगी ॥१६॥ मन्थराके इधर-उधर घसीटी जानेके कारण उसके शरीरसे टूटकर गहने पृथिवीपर गिर पड़े ॥१७॥ उसके गहनोंसे भरा हुआ वह राजमहल उस समय शरद्‌ऋतुके आकाशके समान शोभित होता था ॥१८॥ बलवान पुरुषश्रेष्ठ शत्रुघ्नने उसे बड़े क्रोधसे पकड़ा केकयी उसको छुड़ानेके लिये आयी तो उसे भी डाँटकर कठोर बचन उन्होंने कहे ॥१९॥ उन कठोर और दुःख देनेवाले बचनोंसे केकयी बहुत दुःखी हुई, शत्रुघ्नसे डरकर वह अपने पुत्रकी शरण गयी ॥२०॥ शत्रुघ्नको क्रोधित देखकर भरतने कहा—स्त्रियाँ सबके लिए अवध्य हैं, अतएव तुम इसे क्षमा करो ॥२१॥ दुष्ट आचरणवाली इस पापिन केकयीको मैं ही मारता, यदि धर्मात्मा रामचन्द्र मातृहत्या समझकर मुझसे घृणा न करते ॥२२॥ इस मन्थराको भी तुम्हारे द्वारा मारी गयी जब रामचन्द्र जानेंगे, तब वे मुझसे और तुमसे बोलना बन्द कर देंगे, यह निश्चय समझो ॥२३॥ भरतके वचन सुनकर लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न मन्थराके बध करनेसे निवृत्त हुए और उसे मूर्छित दशामें उन्होंने छोड़ दिया ॥२४॥ वह मन्थरा केकयीके चरणोंपर गिर पड़ी और लम्बी साँस लेकर बड़े दुःखसे विलाप करने लगी ॥२५॥ शत्रुघ्नके घसीटनेसे बेहोश मन्थराको देखकर भरतकी माता केकयी धीरे-धीरे होशमें ले आयी। वह जालमें फँसी हुई क्रौंचीके समान बड़े दुःखसे केकयीकी ओर देख रही थी ॥२६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमः सर्गः ७६

ततः प्रभातसमये दिवसेऽथ चतुर्दशे । समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् ॥ १ ॥
गतो दशरथः स्वर्गं यो नो गुरुतरो गुरुः । रामं प्रव्राज्य वै ज्येष्ठं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २ ॥
त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्र महायशः । संगत्या नापराध्नोति राज्यमेतदनायकम् ॥ ३ ॥
आभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव । प्रतीक्षते त्वां स्वजनः श्रेणयश्च नृपात्मज ॥ ४ ॥
राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम् । अभिषेचय चात्मानं पाहि चास्मान्नरर्षभ ॥ ५ ॥
आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा सर्वं प्रदक्षिणम् । भरतस्तं जनं सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः ॥ ६ ॥
ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः । नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः ॥ ७ ॥
रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः । अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च ॥ ८ ॥
युज्यतां महती सेना चतुरङ्गमहाबला । आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात् ॥ ९ ॥
आभिषेचनिकं चैव सर्वमेतदुपस्कृतम् । पुरस्कृत्य गमिष्यामि रामहेतोर्वनं प्रति ॥१०॥
तत्रैव तं नरव्याघ्रमभिषिच्य पुरस्कृतम् । आनयिष्यामि वै रामं हव्यवाहमिवाध्वरात् ॥११॥
न सकामां करिष्यामि स्वामिमां मातृगन्धिनीम् । वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति ॥१२॥
क्रियतां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विषमाणि च । रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः ॥१३॥

तदनन्तर चौदहवें दिन प्रातःकाल मन्त्रिगण मिलकर भरतके पास आये और उनसे बोले ॥१॥ रामचन्द्र और महाबली लक्ष्मणको वनमें भेजकर राजा दसरथ स्वर्ग चले गये, जो हम लोगोंके परम गुरु थे ॥२॥ इस राज्यका कोई राजा नहीं है, अतएव राजपुत्र, आप इस राज्यके राजा होवें । बड़े भाईके न रहनेपर भी आप पिताकी आज्ञासे राज्यग्रहण करके भी अपराधी न होंगे ॥३॥ राजपुत्र, ये मन्त्रिगण तथा पुरवासी, अभिषेककी सब सामग्रियाँ एकत्र करके तुम्हारी प्रतिक्षा कर रहे हैं ॥४॥ भरत, पिता-पितामहोंका यह राज्यग्रहण करो, अपना अभिषेक कराओ और हम लोगोंका पालन करो ॥५॥ भरतने अभिषेककी उन सब सामग्रियोंकी प्रदक्षिणा की और व्रती भरत उन सब लोगोंसे बोले । ६॥ ज्येष्ठ ही राज्याधिकारी होता है, यही हमारे कुलकी रीति है, अतएव आप चतुर लोग मुझसे ऐसा न कहें ॥७॥ रामचन्द्र हमारे बड़े भाई हैं, वे राजा होंगे और मैं चौदह वर्षांतक वनवास करूँगा ॥८॥ चतुरंगिणी महाबलवती सेना आप लोग तयार करें, मैं बड़े भाई रामचन्द्रको वनसे लौटा लाऊँगा ॥९॥ अभिषेककी जो ये सब सामग्रियाँ एकत्र की गई हैं, उन सबको साथ ले रामचन्द्रके लिए मैं वनमें जाऊँगा ॥१०॥ वहीं नरश्रेष्ठ रामचन्द्रकी पूजा करके उनका अभिषेक करूँगा और यज्ञसे अग्निके समान मैं उन्हें लौटा लाऊँगा ॥११॥ मेरी माता कहानेवाली इसको मैं पूर्ण मनोरथ न होने दूँगा, मैं दुर्गम वनमें जाकर रहूँगा और रामचन्द्र राजा होंगे ॥१२॥ कारीगर रास्ता बनावें, ऊँची नीची जमीनको बराबर करें, मार्गमें

एवं संभाषमाणं तं रामहेतोर्नृपात्मजम् । प्रत्युवाच जनः सर्वः श्रीमद्वाक्यमनुत्तमम् ॥१४॥
एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्रीरुपतिष्ठताम् । यस्त्वं ज्येष्ठे नृपसुते पृथिवीं दातुमिच्छसि ॥१५॥
अनुत्तमं तद्वचनं नृपात्मजः प्रभाषितं संश्रवणे निशम्य च ।
प्रहर्षजास्तं प्रति बाष्पबिन्दवो निपेतुरार्याननेत्रसंभवाः ॥१६॥
ऊचुस्ते वचनमिदं निशम्य हृष्टाः सामात्याः सपरिषदो वियातशोकाः ।
पन्थानं नरवर भक्तिमाञ्जनश्च व्यादिष्टस्तव वचनाच्च शिल्पिवर्गः ॥१७॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

अशीतितमः सर्गः ८०

अथ भूमिप्रदेशज्ञाः सूत्रकर्मविशारदाः । स्वकर्माभिरताः शूराः खनका यन्त्रकास्तथा ॥ १ ॥
कर्मान्तिकाः स्थपतयः पुरुषा यन्त्रकोविदाः । तथा वर्धकयश्चैव मार्गिणो वृक्षतक्षकाः ॥ २ ॥
सूपकाराः सुधाकारा वंशचर्मकृतस्तथा । समर्था ये च द्रष्टारः पुरतश्च प्रतस्थिरे ॥ ३ ॥
स तु हर्षात्तमुद्देशं जनौघो विपुलः प्रयान् । अशोभत महावेगः सागरस्येव पर्वणि ॥ ४ ॥
ते स्वभारं समास्थाय वर्त्मकर्मणि कोविदाः । करणैर्विविधोपेतैः पुरस्तात्संप्रतस्थिरे ॥ ५ ॥
लता वल्लीश्च गुल्मांश्च स्थाणूनश्मन एव च । जनास्ते चक्रिरे मार्गं छिन्दन्तो विविधान्द्रुमान् ॥६॥

भयानक स्थानको जाननेवाले रक्षक साथ चलें ॥१३॥ रामचन्द्रके लिए ऐसा कहते हुए भरतको सब लोगोंने बड़े सुन्दर शब्दोंमें कहा ॥१४॥ आप जो ऐसा कह रहे हैं, इस कारण पद्मचिह्नवाली लक्ष्मी आपको प्राप्त हो, क्योंकि आप अपने बड़े भाई राजपुत्रको पृथिवीका राज्य देना चाहते हैं ॥१५॥ रामचन्द्र-के सम्बन्धकी भरतकी वैसी श्रेष्ठ बात सुनकर सभी श्रेष्ठ मनुष्योंकी आँखोंसे आनन्दाश्रु गिरने लगा ॥१६॥ भरतके ये वचन सुनकर सचिव सभाके सभी सदस्य शोकहीन होकर प्रसन्न हो गये और वे बोले— आपके कहनेसे आपमें भक्ति रखनेवाले कारीगर मार्ग ठीक करनेके लिये भेज दिये गये हैं ॥१७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका उन्नासवाँ सर्ग समाप्त ॥७९॥

ऊँची नीची जमीनको जाननेवाले, छावनी आदि बनानेमें निपुण, अपने काममें निपुण शूर, खोदने-वाले, जलप्रवाह आदिको रोकनेवाले ॥१॥ नौकर कारीगर, रथ आदि बनानेवाले मिस्त्री, यन्त्र बनानेवाले बढ़ई, मार्गकी रक्षा करनेवाले तथा वृक्ष काटनेवाले, ॥२॥ रसोई बनानेवाले, रंगसाज, बाँस और चमड़ेका काम करनेवाले, तथा योग्य देखनेवाले आगे चले ॥३॥ रामचन्द्रके यहाँ जानेकी प्रसन्नताके कारण वह विशाल जनसमुदाय पूर्णिमाके समुद्रके महावेगके समान मालूम होता था ॥४॥ मार्गनिर्माणमें दक्ष वे कारीगर अपनी बारी सम्भालनेके लिए, अपना काम करनेके लिए, अनेक प्रकारकी आवश्यक सामग्रियोंको लेकर सबसे आगे चले ॥५॥ लता, वल्ली, गुल्म, काँटे तथा पत्थर हटाकर तथा वृक्षोंको काटकर उन

अवृक्षेषु च देशेषु केचिद्वृक्षानरोपयन् । केचित्कुठारैष्टङ्कैश्च दात्रैश्छिन्दन्क्वचित्क्वचित् ॥७॥
अपरे वीरणस्तम्बान्बलिनो बलवत्तराः । विधमन्ति स्म दुर्गाणि स्थलानि च ततस्ततः ॥ ८ ॥
अपरेऽपूरयन्कूपान्पांसुभिः श्वभ्रमायतम् । निम्नभागांस्तथैवाशु समांश्चक्रुः समन्ततः ॥ ९ ॥
बबन्धुर्बन्धनीयांश्च क्षोद्यान्संचुक्षुदुस्तथा । बिभिदुर्भेदनीयांश्च तांस्तान्देशान्नरास्तदा ॥१०॥
अचिरेण तु कालेन परिवाहान्बहूदकान् । चक्रुर्बहुविधाकारान्सागरप्रतिमान्बहून् ॥११॥
निर्जलेषु च देशेषु खानयामासुरुत्तमान् । उदपानान्बहुविधान्वेदिकापरिमण्डितान् ॥१२॥
ससुधाकुट्टिमतलः प्रपुष्पितमहीरुहः । मत्तोद्घुष्टद्विजगणः पताकाभिरलंकृतः ॥१३॥
चन्दनोदकसंसिक्तो नानाकुसुमभूषितः । बह्वशोभत सेनायाः पन्थाः सुरपथोपमः ॥१४॥
आज्ञाप्याथ यथाज्ञप्ति युक्तास्तेऽधिकृता नराः । रमणीयेषु देशेषु बहुस्वादुफलेषु च ॥१५॥
यो निवेशस्त्वभिप्रेतो भरतस्य महात्मनः । भूयस्तं शोभयामासुर्भूषाभिर्भूषणोपमम् ॥१६॥
नक्षत्रेषु प्रशस्तेषु मुहूर्तेषु च तद्विदः । निवेशान्स्थापयामासुर्भरतस्य महात्मनः ॥१७॥
बहुपांसुचयाश्चापि परिखाः परिवारिताः । तत्रेन्द्रनीलप्रतिमाः प्रतोलीवरशोभिताः ॥१८॥
प्रासादमालासंयुक्ताः सौधप्राकारसंवृताः । पताकाशोभिताः सर्वे सुनिर्मितमहापथाः ॥१९॥

मनुष्योंने मार्ग बनाये ॥६॥ जहाँ वृक्ष नहीं थे वहाँ उन लोगोंने वृक्ष लगाये, कई मनुष्योंने कुठारोंसे टाँकीसे (पत्थर तोड़नेका एक अस्त्र) और हँसियासे कहीं-कहीं काटे ॥७॥ उन अत्यन्त बली मनुष्योंने वृक्षोंके थूहोंको हाथसे उखाड़कर फेंका और दुर्गम स्थानको सुखसे चलने योग्य बनाया ॥८॥ अन्य मनुष्योंने रास्तेके कुँओंको तथा लम्बे चौड़े गढ़ोंको मिट्टीसे भर दिया और इस प्रकार गढ़ेको भरकर बराबर कर दिया ॥९॥ जो नदियाँ पुल बाँधने योग्य थीं वहाँ पुल बाँधा गया, जहाँकी कँकरीली जमीन चूर कर देने लायक थी वह चूर कर दी गयी तथा जो काटने योग्य स्थान था वह काट दिया गया ॥१०॥ छोटे-छोटे सोते बाँधकर बहुत जलवाले बना दिये गये जिससे वे समुद्रके समान बन गये और उनमें स्थान स्थान पर घाट बना दिये ॥११॥ निर्जल स्थानमें बहुत उत्तम कूँए खोदे गये, तलाव बनाये गये तथा उनके पास चबूतरे बनाये गये ॥१२॥ वे चौतरे चूनासे पुते हुए पक्के बनाये गये, वहाँ फूले हुए वृक्ष लगाये गये, वहाँ मस्त पक्षी बोल रहे थे, वहाँ पताकाएँ लगाई गई थीं ॥१३॥ चन्दनके जलका छिड़काव किया गया था, तरह-तरहके फूलोंसे वह स्थान सजाया गया था । सेनाके लिए बनाया गया यह मार्ग देवताओंके मार्गके समान बहुत ही शोभित होता था ॥१४॥ मार्गमें प्रबन्ध करनेके लिए जो लोग नियत थे उन्होंने काम करनेवालोंको भरतकी आज्ञाके अनुसार आज्ञा दी, रमणीय प्रदेशमें जहाँ स्वादिष्ट फल अधिक थे वहाँ महात्मा भरतके मतके अनुसार निवेश बनाये गये । उन अधिकारियोंने उन स्थानोंको पुनः सजाया ॥१५-१६॥ उत्तम नक्षत्र और मुहूर्तमें उसके जाननेवालोंके द्वारा महात्मा भरतके लिए ठहरनेकी जगहें बनायी गयीं ॥१७॥ उन स्थानोंके चारो ओर परिखा बनायी गयी, उन परिखाओंपर धूल रखी गयी, उन स्थानोंमें इन्द्रनीलमणिके चित्र बनाये गये, सुन्दर जालियोंसे उस स्थानकी शोभा बढ़ाई गयी ॥१८॥ अटारियोंकी पंक्तियाँ बनायी गईं, चूनेसे पुती चहारदीवारियाँ बनाई गईं । उनपर पताकाएँ लगाई गईं और

वितर्दिभिरिवाकाशे विटङ्काग्रविमानकैः। समुच्छ्रितैर्निवेशास्ते बभुः शक्रपुरोपमाः ॥२०॥
जान्हवीं तु समासाद्य विविधद्रुमकाननाम्। शीतलामलपानीयां महामीनसमाकुलाम् ॥२१॥
सचन्द्रतारागणमण्डितं यथा नभः क्षपायाममलं विराजते।
नरेन्द्रमार्गः स तदा व्यराजत क्रमेण रम्यः शुभशिल्पिनिर्मितः ॥२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

एकाशीतितमः सर्गः ८१

ततो नान्दीमुखीं रात्रिं भरतं सूतमागधाः। तुष्टुवुः सविशेषज्ञाः स्तवैर्मङ्गलसंस्तवैः ॥ १ ॥
सुवर्णकोणाभिहतः प्राणदद्यामदुन्दुभिः। दध्मुः शङ्खांश्च शतशो वाद्यांश्चोच्चावचस्वरान् ॥ २ ॥
स तूर्यघोषः सुमहान्दिवमापूरयन्निव। भरतं शोकसंतप्तं भूयः शोकैररन्धयत् ॥ ३ ॥
ततः प्रबुद्धो भरतस्तं घोषं संनिवर्त्य च। नाहं राजेति चोक्त्वा तं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥
पश्य शत्रुघ्न कैकेय्या लोकस्यापकृतं महत्। विसृज्य मयि दुःखानि राजा दशरथो गतः ॥ ५ ॥
तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः। परिभ्रमति राजश्रीर्नौरिवाऽकर्णिका जले ॥ ६ ॥

चौड़े मार्ग बनाये गये ॥१९॥ ऊँचे सात खण्डके मकान, जिनमें कपोतपालिका (कबूतरोंके रहनेके लिये खोखली जगह) बनी हुई थी, वे आकाशमें फैले हुए थे, जिससे भरतका वह निवेशस्थान इन्द्रपुरीके समान मालूम होता था ॥२०॥ जहाँ अनेक प्रकारके वृक्षोंके वन लगे हुए हैं, जिस गंगाका जल शीतल और निर्मल है, जिसमें बड़ी-बड़ी मछलियाँ हैं उस गंगातटतक भरतके लिये मार्ग बनाया गया ॥२१॥ जिस प्रकार रात्रिमें निर्मल आकाश चन्द्रमा और ताराओंसे युक्त शोभित होता है, उसी प्रकार निपुण कारीगरों द्वारा बनाया हुआ वह भरतका मार्ग शोभित हुआ ॥२२॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका अस्सीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८० ॥

भरतके संबन्धमें विशेष जाननेवाले सूत और मागध—आज नान्दीमुखी रात्रि है (वह रात्रि जिसके बाद आनन्दका दिवस आनेवाला हो) यह जानकर मांगलिक स्तोत्रोंसे भरतकी स्तुति करने लगे ॥१॥ सुवर्ण दण्डके आघातसे पहरकी समाप्ति बतानेवाली दुन्दुभि बजी, शंख बजे तथा ऊँचे नीचे स्वरवाले बाजे बजे ॥२॥ बाजोंका वह बड़ा शब्द आकाशको गुँजाने लगा। उस शब्दने शोकसंतप्त भरतको पुनः और दुःखी बना दिया ॥३॥ इस शब्दसे भरतजी उठे और उन्होंने बाजोंका बजाया जाना रुकवा दिया। मैं राजा नहीं हूँ, ऐसा कहकर भरत शत्रुघ्नसे ऐसा बोले ॥४॥ शत्रुघ्न देखो—केकयीने लोगोंका कितना अपकार किया है। राजा दसरथ भी हमें दुःखी बनाकर स्वर्ग चले गये ॥५॥ आज धर्मात्मा महात्मा राजा दसरथ की यह राजलक्ष्मी, नदीमें कर्णधार-विहीन नौकाके समान चारों ओर घूम रही है ॥६॥

यो हि नः सुमहानाथः सोऽपि प्रव्राजितो वने । अनया धर्ममुत्सृज्य मात्रा मे राघवः स्वयम् ॥ ७ ॥
इत्येवं भरतं वीक्ष्य विलपन्तमचेतनम् । कृपणा रुरुदुः सर्वाः सुस्वरं योषितस्तदा ॥ ८ ॥
तथा तस्मिन्विलपति वसिष्ठो राजधर्मवित् । सभामिक्ष्वाकुनाथस्य प्रविवेश महायशाः ॥ ९ ॥
शातकुम्भमयीं रम्यां मणिहेमसमाकुलाम् । सुधर्मामिव धर्मात्मा सगणः प्रत्यपद्यत ॥१०॥
सकाञ्चनमयं पीठं स्वस्त्यास्तरणसंवृतम् । अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च ॥११॥
ब्राह्मणान्क्षत्रियान्योधानमात्यान्गणवल्लभान् । क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥१२॥
स राजपुत्रं शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम् । युधाजितं सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥१३॥
ततो हलहलाशब्दो महान्समुदपद्यत । रथैरश्वैर्गजैश्चापि जनानामुपगच्छताम् ॥१४॥
ततो भरतमायान्तं शतक्रतुमिवामराः । प्रत्यनन्दन्प्रकृतयो यथा दशरथं तथा ॥१५॥

ह्रद इव तिमिनागसंवृतः स्तिमितजलो मणिशङ्खशर्करः ।
दशरथसुतशोभिता सभा सदशरथेव बभूव सा पुरा ॥१६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

जो हम लोगोंके बड़े स्वामी रामचन्द्र हैं उनको भी मेरी माता केकयीने धर्म छोड़कर वनमें भेज दिया ॥७॥ इस प्रकार बेसुध होकर विलाप करते हुए भरतको देख दुःखिनी सब स्त्रियाँ जोर-जोरसे रोने लगीं ॥८॥ भरत इस प्रकार जब विलाप कर रहे थे उसी समय राजधर्म जाननेवाले वसिष्ठ मुनि राजा दसरथके सभाभवनमें गये ॥९॥ वह सभाभवन सोनेका बना हुआ था, मणिजटित सोनेके खम्भे लगे हुए थे, देवसभाके सदृश उस सभामें वसिष्ठ मुनि अपने साथियोंके साथ गये ॥१०॥ सब वेदोंको जाननेवाले मुनि सोनेके आसनपर बैठे, जिसपर सुन्दर आसन बिछा हुआ था और उन्होंने दूतोंको आज्ञा दी ॥११॥ ब्राह्मणों, क्षत्रियों, धैनिकों, सचिवों और गणके अध्यक्षोंको शीघ्र बुला लाओ, हमें बहुत ही आवश्यक काम है ॥१२॥ भरत शत्रुघ्न तथा अन्य राजपुत्रोंको, युधाजित और सुमन्त्रको तथा भरतके अन्य-हितकारियोंको भी बुलाओ ॥१३॥ तदनन्तर हाथी घोड़े और रथोंसे आनेवाले मनुष्योंका बड़ा कोलाहल हुआ ॥१४॥ देवता जिस प्रकार इन्द्रका प्रत्युत्थान करते हैं उसी प्रकार भरतको आते देख प्रजाके लोगोंने उनका प्रत्युत्थान किया, जैसे वे दसरथका सम्मान करते हों ॥१५॥ तिमि (इस नामकी मछली) जल, हाथी, मणि, शंख और कंकसे युक्त निश्चल जलवाले तालाबके समान वह सभा दसरथके पुत्रोंके कारण दसरथसे युक्त ही प्रतीत होती थी । भरत और शत्रुघ्नके रहनेके कारण दसरथके न रहनेका दुःख प्रजाके लोग तथा सचिव भूल गये ॥१६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक्यासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७० ॥

द्व्यशीतितमः सर्गः ८२

तामार्यगणसंपूर्णां भरतः प्रग्रहां सभाम् । ददर्श बुद्धिसंपन्नः पूर्णचन्द्रां निशामिव ॥ १ ॥
आसनानि यथान्यायमार्याणां विशतां तदा । वस्त्राङ्गरागप्रभया द्योतिता सा सभोत्तमा ॥ २ ॥
सा विद्वज्जनसंपूर्णा सभा सुरुचिरा तथा । अदृश्यत घनापाये पूर्णचन्द्रेव शर्वरी ॥ ३ ॥
राज्ञस्तु प्रकृतिः सर्वाः स संप्रेक्ष्य च धर्मवित् । इदं पुरोहितो वाक्यं भरतं मृदु चाब्रवीत् ॥ ४ ॥
तात राजा दसरथः स्वर्गतो धर्ममाचरन् । धनधान्यवतीं स्फीतां प्रदाय पृथिवीं तव ॥ ५ ॥
रामस्तथा सत्यवृत्तिः सतां धर्ममनुस्मरन् । नाजहात्पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिवोदितः ॥६॥
पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम् । तद्भुङ्क्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय ॥ ७ ॥
उदीच्याश्च प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च केवलाः । कोट्यापरान्ताः सामुद्रा रत्नान्युपहरन्तु ते ॥ ८ ॥
तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं शोकेनाभिपरिप्लुतः । जगाम मनसा रामं धर्मज्ञो धर्मकाङ्क्षया ॥ ९ ॥
सबाष्पकलया वाचा कलहंसस्वरो युवा । विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम् ॥१०॥
चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः । धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत् ॥११॥
कथं दशरथाज्जातो भवेद्राज्यापहारकः । राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि ॥१२॥

श्रेष्ठ मनुष्योंसे पूर्ण उस नियमबद्ध सभाको बुद्धिमान भरतने, पूर्णचन्द्रा रात्रिको जैसे देखते हैं वैसे, देखा ॥१॥ मर्यादाके अनुसार अपने-अपने आसनोंपर श्रेष्ठ पुरुषोंके बैठनेके समय उनके वस्त्र तथा अङ्ग-रागकी प्रभासे वह सुन्दर सभा शोभित हुई ॥२॥ शरत्कालमें पूर्णचन्द्रा रात्रिके समान विद्वानोंसे पूर्ण वह सभा शोभित हुई ॥३॥ धर्म जाननेवाले पुरोहित वशिष्ठजी, राजा दसरथकी प्रजा सचिव आदिको एकत्र देखकर, भरतसे यह कोमल वचन बोले ॥४॥ भरत, धनधान्यसे भरी-पूरी यह पृथिवी तुमको देकर धर्माचरण करते हुए राजा दसरथ स्वर्ग गये ॥५॥ सत्य व्यवहार रखनेवाले रामचन्द्रने सज्जनोंके धर्मके अनुसार पिताकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया, जैसे उदित चन्द्रमा अपनी प्रभाका त्याग नहीं करता ॥६॥ पिता और भाईने यह शत्रुहीन राज्य तुम्हें दिया है, सचिवोंको प्रसन्न रखते हुए तुम इसका भोग करो और शीघ्र ही अपना राज्याभिषेक कराओ ॥७॥ उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्वके सिंहासनाधीश राजा तथा जो सिंहासनासीन नहीं हैं, वे द्वीपवासी, तथा समुद्र व्यापार करनेवाले व्यवसायी असंख्य रत्न तुम्हें दें ॥८॥ वसिष्ठजीके वचन सुनकर भरत शोकसे नितान्त दुःखी हुए । धर्मज्ञ भरत मनही मन धर्म जाननेके लिए रामजीके यहाँ पहुँचे ॥९॥ युवक भरत गला भरजानेसे कलहंसके समान घर्घर स्वरसे सभामें विलाप करने लगे और पुरोहित वसिष्ठकी निन्दा करने लगे ॥१०॥ जिसने ब्रह्मचर्यका पालन किया, विधिपूर्वक विद्याध्ययन समाप्त किया और जो सदा धर्मानुष्ठान करता रहता है उस रामका राज्य मेरे समान मनुष्य कैसे ले सकता है ॥११॥ राजा दसरथका पुत्र होकर दूसरेका राज्य मैं कैसे ले सकता हूँ । मैं और यह राज्य रामके हैं । अतएव आप धर्मका उपदेश कीजिये अर्थात् रामचन्द्र राज्य

ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च धर्मात्मा दिलीपनहुषोपमः । लब्धुमर्हति काकुत्स्थो राज्यं दशरथो यथा ॥१३॥
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं कुर्यां पापमहं यदि । इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपांसनः ॥१४॥
यद्धि मात्रा कृतं पापं नाहं तदपि रोचये । इहस्थो वनदुर्गस्थं नमस्यामि कृताञ्जलिः ॥१५॥
राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदां वरः । त्रयाणामपि लोकानां राघवो राज्यमर्हति ॥१६॥
तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः । हर्षान्मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः ॥१७॥
यदि त्वार्यं न शक्ष्यामि विनिवर्तयितुं वनात् । वने तत्रैव वत्स्यामि यथार्यो लक्ष्मणस्तथा ॥१८॥
सर्वोपायं तु वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं बलात् । समक्षमार्यमिश्राणां साधूनां गुणवर्तिनाम् ॥१९॥
विष्टिकर्मान्तिकाः सर्वे मार्गशोधकदक्षकाः । प्रस्थापिता मया पूर्वं यात्रा च मम रोचते ॥२०॥
एवमुक्त्वा तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः । समीपस्थमुवाचेदं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥२१॥
तूर्णमुत्थाय गच्छ त्वं सुमन्त्र मम शासनात् । यात्रामाज्ञापय क्षिप्रं बलं चैव समानय ॥२२॥
एवमुक्तः सुमन्त्रस्तु भरतेन महात्मना । प्रहृष्टः सोऽदिशत्सर्वं यथासंदिष्टमिष्टवत् ॥२३॥
ताः प्रहृष्टाः प्रकृतयो बलाध्यक्षा बलस्य च । श्रुत्वा यात्रां समाज्ञप्तां राघवस्य निवर्तने ॥२४॥
ततो योधाङ्गना सर्वा भर्तॄन्सर्वान्गृहे गृहे । यात्रागमनमाज्ञाय त्वरयन्ति स्म हर्षिताः ॥२५॥

ग्रहण कैसे करेंगे, इसका उपाय बतलाइए ॥१२॥ रामचन्द्र मुझसे गुणोंमें और उमरमें बड़े हैं, वे राजा दिलीप तथा नहुषके समान धर्मात्मा हैं, उन्हींको यह राज्य मिलना चाहिए जिस प्रकार राजा दशरथको मिला था ॥१३॥ नीच मनुष्योंके समान नरकमें गिरानेवाला पाप यदि मैं करूँ तो मैं इक्ष्वाकुवंशका कलङ्क समझा जाऊँगा । कुलका नियम तोड़नेवाला कुलदूषक समझा जाऊँगा ॥१४॥ माताने जो पाप किया है उसको मैं अच्छा नहीं समझता, अतएव यहाँ रहकर भी वनमें रहनेवाले रामचन्द्रको मैं प्रणाम करता हूँ ॥१५॥ मैं भी रामचन्द्रका ही अनुगमन करूँगा, मनुष्यश्रेष्ठ वे ही राजा हैं । रामचन्द्र तीनों लोकोंके राजा होने योग्य है ॥१६॥ भरतके धर्मयुक्त ये वचन सुनकर राममें प्रेम रखनेवाले सभी सभासद हर्षसे रोने लगे ॥१७॥ भरतने पुनः कहा—यदि मैं आर्य रामचन्द्रको वनसे न लौटा सकूँगा तो मैं भी वहीं रहूँगा, जैसे आर्य लक्ष्मण वनमें रहते हैं ॥१८॥ आप सब श्रेष्ठसज्जनोंके सामने रामचन्द्रको जबरदस्ती लौटा लानेके लिए मैं सभी उपाय करूँगा ॥१९॥ बेगारमें पकड़े हुए कारीगर—जो मार्ग ढूँढनेमें चतुर हैं, उन्हें मैंने पहलेहीसे भेज दिया है, यहाँसे यात्रा करना ही मुझे अच्छा मालूम होता है ॥२०॥ भ्रातृप्रेमी धर्मात्मा भरत ऐसा कहकर पास बैठे हुए सलाह देनेमें चतुर सुमन्त्रसे बोले ॥२१॥ सुमन्त्र, मेरी आज्ञासे शीघ्र तुम यहाँसे उठकर जाओ और यात्राकी घोषणा कर दो, सेनाको भी शीघ्र ले आओ ॥२२॥ महात्मा भरतके ऐसा कहनेपर सुमन्त्रने प्रसन्नतापूर्वक सब कार्य सम्पन्न किया मानों वे अपना ही काम कर रहे हों ॥२३॥ रामचन्द्रको लौटा लानेके लिए जानेवालोंके साथ सेना भी जायगी इस संवादको सुनकर प्रजाके लोग तथा सेनाके अध्यक्ष बहुत ही प्रसन्न हुए ॥२४॥ सैनिकोंकी स्त्रियाँ—यात्रामें जाना है यह जानकर अपने-अपने घरोंमें अपने-अपने पतिको शीघ्रता करनेके लिए कहने लगीं

ते हयैर्गोरथैः शीघ्रं स्यन्दनैश्च मनोजवैः । सहयोषिद्बलाध्यक्षा बलं सर्वमचोदयन् ॥२६॥
सज्जं तु तद्बलं दृष्ट्वा भरतो गुरुसंनिधौ । रथं मे त्वरयस्वेति सुमन्त्रं पार्श्वतोऽब्रवीत् ॥२७॥
भरतस्य तु तस्याज्ञां परिगृह्य प्रहर्षितः । रथं गृहीत्वोपययौ युक्तं परमवाजिभिः ॥२८॥
स राघवः सत्यधृतिः प्रतापवान्ब्रुवन्सुयुक्तं दृढसत्यविक्रमः ।
गुरुं महारण्यगतं यशस्विनं प्रसादयिष्यन्भरतोऽब्रवीत्तदा ॥२९॥
तूर्णं त्वमुत्थाय सुमन्त्र गच्छ बलस्य योगाय बलप्रधानान् ।
आनेतुमिच्छामि हि तं वनस्थं प्रसाद्य रामं जगतो हिताय ॥३०॥
स सूतपुत्रो भरतेन सम्यगाज्ञापितः संपरिपूर्णकामः ।
शशास सर्वान्प्रकृतिप्रधानान्बलस्य मुख्यांश्च सुहृज्जनं च ॥३१॥
ततः समुत्थाय कुले कुले ते राजन्यवैश्या वृषलाश्च विप्राः ।
अयूयुजन्नुष्ट्ररथान्खरांश्च नागान्हयांश्चैव कुलप्रसूतान् ॥३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्व्यशीतितमः सर्गः ॥८२॥

त्र्यशीतितमः सर्गः ८३

ततः समुत्थितः कल्यमास्थाय स्यन्दनोत्तमम् । प्रययौ भरतः शीघ्रं रामदर्शनकाम्यया ॥ १ ॥
अग्रतः प्रययुस्तस्य सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः । अधिरुह्य हयैर्युक्तान्रथान्सूर्यरथोपमान् ॥ २ ॥

॥२५॥ घोड़ों बैलगाड़ियों और वेगसे चलनेवाले रथोंपर चढ़कर सेनाके अध्यक्ष सेनाको शीघ्रता करनेके लिए आदेश देने लगे ॥२६॥ सेनाको तयार देखकर गुरुके समीप खड़े हुए भरत सुमन्त्रसे बोले कि मेरा रथ शीघ्र तयार करो ॥२७॥ भरतकी आज्ञा सुनकर सुमन्त्र बहुत प्रसन्न हुए, और अच्छे घोड़े जोतकर वे रथ लेकर आये ॥२८॥ सत्यमें प्रेम रखनेवाले, सत्यपराक्रमी और प्रतापी भरत वनमें गये हुए अपने भाईको लौटालानेकी इच्छा रखते हुए, बोले ॥२९॥ सुमन्त्र, तुम शीघ्र उठकर सेनाके चलनेका प्रबन्ध करनेके लिए सेनापतियोंके पास जाओ। संसारके कल्याणके लिए, वनवासी रामचन्द्रको प्रसन्न करके लौटा लाना चाहता हूँ ॥३०॥ पूर्णमनोरथ सुमन्त्रने भरतकी आज्ञा पाकर प्रजाके प्रधान लोगोंको तथा सेनाके अध्यक्षों तथा मित्रोंको बतलाया कि कौन कैसे चलेगा, कौन आगे चलेगा और कौन पीछे ॥३१॥ तदन्तर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्राह्मण आदिने ऊँटोंके रथ जोड़े, गधे, हाथी और घोड़ोंको जोता ॥३२॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका बयासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८२ ॥

तदन्तर प्रातःकाल उठकर उत्तम रथपर बैठकर रामचन्द्रके दर्शन करनेकी इच्छासे भरत शीघ्रतापूर्वक चले ॥१॥ घोड़े जुते हुए रथोंपर, जो सूर्यरथके समान सुन्दर थे, चढ़कर सब मंत्री और पुरोहित आगे-

नवनागसहस्राणि कल्पितानि यथाविधि । अन्वयुर्भरतं यान्तमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम् ॥ ३ ॥
षष्टी रथसहस्राणि धन्विनो विविधायुधाः । अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ४ ॥
शतं सहस्राण्यश्वानां समारूढानि राघवम् । अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ५ ॥
कैकेयी च सुमित्रा च कौसल्या च यशस्विनी । रामानयनसंतुष्टा ययुर्यानेन भास्वता ॥ ६ ॥
प्रयाताश्चार्यसंघाता रामं द्रष्टुं सलक्ष्मणम् । तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा हृष्टमानसाः ॥ ७ ॥
मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसत्त्वं दृढव्रतम् । कदा द्रक्ष्यामहे रामं जगतः शोकनाशनम् ॥ ८ ॥
दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः । तमः सर्वस्य लोकस्य समुद्यन्निव भास्करः ॥ ९ ॥
इत्येवं कथयन्तस्ते संप्रहृष्टाः कथाः शुभाः । परिष्वजानाश्चान्योन्यं ययुर्नागरिकास्तदा ॥१०॥
ये च तत्रापरे सर्वे संमता ये च नैगमाः । रामं प्रति ययुर्हृष्टाः सर्वाः प्रकृतयः शुभाः ॥११॥
मणिकाराश्च ये केचित्कुम्भकाराश्च शोभनाः । सूत्रकर्मविशेषज्ञा ये च शस्त्रोपजीविनः ॥१२॥
मायूरकाः क्राकचिका वेधका रोचकास्तथा । दन्तकाराः सुधाकारा ये च गन्धोपजीविनः ॥१३॥
सुवर्णकाराः प्रख्यातास्तथा कम्बलकारकाः । स्नापकोष्णोदका वैद्या धूपकाः शौण्डिकास्तथा ॥१४॥
रजकास्तुन्नवायाश्च ग्रामघोषमहत्तराः । शैलूषाश्च सह स्त्रीभिर्यान्ति कैवर्तकास्तथा ॥१५॥
समाहिता वेदविदो ब्राह्मणा वृत्तसंमताः । गोरथैर्भरतं यान्तमनुजग्मुः सहस्रशः ॥१६॥

आगे चले ॥२॥ खूब सजे हुए नौ हजार हाथी, वनको जाते हुए भरतके साथ, चले ॥३॥ साठ हजार तथा विविध अस्त्रधारण करनेवाले धनुर्धारी वन जाते हुए राजपुत्र यशस्वी भरतके साथ चले ॥४॥ सौ हजार घुड़सवार वन जाते हुए यशस्वी राजपुत्र भरतके साथ चले ॥५॥ केकयी, सुमित्रा और यशस्विनी कौसल्या रामचन्द्रको लाने जानेके कारण सन्तुष्ट होकर उत्तम रथपर चढ़कर चलीं ॥६॥ इस प्रकार यह सज्जनोंका समूह रामचन्द्र और लक्ष्मणको देखनेके लिए चला, वे प्रसन्नतापूर्वक उन्हींके सम्बन्धकी बातें करते जाते थे ॥७॥ मेघके समान श्यामवर्ण, महाबाहु, स्थिरतापूर्वक उद्योत करनेवाले दृढ़व्रत और जगन्के शोक दूर करनेवाले रामचन्द्रको हमलोग कब देखेंगे ॥८॥ उनको देखते ही हमलोगोंका शोक दूर हो जायगा, जिस प्रकार सूर्य उदय होते ही सब लोकोंका अन्धकार दूर कर देता है ॥९॥ प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकारकी सुन्दर बातें करते हुए और परस्पर एक दूसरेको आलिङ्गन करते हुए नागरिक चले ॥१०॥ जो प्रजाके लोग रामचन्द्रके प्रिय थे तथा जो व्यवसायी थे, वे सभी रामचन्द्रके पास प्रसन्नतापूर्वक चले ॥११॥ मणिकार (मणि आदि खरीदनेवाले), अपने काममें निपुण कुम्हार, कपड़े बुननेवाले तथा हथियार बनाकर जीनेवाले, मायूरक (मोरकी पूँछसे पंखा आदि बनानेवाले), क्राकचिक (आराकस) वेधक (मोतियोंमें छेद करनेवाले), रोचक (रंगसाज), दन्तकार (दाँतकी चीजें बनानेवाले), सुधाकार (चूना पोतनेवाले), गन्धोपजीवी (गंधी), सुनार, कंबल बुननेवाले, गरम जलसे स्नान करानेवाले वैद्य, धूप आदि बेचनेवाले, शराब बेचनेवाले, धोबी, दरजी, गाँव और टोलेके चौधरी, नट, मल्लाह, योगी वेदज्ञ और सदाचारी ब्राह्मण बैलगाड़ीपर चढ़कर जाते हुए भरतके साथ चले ॥१२-१३-१४-१५-१६॥

सुवेषाः शुद्धवसनास्ताम्रमृष्टानुलेपिनः । सर्वे ते विमलैर्यानैः शनैर्भरतमन्वयुः ॥१७॥
प्रहृष्टमुदिता सेना सान्वयात्कैकयीसुतम् । भ्रातुरानयने यान्तं भरतं भ्रातृवत्सलम् ॥१८॥
ते गत्वा दूरमध्वानं रथायानाश्वकुञ्जरैः । समासेदुस्ततो गङ्गां शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥१९॥
यत्र रामसखा वीरो गुहो ज्ञातिगणैर्वृत्तः । निवसत्यप्रमादेन देशं तं परिपालयन् ॥२०॥
उपेत्य तीरं गङ्गायाश्चक्रवाकैरलंकृतम् । व्यवतिष्ठत सा सेना भरतस्यानुयायिनी ॥२१॥
निरीक्ष्यानुत्थितां सेना तां च गङ्गां शिवोदकाम् । भरतः सचिवान्सर्वानब्रवीद्वाक्यकोविदः ॥२२॥
निवेशयत मे सैन्यमभिप्रायेण सर्वतः । विश्रान्ताः प्रतरिष्यामः श्व इमां सागरंगमाम् ॥२३॥
दातुं च तावदिच्छामि स्वर्गतस्य महीपतेः । और्ध्वदेहनिमित्तार्थमवतीर्योदकं नदीम् ॥२४॥
तस्यैवं ब्रुवतोऽमात्यास्तथेत्युक्त्वा समाहिताः । न्यवेशयंस्तां छन्देन स्वेन स्वेन पृथक्पृथक् ॥२५॥

निवेश्य गङ्गामनु तां महानदीं चमूं विधानैः परिबर्हशोभिनीम् ।
उवास रामस्य तदा महात्मनो विचिन्तयमानो भरतो निवर्तनम् ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

उनका वेश सुन्दर था, कपड़े उत्तम थे, वे लाल चन्दन धारण किये हुए थे, वे सब उत्तम सवारियोंपर बैठकर भरतके साथ धीरे-धीरे चले ॥१७॥ भाईको लानेके लिए जाते हुए भ्रातृवत्सल भरतके साथ सेना भी प्रसन्नतासे चली । उनके मन और शरीर दोनों ही प्रसन्न थे ॥१८॥ वे सब रथ सवारी घोड़े और हाथीके द्वारा बहुत दूर तक चलकर शृङ्गवेरपुरके सामने गङ्गानदीके पास पहुँचे ॥१९॥ जहाँ श्रीरामचन्द्रका मित्र वीर गुह अपने सगे सम्बन्धियोंके साथ निवास करता है और उस प्रान्तका पालन सावधानीसे करता है ॥२०॥ चक्रवाक पक्षियोंके द्वारा सुशोभित गङ्गा तीरपर आकर वह भरतके साथ आनेवाली सेना ठहर गयी ॥२१॥ गङ्गा तीरपर विश्राम करती हुई अपनी सेनाको तथा सुन्दर जलवाली गङ्गाको देखकर उत्तम बोलनेवाले भरत, अपने सब सचिवोंसे बोले ॥२२॥ अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार जो जहाँ चाहे वह वहीं गङ्गातीरपर विश्राम करे, कल इस समुद्रमें जानेवाली नदीको हमलोग पार करेंगे ॥२३॥ गङ्गाके उस पार जाकर ही स्वर्गीय अपने पिताके पारलौकिक कल्याणके लिए मैं जल देना चाहता हूँ ॥२४॥ सावधानीपूर्वक भरतकी बातें सुनकर सचिवोंने स्वीकार किया, और इच्छानुसार सब लोगोंको ठहराया ॥२५॥ महानदी गङ्गाके तीरपर डेरा आदि तानकर सेनाने विश्राम किया । महात्मा रामचन्द्रके लौटनेकी बातें सोचते हुए भरतने भी वहीं निवास किया ॥२६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका तिरासीवाँ सर्ग समाप्त ॥८३॥

चतुरशीतितमः सर्गः ८४

ततो निविष्टां ध्वजिनीं गङ्गामन्वाश्रितां नदीम्। निषादराजो दृष्ट्वैव ज्ञातीन्स परितोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
महतीयमितः सेना सागराभा प्रदृश्यते। नास्यान्तमवगच्छामि मनसापि विचिन्तयन् ॥ २ ॥
यदा न खलु दुर्बुद्धिर्भरतः स्वयमागतः। स एष हि महाकायः कोविदारध्वजो रथे ॥ ३ ॥
बन्धयिष्यति वा पाशैरथ वास्मान्वधिष्यति। अनु दाशरथिं रामं पित्रा राज्याद्विवासितम् ॥ ४ ॥
संपन्नां श्रियमन्विच्छंस्तस्य राज्ञः सुदुर्लभाम्। भरतः कैकयीपुत्रो हन्तुं समधिगच्छति ॥ ५ ॥
भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्मम। तस्यार्थकामाः संनद्धा गङ्गानूपेऽत्र तिष्ठत ॥ ६ ॥
तिष्ठन्तु सर्वदाशाश्च गङ्गामन्वाश्रिता नदीम्। बलयुक्ता नदीरक्षा मांसमूलफलाशनाः ॥ ७ ॥
नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम्। संनद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत्॥ ८ ॥
यदि तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति। इयं स्वस्तिमती सेना गङ्गामद्य तरिष्यति ॥ ९ ॥
इत्युक्त्वोपायनं गृह्य मत्स्यमांसमधूनि च। अभिचक्राम भरतं निषादाधिपतिर्गुहः ॥१०॥
तमायान्तं तु संप्रेक्ष्य सूतपुत्रः प्रतापवान्। भरतायाचचक्षेऽथ समयज्ञो विनीतवत् ॥११॥
एष ज्ञातिसहस्रेण स्थपतिः परिवारितः। कुशलो दण्डकारण्ये वृद्धो भ्रातुश्च ते सखा ॥१२॥
तस्मात्पश्यतु काकुत्स्थ त्वां निषादाधिपो गुहः। असंशयं विजानीते यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥१३॥

गङ्गानदीके तीरपर ठहरी हुई सेनाको देखकर निषादराज गुहने अपने भाईबन्दोंसे कहा ॥१॥ यह बहुत बड़ी सेना समुद्रके समान मालूम पड़ती है, यह कितनी लम्बी है यह बात मनसे भी सोचनेपर नहीं मालूम पड़ती ॥२॥ दुर्बुद्धि भरत स्वयं आया हुआ है, क्योंकि उसकी लम्बी कोविदार ध्वजा रथपर दीख पड़ती है ॥३॥ वह हम लोगोंको पाशोंसे बाँधेगा और पिताके द्वारा राज्यसे निकाले गये दसरथपुत्र रामचन्द्रका वध करेगा ॥४॥ राजा दसरथकी समूची दुर्लभ राज्यलक्ष्मी हस्तगत करनेके लिए केकयीपुत्र भरत रामचन्द्रको मारना चाहता है ॥५॥ रामचन्द्र मेरे स्वामी हैं और सखा हैं, उनके हित चाहनेवाले आप लोग सावधान होकर यहाँ गङ्गा तीरपर रहे ॥६॥ सभी बलवान् मल्लाह सेनाके साथ गङ्गा नदीके घाटकी रक्षा करनेके लिए यहीं गङ्गा तीरपर रहें और माँस तथा फल मूल खाँय ॥७॥ पाँच सौ नावोंपर प्रत्येक पर सौ जवान मल्लाह युद्धके लिए तयार होकर रहें, गुहने अपने भाईबन्दोंको यह आज्ञा दी ॥८॥ यदि भरत रामचन्द्रपर प्रसन्न होगा, उनकी बुराई करनेके लिये न जाता होगा तब तो यह सेना निर्विघ्नता-पूर्वक गङ्गा नदी पार कर सकेगी ॥९॥ ऐसा कहकर निषादाधिपति गुह भेटकी सामग्री मछली, माँस और मधु लेकर भरतके पास चला ॥१०॥ आते हुए गुहको देखकर प्रतापी सूत सुमन्त्रने विनीतके समान भरतसे कहा, क्योंकि वे समयके अनुसार कर्तव्य जाननेवाले थे ॥११॥ यह वृद्ध अपने हजारों भाईबन्दोंके साथ यहाँ रहता है, यहाँका स्वामी है, दण्डकारण्यको अच्छी तरह जानता है और तुम्हारे भाई रामचन्द्र-का मित्र है ॥१२॥ अतएव भरत तुम निषादाधिपति गुहसे अवश्य मिलो। राम, लक्ष्मण जहाँ रहते होंगे

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुमन्त्राद्भरतः शुभम् । उवाच वचनं शीघ्रं गुहः पश्यतु मामिति ॥१४॥
लब्ध्वानुज्ञां संप्रहृष्टो ज्ञातिभिः परिवारितः । आगम्य भरतं प्रह्वो गुहो वचनमब्रवीत् ॥१५॥
निष्कुटश्चैव देशोऽयं वञ्चिताश्चापि ते वयम् । निवेदयाम ते सर्वं स्वके दाशगृहे वस ॥१६॥
अस्ति मूलफलं चैतन्निषादैः स्वयमर्जितम् । आर्द्रं शुष्कं यथा मांसं वन्यं चोच्चावचं तथा ॥१७॥
आशंसे स्वाशिता सेना वत्स्यत्येनां विभावरीम् । अर्चितो विविधैः कामैः श्वः ससैन्यो गमिष्यसि १८

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमः सर्गः ८५

एवमुक्तस्तु भरतो निषादाधिपतिं गुहम् । प्रत्युवाच महाप्राज्ञो वाक्यं हेत्वर्थसंहितम् ॥ १ ॥
ऊर्जितः खलु ते कामः कृतो मम गुरोः सखे । यो मे त्वमीदृशीं सेनामभ्यर्चयितुमिच्छसि ॥ २ ॥
इत्युक्त्वा स महातेजा गुहं वचनमुत्तमम् । अब्रवीद्भरतः श्रीमान्पन्थानं दर्शयन्पुनः ॥ ३ ॥
कतरेण गमिष्यामि भरद्वाजाश्रमं पथा । गहनोऽयं भृशं देशो गङ्गानूपो दुरत्ययः ॥ ४ ॥

उस स्थानका इसको अवश्य पता होगा ॥१३॥ सुमन्त्रके यह सुन्दर वचन सुनकर भरत बोले—गुह शीघ्र मुझे देखे, वह मेरे पास आवे ॥१४॥ आज्ञा पाकर और प्रसन्न होकर अपने भाई-बन्धुओंके साथ जाकर नम्र होकर भरतसे गुह बोला ॥१५॥ यह स्थान आपके घरवाले बागके समान है, आपने पहले हमको आनेकी खबर न देकर हमें ठग दिया, हम आपके स्वागतके लिए कुछ न कर सके। यह निषादगृह आपकाही है, आप यहाँ निवास करें यही हमलोग प्रार्थना करते हैं ॥१६॥ निषादोंका स्वयं लाया हुआ यह फल मूल है, कई तरहके फल हैं, कुछ सूखे हैं, कुछ सरस और मांस भी है, स्वीकार करें ॥१७॥ मैं समझता हूँ कि भोजन करके यह सेना आजकी रात यहीं निवास करे, हम लोग अपनी इच्छाके अनुसार आपका सत्कार करें और आप कल प्रातःकाल यहाँसे जाँय ॥१८॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका चौरासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८४ ॥

निषादाधिपति गुहके ऐसा कहनेपर महाबुद्धिमान् भरत युक्तियुक्त तथा अर्थपूर्ण वचन बोले ॥१॥ मेरे गुरुके मित्र, जो तुम मेरी इतनी बड़ी सेनाका सत्कार करना चाहते हो यह तुम्हारा ऊँचा मनोरथ है और तुमने अपना मनोरथ पूरा किया ही ॥२॥ इस प्रकार महातेजस्वी भरत, निषादाधिपति गुहसे कहकर अंगुलिसे मार्ग दिखाते हुए अर्थात् मार्ग दिखाकर पूछते हुए पुनः बोले ॥३॥ किस मार्गसे हम भरद्वाजके आश्रमपर पहुँचेंगे, इस गङ्गा-नीरमें बिना मार्गके चलना कठिन है, यह प्रदेश बड़ा ही गहन है, इसमें

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः । अब्रवीत्प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो गहनगोचरः ॥ ५ ॥
दाशास्त्वनुगमिष्यन्ति देशज्ञाः सुसमाहिता । अहं चानुगमिष्यामि राजपुत्र महाबल ॥ ६ ॥
कच्चिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः । इयं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे ॥ ७ ॥
तमेवमभिभाषन्तमाकाश इव निर्मलः । भरतः श्लक्ष्णया वाचा गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥
मा भूत्स कालो यत्कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि । राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः ॥ ९ ॥
तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम् । बुद्धिरन्या न मे कार्या गुह सत्यं ब्रवीमि ते ॥१०॥
स तु संहृष्टवदनः श्रुत्वा भरतभाषितम् । पुनरेवाब्रवीद्वाक्यं भरतं प्रति हर्षितः ॥११॥
धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले । अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि ॥१२॥
शाश्वती खलु ते कीर्तिर्लोकाननु चरिष्यति । यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि ॥१३॥
एवं संभाषमाणस्य गुहस्य भरतं तदा । बभौ नष्टप्रभः सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥१४॥
संनिवेश्य स तां सेनां गुहेन परितोषितः । शत्रुघ्नेन समं श्रीमाञ्छयनं पुनरागमत् ॥१५॥
रामचिन्तामयः शोको भरतस्य महात्मनः । उपस्थितो ह्यनर्हस्य धर्मप्रेक्ष्यस्य तादृशः ॥१६॥
अन्तर्दाहेन दहनः संतापयति राघवम् । वनदाहाग्निसंतप्तं गूढोऽग्निरिव पादपम् ॥१७॥
प्रसृतः सर्वगात्रेभ्यः स्वेदं शोकाग्निसंभवम् । यथा सूर्याग्निसंतप्तो हिमवान्प्रसृतो हिमम् ॥१८॥

प्रवेश करना कठिन है ॥४॥ बुद्धिमान् उन राजपुत्रके वे वचन सुनकर हाथ जोड़कर वनसे परिचित गुह बोला ॥५॥ इस प्रदेशसे परिचय रखनेवाले मल्लाह आपके साथ जायँगे, महाबल राजपुत्र, मैं भी आपके साथ चलूँगा ॥६॥ उदार रामचन्द्रके प्रति बुरे भावसे तो तुम नहीं जा रहे हो, क्योंकि इस तुम्हारी लम्बी-चौड़ी सेनाको देखकर हमें सन्देह हो रहा है ? ॥७॥ इस प्रकारकी गुहकी बात सुनकर आकाशके समान सदा निर्मल मधुर स्वरसे बोले ॥८॥ जिसके विषयमें तुमने आशंका की हो वह दु:खमय समय न आवे। तुम मेरे प्रति शङ्का मत करो। वे रामचन्द्र मेरे बड़े भाई हैं और पिताके समान हैं ॥९॥ वनवासी रामचन्द्रको लौटानेके लिए मैं जा रहा हूँ, मेरा दूसरा कोई भी विचार नहीं है, तुम्हें मेरे सम्बन्धमें कुछ सन्देह न करना चाहिए, गुह, यह मैं तुमसे सच कहता हूँ ॥१०॥ भरतकी बात सुनकर गुह प्रसन्न हो गया, वह प्रसन्न होकर पुनः भरतसे बोला ॥११॥ तुम धन्य हो, तुम्हारे समान मैं दूसरा नहीं देखता, क्योंकि बिना परिश्रमके आये राज्यका तुम त्याग कर रहे हो ॥१२॥ दु:खमें पड़े हुए रामचन्द्रको तुम लौटा लाना चाहते हो, यह तुम्हारी कीर्ति बहुत दिनों तक लोकमें गायी जायगी ॥१३॥ गुह और भरत इस प्रकारकी बातें कर ही रहे थे कि सूर्यकी प्रभा नष्ट हो गयी, सूर्य अस्ताचलकी ओर जाने लगे और रात्रि आयी ॥१४॥ गुहके द्वारा परितोषित भरत सेनाको विश्राम करनेकी आज्ञा देकर शत्रुघ्नके साथ सोनेके लिए गये ॥१५॥ धार्मिक दृष्टि रखनेवाले शोकके अयोग्य महात्मा भरतको रामचन्द्रके विषयका दु:ख उपस्थित हुआ ॥१६॥ अन्तर्दाहसे सन्तप्त भरतको शोकाग्नि जलाने लगी, जिस प्रकार दावाग्नि, गर्भमें आग रखनेवाले वृक्षोंको जला देती है ॥१७॥ उनके समस्त शरीरसे शोकाग्निसे उत्पन्न पसीना

ध्याननिर्दरशैलेन विनिःश्वसितधातुना । दैन्यपादपसंघेन शोकायासाधिशृङ्गिणा ॥१९॥
प्रमोहानन्तसत्त्वेन संतापौषधिवेणुना । आक्रान्तो दुःखशैलेन मज्जता कैकयीसुतः ॥२०॥
विनिःश्वसन्वै भृशदुर्मनास्ततः प्रमूढसंज्ञः परमापदं गतः ।
शमं न लेभे हृदयज्वरार्दितो नरर्षभो यूथहतो यथर्षभः ॥२१॥
गुहेन सार्धं भरतः समागतो महानुभावः सजनः समाहितः ।
सुदुर्मनास्तं भरतं तदा पुनः शनैः समाश्वासयदग्रजं प्रति ॥२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

षडशीतितमः सर्गः ८६

आचचक्षेऽथ सद्भावं लक्ष्मणस्य महात्मनः । भरतायाप्रमेयाय गुहो गहनगोचरः ॥ १ ॥
तं जाग्रतं गुणैर्युक्तं वरचापेषुधारिणम् । भ्रातृगुप्त्यर्थमत्यन्तमहं लक्ष्मणमब्रुवम् ॥ २ ॥
इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता । प्रत्याश्वसिहि शेष्वास्यां सुखं राघवनन्दन ॥ ३ ॥
उचितोऽयं जनः सर्वो दुःखानां त्वं सुखोचितः । धर्मात्मंस्तस्य गुप्त्यर्थं जागरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥
नहि रामात्प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन । मोत्सुको भूर्ब्रवीम्येतदथ सत्यं तवाग्रतः ॥ ५ ॥

निकला, जिस प्रकार सूर्यतापसे तप्त होनेके कारण हिमवान्‌से बर्फ पिघलने लगती है ॥१८॥ रामचन्द्रके दुःखरूपी पर्वतसे भरत दब गये । रामचन्द्रका सदा ध्यान बड़े-बड़े पत्थरोंके समान है, दुःखश्वास धातुके समान है, भरतकी दीनता वृक्षके समान है, शोक-जनित दुःख शृङ्गवाला पर्वत है, मूर्च्छा ही पर्वतके अनेक प्राणीके समान है, सन्ताप औषधि और बाँस हैं, ऐसे दुःखके पर्वतसे वे आक्रान्त हुए ॥१९-२०॥ इस दुःखपर्वतसे भरत बहुत ही विचलित हो गये थे, उनका विवेक नष्ट हो गया था, वे बहुत बड़ी विपत्तिमें फँसे हुए थे, हृदयज्वरसे पीड़ित नरश्रेष्ठ भरतको शान्ति नहीं मिली, जिस प्रकार यूथभ्रष्ट बैल दुःखित होता है और शान्ति नहीं पाता ॥२१॥ महानुभाव भरत गुहसे मिले, वे अपने बड़े भाईके लिए बहुत ही दुःखित थे । उन भरतको अपने स्वजनोंके साथ सावधान गुहने आश्वासित किया ॥२२॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका पचासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८५ ॥

वनवासी गुहने अप्रमेय भरतसे महात्मा लक्ष्मणका रामचन्द्रके विषयका उत्तम व्यवहार बतलाया ॥१॥ भाईकी रक्षाके लिए उत्तम धनुष और वाण धारण करके गुणवान् लक्ष्मण जाग रहे थे, उनसे मैंने कहा ॥२॥ भाई, यह तुम्हारे लिए सुखकारी शय्या बनाई गयी है, आप विश्वास करके इसपर सुख-पूर्वक शयन करें ॥३॥ सब प्रकारके दुःखोंके सहनेका मुझे अभ्यास है, और तुमने आज तक सुख ही भोगा है, धर्मात्मन् रामचन्द्रकी रक्षाके लिए हमलोग जागेंगे ॥४॥ रामसे बढ़कर इस संसारमें मेरा प्रिय

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन्सुमहद्यशः । धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामौ च केवलौ ॥ ६ ॥
सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया । रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वैः स्वैर्ज्ञातिभिः सह ॥७॥
नहि मेऽविदितं किंचिद्वनेऽस्मिंश्चरतः सदा । चतुरङ्गं ह्यपि बलं प्रसमेह वयं युधि ॥ ८ ॥
एवमस्माभिरुक्तेन लक्ष्मणेन महात्मना । अनुनीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ९ ॥
कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया । शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितानि सुखानि वा ।१०।
यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि । तं पश्य गुह संविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥११॥
महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः । एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः ॥१२॥
अस्मिन्प्रव्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति । विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥१३॥
विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः । निर्घोषो विरतो नूनमद्य राजनिवेशने ॥१४॥
कौसल्या च राजा च तथैव जननी मम । नाशंसे यदि ते सर्वे जीवेयुः शर्वरीमिमाम् ॥१५॥
जीवेदपि चैव मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया । या दुःखिता हि कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ।१६॥
अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् । राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥१७॥
सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन्काले ह्युपस्थिते । प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥१८॥

दूसरा नहीं है, आप घबड़ायें न, आपके सामने मैं यह सच कह रहा हूँ ॥५॥ इनकी प्रसन्नतासे मैं अपने बहुत बड़े यशकी अभिलाषा करता हूँ। विपुल धर्मप्राप्ति तथा अर्थ कामकी प्राप्तिकी भी आशा करता हूँ ॥६॥ मैं अपने प्रिय मित्र रामचन्द्रकी, जो सीताके साथ सो रहे हैं --अपने बन्धुओंके साथ धनुष लेकर रक्षा करूँगा ॥७॥ इस वनमें मेरा कुछ अज्ञात नहीं है; क्योंकि मैं सदा घूमा करता हूँ, चतुरङ्गिणी सेना-को भी हमलोग युद्धमें रोक सकते हैं ॥८॥ इस प्रकार हमारे कहने पर महात्मा लक्ष्मणने धर्मानुसार ही हमलोगोंको समझाया ॥९॥ दासरथी रामचन्द्र सीताके साथ जमीनपर सो रहे हैं फिर मुझे कैसे निद्रा आ सकती है और मेरा जीवन कैसे सुखकर हो सकता है ॥१०॥ जिन रामचन्द्रको युद्धमें देवता और असुर नहीं सह सकते, गुह, देखो वे ही रामचन्द्र सीताके साथ जमीनपर सो रहे हैं ॥११॥ बड़ी तपस्या और बड़े प्रयत्नोंके बाद दसरथने अपने समान यही एक पुत्र पाया था ॥१२॥ इनके वनमें चले आनेसे राजा दसरथ बहुत दिनों तक नहीं जी सकते, राजाके न रहनेपर यह पृथिवी शीघ्र ही विधवा हो जायगी ॥१३॥ बहुत जोरसे रोनेके पश्चात् राजमहलकी स्त्रियाँ थकावटके कारण इस समय चुप हो गयी होंगी, इस समय राजमहलमें कोई शब्द सुनाई न पड़ता होगा ॥१४॥ कौसल्या, राजा तथा मेरी माता सुमित्रा इस रात जीती बचेंगी, इसकी आशा नहीं है ॥१५॥ सम्भव है शत्रुघ्नको देखनेके लिए मेरी माता जीती बच जाय, पर वीरसू कौसल्या अवश्य ही नष्ट हो जायँगी ॥१६॥ रामचन्द्रको राज्य देना हमारे पिताका मनोरथ था, उसके सिद्ध न होनेसे अर्थात् रामचन्द्रको राज्य न देनेके कारण मेरे पिता अवश्य ही नष्ट हो जायँगे ॥१६॥ पिताके मरनेपर अन्तिम संस्कार करनेका जब समय उपस्थित होगा तब जो लोग

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् । हर्म्यप्रासादसंपन्नां सर्वरत्नविभूषिताम् ॥१९॥
गजाश्वरथसंबाधां तूर्यनादविनादिताम् । सर्वकल्याणसंपूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥२०॥
आरामोद्यानसंपूर्णां समाजोत्सवशालिनीम् । सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥२१॥
अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम् । निवृत्ते समये ह्यस्मिन्सुखिताः प्रविशेमहि ॥२२॥
परिदेवयमानस्य तस्यैवं हि महात्मनः । तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥२३॥
प्रभाते विमले सूर्ये कारयित्वा जटा उभौ । अस्मिन्भागीरथीतीरे सुखं संतारितौ मया ॥२४॥
जटाधरौ तौ द्रुमचीरवाससौ महाबलौ कुञ्जरयूथपोपमौ ।
वरेषुधीचापधरौ परंतपौ व्यपेक्षमाणौ सह सीतया गतौ ॥२५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमः सर्गः ८७

गुहस्य वचनं श्रुत्वा भरतो भृशमप्रियम् । ध्यानं जगाम तत्रैव यत्र तच्छ्रुतमप्रियम् ॥ १ ॥
सुकुमारो महासत्त्वः सिंहस्कन्धो महाभुजः । पुण्डरीकविशालाक्षस्तरुणः प्रियदर्शनः ॥ २ ॥
प्रत्याश्वस्य मुहूर्तं तु कालं परमदुर्मनाः । ससाद सहसा तोत्रैर्हृदि विद्ध इव द्विपः ॥ ३ ॥

उनका प्रेतकार्य करेंगे, उन्हींका मनोरथ पूरा होगा, उन्हींको राज्य मिलेगा ॥१८॥ वे ही सुखपूर्वक मेरे पिताकी राजधानी अयोध्यामें विचरण करेंगे। जिस अयोध्यामें बड़े सुन्दर चौक हैं जिसमें बड़े-बड़े चौड़े रास्ते निकाले गये हैं, धनियोंकी अटारियों और राजमहलोंसे जो सुशोभित है, और जो विविध रत्नोंसे विभूषित है, हाथी घोड़े जिसमें भरे पड़े हैं, जिसमें तुरही आदि बाजे बजते हैं जिसमें सब प्रकारके कल्याणकी वस्तु हैं, जहाँके वासी सदा मन और शरीरसे प्रसन्न रहते हैं, फुलवारी और बागोंसे जो भरी है, जिसमें सभाएँ और उत्सव होते रहते हैं ॥१९-२०-२१॥ चौदहवर्षके बीतनेपर सत्यप्रतिज्ञ और कुशली रामचन्द्रके साथ क्या हम भी सुखपूर्वक इस नगरीमें प्रवेश कर सकेंगे ॥२२॥ राजपुत्र महात्मा लक्ष्मण इस प्रकार विलाप करते रहे और वह रात बीत गयी ॥२३॥ प्रातःकाल विमल सूर्यके उदित होनेपर दोनोंने जटा बनायी और हमने सुखपूर्वक इस गंगा नदीके पार उन्हें उतार दिया ॥२४॥ यूथपति हाथीके समान महाबलवान वल्कलवस्त्र धारण किये हुए जटाधारी वे सीताके साथ गये, तरकस और धनुष वे धारण किये हुए थे, वे शत्रुतापन मेरी ओर देखते हुए सीताके साथ गये ॥२५॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका छियासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८६ ॥

भरतने गुहके अप्रिय वचन जिस समय सुने उसी समय उन्हें चिन्ता उत्पन्न हो गई, अपने कार्यकी कठिनताका ध्यान आनेसे वे दुःखी हुए ॥१॥ सुकुमार महाबली सिंहके समान कन्धेवाले, कमलके समान बड़ी आँखोंवाले, युवा और प्रियदर्शन भरतने थोड़ी देरतक अपने चित्तको स्वस्थ किया, पुनः वे बड़े दुःखी

भरतं मूर्च्छितं दृष्ट्वा विवर्णवदनो गुहः। बभूव व्यथितस्तत्र भूमिकम्पे यथा द्रुमः ॥ ४ ॥
तदवस्थं तु भरतं शत्रुघ्नोऽनन्तरस्थितः। परिष्वज्य रुरोदोच्चैर्विसंज्ञः शोककर्शितः ॥ ५ ॥
ततः सर्वाः समापेतुर्मातरो भरतस्य ताः। उपवासकृशा दीना भर्तृव्यसनकर्शिताः ॥ ६ ॥
ताश्च तं पतितं भूमौ रुदत्यः पर्यवारयन्। कौसल्या त्वनुसृत्यैनं दुर्मनाः परिषस्वजे ॥ ७ ॥
वत्सला स्वं यथा वत्समुपगृह्य तपस्विनी। परिपप्रच्छ भरतं रुदती शोकलालसा ॥ ८ ॥
पुत्र व्याधिर्न ते कच्चिच्छरीरं प्रति बाधते। अस्य राजकुलस्याद्य त्वदधीनं हि जीवितम् ॥ ९ ॥
त्वां दृष्ट्वा पुत्र जीवामि रामे सभ्रातृके गते। वृत्ते दशरथे राज्ञि नाथ एकस्त्वमद्य नः ॥१०॥
कच्चिन्न लक्ष्मणे पुत्र श्रुतं ते किंचिदप्रियम्। पुत्रे वा ह्येकपुत्रायाः सहभार्ये वनं गते ॥११॥
स मुहूर्तं समाश्वस्य रुदन्नेव महायशाः। कौसल्यां परिसान्त्व्येदं गुहं वचनमब्रवीत् ॥१२॥
भ्राता मे क्कावसद्रात्रिं क्क सीता क्क च लक्ष्मणः। अस्वपच्छयने कस्मिन्किं भुक्त्वा गुह शंस मे ॥१३॥
सोऽब्रवीद्भरतं हृष्टो निषादाधिपतिर्गुहः। यद्विधं प्रतिपेदे च रामे प्रियहितेऽतिथौ ॥१४॥
अन्नमुच्चावचं भक्ष्याः फलानि विविधानि च। रामायाभ्यवहारार्थं बहुशोऽपहृतं मया ॥१५॥
तत्सर्वं प्रत्यनुज्ञासीद्रामः सत्यपराक्रमः। न हि तत्प्रत्यगृह्णात्स क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥१६॥

हो गये, अंकुशसे हृदयमें बिधे हाथीके समान भरत सहसा मूर्छित हुए ॥२-३॥ भरतको मूर्छित देखकर गुहका मुँह सूख गया। भूमिकम्पके समय वृक्षके समान वह दुःखी हुआ ॥४॥ भरतकी ऐसी अवस्था देखकर उनके पास ही वर्तमान शत्रुघ्न ऊँचे स्वरसे रोने लगे और शोकपीड़ित होकर शत्रुघ्न संज्ञाहीन हो गये ॥५॥ तदनन्तर भरतकी वे सब माताएँ वहाँ आ गयीं, वे उपवाससे कृश थीं, पतिके दुःखसे दुःखी थीं ॥६॥ वे सब रोती हुई स्त्रियोंने भरतको चारों ओरसे घेर लिया, दुःखिनी कौसल्या भरतके पास गयीं और उनको उठाकर उन्होंने गोदमें लिया ॥७॥ जिस प्रकार बच्छेमें प्रेम रखनेवाली गौ अपने बच्छेको गोदमें लेती है, उसी प्रकार भरतको गोदमें लेकर दुःखिनी कौसल्याने रोते-रोते भरतसे पूछा ॥८॥ पुत्र, क्या किसी रोगसे तुम्हारा शरीर पीड़ित है, क्योंकि आज इस राजकुलका जीवन तुम्हारे ही अधीन है ॥९॥ पुत्र, भाईके साथ रामचन्द्रके वन जानेपर तुम्हींको देखकर मैं जीती हूँ। राजा दसरथके स्वर्ग जानेपर तुम्हीं हम लोगोंके स्वामी हो ॥१०॥ पुत्र, लक्ष्मणके विषयमें तुमने कोई अप्रिय बात तो नहीं सुनी है, अथवा एक पुत्रवाली मेरे पुत्रके सम्बन्धमें तुमने कोई अप्रिय बात सुनी है, जो अपनी स्त्रीके साथ वन गये हैं ॥११॥ एक मुहूर्तमें स्वस्थ होकर महायशस्वी भरतने रोते-रोते कौसल्याको समझाया, उनसे कहा कि यह सब कुछ भी नहीं है, पुनः वे गुहसे बोले ॥१२॥ मेरे भाईने रातमें कहाँ निवास किया, सीता और लक्ष्मणने कहाँ निवास किया, क्या भोजन किया और वे किस बिछौनेपर सोए, गुह, यह सब मुझसे कहो ॥१३॥ वह निषादाधिपति गुह प्रसन्नतापूर्वक भरतसे बोला। प्रिय और हितकारी अतिथि रामचन्द्रके विषयमें उसने जैसा किया था वह उसने कहा ॥१४॥ अन्न, खानेकी विविध वस्तु तथा अनेक प्रकारके फल भोजनके लिये मैंने रामको दिये ॥१५॥ सत्यपराक्रम रामचन्द्रने वह सब स्वीकार

नह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा । इति तेन वयं सर्वे अनुनीता महात्मना ॥१७॥
लक्ष्मणेन यदानीतं पीतं वारि महात्मना । औपवास्यं तदाकार्षीद्राघवः सह सीतया ॥१८॥
ततस्तु जलशेषेण लक्ष्मणोऽप्यकरोत्तदा । वाग्यतास्ते त्रयः संध्यां समुपासन्त संहिताः ॥१९॥
सौमित्रिस्तु ततः पश्चादकरोत्स्वास्तरं शुभम् । स्वयमानीय बर्हींषि क्षिप्रं राघवकारणात् ॥२०॥
तस्मिन्समाविशद्रामः स्वास्तरे सह सीतया । प्रक्षाल्य च तयोः पादौ व्यपाक्रामत्स लक्ष्मणः ।२१।
एतत्तदिङ्गुदीमूलमिदमेव च तत्तृणम् । अस्मिन्रामश्च सीता च रात्रिं तां शयितावुभौ ॥२२॥

नियम्य पृष्ठे तु तलाङ्गुलित्रवान्छरैः सुपूर्णाविषुधी परंतपः ।
महद्धनुः सज्यमुपोह्य लक्ष्मणो निशामतिष्ठत्परितोऽस्य केवलम् ॥२३॥
ततस्त्वहं चोत्तमबाणचापभृत्स्थितोऽभवं तत्र स यत्र लक्ष्मणः ।
अतन्द्रिभिर्ज्ञातिभिरात्तकार्मुकैर्महेन्द्रकल्पं परिपालयं तदा ॥२४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमः सर्गः ८८

तच्छ्रुत्वा निपुणं सर्वं भरतः सह मन्त्रिभिः । इङ्गुदीमूलमागम्य रामशय्यामवैक्षत ॥ १ ॥
अब्रवीज्जननीः सर्वा इह तस्य महात्मनः । शर्वरी शयिता भूमाविदमस्य विमर्दितम् ॥ २ ॥

करके पुनः मुझे लौटा दिया । क्षात्रधर्मके अनुसार उन्होंने वे सब चीजें नहीं लीं ॥१६॥ उस महात्माने हम लोगोंको प्रेमपूर्वक समझाया कि मित्र, हम लोगोंको लेना न चाहिए, किन्तु सदा देना ही चाहिए ॥१७॥ लक्ष्मण जो जल ले आये थे वही जल महात्मा रामचन्द्रने पीया, सीताके साथ रामचन्द्रने उस रातको उपवास किया ॥१८॥ जो जल बचा हुआ था वह लक्ष्मणने पीया। मौन और सावधान होकर उन तीनोंने सन्ध्या की ॥१९॥ तदनन्तर स्वयं कुश लाकर लक्ष्मणने रामचन्द्रके लिये सुन्दर बिछौना बिछाया ॥२०॥ उस सुन्दर बिछौनेपर सीताके साथ रामचन्द्र बैठे और उन दोनोंके पैर धोकर लक्ष्मण वहाँसे चले आये ॥२१॥ यही वह इंगुदीकी वृक्षका मूल है, यही वह तृण है, यहीं राम और सीताने उस रातको शयन किया ॥२२॥ पीठपर, बाणपूर्ण इषुधि (तरकस) बाँधकर तल और अँगुलित्र (ज्याके आघातको रोकनेवालेको तल कहते हैं, और अँगुलियोंकी रक्षा करनेवालेको अँगुलित्र कहते हैं) लेकर परन्तप लक्ष्मण बड़ा धनुष चढ़ाकर रातभर अकेले रामचन्द्रके पास रहे ॥२३॥ तदनन्तर उत्तम बाण और धनुष लेकर जहाँ लक्ष्मण थे, वहाँ मैं भी गया, जागे हुए और धनुष धारण किये हुए अपने भाइयोंके साथ इन्द्रके समान रामचन्द्रकी हम लोगोंने रक्षा की ॥२४॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८७ ॥

निषादकी कही हुई वे बातें यथावत् सुनकर भरत मन्त्रियोंके साथ इंगुदीकी वृक्षके समीप आये और उन्होंने रामचन्द्रकी शय्या देखी ॥१॥ भरतने सब माताओंसे कहा कि वे महात्मा रामचन्द्र यहीं रातमें

महाराजकुलीनेन महाभागेन धीमता । जातो दशरथेनोर्व्यां न रामः स्वप्तुमर्हति ॥ ३ ॥
अजिनोत्तरसंस्तीर्णे वरास्तरणसंचये । शयित्वा पुरुषव्याघ्रः कथं शेते महीतले ॥ ४ ॥
प्रासादाग्रविमानेषु वलभीषु च सर्वदा । हैमराजतभौमेषु वरास्तरणशालिषु ॥ ५ ॥
पुष्पसंचयचित्रेषु चन्दनागुरुगन्धिषु । पाण्डुराभ्रप्रकाशेषु शुकसङ्घरुतेषु च ॥ ६ ॥
प्रासादवरवर्येषु शीतवत्सु सुगन्धिषु । उषित्वा मेरुकल्पेषु कृतकाञ्चनभित्तिषु ॥ ७ ॥
गीतवादित्रनिर्घोषैर्वराभरणनिःस्वनैः । मृदङ्गवरशब्दैश्च सततं प्रतिबोधितः ॥ ८ ॥
बन्दिभिर्वन्दितः काले बहुभिः सूतमागधैः । गाथाभिरनुरूपाभिः स्तुतिभिश्च परंतपः ॥ ९ ॥
अश्रद्धेयमिदं लोके न सत्यं प्रतिभाति मा । मुह्यते खलु मे भावः स्वप्नोऽयमिति मे मतिः ॥१०॥
न नूनं दैवतं किंचित्कालेन बलवत्तरम् । यत्र दाशरथि रामो भूमावेवमशेत सः ॥११॥
यस्मिन्विदेहराजस्य सुता च प्रियदर्शना । दयिता शयिता भूमौ स्नुषा दशरथस्य च ॥१२॥
इयं शय्या मम भ्रातुरिदमावर्तितं शुभम् । स्थण्डिले कठिने सर्वं गात्रैर्विमृदितं तृणम् ॥१३॥
मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिञ्शयने शुभा । तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः ॥१४॥

सोये थे और यहां उनके सोनेका स्थान है ॥२॥ महाभाग बुद्धिमान् रामचन्द्र महाराजकुलमें उत्पन्न हुए हैं, वे राजा दसरथके पुत्र हैं, वे जमीनमें सोनेके योग्य नहीं हैं ॥३॥ रामचन्द्र सुन्दर बिछौनेपर जिसपर उत्तम चर्मकी चादर बिछायी जाती थी सोते थे, वे पुरुषश्रेष्ठ रामचन्द्र पृथिवीपर कैसे सोएँगे ? ॥४॥ विमानके समान ऊँची अटारीपर गुप्त-गृहमें जिसकी फर्श सोने और चाँदीकी बनी हुई है तथा जिसपर बहुमूल्य बिछौने बिछे हुए हैं, ॥५॥ जहाँ तरह-तरहके पुष्प एकत्र किये गये हैं, जो चन्दन, अगुरुकी गन्धसे सुगन्धित है, स्वच्छ आकाशके समान जो उज्वल है तथा शुक-पक्षियोंका समूह जहाँ बोला करता है, ॥६॥ उत्तम अटारियोंपर जो ठंढी और सुगन्धित रहती हैं, जो मेरु पर्वतके समान ऊँची हैं तथा जिनकी दीवारोंपर सोनेका काम किया हुआ है, वहाँ सोनेवाले रामचन्द्र जमीनपर सोए हुए थे ॥७॥ गान, बाजा तथा उत्तम भूषणोंके शब्दसे तथा मृदंगके उत्तम शब्दोंसे रामचन्द्र सदा जगाये जाते थे ॥८॥ गुणगान करनेवाले अनेक सूत और मागध समययोग्य कथाओं और स्तुतिओंसे रामचन्द्रकी स्तुति करते थे और वे उठते थे, वे ही रामचन्द्र आज जमीनपर कैसे सोते हैं ॥९॥ यह बात विश्वासके योग्य नहीं है, यह मुझे सत्य नहीं मालूम पड़ती, इस विषयमें मेरा अन्तःकरण कुछ निश्चय नहीं कर सकता, मैं समझता हूँ कि यह स्वप्न है ॥१०॥ कालसे बढ़कर दूसरा कोई देवता बली नहीं है, क्योंकि दसरथपुत्र रामचन्द्रको जमीनपर सोना पड़ता है ॥११॥ जिस कालके कारण विदेहराजकी कन्या रामचन्द्रकी भार्या और दसरथकी बहू सुन्दरी सीता जमीनपर सोती है ॥१२॥ यह मेरे भाईके सोनेकी जगह है, यहीं उन्होंने करवटें बदली थी, कठोर चोतरेपर उनके शरीरसे मर्दित यह तृण है ॥१३॥ मालूम होता है कि इस स्थानपर सुन्दरी सीताने आभूषणोंके साथ शयन किया था, क्योंकि यहाँ जगह-जगह सोनेके छांटे दीख

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा । तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः ॥१५॥
मन्ये भर्तुः सुखा शय्या येन बाला तपस्विनी । सुकुमारी सती दुःखं न विजानाति मैथिली ॥१६॥
हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत्सभार्यः कृते मम । ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत् ॥१७॥
सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः । सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम् ॥१८॥
कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः । सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः ॥१९॥
धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः । भ्रातरं विषमे काले यो राममनुवर्तते ॥२०॥
सिद्धार्था खलु वैदेही पतिं यानुगता वनम् । वयं संशयिताः सर्वे हीनास्तेन महात्मना ॥२१॥
अकर्णधारा पृथिवी शून्यैव प्रतिभाति मे । गते दशरथे स्वर्गं रामे चारण्यमाश्रिते ॥२२॥
न च प्रार्थयते कश्चिन्मनसापि वसुंधराम् । वने निवसतस्तस्य बाहुवीर्याभिरक्षिताम् ॥२३॥
शून्यसंवरणारक्षामयन्त्रितहयद्विपाम् । अनावृतपुरद्वारां राजधानीमरक्षिताम् ॥२४॥
अप्रहृष्टबलां शून्यां विषमस्थामनावृताम् । शत्रवो नाभिमन्यन्ते भक्ष्यान्विषकृतानिव ॥२५॥
अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा । फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥२६॥
तस्याहमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने । तत्प्रतिश्रुतमार्यस्य नैव मिथ्या भविष्यति ॥२७॥

पड़ती हैं ॥१४॥ सीताकी ओढ़नी यहाँ अटक गई थी यह स्पष्ट मालूम होता है, क्योंकि रेशमके सूत यहाँ लपटे हुए मालूम पड़ते हैं ॥१५॥ मैं समझता हूँ कि पतिकी शय्या सुखकारी होती है, अतएव सुकुमारी विचारी सती सीताको इस स्थानपर भी दुःख मालूम नहीं पड़ा ॥१६॥ मैं बड़ा ही क्रूर हूँ, मैं मारा गया क्योंकि मेरे ही कारण अपनी स्त्रीके साथ ऐसी शय्यापर रामचन्द्र अनाथके समान सोते हैं ॥१७॥ चक्रवर्तीके कुलमें उत्पन्न होकर सबको सुख देनेवाले, सबका प्रिय करनेवाले रामचन्द्र श्रेष्ठ राज्यका त्याग करके नील कमलके समान सुन्दर, रक्ताक्ष प्रियदर्शन रामचन्द्र, जो दुःखके योग्य नहीं हैं, किन्तु सुख भोगनेवाले हैं उन्हें जमीनपर सोना पड़ा ॥१८-१९॥ शुभलक्षण लक्ष्मण ही बड़भागी हैं, वे ही धन्य हैं जो इस संकटके समयमें रामचन्द्रके साथ हैं ॥२०॥ वैदेहीका भी मनोरथ पूर्ण हुआ जो रामचन्द्रके साथ वन गयी, उस महात्माके बिना हम ही लोग संदेहमें पड़ गये, न उनकी सेवा ही की और न राज्य ही किया ॥२१॥ राजा दसरथके स्वर्ग जानेसे तथा रामचन्द्रके वन जानेसे यह पृथिवी मुझे स्वामीहीन अतएव सूनी मालूम पड़ती है ॥२२॥ वनवासी रामचन्द्रके बाहुवीर्यसे रक्षित इस पृथिवीको—इस राज्यको कोई भी लेनेकी इच्छा नहीं करता, हम तो चाहते ही नहीं, शत्रु भी नहीं चाहता ॥२३॥ नगरकी चारदिवारीकी रक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं है, हाथी घोड़े भी खुले पड़े हैं, नगरद्वार खुला है, राजधानी अरक्षित दशामें पड़ी है ॥२४॥ सैनिक दुःखी हैं, नगरी संकटमें पड़ी है, बाहरी रक्षाका भी कोई प्रबन्ध नहीं है फिर भी विषमिश्रित अन्नके समान शत्रु इधर आँख भी नहीं उठाते, आक्रमण नहीं करते ॥२५॥ आजसे मैं भी पृथिवीपर घास बिछाकर सोऊँगा, नित्य फल-मूल खाऊँगा, और जटा वल्कलधारण करूँगा ॥२६॥ उनके बदले बाकी समयतक मैं वनवास करूँगा। इस प्रकार वनवासको उनकी प्रतिज्ञा मिथ्या नहीं होगी

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति । लक्ष्मणेन सहायोध्यामार्यो मे पालयिष्यति ॥२८॥
अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः। अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम् ॥२९॥
प्रसाद्यमानः शिरसा मया स्वयं बहुप्रकारं यदि न प्रपत्स्यते ।
ततोऽनुवत्स्यामि चिराय राघवं वनेचरं नार्हति मामुपेक्षितुम् ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाशीतितमः सर्गः ॥८८॥

एकोननवतितमः सर्गः ८९

व्युष्य रात्रिं तु तत्रैव गङ्गाकूले स राघवः । काल्यमुत्थाय शत्रुघ्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
शत्रुघ्नोत्तिष्ठ किं शेषे निषादाधिपतिं गुहम् । शीघ्रमानय भद्रं ते तारयिष्यति वाहिनीम् ॥ २ ॥
जागर्मि नाहं स्वपिमि तथैवार्यं विचिन्तयन् । इत्येवमब्रवीद्भ्राता शत्रुघ्नो विप्रचोदितः ॥ ३ ॥
इति संवदतोरेवमन्योन्यं नरसिंहयोः । आगम्य प्राञ्जलिः काले गुहो वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥
कच्चित्सुखं नदीतीरेऽवात्सीः काकुत्स्थ शर्वरीम् । कच्चिच्च सहसैन्यस्य तव नित्यमनामयम् ॥ ५ ॥
गुहस्य तत्तु वचनं श्रुत्वा स्नेहादुदीरितम् । रामस्यानुवशो वाक्यं भरतोऽपीदमब्रवीत् ॥ ६ ॥
सुखा नः शर्वरी धीमन्पूजिताश्चापि ते वयम् । गङ्गां तु नौभिर्बह्वीभिर्दाशाः संतारयन्तु नः ॥ ७ ॥

॥२७॥ भाईके वनसे लौट आनेके लिए जब मैं वनवास करूँगा तब शत्रुघ्न भी मेरे साथही वनवास करेगा और लक्ष्मणके साथ रामचन्द्र अयोध्याका पालन करेंगे ॥२८॥ ब्राह्मणगण रामचन्द्रका अयोध्यामें अभिषेक करेंगे, यदि देवता मेरे इस मनोरथको सत्य करें ॥२९॥ सिरसे प्रणाम करके मैं रामचन्द्रको अनेक प्रकारसे लौट आनेके लिये राजी करूँगा, यदि वे मेरी प्रार्थना स्वीकार न करेंगे तो वनवासी रामचन्द्रके साथ मैं भी बहुत दिनोंतक वनवास कर उनकी सेवा करूँगा, और वे मेरी उपेक्षा न करेंगे, वे अपने सेवकोंमें अवश्य ही स्थान देंगे ॥३०॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका अठासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८८ ॥

उस रातको वहीं गङ्गा तीरपर भरतने निवास किया और प्रातःकाल उठकर उन्होंने शत्रुघ्नसे कहा ॥१॥ शत्रुघ्न, क्या सो रहे हो उठो, निषादाधिपति गुहको शीघ्र बुलाओ, सेनाको गंगा पार करे ॥२॥ भरतके ऐसा कहनेपर शत्रुघ्नने कहा—मैं जाग रहा हूँ, सोता नहीं हूँ, मैं भी रामचन्द्रके विषयकी चिन्ता कर रहा हूँ जिस प्रकार तुम करते हो ॥३॥ इस प्रकार नरश्रेष्ठ दोनों भाई बातचीत करही रहे थे कि उसी समय आकर और हाथ जोड़कर गुह बोला ॥४॥ काकुत्स्थ, इस नदी-तीरपर सुखपूर्वक तुमने रातको निवास किया और सेनाके साथ तुम सब लोग प्रसन्न तो हो, कोई रोग-व्याधि तो नहीं है ॥५॥ स्नेहसे कही गुहकी वे बातें सुनकर रामके वशवर्ती भरत भी इस प्रकार बोले ॥६॥ बुद्धिमान्, बड़े सुखसे रात बीती, तुमने भी हम लोगोंकी बड़ी सेवा की, अब बहुतसी नाव लाकर तुम्हारे मल्लाह हम लोगोंको पार उतार दें ॥७॥

ततो गुहः संत्वरितः श्रुत्वा भरतशासनम् । प्रतिप्रविश्य नगरं तं ज्ञातीजनमब्रवीत् ॥ ८ ॥
उत्तिष्ठत प्रबुध्यध्वं भद्रमस्तु हि वः सदा । नावः समुपकर्षध्वं तारयिष्यामि वाहिनीम् ॥ ९ ॥
ते तथोक्ताः समुत्थाय त्वरिता राजशासनात् । पञ्च नावां शतान्येव समानिन्युः समन्ततः ॥१०॥
अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधराधराः । शोभमानाः पताकिन्यो युक्तवाहाः सुसंहताः ॥११॥
ततः स्वस्तिकविज्ञेयां पाण्डुकम्बलसंवृताम् । सनन्दिघोषां कल्याणीं गुहो नावमुपाहरत् ॥१२॥
तामारुरोह भरतः शत्रुघ्नश्च महाबलः । कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या राजयोषितः ॥१३॥
पुरोहितश्च तत्पूर्वं गुरवो ब्राह्मणाश्च ये । अनन्तरं राजदारास्तथैव शकटापणाः ॥१४॥
आवासमादीपयतां तीर्थं चाप्यवगाहताम् । भाण्डानि चाददानानां घोषस्तु दिवमस्पृशत् ॥१५॥
पताकिन्यस्तु ता नावः स्वयं दाशैरधिष्ठिताः । वहन्त्यो जनमारूढं तदा संपेतुराशुगाः ॥१६॥
नारीणामभिपूर्णास्तु काश्चित्काश्चित्तु वाजिनाम् । काश्चित्तत्र वहन्ति स्म यानयुग्यं महाधनम् ॥१७॥
तास्तु गत्वा परं तीरमवरोप्य च तं जनम् । निवृत्ताः काण्डचित्राणि क्रियन्ते दाशबन्धुभिः ॥१८॥
सवैजयन्तास्तु गजा गजारोहैः प्रचोदिताः । तरन्तः स्म प्रकाशन्ते सपक्षा इव पर्वताः ॥१९॥
नावश्चारुरुहुस्त्वन्ये प्लवैस्तेरुस्तथापरे । अन्ये कुम्भघटैस्तेरुरन्ये तेरुश्च बाहुभिः ॥२०॥
सा पुण्या ध्वजिनी गङ्गां दाशैः संतारिता स्वयम् । मैत्रे मुहूर्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम् ॥२१॥

भरतकी ऐसी आज्ञा सुनकर गुह शीघ्रतापूर्वक नगरमें गया और उसने अपने भाइयोंसे कहा ॥८॥ उठो, जागो, तुम लोगोंका सदा कल्याण हो, सेनाको पार उतारना है ॥९॥ राजाकी आज्ञासे वे शीघ्रतापूर्वक उठे और चारों ओरसे एकत्र करके पाँचसौ नाव ले आये ॥१०॥ इनके अतिरिक्त स्वस्तिक नामकी नाव आयीं जिनपर बड़े-बड़े घंटा लगे हुए थे, पताकाएँ लगी हुई थीं, जो बहुत ही सुन्दर थीं, खेनेवाले मल्लाह थे और मजबूत बनी हुई थीं ॥११॥ उन स्वस्तिक नामवाली नौकाओंमेंसे एक नौका गुह ले आया, जिसपर राजाओंके बैठने योग्य कम्बल बिछा हुआ तथा छोटी घंटिओंका शब्द हो रहा था ॥१२॥ उस नावपर महाबली भरत और शत्रुघ्न बैठे, कौसल्या, सुमित्रा तथा राजकुलकी अन्य स्त्रियाँ भी बैठीं ॥१३॥ तदनन्तर पुरोहित, गुरु, ब्राह्मण, आश्रित राजाओंकी स्त्रियाँ गाड़ियाँ तथा अन्य वस्तु नावपर रखी गयी ॥१४॥ ठहरनेकी जगहपर आग लगानेका (यह सैनिकोंका सदाचार है), गंगा तीरपर उतरनेका और अपनी-सामग्रियाँ उठानेका जो शब्द हुआ, वह आकाश तक फैल गया ॥१५॥ शीघ्र चलनेवाली, मल्लाहोंसे युक्त पताकावाली नाव भरत आदिको लेकर शीघ्रतापूर्वक उस पार चली गयीं ॥१६॥ कई नाव स्त्रियोंसे भरी थीं, कई घोड़ोंसे और कई नाव रथमें जुतनेवाले घोड़े आदि लेकर गयीं ॥१७॥ वे सब नाव उसपार जाकर सब लोगोंको उतार आयीं, वहाँसे लौटनेपर मल्लाहोंने उन नावोंके अद्भुत खेल दिखाये ॥१८॥ ध्वजायुक्त हाथी, हाथीवानोंके द्वारा प्रेरित होकर गङ्गामें तैरने लगे, वे पाँखवाले पर्वतके समान मालूम होते थे ॥१९॥ बहुत लोग नावपर बैठे, बहुत लोग बाँस आदिके बने प्लवपर पार गये, बहुत लोगोंने घड़ोंसे पार किया तथा बहुत बाहुसे तैरकर पार गये ॥२०॥ उस पवित्र सेनाको मल्लाहोंने गंगाके पार उतार

आश्वासयित्वा च चमूं महात्मा निवेशयित्वा च यथोपजोषम् ।
द्रष्टुं भरद्वाजमृषिप्रवर्यमृत्विक्सदस्यैर्भरतः प्रतस्थे ॥२२॥
स ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेत्य महात्मनो देवपुरोहितस्य ।
ददर्श रम्योटजवृक्षदेशं महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम् ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

नवतितमः सर्गः ९०

भरद्वाजाश्रमं गत्वा क्रोशादेव नरर्षभः । जनं सर्वमवस्थाप्य जगाम सह मन्त्रिभिः ॥ १ ॥
पद्भ्यामेव तु धर्मज्ञो न्यस्तशस्त्रपरिच्छदः । वसानो वाससी क्षौमे पुरोधाय पुरोहितम् ॥ २ ॥
ततः संदर्शने तस्य भरद्वाजस्य राघवः । मन्त्रिणस्तानवस्थाप्य जगामानुपुरोहितम् ॥ ३ ॥
वसिष्ठमथ दृष्ट्वैव भरद्वाजो महातपाः । संचचालासनात्तूर्णं शिष्यानर्घ्यमिति ब्रुवन् ॥ ४ ॥
समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः । अबुध्यत महातेजाः सुतं दशरथस्य तम् ॥ ५ ॥
ताभ्यामर्घ्यं च पाद्यं च दत्त्वा पश्चात्फलानि च । आनुपूर्व्याच्च धर्मज्ञः पप्रच्छ कुशलं कुले ॥ ६ ॥

दिया, और वह सेना मैत्रमुहूर्तमें (सूर्योदयसे तीसरे मुहूर्तमें) प्रयागके लिए प्रस्थित हुई ॥२१॥ प्रयाग पहुँचकर महात्मा भरतने अपनी सेनाको विश्राम करनेके लिए कहा और सुखपूर्वक उसको ठहराया, पुनः वे वहाँसे पुरोहित और राजसभाके सदस्योंके साथ ऋषिश्रेष्ठ भरद्वाजको देखनेके लिये चले ॥२२॥ देव-पुरोहित महात्मा ब्राह्मणके आश्रमपर जाकर उन ब्राह्मणश्रेष्ठका बड़ा ही रमणीय वन उन्होंने देखा, जिसमें सुन्दर झोपड़े बने हुए थे और सुन्दर वृक्ष लगे हुए थे ॥२३॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका नवासीवाँ सर्ग समाप्त ॥८९॥

नरश्रेष्ठ भरत भरद्वाजके आश्रमके समीप जाकर वहाँसे एक कोश पहले ही अपने साथके आदमियों-को ठहराकर वे मन्त्रियोंके साथ चले ॥१॥ धर्म जाननेवाले भरतने अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य कपड़े वहीं रख दिये, केवल रेशमी दो वस्त्र (धोती अँगोछी) लेकर तथा पुरोहितको आगे करके वे पैदल ही चले ॥२॥ आश्रमपर पहुँचनेसे जब भरद्वाज मुनि दीख पड़े, तब भरत मन्त्रियोंको भी वहीं रखकर केवल पुरोहितको साथ लेकर गये ॥३॥ महातपस्वी भरद्वाज वसिष्ठको देखते ही आसनसे शीघ्रतापूर्वक उठे और शिष्योंसे अर्घ्य लानेके लिए उन्होंने कहा ॥४॥ भरतने भरद्वाजको प्रणाम किया, भरद्वाज वसिष्ठसे मिले, पुनः महातेजस्वी मुनिने भरथको दसरथका पुत्र जाना ॥५॥ उन गुरु शिष्योंको क्रमसे अर्घ्य, पाद्य और फल देकर मुनिने

अयोध्यायां बले कोशे मित्रेष्वपि च मन्त्रिषु । जानन्दशरथं वृत्तं न राजानमुदाहरत् ॥ ७ ॥
वसिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम् । शरीरेऽग्निषु शिष्येषु वृक्षेषु मृगपक्षिषु ॥ ८ ॥
तथेति तु प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महायशाः । भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहबन्धनात् ॥ ९ ॥
किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः । एतदाचक्ष्व सर्वं मे न हि मे शुध्यते मनः ॥१०॥
सुषुवे यममित्रघ्नं कौसल्याऽऽनन्दवर्धनम् । भ्रात्रा सह सभार्यो यश्चिरं प्रव्राजितो वनम् ॥११॥
नियुक्तः स्त्रीनिमित्तेन पित्रा योऽसौ महायशाः । वनवासी भवेतीह समाः किल चतुर्दश ॥१२॥
कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि । अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥१३॥
एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह । पर्यश्रुनयनो दुःखाद्वाचा संसज्जमानया ॥१४॥
हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते । मत्तो न दोषमाशङ्के मैवं मामनुशाधि हि ॥१५॥
न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे । नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे ॥१६॥
अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः । प्रतिनेतुमयोध्यायां पादौ चास्याभिवन्दितुम् ॥१७॥
तं मामेवंगतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि । शंस मे भगवन्रामः क्व संप्रति महीपतिः ॥१८॥
वसिष्ठादिभिर्ऋत्विग्भिर्याचितो भगवाँस्ततः । उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद्भरतं वचः ॥१९॥

उनके कुल समाचार पूछे ॥६॥ अयोध्या, सेना, खजाना, मित्र, राजा तथा मन्त्रियोंके समाचार उन्होंने पूछे, राजा दसरथ स्वर्गगामी हो गये हैं यह वे जानते थे, अतएव राजाके विषयमें उन्होंने कुछ भी नहीं पूछा ॥७॥ वसिष्ठ और भरतने भी मुनिके कुशल-संवाद पूछे, मुनिके शरीर, अग्नि, शिष्य, वृक्ष तथा पशु-पक्षियोंके समाचार उन लोगोंने पूछे ॥८॥ महायशस्वी भरद्वाजने उनके सब प्रश्नोंका उत्तर देकर रामचन्द्रमें प्रेमके कारण वे भरतसे बोले ॥९॥ तुम तो राज्यका शासन कर रहे हो, फिर यहाँ तुम्हारे आनेका कारण क्या है यह सब मुझसे कहो, क्योंकि मेरे मनमें सन्देह हो रहा है ॥१०॥ सबको आनन्द देनेवाले तथा शत्रुओंका नाश करनेवाले जिस रामचन्द्रको कौसल्याने उत्पन्न किया है, वे भाई और स्त्रीके साथ बहुत दिनोंके लिए वन चले गये हैं ॥११॥ जिस महायशस्वीको स्त्रीके कारण पिताने चौदह वर्षोंके लिए वनवास करनेकी आज्ञा दी ॥१२॥ शत्रुहीन होकर राज्य भोगनेकी इच्छासे पापहीन उस रामचन्द्रके प्रति अथवा उनके छोटे भाई लक्ष्मणके प्रति कुछ बुरा तो तुम करना नहीं चाहते ॥१३॥ भरद्वाजकी इन बातोंको सुनकर भरतकी आँखोंमें दुःखके कारण आँसू आ गये। उन्होंने रामचन्द्रके विषयमें प्रेम प्रकट करनेवाले शब्दोंमें उत्तर दिया ॥१४॥ सब बातोंको जाननेवाले आप भी यदि मुझसे ऐसा कहेंगे तो मेरा जन्म ही व्यर्थ जायगा। रामचन्द्रके वन भेजनेका अपराध मेरे द्वारा नहीं हुआ है, अतएव आप मुझसे ऐसी कठोर बात न कहें ॥१५॥ मेरे सम्बन्धमें मेरी माताने रामचन्द्रके लिए जो कुछ किया है, वह मुझे प्रिय नहीं है, मैं उससे प्रसन्न नहीं हूँ और न मैंने माताकी आज्ञाका पालन ही किया है ॥१६॥ मैं तो उन नरश्रेष्ठको प्रसन्न करनेके लिए जा रहा हूँ, उनको अयोध्यामें लौटा लानेके लिए तथा उनकी चरण-वन्दना करने जा रहा हूँ ॥१७॥ मेरा ऐसा अभिप्राय जानकर आप मुझपर प्रसन्न हों और आप मुझे बतलावें कि राजा रामचन्द्र इस समय कहाँ हैं ॥१८॥ वसिष्ठ आदि पुरोहितोंके कहनेपर भगवान् भरद्वाज

त्वय्येतत्पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे। गुरुवृत्तिर्दमश्चैव साधूनां चानुयायिता ॥२०॥
जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति। अपृच्छं त्वां तवात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन् ॥२१॥
जाने च रामं धर्मज्ञं ससीतं सहलक्ष्मणम्। अयं वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरौ ॥२२॥
श्वस्तु गन्तासि तं देशं वसाद्य सह मन्त्रिभिः। एतं मे कुरु सुप्राज्ञ कामं कामार्थकोविद ॥२३॥
ततस्तथेत्येवमुदारदर्शनः प्रतीतरूपो भरतोऽब्रवीद्वचः।
चकार बुद्धिं च तदाश्रमे तदा निशानिवासाय नराधिपात्मजः ॥२४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

एकनवतितमः सर्गः ९१

कृतबुद्धिं निवसाय तत्रैव स मुनिस्तदा। भरतं केकयीपुत्रमातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ॥ १ ॥
अब्रवीद्भरतस्त्वेनं नन्विदं भवता कृतम्। पाद्यमर्घ्यमथातिथ्यं वने यदुपपद्यते ॥ २ ॥
अथोवाच भरद्वाजो भरतं प्रहसन्निव। जाने त्वां प्रीतिसंयुक्तं तुष्येस्त्वं येनकेनचित् ॥ ३ ॥
सेनायास्तु तवैवास्याः कर्तुमिच्छामि भोजनम्। मम प्रीतिर्यथारूपा त्वमर्हो मनुजर्षभ ॥ ४ ॥
किमर्थं चापि निक्षिप्य दूरे बलमिहागतः। कस्मान्नेहोपयातोऽसि सबलः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

प्रसन्न होकर भरतसे बोले ॥१९॥ पुरुषसिंह भरत, तुम रघुके वंशमें उत्पन्न हुए हो, बड़ोंकी सेवा, दुष्टोंका दमन तथा साधुओंकी सेवा ये तुम्हारे लिए उचित ही हैं ॥२०॥ मैं समझता हूँ कि तुम्हारे मनमें जो यह बात है वह दृढ़ रहेगी, उसमें परिवर्तन न होगा। तुम्हारी कीर्ति बढ़ानेके लिए ही मैंने तुमसे वैसा पूछा, तुम्हारे मनकी बात प्रसिद्ध होनेसे लोग तुम्हारी प्रशंसा करेंगे ॥२१॥ सीता और लक्ष्मणके साथ धर्मज्ञ रामचन्द्रको मैं जानता हूँ अर्थात् उनका पता जानता हूँ। यहीं चित्रकूट पर्वतपर तुम्हारे भाई निवास करते हैं ॥२२॥ कल तुम वहाँ जाना, आज अपने मन्त्रियोंके साथ यहीं रहो, वांछित मनोरथ पूरा करनेवाले बुद्धिमान् भरत, तुम मेरा यह मनोरथ पूरा करो ॥२३॥ तदनन्तर अपने गुणोंसे महान् दीख पड़नेवाले प्रसिद्ध यशस्वी भरतने मुनिकी प्रार्थना स्वीकार की, राजकुमारने उस आश्रममें रात्रि निवासके लिये निश्चय किया ॥२४॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका नब्बेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९० ॥

उस रातको वहीं आश्रममें ही रहना केकयीपुत्र भरतने निश्चय किया। तब मुनिने भोजन आदि अतिथि-सत्कारके लिए निमन्त्रित किया ॥१॥ भरतने उनसे कहा कि वनमें प्राप्त होनेवाले पाद्य अर्घ्य आदिसे तो आपने अतिथि-सत्कार किया ही ॥२॥ हँसते हुए भरद्वाजने उनसे कहा कि मैं जानता हूँ, तुम मुझमें प्रेम रखते हो, अतएव जिस किसी वस्तुसे ही प्रसन्न हो जाते हो ॥३॥ पर मैं तुम्हारी इस सेनाको भोजन कराना चाहता हूँ, जिससे मुझे प्रसन्नता हो और तुम इसके योग्य हो, मुझे प्रसन्न कर सकते हो ॥४॥ तुम अपनी सेनाको दूर ही ठहराकर यहाँ क्यों आये हो ? पुरुषश्रेष्ठ, अपनी सेनाके साथ यहाँ क्यों

भरतः प्रत्युवाचेदं प्राञ्जलिस्तं तपोधनम् । न सैन्येनोपयातोऽस्मि भगवन्भगवद्भयात् ॥ ६ ॥
राज्ञा हि भगवन्नित्यं राजपुत्रेण वा तथा । यत्नतः परिहर्तव्या विषयेषु तपस्विनः ॥ ७ ॥
वाजिमुख्या मनुष्याश्च मत्ताश्च वरवारणाः । प्रच्छाद्य भगवन्भूमिं महतीमनुयान्ति माम् ॥ ८ ॥
ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेषूटजांस्तथा । न हिंस्युरिति तेनाहमेक एवागतस्ततः ॥ ९ ॥
आनीयतामितः सेनेत्याज्ञप्तः परमर्षिणा । तथानुचक्रे भरतः सेनायाः समुपागमम् ॥१०॥
अग्निशालां प्रविश्याथ पीत्वापः परिमृज्य च । आतिथ्यस्य क्रियाहेतोर्विश्वकर्माणमाह्वयत् ॥११॥
आह्वये विश्वकर्माणमहं त्वष्टारमेव च । आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥१२॥
आह्वये लोकपालांस्त्रीन्देवाञ्छक्रपुरोगमान् । आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥१३॥
प्राक्स्रोतसश्च या नद्यस्तिर्यक्स्रोतस एव च । पृथिव्यामन्तरिक्षे च समायान्त्वद्य सर्वशः ॥१४॥
अन्याः स्रवन्तु मैरेयं सुरामन्याः सुनिष्ठिताम् । अपराश्चोदकं शीतमिक्षुकाण्डरसोपमम् ॥१५॥
आह्वये देवगन्धर्वान्विश्वावसुहहाहुहूम् । तथैवाप्सरसो देवगन्धर्वैश्चापि सर्वशः ॥१६॥
घृताचीमथ विश्वाचीं मिश्रकेशीमलम्बुषाम् । नागदन्तां च हेमां च सोमामद्रिकृतस्थलीम् ॥१७॥
शक्रं याश्चोपतिष्ठन्ति ब्रह्माणं याश्च भामिनीः । सर्वास्तुम्बुरुणा सार्धमाह्वये सपरिच्छदाः ॥१८॥

नहीं आये ? ॥५॥ हाथ जोड़कर भरतने तपोधनको उत्तर दिया—भगवन्, आपके क्रोधके भयसे सेनाके साथ मैं यहाँ नहीं आया ॥६॥ भगवन्, राजा और राजपुत्रको चाहिए कि तपस्वियोंके आश्रमसे दूर ही रहें, क्योंकि वहाँ उनके जानेसे आश्रमवासियों को कष्टकी सम्भावना रहती है ॥७॥ मेरे साथ बहुतसे घोड़े, बहुतसे मनुष्य तथा हाथी हैं, अधिक भूमिमें फैलकर वे मेरे साथ चलते हैं, ॥८॥ वे सब आश्रमके वृक्षोंको, जलको, भूमिको तथा पर्णशालावोंको नष्ट न करें, इस कारण मैं यहाँ अकेला आया ॥९॥ ऋषिने आज्ञा दी कि सेना यहीं ले आओ। ऋषिकी आज्ञाके अनुसार भरतने सेना वहाँही बुला ली ॥१०॥ अग्निशालामें जाकर मुनिने तीन बार आचमन किया, पुनः विधिपूर्वक मार्जन किया, उन्होंने कहा—भरतका आतिथ्य करनेके लिए मैं विश्वकर्माका आह्वान करता हूँ ॥११॥ त्वष्टा विश्वकर्माको मैं बुलाता हूँ, मैं भरतका अतिथिसत्कार करना चाहता हूँ, उसमें वे हमारी सहायता करें ॥१२॥ इन्द्र आदि तीन यम वरुण और कुबेर देवोंका मैं आह्वान करता हूँ. मैं आतिथ्य करना चाहता हूँ, उसका ये लोग प्रबन्ध करें ॥१३॥ पृथिवी और अन्तरिक्षमें पूर्वकी ओर बहनेवाली तथा पश्चिम ओर बहनेवाली जो नदियाँ हैं, उनका मैं आह्वान करता हूँ ॥१४॥ कतिपय नदियोंमें शराबकी धारा बहे, कतिपय नदियोंमें सुन्दर बनाई सुरा (गुडका बना मद्य) की धारा बहे और अन्य नदियाँ ईखके रसके समान मीठे जलकी धारा बहावें ॥१५॥ देवताओंके गन्धर्व विश्वावसु हाहा हूहू आदिको भी आमन्त्रित करता हूँ, उसी प्रकार देव गन्धर्वोंके साथ अप्सराओंको भी निमन्त्रित करता हूँ ॥१६॥ घृताची, विश्वाची, मिश्रकेशी, अलंबुषा, नागदत्ता हेमा और सोमा, जिसने पर्वतमें रहनेका स्थान बनाया है, ॥१७॥ जो अप्सराएँ इन्द्रके यहाँ जाती हैं और जो ब्रह्माके यहाँ जाती हैं, उन सबको तुम्बरुके साथ तथा अन्य सामग्रियोंके साथ

वनं कुरुषु यद्दिव्यं वासोभूषणपत्रवत् । दिव्यनारीफलं शश्वत्तत्कौबेरमिहैव तु ॥१९॥
इह मे भगवान्सोमो विधत्तामन्नमुत्तमम् । भक्ष्यं भोज्यं च चोष्यं च लेह्यं च विविधं बहु ॥२०॥
विचित्राणि च माल्यानि पादपप्रच्युतानि च । सुरादीनि च पेयानि मांसानि विविधानि च ॥२१॥
एवं समाधिना युक्तस्तेजसाप्रतिमेन च । शिक्षास्वरसमायुक्तं सुव्रतश्चाब्रवीन्मुनिः ॥२२॥
मनसा ध्यायतस्तस्य प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः । आजग्मुस्तानि सर्वाणि दैवतानि पृथक्पृथक् ॥२३॥
मलयं दर्दुरं चैव ततः स्वेदनुदोऽनिलः । उपस्पृश्य ववौ युक्त्या सुप्रियात्मा सुखं शिवः ॥२४॥
ततोऽभ्यवर्षन्त घना दिव्याः कुसुमवृष्टयः । देवदुन्दुभिघोषश्च दिक्षु सर्वासु शुश्रुवे ॥२५॥
प्रववुश्चोत्तमा वाता ननृतुश्चाप्सरोगणाः । प्रजगुर्देवगन्धर्वा वीणाः प्रमुमुचुः स्वरान् ॥२६॥
सशब्दो द्यां च भूमिं च प्राणिनां श्रवणानि च । विवेशोच्चावचः श्लक्ष्णः समो लयगुणान्वितः ॥२७॥
तस्मिन्नेवं गते शब्दे दिव्ये श्रोत्रसुखे नृणाम् । ददर्श भारतं सैन्यं विधानं विश्वकर्मणः ॥२८॥
बभूव हि समा भूमिः समन्तात्पञ्चयोजनम् । शाद्वलैर्बहुभिश्छन्ना नीलवैदूर्यसंनिभैः ॥२९॥
तस्मिन्बिल्वाः कपित्थाश्च पनसा बीजपूरकाः । आमलक्यो बभूवुश्च चूताश्च फलभूषिताः ॥३०॥
उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च वनं दिव्योपभोगवत् । आजगाम नदी सौम्या तीरजैर्बहुभिर्वृता ॥३१॥
चतुःशालानि शुभ्राणि शालाश्च गजवाजिनाम् । हर्म्यप्रासादसंयुक्ततोरणानि शुभानि च ॥३२॥

साथ में आमन्त्रित करता हूँ ॥१८॥ कुरुदेशमें जो दिव्य वन है, जहाँके वृक्षोंके पत्ते, वस्त्र और आभूषण हैं, दिव्य स्त्रियाँही जिसके फल हैं, वह कुबेरका चित्ररथ वन यहीं आवे ॥१९॥ भगवान् चन्द्रमा यहाँ उत्तम अन्न उत्पन्न करें। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य आदि विविध प्रकारके अन्न उत्पन्न करें ॥२०॥ वृक्षोंसे स्वयं गिरे हुए विचित्र माल्य, पीनेकी सुरा आदि तथा अनेक प्रकारके माँस चन्द्रमा उत्पन्न करें ॥२१॥ इस प्रकार अप्रतिम समाधि और तेजसे युक्त व्रतधारी मुनि, शिक्षा स्वरसे युक्त इस प्रकार बोले ॥२२॥ पूर्वकी ओर मुँह करके और हाथ जोड़कर मुनिने ध्यान किया, उनके ध्यान करतेही सभी देवता एक-एक करके आये ॥२३॥ चन्दनके पर्वत मलय और दुर्दुर पर्वतोंका स्पर्श करके पसीना दूर करनेवाली हवा,—शीतल, मन्द और सुगन्धित होनेके कारण प्रिय और सुखकारी हवा बहने लगी ॥२४॥ दिव्य मेघ कुसुम वृष्टि करने लगे। देवताओंके दुन्दुभि शब्द सब दिशाओंमें सुनायी पड़ने लगे ॥२५॥ उत्तम हवा बहने लगी, अप्सराएँ नाचने लगीं, देवता गन्धर्व गाने लगे और वीणाएँ बजने लगीं ॥२६॥ समलय युक्त मधुर उच्च और कोमल वह शब्द पृथिवी आकाश तथा प्राणियोंके कानोंमें भर गया ॥२७॥ श्रवण-सुखकारी उस दिव्य शब्दको लोगोंने सुना उसी समय भरतकी सेनाने विश्वकर्माकी निपुणता देखी ॥२८॥ उन लोगोंने देखा कि पाँच योजन तक भूमि समतल बनायी गयी है और उसपर नीलम तथा वैदूर्यके समान अनेक प्रकारकी घास जमायी गयी है ॥२९॥ उस भूमिमें, बेल, कैंथा, कटहल, बीजपूर, आँवला तथा आमके वृक्ष लगे हैं जो फलसे शोभित हो रहे हैं ॥३०॥ उत्तरकुरुमें देवताओंके उपभोगकी सामग्रियोंसे युक्त वन और तीरमें उत्पन्न अनेक वृक्षोंके साथ सौम्या नदी आयी ॥३१॥ चतुःशाल,

सितमेघनिभं चापि राजवेश्म सुतोरणम् । शुक्लमाल्यकृताकारं दिव्यगन्धसमुत्तितम् ॥३३॥
चतुरस्रमसंबाधं शयनासनयानवत् । दिव्यैः सर्वरसैर्युक्तं दिव्यभोजनवस्त्रवत् ॥३४॥
उपकल्पितसर्वान्नं धौतनिर्मलभाजनम् । क्लृप्तसर्वासनं श्रीमत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम् ॥३५॥
प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा । वेश्म तद्रत्नसंपूर्णं भरतः कैकयीसुतः ॥३६॥
अनुजग्मुश्च ते सर्वे मन्त्रिणः सपुरोहिताः । बभूवुश्च मुदा युक्तास्तं दृष्ट्वा वेश्मसंविधिम् ॥३७॥
तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च । भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत् ॥३८॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च । वालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने ॥३९॥
आनुपूर्व्यान्निषेदुश्च सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः । ततः सेनापतिः पश्चात्प्रशास्ता च न्यषीदत ॥४०॥
ततस्तत्र मुहूर्तेन नद्यः पायसकर्दमाः । उपातिष्ठन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥४१॥
आसामुभयतः कूलं पाण्डुमृत्तिकलेपनाः । रम्याश्चावसथा दिव्या ब्राह्मणस्य प्रसादजाः ॥४२॥
तेनैव च मुहूर्तेन दिव्याभरणभूषिताः । आगुर्विंशतिसाहस्रा ब्रह्मणा प्रहिताः स्त्रियः ॥४३॥
सुवर्णमणिमुक्तेन प्रवालेन च शोभिताः । आगुर्विंशतिसाहस्राः कुबेरप्रहिताः स्त्रियः ॥४४॥
याभिर्गृहीतः पुरुषः सोन्माद इव लक्ष्यते । आगुर्विंशतिसाहस्रा नन्दनादप्सरोगणाः ॥४५॥

श्वेतगृह, हाथी घोड़ोंके लिए शाला, धनियों और राजाओंके रहनेके लिए महल, जिनमें सुन्दर तोरण लगे हुए थे, वहाँ आये ॥३२॥ श्वेतमेघके समान राजभवन था जिसमें उत्तम तोरण लगा हुआ था, श्वेत मालाओंसे उनकी शोभा बढ़ायी गयी थी और दिव्य सुगन्धि सींची गयी थी ॥३३॥ वह चौकोन था, जिसमें सोने बैठने और सवारियोंके लिए अलग-अलग मकान बने थे, जिसमें सब दिव्य रस रखे हुए थे और दिव्य भोजन तथा दिव्य वस्त्रभी उसमें थे ॥३४॥ उसमें सभी प्रकारके अन्न रखे हुए थे, धोये निर्मल पात्र रखे हुए थे, सभी प्रकारके आसन बिछे हुए थे और सुन्दर पलँग बिछा हुआ था ॥३५॥ महर्षिकी आज्ञा पाकर रत्नोंसे भरे हुए घरमें महाबाहु कैकयीपुत्र भरतने प्रवेश किया ॥३६॥ मन्त्री और पुरोहित भी भरतके साथ-साथ उस घरमें गये और उस घरकी सब सामग्रियोंको देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए ॥३७॥ भरतने वहाँ राजसिंहासन पंखा छत्र देखे, और मन्त्रियोंके साथ उन्होंने उनको प्रणाम किया, जैसे राजाको प्रणाम किया जाता है ॥३८॥ रामचन्द्रको प्रणाम करके भरतने आसनको प्रणाम किया और चँवर लेकर मन्त्रीके आसनपर वे बैठ गये ॥३९॥ तदनन्तर मन्त्री पुरोहित आदि भी क्रमसे बैठे, पुनः सेनापति और प्रशास्ता (छावनीकी रक्षा करनेवाला) बैठे ॥४०॥ तदनन्तर भरतकी आज्ञासे शीघ्रही भरतके पास नदियाँ आयीं, जिनमें पायस(खीर)का कीचड़ था ॥४१॥ भरद्वाजजीकी महिमासे इन नदियोंके दोनों तीरोंपर सुन्दर मकान बने हुए थे और वे पीली मिट्टीसे पुते हुए थे ॥४२॥ उसी समय ब्रह्माकी भेजी हुई बीस हजार स्त्रियाँ, जो दिव्य आभरणोंसे भूषित थीं आयीं ॥४३॥ सुवर्ण, मणि, मुक्ता और मूँगासे शोभित कुबेरकी भेजी हुई बीस हजार स्त्रियाँ आयीं ॥४४॥ जिनके मिलनेसे मनुष्य उन्मादी हो जाता है, सब काम-धाम छोड़कर उन्हींमें लिप्त हो जाता है, ऐसी अप्सराएँ नन्दनवनसे बीस हजार आयीं ॥४५॥ नारद

नारदस्तुम्बुरुर्गोप प्रभया सूर्यवर्चसः। एते गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः ॥४६॥
अलम्बुषा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ वामना। उपानृत्यन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥४७॥
यानि माल्यानि देवेषु यानि चैत्ररथे वने। प्रयागे तान्यदृश्यन्त भरद्वाजस्य तेजसा ॥४८॥
बिल्वा मार्दङ्गिका आसञ्छम्याग्राहा विभीतकाः। अश्वत्था नर्तकाश्चासन्भरद्वाजस्य तेजसा ॥४९॥
ततः सरलतालाश्च तिलकाः सतमालकाः। प्रहृष्टास्तत्र संपेतुः कुब्जा भूत्वाथ वामनाः ॥५०॥
शिंशपामलकी जम्ब्वाद्याश्चान्याः कानने लताः। प्रमदाविग्रहं कृत्वा भरद्वाजाश्रमेऽवसन् ॥५१॥
सुरां सुरापाः पिबत पायसं च बुभुक्षिताः। मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यो यदिच्छति ५२
उच्छोद्य स्नापयन्ति स्म नदीतीरेषु वल्गुषु। अप्येकमेकं पुरुषं प्रमदाः सप्त चाष्ट च ॥५३॥
संवाहन्त्यः समापेतुर्नार्यो विपुललोचनाः। परिमृज्य तदान्योन्यं पाययन्ति वराङ्गनाः ॥५४॥
हयान्गजान्खरानुष्ट्रांस्तथैव सुरभेः सुतान्। अभोजयन्वाहनपास्तेषां भोज्यं यथाविधि ॥५५॥
इक्षूंश्च मधु लाजांश्च भोजयन्ति स्म वाहनान्। इक्ष्वाकुवरयोधानां चोदयन्तो महाबलाः ॥५६॥
नाश्वबन्धोऽश्वमाजानान्न गजं कुञ्जरग्रहः। मत्तप्रमत्तमुदिता सा चमूस्तत्र संबभौ ॥५७॥
तर्पिताः सर्वकामैश्च रक्तचन्दनरूषिताः। अप्सरोगणसंयुक्ताः सैन्या वाचमुदीरयन् ॥५८॥
नैवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान्। कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ॥५९॥

तुम्बरु और गोप जो सूर्यके समान तेजस्वी हैं, ये सब गन्धर्व राज भरतके सामने आगे आकर गाने लगे ॥४६॥ अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका और वामना ये अप्सराएँ भरद्वाजकी आज्ञासे भरतके सामने नाचने लगीं ॥४७॥ जो मालाएँ देवताओंके यहाँ होती हैं, जो चैत्ररथ वनमें होती हैं, वे सब भरद्वाजके प्रभावसे प्रयागमें दीख पड़ने लगीं ॥४८॥ भरद्वाजके प्रभावसे बेलके वृक्ष मृदङ्ग बजाने लगे, बहेड़ाका पेड़ ताल देने लगे और पीपलके पेड़ नाचने लगे ॥४९॥ सरल, ताल, तिलक, तमालके वृक्ष प्रसन्नतापूर्वक कुब्ज और वामन होकर वहाँ आये ॥५०॥ शिंशिपा आमलकी जम्बू तथा मालती मल्लिका जूही आदि लताएँ उस वनमें थीं, उन सबने भरद्वाजके आश्रममें स्त्रीका वेष धारण कर लिया ॥५१॥ वहाँके लोग आपसमें इस प्रकार कहने लगे—सुरापायी ! आप शराब पीएँ, भूखे मनुष्य, आप लोग पायस खाँय, पवित्र मांस आप खाँय जिसकी जैसी इच्छा हो वह वह खाय ॥५२॥ एक पुरुषको सात आठ स्त्रियोंने सुन्दर नदी तीरपर उबटन लगाकर स्नान कराया ॥५३॥ तदन्तर बड़ी आँखवाली स्त्रियाँ नदी तीरपर आयीं, उन्होंने पैर दबाए, वस्त्रसे शरीर पोंछे और आपसमें एक दूसरेको शराब पिलायी ॥५४॥ घोड़ा हाथी गधा ऊँट तथा बैलोंको गाड़ियोंके अध्यक्षने विधिपूर्वक उनका भोजन दिया ॥५५॥ इक्ष्वाकुवंशके योधाओंके वाहकोंको ऊख तथा मीठा मिला हुआ लावा गाड़ियोंके अध्यक्षने खानेके लिए प्रेरित करके खिलाया ॥५६॥ घोड़ा बाँधनेवालेने घोड़ेको नहीं जाना और हाथी बाँधनेवालेने हाथीको भी नहीं जाना, क्योंकि मादक वस्तुके सेवनसे वे मतवाले हो गये थे, अतएव वे प्रसन्न थे, किसी बातकी चिन्ता न थी ॥५७॥ रक्तचन्दन धारण किये हुए सैनिक अप्सराओंको तथा अन्य मनोरथोंके पूरे होनेपर आपसमें कहने लगे ॥५८॥ हम लोग

इति पादातयोधाश्च हस्त्यश्वारोहबन्धकाः। अनाथास्तं विधिं लब्ध्वा वाचमेतामुदीरयन् ॥६०॥
संप्रहृष्टा विनेदुस्ते नरास्तत्र सहस्रशः। भरतस्यानुयातारः स्वर्गोऽयमिति चाब्रुवन् ॥६१॥
नृत्यन्तश्च हसन्तश्च गायन्तश्चैव सैनिकाः। समन्तात्परिधावन्तो माल्योपेताः सहस्रशः ॥६२॥
ततो भुक्तवतां तेषां तदन्नममृतोपमम्। दिव्यानुद्वीक्ष्य भक्ष्यांस्तानभवद्भक्षणे मतिः ॥६३॥
प्रेष्याश्चेट्यश्च वध्वश्च बलस्थाश्चापि सर्वशः। बभूवुस्ते भृशं प्रीताः सर्वे चाहतवाससः ॥६४॥
कुञ्जराश्च खरोष्ट्राश्च गोश्वाश्च मृगपक्षिणः। बभूवुः सुभृतास्तत्र नातो ह्यन्यमकल्पयम् ॥६५॥
नाशुक्लवासास्तत्रासीत्क्षुधितो मलिनोऽपि वा। रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यत ॥६६॥
आजैश्चापि च वाराहैर्निष्ठानवरसंचयैः। फलनिर्यूहसंसिद्धैः सूपैर्गन्धरसान्वितैः ॥६७॥
पुष्पध्वजवतीः पूर्णाः शुक्लस्यान्नस्य चाभितः। ददृशुर्विस्मितास्तत्र नरा लौहीः सहस्रशः ॥६८॥
बभूवुर्वनपार्श्वेषु कूपाः पायसकर्दमाः। ताश्च कामदुघा गावो द्रुमाश्चासन्मधुश्च्युतः ॥६९॥
वाप्यो मैरेयपूर्णाश्च मृष्टमांसचयैर्वृताः। प्रतप्तपिठरैश्चापि मार्गमायूरकौक्कुटैः ॥७०॥
पात्रीणां च सहस्राणि स्थालीनां नियुतानि च। न्युबुर्दानि च पात्राणि शातकुम्भमयानि च ॥७१॥
स्थाल्यः कुम्भ्यः करम्भ्यश्च दधिपूर्णाः सुसंस्कृताः। यौवनस्थस्य गौरस्य कपित्थस्य सुगन्धिनः ।७२।

अयोध्या नहीं जायँगे और न दण्डकारण्यमें ही जायँगे, भरतका कल्याण हो, क्योंकि उन्हींके कारण यह सुख मिला है और रामचन्द्र भी सुखी रहे ॥५९॥ इस प्रकारका सत्कार पाकर वे पैदल सिपाही तथा हाथी घोड़े बाँधनेवाले इस प्रकारकी बात कहने लगे ॥६०॥ भरतके हजारों मनुष्य प्रसन्नताके मारे चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे कि यह स्वर्ग है ॥६१॥ हजारों सैनिक माला धारण किये हुए नाचते गाते और हँसते हुए चारों ओर दौड़ने लगे ॥६२॥ अमृतके समान स्वादिष्ट भोजन जिन लोगोंने कर लिया है वे भी दिव्य भोजनोंको देखकर पुनः खानेकी इच्छा करने लगे ॥६३॥ नवीन वस्त्र पाकर परिचारिकाएँ दासियाँ और सेनामें रहनेवाली स्त्रियाँ अत्यन्त प्रसन्न हुईं ॥६४॥ हाथी घोड़े गधे ऊँट मृगा और पक्षी भी खूब तृप्त हुए, इस कारण इन लोगोंने भी मुनिके दिये पदार्थसे अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थकी इच्छा न की ॥६५॥ उस समय वहाँ कोई भी मनुष्य ऐसा न देखा गया, जिसके वस्त्र श्वेत न हों जो भूखा हो मलिन हो या जिसके केशमें धूल लिपटे हों ॥६६॥ फलके रससे बनाये हुए बकरे और सूअरके मांस तथा व्यंजनोंका समूह, सुगन्ध रसयुक्त दाल विद्यमान थी ॥६७॥ शुक्ल अन्नसे भरे हुए हजारों सुवर्णपात्र लोगोंने विस्मत होकर देखे, वे फूलोंसे सजे हुए थे ॥६८॥ वनके पास कूएँ बने हुए थे जिनमें पायसका कीचड़ था, वे बनैली गाय कामधेनु हो गयीं और वृक्ष मधु बरसानेवाले हुए ॥६९॥ शराबसे भरे हुए तालाव थे और मृगा मयूर मुर्गेका स्वच्छ माँसराशि गरम पात्रमें रखे हुए थे ॥७०॥ अन्न रखनेके हजारों सुवर्ण पात्र थे, साग तरकारी आदि रखनेके पात्र लाखों थे, और भोजन करनेके पात्र दस करोड़ थे ॥७१॥ छोटी कढ़ाहियाँ, छोटे घड़े और बड़ी कढ़ाहियाँ मसालेदार दहीसे भरी थीं। न बहुत ताजा और न बहुत बासी श्वेत सुगन्धित मट्ठासे भरे कई तालाब थे ॥७२॥

ह्रदाः पूर्णा रसालस्य दध्नः श्वेतस्य चापरे । बभूवुः पयसश्चान्ये शर्कराणां च संचयाः ॥७३॥
कल्कांश्चूर्णकषायांश्च स्नानानि विविधानि च । ददृशुर्भाजनस्थानि तीर्थेषु सरितां नराः ॥७४॥
शुक्लानंशुमतश्चापि दन्तधावनसंचयान् । शुक्लांश्चन्दनकल्कांश्च समुद्गेष्ववतिष्ठतः ॥७५॥
दर्पणान्परिमृष्टांश्च वाससां चापि संचयान् । पादुकोपानहं चैव युग्मान्यत्र सहस्रशः ॥७६॥
आञ्जनीः कङ्कतान्कूर्चांश्छत्राणि च धनूंषि च । मर्मत्राणानि चित्राणि शयनान्यासनानि च ॥७७॥
प्रतिपानह्रदान्पूर्णान्खरोष्ट्रगजवाजिनाम् । अवगाह्य सुतीर्थांश्च ह्रदान्सोत्पलपुष्करान् ।
आकाशवर्णप्रतिमान्स्वच्छतोयान्सुखाप्लवान् ॥७८॥
नीलवैदूर्यवर्णांश्च मृदून्यवससंचयान् । निर्वापार्थं पशूनां ते ददृशुस्तत्र सर्वशः ॥७९॥
व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम् । दृष्ट्वातिथ्यं कृतं तादृग्भरद्वाजमहर्षिणा ॥८०॥
इत्येवं रममाणानां देवानामिव नन्दने । भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥८१॥
प्रतिजग्मुश्च ताः सर्वा गन्धर्वाश्च यथागतम् । भरद्वाजमनुज्ञाप्य ताश्च सर्वा वराङ्गनाः ॥८२॥
तथैव मत्ता मदिरोत्कटा नरास्तथैव दिव्यागुरुचन्दनोक्षिताः ।
तथैव दिव्या विविधाः स्रगुत्तमाः पृथग्विकीर्णा मनुजैः प्रमर्दिताः ॥८३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

सूँठ पीपर मरीच लाची, लवंग कंकोल नागपुष्प शक्कर और अदरखसे युक्त सिखरन भरे तालाब थे दहीसे भरे कई तालाब थे, जलसे भरे कई तालाब थे और शक्करकी राशियाँ थीं ॥७३॥ कई तरहके उबटन, सुगन्धित चूर्ण, स्नान करनेके लिए गरम जल तथा अन्य सामग्रियाँ नदियोंके तीरपर बर्तनोंमें रखी हुई मनुष्योंने देखी ॥७४॥ स्वच्छ कूँचीदार बहुतसी दतुअन वहाँ रखी थी, और निर्मल चन्दनके उबटन मालिओंमें रखे हुए थे ॥७५॥ स्वच्छ दर्पण तथा कपड़ोंकी राशि वहाँ रखी हुई थी, खड़ाऊँ और जूतोंके हजारों जोड़े वहाँ रखे हुए थे ॥७६॥ सूरमाकी पेटी कंघी, ब्रुश, छाते धनुष तथा मर्मस्थानोंकी रक्षा करनेवाले कवच और सुन्दर पलंग तथा आसन बिछे हुए थे, ॥७७॥ अन्न परिपाकके लिये क्षार जलोंसे पूर्ण कई तालाब थे । गधे ऊँटों हाथी घोड़ोंके लिये तालाब भरे हुए थे. जिनमें अच्छे घाट बने हुए थे, कमल फूले हुये थे, उनका जल आकाशके समान स्वच्छ था और इतना अधिक था कि जिसमें सुखसे तैरा जा सके ॥७८॥ नीलवैदूर्यके समान चमकीली कोमल घासकी ढेर पशुओंके खानेके लिये रखी हुई थी, भरतके मनुष्योंने इन सब चीजोंको देखा॥७९॥ स्वप्नके समान अद्भुत, भरद्वाज महर्षिका किया हुआ वैसा आतिथ्य देखकर सभी मनुष्य विस्मित हो गये ॥८०॥ नन्दनवनमें जैसे देवता विहार करते हैं, उसी प्रकार भरतके साथियोंने वहाँ भरद्वाजके आश्रममें विहार किया, इसी विहारमें रात भी बीत गयी ॥८१॥ प्रातःकाल भरद्वाजकी आज्ञा लेकर जो गन्धर्व जहाँसे आये थे, वे वहाँ चले गये और वेश्याएँ भी चली गयीं ॥८२॥ प्रातःकाल होनेपर भी मनुष्योंका शराबका नशा नहीं उतरा था, सभी स्वर्गीय चन्दन और अगुरुसे भूषित थे, इस समय तक भी अनेक तरहकी मालाएँ फेंक दी गयी थीं, फिर भी मुरझायी हुई नहीं थीं ॥८३॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमः सर्गः ९२

ततस्तां रजनीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः । कृतातिथ्यो भरद्वाजं कामादभिजगाम ह ॥ १ ॥
तमृषिः पुरुषव्याघ्रं प्रेक्ष्य प्राञ्जलिमागतम् । हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥
कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता । समग्रस्ते जनः कच्चिदातिथ्ये शंस मेऽनघ ॥ ३ ॥
तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च । आश्रमादुपनिष्क्रान्तमृषिमुत्तमतेजसम् ॥ ४ ॥
सुखोषितोऽस्मि भगवन्समग्रबलवाहनः । बलवत्तर्पितश्चाहं बलवान्भगवंस्त्वया ॥ ५ ॥
अपेतक्लमसंतापाः सुभिक्षाः सुप्रतिश्रयाः । अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः ॥ ६ ॥
आमन्त्रयेऽहं भगवन्कामं त्वामृषिसत्तम । समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ ७ ॥
आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः । आचक्ष्व कतमो मार्गः कियानिति च शंस मे ॥ ८ ॥
इति पृष्टस्तु भरतं भ्रातुर्दर्शनलालसम् । प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः ॥ ९ ॥
भरतार्धतृतीयेषु योजनेष्वजने वने । चित्रकूटगिरिस्तत्र रम्यनिर्दरकाननः ॥१०॥
उत्तरं पार्श्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी । पुष्पितद्रुमसंच्छन्ना रम्यपुष्पितकानना ॥११॥
अनन्तरं तत्सरितश्चित्रकूटं च पर्वतम् । तयोः पर्णकुटीं तात तत्र तौ वसतो ध्रुवम् ॥१२॥
दक्षिणेन च मार्गेण सव्यदक्षिणमेव च । गजवाजिसमाकीर्णां वाहिनीं वाहिनीपते ॥१३॥

भरत परिवारके साथ उस रातको वहीं निवास करके तथा भरद्वाजके द्वारा अतिथिसत्कार पाकर रामचन्द्रके यहाँ जानेके अभिप्रायसे ऋषिके पास गये ।१। पुरुषसिंह भरत हाथ जोड़ कर आये हैं, यह देखकर ऋषि हवन समाप्त करके उनसे बोले ।।२।। हमारे इस आश्रममें यह रात सुखपूर्वक बीती, निष्पाप, तुम्हारे आदमी अतिथिसत्कारसे तृप्त हुए यह मुझसे कहो ।।३।। हाथ जोड़कर प्रणाम करके भरत बोले । अति तेजस्वी मुनि भरतसे बातें करनेके लिये आश्रमसे बाहर निकल आये थे ।।४।। भगवन्, अपने समस्त सैनिक तथा हाथी घोड़े आदि वाहनोंके साथ मैंने सुखपूर्वक निवास किया । भगवन्, सेनाके साथ आपने हमको खूब तृप्त कर दिया है ।।५।। साधारण दासोंसे लेकर हम सब लोगोंने अपना संताप यहाँ दूर किया, खूब सुन्दर भोजन किया ठहरने के लिए खूब उत्तम स्थान मिला, हम सब लोगोंने सुखपूर्वक निवास किया ।।६।। ऋषिश्रेष्ठ भगवन्, आपसे मैं निवेदन करता हूँ कि भाईके समीप जानेवाले मुझपर आप अधिक कृपादृष्टि रखें ।।७।। धर्मज्ञ, उस धर्मात्माके आश्रमका कौन मार्ग है और वह यहाँसे कितनी दूर है ।।८।। भाईके देखनेके लिये उत्कण्ठित भरतके द्वारा ऐसा पूछे जाने पर महातेजस्वी महातपस्वी भरद्वाजने उत्तर दिया ।।९।। भरत, यहाँसे साढ़े तीन योजनपर अर्थात् चौदह कोशपर निर्जन वनमें चित्रकूट नामक पर्वत है, उसमें रमणीय सोते तथा वन हैं ।।१०।। उस पर्वतके उत्तर ओरसे मन्दाकिनी नदी बहती है, जो पुष्पित वृक्षोंसे ढँकी हुई है और वहाँ पुष्पित वन है ।।११।। उस नदीके बाद चित्रकूट पर्वत है, जिसपर राम और लक्ष्मणकी कुटी है, वे अवश्यही वहाँ निवास करते हैं ।।१२।। सेनापते, हाथी घोड़के साथ आप अपनी सेना यहाँसे दक्षिणकी ओर ले जाँय, पुनः वहाँसे नैर्ऋत्य कोणमें

वाहयस्व महाभाग ततो द्रक्ष्यसि राघवम् । प्रयाणमिति च श्रुत्वा राजराजस्य योषितः ॥१४॥
हित्वा यानानि यानार्हा ब्राह्मणं पर्यवारयन् । वेपमाना कृशा दीना सह देव्या सुमित्रया ॥१५॥
कौसल्या तत्र जग्राह कराभ्यां चरणौ मुनेः । असमृद्धेन कामेन सर्वलोकस्य गर्हिता ॥१६॥
कैकेयी तत्र जग्राह चरणौ सव्यपत्रपा । तं प्रदक्षिणमागम्य भगवन्तं महामुनिम् ॥१७॥
अदूराद्भरतस्यैव तस्थौ दीनमनास्तदा । तत्र पप्रच्छ भरतं भरद्वाजो महामुनिः ॥१८॥
विशेषं ज्ञातुमिच्छामि मातॄणां तव राघव । एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धार्मिकः ॥१९॥
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यं वचनकोविदः । यामिमां भगवन्दीनां शोकानशनकर्शिताम् ॥२०॥
पितुर्हि महिषीं देवीं देवतामिव पश्यसि । एषा तं पुरुषव्याघ्रं सिंहविक्रान्तगामिनम् ॥२१॥
कौसल्या सुषुवे रामं धातारमदितिर्यथा । अस्या वामभुजं श्लिष्टा या सा तिष्ठति दुर्मनाः ॥२२॥
इयं सुमित्रा दुःखार्ता देवी राज्ञश्च मध्यमा । कर्णिकारस्य शाखेव शीर्णपुष्पा वनान्तरे ॥२३॥
एतस्यास्तौ सुतौ देव्याः कुमारौ देववर्णिनौ । उभौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ वीरौ सत्यपराक्रमौ ॥२४॥
यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाशमितो गतौ । राजा पुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ॥२५॥
क्रोधनामकृतप्रज्ञां दृप्तां सुभगमानिनीम् । ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम् ॥२६॥

जायँ ॥१३॥ महाभाग, इस प्रकार चलकर आप महाभाग रामचन्द्रको देखेंगे । अब यहाँसे चलना है यह सुनकर राजा दसरथकी स्त्रियाँ ॥१४॥ अपनी-अपनी सवारियोंसे उतरकर, जो सवारीपर चलने योग्य थीं, भरद्वाजके पास गयीं, वे सब दुर्बल और दुःखी थीं और काँप रही थीं । देवी सुमित्राके साथ कौसल्याने जाकर हाथोंसे मुनिके चरण पकड़े, जिस कौसल्याके मनरथ पूरे नहीं हुए थे, अर्थात् रामचन्द्रका राज्याभिषेक रुक गया था । सर्वत्र निन्दित केकयीने भी लजाती हुई आकर मुनिके चरण पकड़े और महामुनि भरद्वाजकी प्रदक्षिणा करके वह भरतके पास ही दुःखित मन होकर खड़ी हो गयी । तब महामुनि भरद्वाजने भरतसे पूछा ॥१५-१६-१७-१८॥ भरत तुम्हारी माताओंका मैं विशेष परिचय जानना चाहता हूँ । भरद्वाजके ऐसा कहनेपर ॥१९॥ बोलनेमें निपुण भरतने कहा, शोक और भोजन न करनेके कारण दुर्बल और दुःखित मन, जो यह ॥२०॥ मेरे पिताकी महारानी देवीके समान दीख पड़ती है, उन्होंने सिंहके समान पराक्रमपूर्वक चलनेवाले ।२१॥ रामचन्द्रको उत्पन्न किया है जिस प्रकार अदितिने विष्णुको उत्पन्न किया था । इनके बायें हाथके पास दुःखिनी बैठी है ॥२२॥ वह मेरी मझली दुःखिनी माता सुमित्रा है, वनमें जिसके फूल गिर गये हों वह कर्णिकार शाखाके समान मालूम होती है ॥२३॥ सत्यपराक्रमी वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनों इन्हींके पुत्र हैं, जो देवताके समान सुन्दर हैं ॥२४॥ जिसके कारण वे दोनों राम और लक्ष्मण पुरुषसिंह दण्डकारण्य वनमें गये, जिस दण्डकारण्यमें प्राणोंका भय है और राजा दसरथ पुत्रहीन होकर स्वर्ग गये ॥२५॥ वही वह क्रोधिन अशिक्षित अभिमानिन अपनेको पतिप्रिय समझनेवाली धनकी लोभिन और अनार्य (नीच) पर अपनेको

ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम् । यतोमूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः ॥२७॥
इत्युक्त्वा नरशार्दूलो बाष्पगद्गदया गिरा । विनिःश्वस्य स ताम्राक्षः क्रुद्धो नाग इव श्वसन् ॥२८॥
भरद्वाजो महर्षिस्तं ब्रुवन्तं भरतं तदा । प्रत्युवाच महाबुद्धिरिदं वचनमर्थवित् ॥२९॥
न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया । रामप्रव्राजनं ह्येतत्सुखोदर्कं भविष्यति ॥३०॥
देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम् । हितमेव भविष्यद्धि रामप्रवाजनादिह ॥३१॥
अभिवाद्य तु संसिद्धः कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् । आमन्त्र्य भरतः सैन्यं युज्यतामिति चाब्रवीत् ॥३२॥
ततो वाजिरथान्युक्त्वा दिव्यान्हेमविभूषितान् । अध्यारोहत्प्रयाणार्थं बहून्बहुविधो जनः ॥३३॥
गजकन्या गजाश्चैव हेमकक्ष्याः पताकिनः । जीमूता इव घर्मान्ते सघोषाः संप्रतस्थिरे ॥३४॥
विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च । प्रययुः सुमहार्हाणि पादैरपि पदातयः ॥३५॥
अथ यानप्रवेकैस्तु कौसल्याप्रमुखाः स्त्रियः । रामदर्शनकाङ्क्षिण्यः प्रययुर्मुदितास्तदा ॥३६॥
चन्द्रार्कतरुणाभासां नियुक्तां शिबिकां शुभाम् । आस्थाय प्रययौ श्रीमान्भरतः सपरिच्छदः ॥३७॥
सा प्रयाता महासेना गजवाजिसमाकुला । दक्षिणां दिशमावृत्य महामेघ इवोत्थितः ॥३८॥
वनानि च व्यतिक्रम्य जुष्टानि मृगपक्षिभिः । गङ्गायाः परवेलायां गिरिष्वथ नदीष्वपि ॥३९॥

आर्य समझनेवाली केकयी है ॥२६॥ इसको आप मेरी माता समझें, यह क्रूर है, पाप करनेवाली है, और इसीके कारण मुझपर यह इतना बड़ा कष्ट आ पड़ा है ॥२७॥ गला भर आनेके कारण गद्गद स्वरमें नरश्रेष्ठ भरत ऐसा कहकर हाथीके समान लम्बी साँस लेने लगे, क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गईं ॥२८॥ ऐसा कहते हुए भरतसे अर्थज्ञ महाबुद्धिमान महर्षि भरद्वाज बोले ॥२९॥ भरत, तुम केकयीको दोष मत दो, यह रामचन्द्रके वन जानेका अन्त बड़ा सुखकारी होगा ॥३०॥ रामचन्द्रके वन जानेसे देवता, दानव तथा आत्मज्ञानी ऋषियोंका कल्याण ही होगा ॥३१॥ रामचन्द्रका पता जानकर भरतने मुनिको प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा की, पुनः उनसे आज्ञा लेकर भरतने चलनेके लिये तयार होनेकी अपनी सेनाको आज्ञा दी ॥३२॥ तदन्तर घोड़के रथ जोते गये, जिनमें सोनेका काम किया गया था उन अनेक रथोंपर अनेक मनुष्य चलनेके लिए चढ़े ॥३३॥ हाथी और हथिनी चलीं, इनपर पताकाएँ लगीं थीं, सोनेके सिक्कड़से कसी थीं, बरसातके मेघके समान गरजती हुई चलीं ॥३४॥ दासी-दासी छोटे-बड़े अनेक रथ चले और पैदल चलनेवाले पैदल चले ॥३५॥ रामचन्द्रका दर्शन चाहनेवाली कौसल्या आदि स्त्रियाँ श्रेष्ठ रथोंपर चढ़कर प्रसन्नतपूर्वक चलीं ॥३६॥ भरत प्रखर सूर्य और चन्द्रमाके समान चमकीली सवारीपर आज्ञा पाकर चढ़े और अपने परिवारके साथ चले ॥३७॥ हाथी घोड़ेके साथ वह बड़ी सेना दक्षिण दिशाकी ओर उठे हुए महामेघके समान चली ॥३८॥ मृग पक्षियोंवाला वन पारकर

सा संप्रहृष्टद्विपवाजियूथा वित्रासयन्ती मृगपक्षिसंघान्।
महद्वनं तत्प्रविगाहमाना रराज सेना भरतस्य तत्र ॥४०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वीनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमः सर्गः ९३

तथा महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः। अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाः संप्रदुद्रुवुः ॥ १ ॥
ऋक्षाः पृषतमुख्याश्च रुरवश्च समन्ततः। दृश्यन्ते वनवाटेषु गिरिष्वपि नदीषु च ॥ २ ॥
स संप्रतस्थे धर्मात्मा प्रीतो दशरथात्मजः। वृतो महत्या नादिन्या सेनया चतुरङ्गया ॥ ३ ॥
सागरौघनिभा सेना भरतस्य महात्मनः। महीं संछादयामास प्रावृषि द्यामिवाम्बुदः ॥ ४ ॥
तुरंगौघैरवतता वारणैश्च महाबलैः। अनालक्ष्या चिरं कालं तस्मिन्काले बभूव सा ॥ ५ ॥
स गत्वा दूरमध्वानं संपरिश्रान्तवाहनः। उवाच वचनं श्रीमान्वसिष्ठं मन्त्रिणां वरम् ॥ ६ ॥
यादृशं लक्ष्यते रूपं यथा चैव मया श्रुतम्। व्यक्तं प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ॥ ७ ॥
अयं गिरिश्चित्रकूटस्तथा मन्दाकिनी नदी। एतत्प्रकाशते दूरान्नीलमेघनिभं वनम् ॥ ८ ॥
गिरेः सानूनि रम्याणि चित्रकूटस्य संप्रति। वारणैरवमृद्यन्ते मामकैः पर्वतोपमैः ॥ ९ ॥

गंगाके पश्चिम तीरपर पर्वतों और वनोंमें होती हुई चली ॥३९॥ जिसके हाथी और घोड़े प्रसन्न थे, मृग पक्षियोंको भयभीत करती हुई बड़े वनोंमें चलती हुई वह भरतकी सेना शोभित हुई ॥४०॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका बानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९२ ॥

बहुत बड़ी सेनाके चलनेके कारण वनवासी यूथपति हाथी पीड़ित हुए और वे अपने-अपने यूथके साथ भाग गये ॥१॥ भालू चितकबरे और सादे हिरन सेनासे पीड़ित होकर सघन वनों पर्वतों और नदियोंमें दीख पड़े, अर्थात् वहाँ जाकर छिप गये ॥२॥ धर्मात्मा दसरथपुत्र भरत गर्जन करनेवाली महती चतुरङ्गिनी सेनाके साथ प्रसन्नतापूर्वक चले ॥३॥ समुद्रके वेगके समान महात्मा भरतकी उस सेनाने समस्त पृथिवीको ढँक लिया, जिस प्रकार मेघ बरसातमें आकाशको ढँक लेते हैं ॥४॥ घोड़ोंके समूह तथा महाबली हाथियोंके मारे जानेका कारण पृथिवी बहुत देरतक दिखायी न पड़ी ॥५॥ बहुत दूर चलनेके पश्चात् हाथी घोड़ेके थक जानेपर श्रीमान भरत मन्त्रिश्रेष्ठ वसिष्ठसे बोले ॥६॥ भरद्वाजने चित्रकूटको जैसा बतलाया है तथा जैसा हम लोगोंने सुना है वैसा ही इस देशका रूप दीख पड़ता है, इससे स्पष्ट है कि हमलोग चित्रकूट पहुँच गये, यही चित्रकूट पर्वत है और यह मन्दाकिनी नदी है तथा नील मेघके समान वन यह दूरसे ही दीख पड़ता है ॥७-८॥ चित्रकूट पर्वतके सुन्दर शिखरोंको हमारे पर्वतके समान हाथी तोड़ रहे हैं ॥९॥

मुञ्चन्ति कुसुमान्येते नगाः पर्वतसानुषु । नीला इवातपापाये तोयं तोयधरा घनाः ॥१०॥
किंनराचरितं देशं पश्य शत्रुघ्न पर्वते । हयैः समन्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम् ॥११॥
एते मृगगणा भान्ति शीघ्रवेगाः प्रचोदिताः । वायुप्रविद्धाः शरदि मेघजाला इवाम्बरे ॥१२॥
कुर्वन्ति कुसुमापीडाञ्शिरःसु सुरभीनमी । मेघप्रकाशैः फलकैर्दाक्षिणात्या नरा यथा ॥१३॥
निष्कूजमिव भूत्वेदं वनं घोरप्रदर्शनम् । अयोध्येव जनाकीर्णा संप्रति प्रतिभाति मे ॥१४॥
खुरैरुदीरितो रेणुर्दिवं प्रच्छाद्य तिष्ठति । तं वहत्यनिलः शीघ्रं कुर्वन्निव मम प्रियम् ॥१५॥
स्यन्दनांस्तुरगोपेतान्सूतमुख्यैरधिष्ठितान् । एतान्संपततः शीघ्रं पश्य शत्रुघ्न कानने ॥१६॥
एतान्वित्रासितान्पश्य बर्हिणः प्रियदर्शनान् । एवमापततः शैलमधिवासं पतत्रिणाम् ॥१७॥
अतिमात्रमयं देशो मनोज्ञः प्रतिभाति मे । तापसानां निवासोऽयं व्यक्तं स्वर्गपथोऽनघ ॥१८॥
मृगा मृगीभिः सहिता बहवः पृषता वने । मनोज्ञरूपा लक्ष्यन्ते कुसुमैरिव चित्रिताः ॥१९॥
साधुसैन्याः प्रतिष्ठन्तां विचिन्वन्तु च काननम् । यथा तौ पुरुषव्याघ्रौ दृश्येते रामलक्ष्मणौ ॥२०॥
भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः । विविशुस्तद्वनं शूरा धूमाग्रं ददृशुस्ततः ॥२१॥
ते समालोक्य धूमाग्रमूचुर्भरतमागताः । नामनुष्ये भवत्यग्निर्व्यक्तमत्रैव राघवौ ॥२२॥

ये हाथी पर्वत-शिखरोंपर फूल फेंक रहे हैं, जिस प्रकार नीले जलवाले मेघ वर्षाकालमें पानी बरसाते हैं ॥१०॥ शत्रुघ्न, पर्वतपर किन्नरोंके रहनेका स्थान देखो, वह स्थान चारों ओर घोड़ोंसे भरा है, जिस प्रकार मकरोंसे समुद्र भरे रहते हैं ॥११॥ सैनिकोंके छेड़नेपर शीघ्रतापूर्वक दौड़नेवाले ये मृग बहुत ही सुन्दर मालूम होते हैं, जिस प्रकार शरदृतुमें मेघसमूह वायुके वेगसे आकाशमें दौड़ते हैं ॥१२॥ ये वृक्ष सुगन्धित फूलोंका आभूषण मस्तकपर धारण करते हैं, जिस प्रकार दक्षिण देशके वासी मनुष्य मेघके समान अपने बालोंको धारण करते हैं, अथवा चामकी बनी एक वस्तु धारण करते हैं, जो शस्त्राघातसे रक्षाके लिये पहनी जाती है ॥१३॥ इस वनमें पहले मनुष्योंका शब्द नहीं सुन पड़ता था और यह बड़ा ही भयानक था, वही वन आज आदमियोंसे भर जानेके कारण अयोध्याके समान मुझे मालूम पड़ता है ॥१४॥ घोड़ोंके खुरोंसे उड़ायी हुई धूलि आकाशको ढँक लेती और वायु उसको हटा ले जाती है, मानो वह मेरा प्रिय करती हो ॥१५॥ शत्रुघ्न देखो, घोड़े जुते हुए रथ जिनपर सारथि बैठे हैं बड़े वेगसे वनमें आ रहे हैं ॥१६॥ देखनेमें सुन्दर डरे हुए इन मयूरोंको देखो और अपने निवासस्थान पर्वतपर आते हुए पक्षियों-को देखो ॥१७॥ यह देश मुझे बहुत ही मनोहर जान पड़ता है, निष्पाप, यह तपस्वियोंका निवासस्थान है, स्पष्ट यह स्वर्ग है ॥१८॥ इस वनमें बहुतसे चितकबरे सुन्दर मृग, मृगियोंके साथ, पुष्पोंसे चित्रित दीख पड़ते हैं ॥१९॥ सैनिक वनमें जाँय और सावधानीपूर्वक वनमें ढूँढ़ें, जिससे पुरुषसिंह राम लक्ष्मण दीख पड़ें ॥२०॥ भरतके वचन सुनकर शस्त्र धारण करनेवाले पुरुष उस वनमें गये और उन लोगोंने धूमशिखा देखी ॥२१॥ धूमशिखा देखकर वे लौट आये और भरतसे बोले—बिना मनुष्यके आग नहीं हो सकती,

अथ नात्र नरव्याघ्रौ राजपुत्रौ परंतपौ । अन्ये रामोपमाः सन्ति व्यक्तमत्र तपस्विनः ॥२३॥
तच्छ्रुत्वा भरतस्तेषां वचनं साधुसंमतम् । सैन्यानुवाच सर्वांस्तानमित्रबलमर्दनः ॥२४॥
यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः । अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो धृतिरेव च ॥२५॥
एवमुक्तास्ततः सैन्यास्तत्र तस्थुः समन्ततः । भरतो यत्र धूमाग्रं तत्र दृष्टिं समादधत् ॥२६॥
व्यवस्थिता या भरतेन सा चमूर्निरीक्षमाणापि च भूमिमग्रतः ।
बभूव हृष्टा न चिरेण जानती प्रियस्य रामस्य समागमं तदा ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमः सर्गः ९४

दीर्घकालोषितस्तस्मिन्गिरौ गिरिवरप्रियः । वैदेह्याःप्रियमाकाङ्क्षन्स्वं च चित्तं विलोभयन् ॥१॥
अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत् । भार्याममरसंकाशः शचीमिव पुरंदरः ॥ २ ॥
न राज्यभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः । मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ ३ ॥
पश्येममचलं भद्रे नानाद्विजगणायुतम् । शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुमद्भिर्विभूषितम् ॥ ४ ॥
केचिद्रजतसंकाशाः केचित्क्षतजसंनिभाः । पीतमाञ्जिष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः ॥ ५ ॥

अतएव यह निश्चित है कि राम और लक्ष्मण यहीं हैं ॥२२॥ यदि शत्रुतापी राजपुत्र राम और लक्ष्मण यहाँ न हों तो अवश्य ही रामके समान तपस्वी यहाँ होंगे ॥२३॥ युक्तिपूर्ण उनकी बातें सुनकर शत्रुसेनाके संहार करनेवाले भरत अपने सैनिकोंसे बोले ॥२४॥ सावधान होकर तुमलोग यहीं रहो, यहाँसे आगे मत जाना, सुमन्त और धृतिके साथ मैं ही जाऊँगा ॥२५॥ भरतके वैसा कहनेपर सब सैनिक वहीं ठहर गये और भरत उस दीख पड़नेवाली धूमशिखाकी ओर देखने लगे ॥२६॥ आगे धूम देखती हुई भी वह सेना भरतके द्वारा ठहरायी जानेपर, प्रिय रामचन्द्रका दर्शन शीघ्र ही होगा इस बातको जानती हुई प्रसन्न हुई ॥२७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९३ ॥

पर्वतोंको पसन्द करनेवाले देवसमान रामचन्द्रने उस चित्रकूट पर्वतपर बहुत दिनोंतक निवास किया, एक दिन सीताको खुश करनेके लिये तथा अपना चित्तविनोद करनेके लिये उन्होंने सीताको चित्रकूटकी रमणीयता बतलायी, जिस प्रकार इन्द्र शचीका मनोविनोद करते हैं ॥१-२॥ सीते, इस सुन्दर पर्वतको देखकर राज्यका न मिलना और मित्रोंका साथ छूटना इनसे मुझे कष्ट नहीं होता ॥३॥ इस पर्वतको देखो, अनेक प्रकारके पक्षी इसपर वर्तमान हैं, इसके शिखर इतने ऊँचे हैं, मानों वे आकाशके छेदनेके लिये ऊपर उठे हों, उन शिखरोंपर अनेक प्रकारकी धातु वर्तमान हैं ॥४॥ अतएव चित्रकूटके कई प्रदेश चाँदीके समान श्वेत मालूम होते हैं, कई प्रदेश रुधिरके समान लाल मालूम पड़ते हैं, कई प्रदेश पीला

पुष्पार्ककेतकाभाश्च केचिज्ज्योतीरसप्रभाः । विराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः ॥ ६ ॥
नानामृगगणद्वीपितरक्ष्वृक्षगणैर्वृतः । अदुष्टैर्भात्ययं शैलो बहुपक्षिसमाकुलः ॥ ७ ॥
आम्रजम्ब्वसनैर्लोध्रैः पियालैः पनसैर्धवैः । अङ्कोलैर्भव्यतिनिशैर्बिल्वतिन्दुकवेणुभिः ॥ ८ ॥
काश्मर्यारिष्टवरणैर्मधूकैस्तिलकैरपि । बदर्यामलकैर्नीपैर्वेत्रधन्वनबीजकैः ॥ ९ ॥
पुष्पवद्भिः फलोपेतैश्छायावद्भिर्मनोरमैः । एवमादिभिराकीर्णः श्रियं पुष्यत्ययं गिरिः ॥१०॥
शैलप्रस्थेषु रम्येषु पश्येमान्कामहर्षणान् । किंनरान्द्वन्द्वशो भद्रे रममाणान्मनस्विनः ॥११॥
शाखावसक्तान्खड्गांश्च प्रवराण्यम्बराणि च । पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान्मनोरमान् ॥१२॥
जलप्रपातैरुद्भेदैर्निष्पन्दैश्च क्वचित्क्वचित् । स्रवद्भिर्भात्ययं शैलः स्रवन्मद इव द्विपः ॥१३॥
गुहासमीरणो गन्धान्नानापुष्पभवान्बहून् । घ्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत् ॥१४॥
यदीह शरदोऽनेकास्त्वया सार्धमनिन्दिते । लक्ष्मणेन च वत्स्यामि न मां शोकः प्रधर्षति ॥१५॥
बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते । विचित्रशिखरे ह्यस्मिन्रतवानस्मि भामिनि ॥१६॥
अनेन वनवासेन मम प्राप्तं फलद्वयम् । पितुश्चानृण्यता धर्मे भरतस्य प्रियं तथा ॥१७॥

और मंजिठ वर्णके मालूम होते हैं, कई प्रदेश इन्द्रनीलमणिके समान काले मालूम पड़ते हैं ॥५॥ कहींकी भूमि पुखराजके समान, कहींकी भूमि स्फटिकके समान और कहींकी भूमि केवड़ेके फूलके समान मालूम पड़ती है, कहींकी भूमि ताराओंके समान और कहींकी भूमि पारेके समान दीप्त पड़ती है, इस चित्रकूटके प्रदेश इस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्णोंकी धातुओंके कारण मालूम पड़ते हैं ॥६॥ इस पर्वतपर भिन्न-भिन्न जातिके मृगोंका दल रहता है। बाघ, चीता और भालू यहाँ रहते हैं, पर ये दुष्ट नहीं हैं। इस पर्वतपर बहुतसे पक्षी भी रहते हैं, ॥७॥ आम, जामुन, आसन, लोध, पियाल, कटहल, धव, अंकोल, सुन्दर तिनिस, बिल्व, तिंदुक, बाँस, काश्मीर, अरिष्ट, बरण, महुआ, तिलक, बैर, आँवला, कदम्ब, बेंत, इन्द्रजब और अनार आदि नामके फूल फल और छायावाले वृक्षोंसे यह पर्वत भरा हुआ है। ये वृक्ष बड़े ही सुन्दर हैं, इनसे इस पर्वतकी शोभा बढ़ती है ॥८,९,१०॥ पर्वतके इन सुन्दर प्रदेशोंको देखो, जो काम उत्पन्न करनेवाले हैं। यह देखो, मनस्वी किन्नरोंका जोड़ा यत्र-तत्र रमण कर रहा है ॥११॥ उनकी तलवार और बहुमूल्य वस्त्र डालोंपर लटक रहे हैं। यह देखो, विद्याधर स्त्रियोंका क्रीड़ा करनेका यह स्थान कितना सुन्दर है ॥१२॥ ऊपरसे गिरनेवाले झरने तथा भूमिके भीतरसे निकलनेवाले सोते कहीं धीरे-धीरे चलते हैं और कहीं ठहर जाते हैं, जिससे यह पर्वत उस हाथीके समान मालूम होते हैं जिसके मद चूते हों ॥१३॥ कन्दराकी वायु अनेक पुष्पोंकी गन्ध लेकर नाकको तृप्त करती है। उससे कौन मनुष्य प्रसन्न न होगा ॥१४॥ सुन्दरी, तुम्हारे और लक्ष्मणके साथ अनेक वर्षोंतक भी यदि मुझे यहाँ रहना पड़े तो मैं यहाँ रहूँगा, मुझे कष्ट न होगा ॥१५॥ भामिनि, इस पर्वतपर काफी, फूल और फल हैं, अनेक तरहके पक्षी हैं। इनके शिखर अद्भुत हैं। यह बड़ा ही सुन्दर है। मैं इस पर्वतसे प्रेम करता हूँ ॥१६॥ इस

वैदेहि रमसे कच्चिच्चित्रकूटे मया सह । पश्यन्ती विविधान्भावान्मनोवाक्कायसंमतान् ॥१८॥
इदमेवामृतं प्राहू राज्ञि राजर्षयः परे । वनवासं भवार्थाय प्रेत्य मे प्रपितामहाः ॥१९॥
शिलाः शैलस्य शोभन्ते विशालाः शतशोऽभितः । बहुला बहुलैर्वर्णैर्नीलपीतसितारुणैः ॥२०॥
निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव । ओषध्यःस्वप्रभालक्ष्म्या भ्राजमानाःसहस्रशः ।२१।
केचित्क्षयनिभा देशाः केचिदुद्यानसंनिभाः । केचिदेकशिला भान्ति पर्वतस्यास्य भामिनि ॥२२॥
भित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः समुत्थितः । चित्रकूटस्य कूटोऽयं दृश्यते सर्वतः शुभः ॥२३॥
कुष्ठस्थगरपुंनागभूर्जपत्रोत्तरच्छदान् । कामिनां स्वास्तरान्पश्य कुशेशयदलायुतान् ॥२४॥
मृदिताश्चापविद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्रजः । कामिभिर्वनिते पश्य फलानि विविधानि च ॥२५॥
वस्वौकसारां नलिनीमतीत्यैवोत्तरान्कुरून् । पर्वतश्चित्रकूटोऽसौ बहुमूलफलोदकः ॥२६॥

इमं तु कालं वनिते विजह्निवांस्त्वया च सीते सह लक्ष्मणेन ।
रतिं प्रपत्स्ये कुलधर्मवर्धिनीं सतां पथि स्वैर्नियमैः परैः स्थितः ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ ९४ ॥

वनवासके मुझे दो फल मिले, एक तो पिताका ऋण चुक गया, दूसरा भरतका प्रिय हुआ ॥१७॥ वैदेहि, क्या मेरे साथ चित्रकूटमें मन, वचन और शरीरको प्रिय अनेक तरहके पदार्थोंको देखनेसे तुम्हें आनन्द आता है ॥१८॥ हे राज्ञि, संसारके कल्याण करनेमें प्रवृत्त हमारे बूढ़े प्रपितामह मनु आदिने विचार करके इसी नियमपूर्वक वनवास करनेको ही अमृत बतलाया है ॥१९॥ इस पर्वतके इधर-उधर सैकड़ों बड़ी-बड़ी शिलाएँ शोभित हो रही हैं। वे अनेक वर्णोंकी हैं, कोई लाल, कोई नीली, कोई पीली और सफेद हैं ॥२०॥ रातमें इस पर्वतकी ओषधियाँ अग्निकी शिखाके समान अपनी प्रभासे प्रकाशित होती हैं ॥२१॥ ऐसी हजारों ओषधियाँ हैं। भामिनि, इस पर्वतका कोई भाग घरके समान, कोई बागके समान और कोई केवल पथरीला मालूम पड़ता है ॥२२॥ वह चित्रकूट पर्वत पृथिवी फोड़कर निकला हुआसा मालूम पड़ता है। इसका यह आगेवाला भाग अर्थात् शिखर बहुत ही सुन्दर है ॥२३॥ वह देखो, कामियोंके बिछौने जो कुष्ठ, स्थगर, पुन्नाग और भूर्जपत्रके पत्तोंसे बनाये गये हैं, तथा कमलके पत्ते भी जिसपर बिछे हुए हैं ॥२४॥ ये कमलकी माला कामियोंके द्वारा मसल कर फेक दी गयी है। प्रिये, यह देखो अनेक तरहके फल ॥२५॥ यह बहुत मूल फल और जलवाला चित्रकूट पर्वत कुबेरकी नगरी, इन्द्रकी नगरी और उत्तर कुरुको अपनी शोभासे जीत रहा है ॥२६॥ सीते, अपने श्रेष्ठ नियमोंके साथ सज्जनोंके मार्गमें स्थित रहकर इन चौदह वर्षोंको तुम्हारे और लक्ष्मणके साथ यदि मैं आनन्दपूर्वक बिता सका, तो कुल और धर्मको बढ़ानेवाला आनन्द पाऊँगा ॥२७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका चौरानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमः सर्गः ९५

अथ शैलाद्विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोशलेश्वरः । अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १ ॥
अब्रवीच्च वरारोहां चन्द्रचारुनिभाननाम् । विदेहराजस्य सुतां रामो राजीवलोचनः ॥ २ ॥
विचित्रपुलिनां रम्यां हंससारससेविताम् । कुसुमैरुपसंपन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ३ ॥
नानाविधैस्तीररुहैर्वृतां पुष्पफलद्रुमैः । राजन्तीं राजराजस्य नलिनीमिव सर्वतः ॥ ४ ॥
मृगयूथनिपीतानि कलुषाम्भांसि सांप्रतम् । तीर्थानि रमणीयानि रतिं संजनयन्ति मे ॥ ५ ॥
जटाजिनधराः काले वल्कलोत्तरवाससः । ऋषयस्त्ववगाहन्ते नदीं मन्दाकिनीं प्रिये ॥ ६ ॥
आदित्यमुपतिष्ठन्ते नियमादूर्ध्वबाहवः । एते परे विशालाक्षि मुनयः संशितव्रताः ॥ ७ ॥
मारुतोद्धूतशिखरैः प्रनृत्त इव पर्वतः । पादपैः पुष्पपत्राणि सृजद्भिरभितो नदीम् ॥ ८ ॥
क्वचिन्मणिनिकाशोदां क्वचित्पुलिनशालिनीम् । क्वचित्सिद्धजनाकीर्णां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ।९।
निर्धूतान्वायुना पश्य विततान्पुष्पसंचयान् । पोप्लूयमानानपरान्पश्य त्वं तनुमध्यमे ॥१०॥
पश्यैतद्वल्गुवचसो रथाङ्गाह्वयना द्विजाः । अधिरोहन्ति कल्याणि निष्कूजन्तः शुभा गिरः ।११।
दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने । अधिकं पुरवासाच्च मन्ये तव च दर्शनात् ॥१२॥
विधूतकल्मषैः सिद्धैस्तपोदमशमान्वितैः । नित्यविक्षोभितजलां विगाहस्व मया सह ॥१३॥

कोशलेश्वर रामचन्द्रने पर्वतसे निकलकर मैथिली सीताको सुन्दर जलवाली रमणीय मन्दाकिनी नदी दिखाई ॥१॥ राजीवलोचन रामचन्द्र, विदेहराजकी कन्या चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाली, श्रेष्ठ स्त्री सीतासे बोले ॥२॥ इस रमणीय मन्दाकिनी नदीको देखो । इसके तट कितने सुन्दर हैं । हंस और सारस यहाँ वर्तमान हैं, यह नदी पुष्पोंसे युक्त है । तीरके अनेक फल फूलवाले वृक्षोंसे घिरी सी है । यह कुबेरके कमलवनके समान शोभित हो रही है ॥३-४॥ इसके सुन्दर घाट देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है । मृगोंके दलने यहाँ जल पीया है, जिससे जल इस समय गन्दा हो गया है ॥५॥ समयपर जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले तथा वल्कल वस्त्र ओढ़नेवाले ऋषि इस मन्दाकिनी नदीमें स्नान करते हैं ॥६॥ उनके अतिरिक्त नियम पालन करनेवाले मुनि नियमतः (शास्त्रीय विधानके अनुसार) ऊपर बाहु करके सूर्यका उपस्थान करते हैं ॥७॥ वायुके द्वारा जिनकी शिखा कँपा दी गयी है ऐसे वृक्ष, नदीमें सर्वत्र पुष्प और पत्ते गिराते हैं । उनके द्वारा यह पर्वत भी नाचते हुएके समान मालूम पड़ता है ॥८॥ इस मन्दाकिनी नदीको देखो, कहीं इसका जल मोतीके समान स्वच्छ है, कहीं यह करारोंवाली हो गयी है और कहीं इसका जल भी नीला है । कहीं सिद्धोंका समूह बैठा हुआ है ॥९॥ वायुके द्वारा अतएव जलमें चारों ओर फैले इन पुष्पोंको देखो । उधर दूसरे फूल जलमें बराबर तैर रहे हैं, उन्हें भी देखो ॥१०॥ चक्रवाक नामवाले और सुन्दर बोलनेवाले पक्षी मनोहर बोलते हुए नदी-तीरपर जा रहे हैं ॥११॥ सुन्दरि, इस चित्रकूट और मन्दाकिनीका दर्शन तुम्हारे निरन्तर साथ रहनेके कारण नगरवाससे मुझे अच्छा मालूम होता है ॥१२॥ तप दम और शमसे युक्त निष्पाप सिद्ध इस नदीमें प्रतिदिन स्नान करते हैं । तुम भी

सखीवच्च विगाहस्व सीते मन्दाकिनीं नदीम् । कमलान्यवमज्जन्ती पुष्कराणि च भामिनि ॥१४॥
त्वं पौरजनवद्व्यालानयोध्यामिव पर्वतम् । मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमां नदीम् ॥१५॥
लक्ष्मणश्चैव धर्मात्मा मन्निदेशे व्यवस्थितः । त्वं चानुकूला वैदेहि प्रीतिं जनयती मम ॥१६॥
उपस्पृशंस्त्रिषवणं मधुमूलफलाशनः । नायोध्यायै न राज्याय स्पृहये च त्वया सह ॥१७॥
इमां हि रम्यां गजयूथलोडितां निपीततोयां गजसिंहवानरैः ।
सुपुष्पितां पुष्पभरैरलंकृतां न सोऽस्ति यः स्यान्न गतक्लमः सुखी ॥१८॥
इतीव रामो बहुसंगतं वचः प्रियासहायः सरितं प्रति ब्रुवन् ।
चचार रम्यं नयनाञ्जनप्रभं स चित्रकूटं रघुवंशवर्धनः ॥१९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमः सर्गः ९६

तां तदा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम् । निषसाद गिरिप्रस्थे सीतां मांसेन छन्दयन् ॥ १ ॥
इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना । एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः ॥ २ ॥
तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयायिनः । सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभस्पृशौ ॥ ३ ॥

मेरे साथ स्नान करो ॥१३॥ सीते, कमल (लाल कमल), पुष्कर (सफेद कमल) पुष्पोंको जलमें डुबाती हुई तुम एक सखीके समान इस मन्दाकिनीमें स्नान करो ॥१४॥ यहाँके वनवासियोंको तुम नगरवासियों-के समान समझो। इस चित्रकूट पर्वतको अयोध्या समझो और इस मन्दाकिनी नदीको सरयू समझो। ॥१५॥ धर्मात्मा लक्ष्मण मेरी आज्ञामें वर्तमान हैं और तुम मेरे अनुकूल हो, इससे मैं बहुत प्रसन्न होता हूँ ॥१६॥ तुम्हारे साथ तीनों काल यहाँ स्नान करनेसे, मधु-फल आदि भोजनसे मैं अयोध्या या राज्यकी चाह नहीं करता ॥१७॥ इस रमणीय नदीमें हाथियोंका दल जल पीता है। सिंह और वानर भी यहाँ जल पीनेके लिए आते हैं। इसके चारों ओर पुष्पोंके वृक्ष वर्तमान हैं और यह स्वयं भी पुष्पोंसे अलंकृत है। कौन ऐसा है जो यहाँ स्नान करके थकावट दूर होनेके कारण सुखी न होता हो ॥१८॥ रघुवंशबर्द्धन रामचन्द्र इस प्रकारकी उत्तम बातें नदीके सम्बन्धमें कहते हुए नीले वर्णवाले रमणीय चित्रकूटपर सीताके साथ विचरण करने लगे ॥१९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका पञ्चानबेवाँ स र्ग समाप्त ॥ ९५ ॥

जानकीको पर्वतकी नदी दीखाकर रामचन्द्र पर्वतके एक शिलाखण्डपर बैठ गये और मांसके द्वारा उन्हें प्रसन्न करने लगे ॥१॥ यह बड़ा ही पवित्र और स्वादिष्ट है, यह आगमें पकाया हुआ है, इस प्रकार धर्मात्मा रामचन्द्र सीताके साथ बैठे ॥२॥ इस प्रकार रामचन्द्र वहाँ बैठे थे, उसी समय रामचन्द्रके

एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः । अर्दिता यूथपा मत्ताः स्वयूथाद् दुद्रुवुर्दिशः ॥ ४ ॥
स तं सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः । तांश्च विप्रद्रुतान्सर्वान्यूथपानन्ववैक्षत ॥ ५ ॥
तांश्च विप्रद्रुतान्दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा महास्वनम् । उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ६ ॥
हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया । भीमस्तनितगम्भीरं तुमुलः श्रूयते स्वनः ॥ ७ ॥
गजयूथानि वारण्ये महिषा वा महावने । वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रद्रुता दिशः ॥ ८ ॥
राजा वा राजपुत्रो वा मृगयामटते वने । अन्यद्वा श्वापदं किंचित्सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥
सुदुश्चरो गिरिश्चायं पक्षिणामपि लक्ष्मण । सर्वमेतद्यथातत्त्वमभिज्ञातुमिहार्हसि ॥१०॥
स लक्ष्मणः संत्वरितः सालमारुह्य पुष्पितम् । प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वां दिशमवैक्षत ॥११॥
उदङ्मुखः प्रेक्षमाणो ददर्श महतीं चमूम् । गजाश्वरथसंबाधां यत्तैर्युक्तां पदातिभिः ॥१२॥
तामश्वरथसंपूर्णां रथध्वजविभूषिताम् । शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत् ॥१३॥
अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् । सज्जं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा ॥१४॥
तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह । अङ्गावेक्षस्व सौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमूम् ॥१५॥
एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् । दिधक्षन्निव तां सेनां रुषितः पावको यथा ॥१६॥
संपन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम् । आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः ॥१७॥

पास आनेवाले भरतकी सेनाकी धूलि और सेनाका शब्द आकाशमें फैले हुए मालूम पड़े ॥३॥ इसी बीचमें इस महान् शब्दसे डरे और उद्विग्न यूथपति हाथी अपने यूथके साथ दिशाओंमें भाग गये ॥४॥ रामचन्द्रने भी सेनाके द्वारा उत्पन्न उस शब्दको सुना और भागते हुए उन यूथपति हाथियोंको भी देखा ॥५॥ उन भागते हुए हाथियोंको देखकर तथा उस महाभयानक शब्दको सुनकर रामचन्द्र उग्रतेजा लक्ष्मणसे बोले ॥६॥ लक्ष्मण, देखो तुमसे सुमित्रा सुपुत्रवती है, मेघगर्जनके समान भयानक और गम्भीर शब्द सुनाई पड़ता है ॥७॥ महावनमें सिंहसे डरे हुएके समान यह हाथियोंका यूथ, ये भैंसे, ये मृगा सहसा दिशाओंमें भाग रहे हैं ॥८॥ क्या, कोई राजा, या राजपुत्र आखेट करनेके लिए आया है अथवा अन्य कोई जंगली हिंस्र पशु भ्रमण कर रहा है, मालूम करो ॥९॥ लक्ष्मण, इस पर्वतपर पक्षियोंका आना भी कठिन है, अतएव इसका ठीक-ठीक पता लगाओ ॥१०॥ शीघ्र ही लक्ष्मण एक पुष्पित शाल वृक्षपर चढ़ गये और सब दिशाओंमें देखकर उन्होंने पूर्व दिशाकी ओर देखा ॥११॥ जब उन्होंने उत्तरकी ओर देखा तब एक बहुत बड़ी सेना दीख पड़ी, जिसमें हाथी, घोड़े और रथ भरे हुए थे तथा सजे हुए सिपाही थे ॥१२॥ अश्व रथसे पूर्ण तथा रथकी ध्वजाओंसे शोभित उस सेनाकी बात लक्ष्मणने रामको सुनायी और वे बोले ॥१३॥ आप आग बुझा दें, सीता कन्दरामें जाय, धनुष बाण और कवच आप ले लें ॥१४॥ पुरुषसिंह रामचन्द्र लक्ष्मणसे पुनः बोले, भाई समझो, तुम क्या समझते हो? यह सेना किसकी है? ॥१५ रामचन्द्रके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण बोले, मानों वे अग्निके समान उस समस्त सेनाको जला देना चाहते हों ॥१६॥ राज्य पाकरके अपने राज्यको शत्रुहीन बनानेकी इच्छासे केकयीका पुत्र भरत हम

एष वै सुमहाञ्छ्रीमान्विटपी संप्रकाशते । विराजत्युज्ज्वलस्कन्धः कोविदारध्वजो रथे ॥१८॥
भजन्त्येते यथाकाममश्वानारुह्य शीघ्रगान् । एते भ्राजन्ति संहृष्टा गजानारुह्य सादिनः ॥१९॥
गृहीतधनुषावावां गिरिं वीर श्रयावहे । अथवेहैव तिष्ठावः संनद्धावुद्यतायुधौ ॥२०॥
अपि नौ वशमागच्छेत्कोविदारध्वजो रणे । अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत् ॥२१॥
त्वया राघव संप्राप्तं सीतया च मया तथा । यन्निमित्तं भवान्राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात् ॥२२॥
संप्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव हि । भरतस्य वधे दोषं नाहं पश्यामि राघव ॥२३॥
पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते । पूर्वापकारी भरतस्त्यागे धर्मश्च राघव ॥२४॥
एतस्मिन्निहिते कृत्स्नामनुशाधि वसुंधराम् । अद्य पुत्रं हतं संख्ये कैकेयी राज्यकामुका ॥२५॥
मया पश्येत्सुदुःखार्ता हस्तिभिन्नमिव द्रुमम् । कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां सबान्धवाम् ॥२६॥
कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम् । अद्येमं संयतं क्रोधमसत्कारं च मानद ॥२७॥
मोक्ष्यामि शत्रुसैन्येषु कक्षेष्विव हुताशनम् । अद्यैव चित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः ॥२८॥
छिन्दञ्छत्रुशरीराणि करिष्ये शोणितोक्षितम् । शरैर्निर्भिन्नहृदयान्कुञ्जरांस्तुरगांस्तथा ॥२९॥

दोनोंको मारनेके लिए आ रहा है ॥१७॥ यह सुन्दर और विशाल जो वृक्ष दिखाई पड़ रहा है, उसीके पास रथमें कोविदारध्वजा (भरतकी ध्वजा कोविदारकी थी) दिखाई पड़ती है ॥१८॥ तेज चलनेवाले घोड़ोंके सवार इधरकी ओर हैं । ये हाथीके सवार, हाथीपर चढ़े हुए जो प्रसन्न मालूम होते हैं वे भी वहीं हैं ॥१९॥ वीर, हमलोग धनुष लेकर पर्वतपर चले चलें, अथवा कवच धारण करके और अस्त्र-शस्त्र लेकर यहीं रहें ॥२०॥ यदि यह कोविदारध्वजावाला रथ हमलोगोंके वशमें आता, उस समय मैं भरतको देखता, जिसके कारण इतने कष्ट उठाने पड़ते हैं ॥२१॥ आपको और सीताको और मुझको भी । जिस भरतके कारण आप अपने सनातन राज्याधिकारसे वञ्चित किये गये हैं ॥२२॥ वीर, हमलोगोंका शत्रु यह भरत आया है । यह अवश्य ही वध्य है । भरतके मारनेमें मैं दोष नहीं देखता ॥२३॥ जिसने पहले अपना अपकार किया है, उसके वध करनेसे अपकार नहीं होता । भरतने पहले पहल हमलोगोंका अपकार किया है । इसके मारनेसे धर्म ही होगा ॥२४॥ इसके मारे जानेपर आप समूची पृथिवीका पालन करें । राज्यकी लोभिन केकयी युद्धमें अपने पुत्रका मेरे द्वारा मारा जाना दुःखित होकर देखे । हाथीके तोड़े वृक्षके समान, मैं केकयीको तथा मन्थरा और उसके बान्धवोंको मारूँगा ॥२५-२६॥ इस बड़े पापसे आज यह पृथिवी मुक्त हो । आज अपने रोके हुए क्रोधको तथा तिरस्कारको शत्रुसेनापर मैं छोड़ूँगा, जिस प्रकार सूखे तृणराशिपर आग छोड़ी जाती है । आज अपने तीखे बाणोंसे शरीरोंको काटकर चित्रकूटके वनको सींचूँगा । मेरे बाणोंसे सेनाके जिन हाथियों और घोड़ोंके कलेजे फट जायँ, उन्हें जंगली जन्तु घसीटें

श्वापदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान्मया । शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मिन्महावने ।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमः सर्गः ९७

सुसंरब्धं तु भरतं लक्ष्मणं क्रोधमूर्च्छितम् । रामस्तु परिसान्त्व्याथ वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥
किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा । महाबले महोत्साहे भरते स्वयमागते ॥ २ ॥
पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमाहवे । किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण ॥ ३ ॥
यद्द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत् । नाहं तत्प्रतिगृह्णीयां भक्ष्यान्विषकृतानिव ॥ ४ ॥
धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण । इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिशृणोमि ते ॥ ५ ॥
भ्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण । राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥ ६ ॥
नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा । नहीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद । भवेन्मम सुखं किंचिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी ॥ ८ ॥

और मेरे द्वारा मारे गए मनुष्योंको भी घसीटें । आज इस महावनमें भरतको और उसकी सेनाको मारकर मैं बाणों और धनुषका ऋण चुका दूँगा, इसमें सन्देह नहीं ॥२७–२८–२९–३०॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका छियानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥९६॥

भरतसे युद्ध करनेके लिये तैयार और अत्यन्त क्रुद्ध लक्ष्मणको समझाते हुए रामचन्द्र इस प्रकार बोले ॥१॥ धनुषकी क्या आवश्यकता है ढाल और तलवारसे क्या होगा, जब कि महोत्साही महाबलवान भरत आ रहे हैं, (अर्थात् भरत तो हमलोगोंके शत्रु नहीं हैं ।) ॥२॥ लक्ष्मण, पिताके सत्यकी रक्षा करनेकी प्रतिज्ञा करके तथा भरतको मारकर जो निन्दायुक्त राज्य मिलेगा, उसको लेकर मैं क्या करूँगा अर्थात् लोग कहेंगे कि पिताने जो राज्य भरतको दिया था वह भरतको मारकर रामचन्द्रने ले लिया । यह निन्दा रहेगीही ॥३॥ बान्धवों और मित्रोंके नाश करनेपर जो धन प्राप्त होता है, वह धन हमें नहीं चाहिए । वह विषयुक्त अन्नके समान है ॥४॥ लक्ष्मण, धर्म अर्थ काम और पृथिवी जो कुछ मैं चाहता हूँ वह सब तुम लोगोंके ही लिए, यह बात मैं तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक सच-सच कह रहा हूँ ॥५॥ भाइयोंके धन प्राप्त होने तथा उनके सुखके लिए ही मैं राज्य भी चाहता हूँ । लक्ष्मण, आयुध छूकर, शपथपूर्वक मैं यह कहता हूँ ॥६॥ समुद्रसे घिरी हुई यह पृथिवी मेरे लिये दुर्लभ नहीं है, पर अधर्मके द्वारा इन्द्रका भी पद मैं नहीं चाहता ॥७॥ भरत, तुम और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि कोई सुख मुझे होता

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः । मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥ ९ ॥
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम् । जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम ॥१०॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः । द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः ॥११॥
अम्बां च केकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन् । प्रसाद्य पितरं श्रीमान्राज्यं मे दातुमागतः ॥१२॥
प्राप्तकालं यथैषोऽस्मान्भरतो द्रष्टुमर्हति । अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत् ॥१३॥
विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम् । ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद्विशङ्कसे ॥१४॥
नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः । अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥१५॥
कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि । भ्राता वा भ्रातरं हन्यात्सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥१६॥
यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे । वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥१७॥
उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद्वचः । राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मंस्यते ॥१८॥
तथोक्तो धर्मशीलेन भ्राता तस्य हिते रतः । लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया ॥१९॥
तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह । त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥२०॥
व्रीडितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः प्रत्युवाच ह । एष मन्ये महाबाहुरिहास्मान्द्रष्टुमागतः ॥२१॥

तो उस सुखको अग्नि जला डालें ॥८॥ मैं समझता हूँ कि मेरे प्राणोंसे भी प्रिय भ्रातृवत्सल भरत अयोध्यामें आये होंगे और कुलधर्मका (अर्थात् बड़ा भाई ही राजा होता है) स्मरण किया होगा ॥९॥ पुरुषश्रेष्ठ, उस समय भरतने सुना होगा कि जटा वल्कल धारण कर जानकी और मैं तुम्हारे साथ वनमें चला गया हूँ ॥१०॥ अतएव स्नेह परवश तथा शोकसे व्याकुल होकर ये भरत मुझे देखनेके लिए आये हैं। इनके आनेका और कोई प्रयोजन नहीं है ॥११॥ श्रीमान् भरत अप्रिय वचनोंके द्वारा माता केकयीको अप्रसन्न करके और पिताको प्रसन्न करके, ये मुझे राज्य देनेके लिए आये हैं ॥१२॥ इस समय भरत जो हम लोगोंको देखना चाहते हैं यह इनके लिए उचित ही है। ये हमलोगोंके विषयमें मनसे भी कुछ विपरीताचरण नहीं कर सकते ॥१३॥ भरतने तुम्हारा क्या अपकार किया है, और कब किया है, जो तुम आज भरतसे इस प्रकार डर रहे हो तथा उनसे शंकित हो रहे हो ॥१४॥ तुमको भरतसे कोई अप्रिय अथवा क्रूर वचन नहीं बोलना चाहिए। यदि तुम भरतका कोई अपकार करोगे तो वह मेरा अपकार समझा जायगा ॥१५॥ लक्ष्मण, अपने प्राणोंके समान प्रिय पिताको पुत्र कैसे मार सकता है, भाई भाईको कैसे मार सकता है, किसी आपत्तिके समयमें भी ॥१६॥ यदि तुम राज्यके लिए यह बात कह रहे हो तो भरतके यहाँ आनेपर कहूँगा कि तुम लक्ष्मणको राज्य दे दो ॥१७॥ लक्ष्मण, जब मैं भरतसे यह बात कहूँगा कि राज्य लक्ष्मणको दे दो तो वे अवश्य ही इसे मान लेंगे ॥१८॥ रामके हित चाहनेवाले लक्ष्मण अपने धर्मशील भाईके ऐसा कहनेपर बहुत ही लज्जित हुए मानों वे अपने अंगोंमें प्रविष्ट होने लगे ॥१९॥ रामचन्द्रके वचन सुनकर लज्जित लक्ष्मण पुनः बोले, मैं समझता हूँ कि आपको देखनेके लिए पिता दशरथ स्वयं आ रहे हैं ॥२०॥ लक्ष्मण लज्जित हो रहे हैं यह देखकर रामचन्द्र पुनः बोले—ये

अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ । वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥२२॥
इमां चाप्येष वैदेहीमत्यन्तसुखसेविनीम् । पिता मे राघवःश्रीमान्वनादादाय यास्यति ॥२३॥
एतौ तौ संप्रकाशेते गोत्रवन्तौ मनोरमौ । वायुवेगसमौ वीरौ जवनौ तुरगोत्तमौ ॥२४॥
स एष सुमहाकायः कम्पते वाहिनीमुखे । नागः शत्रुंजयो नाम वृद्धस्तातस्य धीमतः ॥२५॥
न तु पश्यामि तच्छत्रं पाण्डुरं लोकविश्रुतम् । पितुर्दिव्यं महाभाग संशयो भवतीह मे ॥२६॥
वृक्षाग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः । इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह ॥२७॥
अवतीर्य तु सालाग्रात्तस्मात्स समितिंजयः । लक्ष्मणःप्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थौ रामस्य पार्श्वतः॥२८॥
भरतेनाथ संदिष्टा संमर्दो न भवेदिति । समन्तात्तस्य शैलस्य सेना वासमकल्पयत् ॥२९॥
अध्यर्धमिक्ष्वाकुचमूर्योजनं पर्वतस्य ह । पार्श्वे न्यविशदावृत्य गजवाजिनराकुला ॥३०॥

सा चित्रकूटे भरतेन सेना धर्मं पुरस्कृत्य विधूय दर्पम् ।
प्रसादनार्थं रघुनन्दनस्य विरोचते नीतिमता प्रणीता ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तनवतितमः सर्गः ॥९७॥

अष्टनवतितमः सर्गः ९८

निवेश्य सेनां तु विभुः पद्भ्यां पादवतां वरः । अभिगन्तुं स काकुत्स्थमियेष गुरुवर्तकम् ॥ १ ॥
निविष्टमात्रे सैन्ये तु यथोद्देशं विनीतवत् । भरतो भ्रातरं वाक्यं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

महाबाहु हम लोगोंको देखनेके लिए आ रहे हैं ॥२१॥ हम लोग सुखके अभ्यासी हैं यह जानकर तथा वनके कष्टोंको सोचकर ये हम लोगोंको घर लौटा ले जायँगे ॥२२॥ सुखको अत्यन्त पसन्द करनेवाली इस जानकीको लेकर मेरे पिता जायँगे ॥२३॥ ये दोनों अच्छी जातिके सुन्दर वायुके समान तेज चलनेवाले दो घोड़े दिखाई पड़ते हैं ॥२४॥ यह विशाल शरीरवाला पिताका शत्रुंजय बूढ़ा हाथी धीरे-धीरे चल रहा है ॥२५॥ पर पिताका वह लोकप्रसिद्ध दिव्य श्वेत छत्र मैं नहीं देखता, इसलिए मेरे मनमें सन्देह हो रहा है ॥२६॥ लक्ष्मण, तुम मेरी बात मानो, पेड़के नीचे उतर आओ। धर्मात्मा रामने लक्ष्मणसे यही बात कही ॥२७॥ रण जीतनेवाले लक्ष्मण उस साल वृक्षसे नीचे उतर आये और हाथ जोड़कर रामचन्द्रके बगलमें खड़े हो गये ॥२८॥ इधर भरतने अपनी सेनाको आज्ञा दी कि किसीको कष्ट न पहुँचाओ। इसलिए उस सेनाने पर्वतके पासही अर्थात् आश्रमसे दूर अपना निवास बनाया ॥२९॥ उस पर्वतके पास डेढ़ योजन अर्थात् छः कोसमें हाथी घोड़े और मनुष्योंसे भरी हुई सेनाने निवास किया ॥३०॥ अहंकार दूर कर धर्मपूर्वक नीतिमान भरतके द्वारा शिक्षित वह सेना चित्रकूटमें रामचन्द्रको मनानेके लिये आयी हुई शोभने लगी ॥३१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९७ ॥

द्विपदोंमें श्रेष्ठ भरत सेनाको ठहराकर पिताकी आज्ञा पालन करनेवाले रामचन्द्रके पास जानेके लिए तयार हुए ॥१॥ शिक्षितके समान, भरतकी आज्ञाके अनुसार जब सेना ठहर गयी तब भरत अपने भाई

क्षिप्रं वनमिदं सौम्य नरसंघैः समन्ततः । लुब्धैश्च सहितैरेभि त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ३ ॥
गुहो ज्ञातिसहस्रेण शरचापासिपाणिना । समन्वेषतु काकुत्स्थावस्मिन्परिवृतः स्वयम् ॥ ४ ॥
अमात्यैः सह पौरैश्च गुरुभिश्च द्विजातिभिः । सह सर्वं चरिष्यामि पद्भ्यां परिवृतःस्वयम् ॥ ५ ॥
यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम् । वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ६ ॥
यावन्न चन्द्रसंकाशं तद्द्रक्ष्यामि शुभाननम् । भ्रातुःपद्मविशालाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ७ ॥
सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम् । मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति ॥ ८ ॥
यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ । शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥ ९ ॥
यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः । अभिषिक्तो जलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति॥१०॥
कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा । भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या यानुगच्छति॥११॥
सुशुभश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजसमो गिरिः । यस्मिन्वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने ॥१२॥
कृतकार्यमिदं दुर्गवनं व्यालनिषेवितम् । यदध्यास्ते महाराजो रामः शस्त्रभृतां वरः ॥१३॥
एवमुक्त्वा महाबाहुर्भरतः पुरुषर्षभः । पद्भ्यामेव महातेजाः प्रविवेश महद्वनम् ॥१४॥
स तानि द्रुमजालानि जातानि गिरिसानुषु । पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतां वरः ॥१५॥
स गिरेश्चित्रकूटस्य शालमारुह्य सत्वरम् । रामाश्रमगतस्याग्नेर्ददर्श ध्वजमुच्छ्रितम् ॥१६॥

शत्रुघ्नसे इस प्रकार बोले ॥२॥ सौम्य, बहुतसे आदमियोंको और व्याधोंको साथ लेकर तुम शीघ्रही इस वनको ढूँढ़ डालो ॥३॥ धनुष बाण धारण करनेवाले अपने हजारों बान्धवोंके साथ गुह भी इस बनमें राम और लक्ष्मणको ढूँढ़े ॥४॥ सचिवों, नगरवासियों, गुरुओं तथा ब्राह्मणोंके साथ मैं भी इस समस्त वनमें पैदल परिभ्रमण करूँगा ॥५॥ जबतक रामको, महाबली लक्ष्मणको अथवा महाभागा सीताको मैं न देखूँगा, तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी ॥६॥ जब तक अपने भाईका कमलके समान लम्बी आँख-वाला और चन्द्रमाके समान मुख न देखूँगा तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी ॥७॥ लक्ष्मणका ही मनोरथ पूरा हुआ जो चन्द्रमाके समान सुन्दर कमलाक्ष और महाद्युति रामचन्द्रका मुँह देखता है ॥८॥ राजाके चिह्नोंसे युक्त भाईके चरणोंको सिरसे जब तक प्रणाम न करूँगा, तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी ॥९॥ जब तक राज्य पानेके योग्य रामचन्द्र पिता, पितामहोंके राज्यपर स्थित न होंगे, जब तक वे अभिषेकके जलसे न भीगेंगे, तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी ॥१०॥ जनककी पुत्री महाभागा वैदेही कृतार्थ हुई, जो सागर पर्य्यन्त पृथिवीके स्वामी पतिका अनुगमन करती हैं ॥११॥ यह चित्रकूट पर्वत बड़ा ही सुन्दर है, गिरिराजके समान हैं, जिसमें रामचन्द्र निवास करते हैं, जिस प्रकार कुबेर आनन्द देनेवाले चैत्ररथमें निवास करते हैं ॥१२॥ हिंस्र जन्तुओंसे सेवित यह दुर्गम बन भी कृतार्थ हो गया; क्योंकि श्रेष्ठ शस्त्रधारी, महाराज इसमें निवास करते हैं ॥१३॥ महाबाहु, पुरुषश्रेष्ठ, महातेजस्वी भरतने ऐसा कहकर उस भयानक बनमें प्रवेश किया ॥१४॥ पर्वत शिखरपर उत्पन्न पुष्पित वृक्षोंके मध्यसे वे चले ॥१५॥ चित्रकूट पर्वतके एक साल वृक्षपर शीघ्र चढ़कर भरतने रामचन्द्रके आश्रमकी अग्निसे निकलते हुए धूएँको देखा ॥१६॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान्मुमोद सहबान्धवः । अत्र रामइति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः ॥१७॥
स चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम् ।
गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम पुनर्निवेश्यैव चमूं महात्मा ॥१८॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

नवनवतितमः सर्गः ९९

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्ततः । जगाम भ्रातरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन् ॥ १ ॥
ऋषिं वसिष्ठं संदिश्य मातॄर्मे शीघ्रमानय । इति त्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः ॥ २ ॥
सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत । रामदर्शनजस्तर्षो भरतस्येव तस्य च ॥ ३ ॥
गच्छन्नेवाथ भरतस्तापसालयसंस्थिताम् । भ्रातुः पर्णकुटीं श्रीमानुटजं च ददर्श ह ॥ ४ ॥
शालायास्त्वग्रतस्तस्या ददर्श भरतस्तदा । काष्ठानि चावभग्नानि पुष्पाण्यपचितानि च ॥ ५ ॥
स लक्ष्मणस्य रामस्य ददर्शाश्रममेयुषः । कृतं वृक्षेष्वभिज्ञानं कुशचीरैः क्वचित्क्वचित् ॥ ६ ॥
ददर्श भवने तस्मिन्महतः संचयान्कृतान् । मृगाणां महिषाणां च करीषैः शीतकारणात् ॥ ७ ॥
गच्छन्नेव महाबाहुर्द्युतिमान्भरतस्तदा । शत्रुघ्नं चाब्रवीद्धृष्टस्तानमात्यांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

उस धूमको देखकर अपने भाईके साथ भरत बहुत ही प्रसन्न हुए। रामचन्द्र यहीं हैं यह जानकर उन्हें अथाह समुद्रसे पार जानेके समान आनन्द हुआ ॥१७॥ तपस्वियोंसे युक्त रामचन्द्रका वह आश्रम भरतने चित्रकूटपर देखा। ढूँढनेके लिए साथ आयी हुई सेनाको ठहराकर महात्मा भरत गुहके साथ उनके आश्रममें गये ॥१८॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका अट्ठानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥९८॥

सेनाके वहीं ठहर जानेपर उत्सुक भरत शत्रुघ्नको रामचन्द्रके आश्रमके चिह्नोंको बतलाते हुए, उनको देखनेके लिए चले ॥१॥ अपनी माताओंको शीघ्र ले आनेके लिए वशिष्ठ ऋषिके यहाँ सन्देशा भेजकर गुरुप्रिय भरत शीघ्रतापूर्वक आगे चले ॥२॥ सुमन्त्र भी शत्रुघ्नके थोड़ेही दूर पीछे दौड़ते हुए चले, ये भी रामचन्द्रको देखनेके लिए भरतके समानही उत्कण्ठित थे ॥३॥ जाते हुए तपस्वियोंके महल्लेमें बनायी गयी, अपने भाईकी पर्णकुटी (अग्निशाला) और उटज (सोने या मिलनेका घर) भरतने देखा ॥४॥ पर्णशालाके आगे तोड़ी हुई छोटी-छोटी लकड़ियाँ देखीं और सूखे हुए फूल देखे ॥५॥ लक्ष्मण और रामने अपने आश्रमको पहिचाननेके लिए वृक्षोंमें कहीं-कहीं कुश तथा वस्त्रके टुकड़ेके चिह्न बना रखे थे, उन्हें भरतने देखा ॥६॥ उस घरमें मृगों और महिषोंके गोबरकी बहुत बड़ी ढेर—जो सर्दी दूर करनेके लिए रखी गयी थी—देखी ॥७॥ चलते-चलते ही महाबाहु, द्युतिमान् भरतने प्रसन्न होकर

मन्ये प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् । नातिदूरे हि मन्येऽहं नदीं मन्दाकिनीमितः ॥ ९ ॥
उच्चैर्बद्धानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदयम् । अभिज्ञानकृतः पन्था विकाले गन्तुमिच्छता ॥१०॥
इतश्चोदात्तदन्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम् । शैलपार्श्वे परिक्रान्तमन्योन्यमभिगर्जताम् ॥११॥
यमेवाधातुमिच्छन्ति तापसाः सततं वने । तस्यासौ दृश्यते धूमः संकुलः कृष्णवर्त्मनः ॥१२॥
अत्राहं पुरुषव्याघ्रं गुरुसत्कारकारिणम् । आर्यं द्रक्ष्यामि संहृष्टं महर्षिमिव राघवम् ॥१३॥
अथ गत्वा मुहूर्तं तु चित्रकूटं स राघवः । मन्दाकिनीमनुप्राप्तस्तं जनं चेदमब्रवीत् ॥१४॥
जगत्यां पुरुषव्याघ्र आस्ते वीरासने रतः । जनेन्द्रो निर्जनं प्राप्य धिङ्मे जन्म सजीवितम् ॥१५॥
मत्कृते व्यसनं प्राप्तो लोकनाथो महाद्युतिः । सर्वान्कामान्परित्यज्य वने वसति राघवः ॥१६॥
इति लोकसमाकृष्टः पादेष्वद्य प्रसादयन् । रामं तस्य पतिष्यामि सीताया लक्ष्मणस्य च ॥१७॥
एवं स विलपंस्तस्मिन्वने दशरथात्मजः । ददर्श महतीं पुण्यां पर्णशालां मनोरमाम् ॥१८॥
सालतालाश्वकर्णानां पर्णैर्बहुभिरावृताम् । विशालां मृदुविस्तीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरे ॥१९॥
शक्रायुधनिकाशैश्च कार्मुकैर्भारसाधनैः । रुक्मपृष्ठैर्महासारैः शोभितां शत्रुबाधकैः ॥२०॥
अर्करश्मिप्रतीकाशैर्घोरैस्तूणगतैः शरैः । शोभितां दीप्तवदनैः सर्पैर्भोगवतीमिव ॥२१॥

शत्रुघ्न तथा उन अमात्योंसे कहा ॥८॥ मालूम होता है कि भरद्वाज मुनिने जो स्थान बतलाया था, वहाँ हमलोग आ गये, यहाँसे थोड़ी ही दूरपर मन्दाकिनी नदी है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥९॥ ये वृक्षोंपर ऊंचे कपड़े बँधे हैं, लक्ष्मणने ये बाँधे होंगे जिससे रात-बिरातमें जानेके समय मार्ग पहिचाना जा सके ॥१०॥ परस्पर गर्जनेवाले, बड़े दाँतवाले वेगवान हाथियोंका जानेका पर्वतके समीपमें यह मार्ग है ॥११॥ तपस्वी वनमें जिसको सदा स्थापित रखना चाहते हैं उस अग्निका यह घना धूआँ दिखाई पड़ता है ॥१२॥ अपने गुरुओंके सत्कार करनेवाले, पुरुषसिंह और प्रसन्न अपने बड़े भाई रामचन्द्रको महर्षिके वेषमें देखूँगा ॥१३॥ थोड़ी देरमें मन्दाकिनी नदीके आगे चित्रकूटपर जाकर भरतने अपने अमात्यसे कहा ॥१४॥ जनेन्द्र रामचन्द्र निर्जन वनमें वीरासनपर पृथिवीमें बैठे हुए हैं और मैं जी रहा हूँ, मुझे धिक्कार ॥१५॥ मेरे कारणसे महाद्युति लोकनाथ रामचन्द्रको यह कष्ट प्राप्त हुआ है, जो ये सब अभिलाषाओंको छोड़कर वनमें निवास कर रहे हैं ॥१६॥ लोग हमारी निन्दा कर रहे हैं, हम पैरोंपर पड़कर रामचन्द्रको प्रसन्न करेंगे, रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीताके पैरोंपर मैं पड़ूँगा ॥१७॥ दसरथपुत्र भरतने इस प्रकार विलाप करते हुए बहुत बड़ी और सुन्दर पर्णशाला उस वनमें देखी ॥१८॥ साल ताल और अश्वकर्ण नामक वृक्षोंके बहुत पत्तोंसे वह विशाला पर्णशाला ढँकी हुई थी, जिस प्रकार यज्ञवेदी कुशोंसे ढँक दी जाती है ॥१९॥ उसमें इन्द्रधनुषके समान धनुष रखे हुए थे, जो बहुत बड़े थे, जिनपर सोना चढ़ा हुआ था, जो बड़े मजबूत और शत्रुओंको नष्ट करनेवाले थे ॥२०॥ तरकशमें रखे हुए बाण सूर्यकी किरणोंके समान चमकते थे और वे बड़े भयानक थे, उनके सिरे चमक रहे थे, वह पर्णशाला ऐसे बाणोंसे शोभती थी, जिस

महारजतवासोभ्यामसिभ्यां च विराजिताम् । रुक्मबिन्दुविचित्राभ्यां चर्मभ्यां चापि शोभिताम् २२
गोधाङ्गुलित्रैरासक्तैश्चित्रकाञ्चनभूषितैः । अरिसंघैरनाधृष्यां मृगैः सिंहगुहामिव ॥२३॥
प्रागुदक्प्रवणां वेदिं विशालां दीप्तपावकाम् । ददर्श भरतस्तत्र पुण्यां रामनिवेशने ॥२४॥
निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम् । उटजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम् ॥२५॥
कृष्णाजिनधरं तं तु चीरवल्कलवाससम् । ददर्श राममासीनमभितः पावकोपमम् ॥२६॥
सिंहस्कन्धं महाबाहुं पुण्डरीकनिभेक्षणम् । पृथिव्याः सागरान्तायाः भर्तारं धर्मचारिणम् ॥२७॥
उपविष्टं महाबाहुं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् । स्थण्डिले दर्भसंस्तीर्णे सीतया लक्ष्मणेन च ॥२८॥
तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान्दुःखमोहपरिप्लुतः । अभ्यधावत धर्मात्मा भरत कैकयीसुतः ॥२९॥
दृष्ट्वैव विललापार्तो बाष्पसंदिग्धया गिरा । अशक्नुवन्वारयितुं धैर्याद्वचनमब्रवन् ॥३०॥
यः संसादि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्त उपासितुम् । वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥३१॥
वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः । मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥३२॥
अधारयद्यो विविधाश्चित्राः सुमनसः सदा । सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम् ॥३३॥
यस्य यज्ञैर्यथादिष्टैर्युक्तो धर्मस्य संचयः । शरीरक्लेशसंभूतं स धर्मं परिमार्गते ॥३४॥

प्रकार सर्पोंके द्वारा भोगवती नगरी शोभती है ॥२१॥ सोनेकी म्यानमें रखी हुई दो तलवारें उस पर्ण-शालामें थीं, सोनेकी दो ढालें भी थीं, जो सोनेकी बिंदुसे चित्रित हो रही थीं ॥२२॥ गोधा (हस्तरक्षक) अंगुलि-त्राण आदि वहाँ रखे हुए थे और वे सोनेसे मढ़े हुए थे। उस पर्णशालामें शत्रुओंका प्रवेश असम्भव था जिस प्रकार सिंहकी गुहामें मृगोंका प्रवेश असम्भव होता है ॥२३॥ भरतने रामचन्द्रके उस पवित्र पर्णशालामें बहुत बड़ी एक वेदी देखी, जो ईशान कोणकी ओर कुछ नीची थी और जिसपर आग जल रही थी ॥२४॥ वेदी देखनेके थोड़ी देरके बाद उटजमें बैठे हुए जटामण्डल-धारी रामचन्द्रको देखा ॥२५॥ रामचन्द्र चीर वल्कल पहने हुए थे और कृष्णमृगचर्म ओढ़े हुए थे। वे बैठे हुए थे। अग्निके समान तेजस्वी रामचन्द्रको भरतने देखा ॥२६॥ जिन महाबाहु रामचन्द्रके कन्धे सिंहके समान हैं, आँखें कमलके समान हैं, जो धर्मचारी रामचन्द्र सागरपर्यन्त पृथिवीके स्वामी हैं, वे कुश बिछे हुए चौतरेपर सीता और लक्ष्मणके साथ शाश्वत ब्रह्माके समान बैठे हुए हैं ॥२७-२८॥ उनको इस अवस्थामें देखकर केकयीपुत्र धर्मात्मा भरत शोक और मोहसे व्याकुल हो गये, और वे उनकी ओर दौड़े ॥२९॥ रामचन्द्रको देखते ही भरत दुःखी हो गये, वे टूटती हुई आवाजमें विलाप करने लगे, वे दुःखको रोक नहीं सके। पुनः धैर्य धारण कर वे बोले ॥३०॥ जो सभामें राजकर्मचारियों और प्रजाओं द्वारा उपासना करनेके योग्य है, वह मेरा बड़ा भाई जङ्गली पशुओंसे उपासित हो रहा है ॥३१॥ जो महात्मा पहले कई हजारोंके वस्त्र धारण करते थे, वे आज धर्माचरण करते हुए दो मृगचर्म धारण कर रहे हैं ॥३२॥ जिन्होंने सदा अनेक प्रकारकी सुन्दर पुष्पमालाएँ धारण की हैं, वे रामचन्द्र आज इस जटाभारको कैसे सह रहे हैं ॥३३॥ जिनके धर्माचरणके लिए पहले ऋत्विक्लोग विधिपूर्वक यज्ञ करते थे, वे ही आज स्वयं कष्ट उठाकर

चन्दनेन महार्हेण यस्याङ्गमुपसेवितम् । मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते ॥३५॥
मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः । धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम् ॥३६॥
इत्येवं विलपन्दीनः प्रस्विन्नमुखपङ्कजः । पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन् ॥३७॥
दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः । उक्त्वार्येति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किंचन ॥३८॥
बाष्पैः पिहितकण्ठश्च प्रेक्ष्य रामं यशस्विनम् । आर्येत्येवाभिसंक्रुश्य व्याहर्तुं नाशकत्ततः ॥३९॥
शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन् । तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत् ॥४०॥

ततः सुमन्त्रेण गुहेन चैव समीयतू राजसुतावरण्ये ।
दिवाकरश्चैव निशाकरश्च यथाम्बरे शुक्रबृहस्पतिभ्याम् ॥४१॥
तान्पार्थिवान्वारणयूथपार्हान्समागतांस्तत्र महत्यरण्ये ।
वनौकसस्तेऽभिसमीक्ष्य सर्वे त्वश्रूण्यमुञ्चन्प्रविहाय हर्षम् ॥४२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवनवतितमः सर्गः ॥ ९९ ॥

शततमः सर्गः १००

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि । ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा ॥ १ ॥
कथंचिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम् । भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह पाणिना ॥ २ ॥

घर्मार्जन कर रहे हैं ॥३४॥ जिनके अंगोंमें सदा दामी चन्दनका लेप किया जाता था, आज उन्हीं आर्य रामचन्द्रके अंग मलिन हो रहे हैं ॥३५॥ सुखके अभ्यासी रामचन्द्र मेरे ही कारण यह दुःख उठा रहे हैं। मुझ क्रूरके लोकनिन्दित इस जीवनको धिक्कार ! ॥३६॥ इस प्रकार दुःखी भरत विलाप करने लगे, उनका मुँह पसीनेसे भर गया। रामचन्द्रके पैर न पा सके और वे रोते-रोते पृथिवीपर गिर पड़े ॥३७॥ महाबली राजपुत्र भरतने दुःखसे व्याकुल होकर एकबार दीनतापूर्वक 'आर्य' कहा, इसके बाद वे कुछ नहीं कह सके ॥३८॥ यशस्वी रामचन्द्रको देखनेसे भरतका गला भर गया, वे इसी प्रकार "आर्य" इतना ही कह सके। इसके बाद वे कुछ भी नहीं बोल सके ॥३९॥ शत्रुघ्नने रोते हुए रामचन्द्रके चरणोंको प्रणाम किया। उन दोनोंका आलिंगन कर रामचन्द्र भी आँसू बहाने लगे ॥४०॥ राजपुत्र राम और लक्ष्मण उस वनमें सुमन्त्रसे मिले। जिस प्रकार आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा, शुक्र और बृहस्पतिसे मिलते हैं ॥४१॥ हाथियोंपर चलनेके योग्य उन राजपुत्रोंको महावनमें आये देखकर वनवासियोंकी प्रसन्नता जाती रही, वे भी आँसू बहाने लगे ॥४२॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका निनानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९९ ॥

जटा चीर और वस्त्र धारण किये हुए, हाथ जोड़कर जमीनमें पड़े हुए, प्रलयकालीन सूर्यके समान देखनेसे अयोग्य भरतको रामचन्द्रने देखा ॥१॥ उनका मुँह सूख गया था, वे दुबले हो गये थे, राम-

आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवम् । अङ्के भरतमारोप्य पर्यपृच्छत सादरम् ॥ ३ ॥
क नु तेऽभूत्पिता तात यदरण्यं त्वामागतः । न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥
चिरस्य वत पश्यामि दूराद्भरतमागतम् । दुष्प्रतीकमरण्येऽस्मिन्किं तात वनमागतः ॥ ५ ॥
कच्चिन्न धरते तात राजा यत्त्वमिहागतः । कच्चिन्न दीनः सहसा राजा लोकान्तरं गतः ॥ ६ ॥
कच्चित्सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम् । कच्चिच्छुश्रूषसे तात पितुः सत्यपराक्रमः ॥ ७ ॥
कच्चिद्दशरथो राजा कुशली सत्यसंगरः । राजसूयाश्वमेधानामाहर्ता धर्मनिश्चितः ॥ ८ ॥
स कच्चिद्ब्राह्मणो विद्वान्धर्मनित्यो महाद्युतिः । इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत्तात पूज्यते ॥ ९ ॥
तात कच्चिच्च कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती । सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकयी ॥१०॥
कच्चिद्विनयसंपन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः । अनसूयुरनुद्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥११॥
कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः । हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥१२॥
कच्चिद्देवान्पितॄन्भृत्यान्गुरून्पितृसमानपि । वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे ॥१३॥
इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम् । सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित्त्वं तात मन्यसे ॥१४॥
कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः । कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥१५॥
मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव । सुसंवृतो मन्त्रिधुरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ॥१६॥

चन्द्रने किसी तरह उन्हें पहिचाना और अपने हाथोंसे उठाया ॥२॥ रामचन्द्रने भरतका आलिंगन किया, उनका माथा सूँघा और उन्हें गोदमें बैठाकर आदरपूर्वक उनसे पूछने लगे ॥३॥ भाई, तुम्हारे पिता कहाँ गये, जो आज तुम इस वनमें आये हो । उनके जीते जी तुम तो इस वनमें नहीं आ सकते थे ॥४॥ बहुत दूरसे आये हुए, बहुत दिनोंपर मैं आज तुम्हें देख रहा हूँ । भाई, इस भूलभुलैया वनमें तुम क्यों आये ॥५॥ क्या दुःखी राजा जीते हैं, या सहसा परलोक चले गये और तुम यहाँ वनमें आये हो ॥६॥ सौम्य, तुम बालक हो, इसलिये तुम्हारा राज्य तो कहीं नष्ट नहीं हो गया है, प्रजा विद्रोही तो नहीं हो गयी है, सत्यपराक्रम पिताकी सेवा करते हो ॥७॥ धर्मपर आस्था रखनेवाले, राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ करनेवाले, सत्यप्रतिज्ञ राजा दसरथ कुशलसे तो हैं ॥८॥ भाई इक्ष्वाकुवंशके आचार्य विद्वान्, धर्ममें दृढ़ रहनेवाले, महाद्युति वसिष्ठ तुम्हारे द्वारा पूजित तो होते हैं ॥९॥ तात, कौसल्या, सुपुत्रा सुमित्रा तथा आर्या देवी केकयी प्रसन्न तो हैं ? ॥१०॥ विनयी, महाकुलीन, बहुश्रुत अनुसूयु, तथा सब कर्म करनेमें निपुण अपने पुरोहितका तुमने सत्कार तो किया है ? ॥११॥ तुमने हवनकी सब विधियोंका जाननेवाले जिस बुद्धिमान् और विनयी पुरोहितको अग्निकार्यके लिए नियुक्त किया है, वह हवन करनेके बाद और हवन करनेके पहले तुमको सूचित तो करता है ? ॥१२॥ भाई, देवता, पितर, भृत्य और पिताके समान पूज्य गुरु, वृद्ध वैद्य और ब्राह्मणोंका सत्कार करते हो ? ॥१३॥ धनुर्विद्या और अर्थशास्त्रके प्रवीणज्ञाता, उपाध्याय सुधन्वाका तो तुम सत्कार करते हो ? ॥१४॥ अपने समान विश्वसनीय शूर, विद्वान्, जितेंद्रिय, कुलीन और अभिप्राय समझनेवालेको अपना मन्त्री बनाया है न ? ॥१५॥ मन्त्र राजाओंकी विजयका

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित्कालेऽवबुध्यसे । कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम् ॥१७॥
कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह । कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥१८॥
कच्चिदर्थं विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम् । क्षिप्रमारभसे कर्म न दीर्घयसि राघव ॥१९॥
कच्चिन्नु सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः । विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः ॥२०॥
कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः । त्वया वा तव वामात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥२१॥
कच्चित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् । पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत् ॥२२॥
सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः । अथवाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥२३॥
एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः । राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥२४॥
कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः । जघन्याश्च जघन्येषु भृत्यास्ते तात योजिताः ॥२५॥
अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहाञ्शुचीन् । श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥२६॥
कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः । राष्ट्रे तवावजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥२७॥
कच्चित्त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा । उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥२८॥

मूल है, इसी कारण शास्त्रज्ञ और मन्त्रको गुप्त रखनेवाले मन्त्री राजाकी रक्षा करते हैं ॥१६॥ बहुत सोते तो नहीं हो, समयपर उठ तो जाते हो, रातके पिछले पहरमें अपने कार्योंकी सिद्धिका उपाय तो सोचते हो ॥१७॥ किसी बातका निश्चय अकेले तो नहीं करते अथवा बहुत आदमियोंके साथ तो नहीं करते ? तुम्हारा निश्चित किया हुआ अर्थ लोगोंको मालूम तो हो नहीं जाता ॥१८॥ जो उपाय तुम निश्चित करते हो और जो छोटा होनेपर बहुत बड़े फलको उत्पन्न करनेवाला होता है, उसका प्रारम्भ तुम शीघ्र ही कर देते हो न, विलम्ब तो नहीं करते ? ॥१९॥ सामन्त राजा तुम्हारे निश्चित समस्त कार्योंको सिद्ध होनेपर या सिद्ध होनेके कुछ पहले जानते हैं न । कहीं ऐसा तो नहीं होता कि जो तुम कार्य करना चाहते हो, उसका ज्ञान राजाओंको हो जाता हो ॥२०॥ तुम्हारे निश्चित विषयोंको तुम्हारे या मन्त्रियोंके बिना कहे भी, दूसरे तर्क और युक्तिके द्वारा, जान तो नहीं जाते और तुम तथा तुम्हारे अमात्य दूसरोंके निश्चित किये हुए विषयोंको युक्ति और तर्कके द्वारा जान लेते तो हैं न ॥२१॥ हजारों मूर्खोंको छोड़कर एक पण्डितको रखना तुम पसन्द करते हो न; क्योंकि संकटके समय पण्डितसे बहुत बड़ा कल्याण होता है ॥२२॥ यदि राजा हजार अथवा दशहजार मूर्खोंको रखे, फिर भी अवसरपर उनसे कुछ लाभ नहीं हो सकता ॥२३॥ मेधावी, सूर और नीतिनिपुण एकही अमात्य राजा या राजपुत्रको बहुत बड़ी लक्ष्मी प्राप्त करा सकता है ॥२४॥ तात, बड़े कामोंपर बड़े, मध्यम कामोंपर मध्यम और छोटे कामोंपर छोटे भृत्यको नियुक्त किया है न ॥२५॥ बड़े बड़े कामोंमें सुपरीक्षित शुद्ध, पिता पितामहसे आये हुए श्रेष्ठ अमात्योंको उत्तम कामोंमें तुम नियुक्त करते हो न ॥२६॥ तुम्हारे उग्र दण्डसे उद्विग्न होकर, प्रजा और मन्त्री तुम्हारा तिरस्कार तो नहीं करते ॥२७॥ यज्ञ करानेवाले, पतितके समान तुम्हारा तिरस्कार तो नहीं करते, जिस प्रकार मनुष्य उग्र जातिकी स्त्रीको ग्रहण करनेवाले, तथा परस्त्रियोंकी कामना करनेवाले मनुष्यका करते हैं ॥२८॥

उपायकुशलं वैद्यं भृत्यं संदूषणे रतम् । शूरमैश्वर्यकामं च यो हन्ति न स हन्यते ॥२९॥
कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान्मतिमाञ्छुचिः । कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥३०॥
बलवन्तश्च कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः । दृष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ।३१।
कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् । संप्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥३२॥
कालातिक्रमणे ह्येव भक्तवेतनयोर्भृताः । भर्तुरप्यति कुप्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान्कृतः ॥३३॥
कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः । कच्चित्प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति समाहिताः ।३४।
कच्चिज्जानपदो विद्वान्दक्षिणः प्रतिभानवान्। यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥३५॥
कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च । त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारणैः ॥३६॥
कच्चिद्व्यपास्तानहितान्प्रतियातांश्च सर्वदा । दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन ॥३७॥
कच्चिन्न लोकायतिकान्ब्राह्मणांस्तात सेवसे। अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥३८॥

जो राजा साम आदि उपायोंके करनेमें निपुण, आप्त भृत्योंको भड़कानेमें लगे हुए शूर तथा धन चाहनेवाले वैद्यका वध नहीं करता है, वह राजा ही खुद मारा जाता है ॥२९॥ तुमने जिसको सेनापति बनाया है, वह तुमसे प्रसन्न तो है, शूर, वीर, धीर, और बुद्धिमान तो है, कुलीन तुममें प्रेम रखनेवाला और दक्ष तो है ॥३०॥ तुम्हारे सेनाके मुख्य योधा बली हैं न ? उनकी वीरताकी परीक्षा कर ली गयी है न, विक्रमी तो हैं और तुम उनका सत्कार तो करते हो ॥३१॥ सेनाको उचित भोजन और प्रतिमास वेतन देना चाहिए, तुम देते हो न विलम्ब तो नहीं करते ॥३२॥ भोजन और वेतनपर जो सैनिक नियत हैं, उनको समयपर यदि अन्न और वेतन न दिया जाय तो वे अपने स्वामीपर ही असन्तुष्ट हो जाते हैं, और इससे बड़ा अनर्थ हो जाता है ॥३३॥ तुम्हारे कुलके प्रधान मनुष्य तुमपर अनुराग रखते हैं न, और तुम्हारे कार्योंके लिए सावधान होकर प्राण त्याग करनेके लिए उद्यत रहते हैं न ॥३४॥ भरत, अपने राज्यमें रहनेवाला समर्थ, प्रत्युत्पन्नमति और जैसा कहा जाय वैसा ही कहनेवाले पण्डितको तुमने अपना दूत बनाया है न ॥३५॥ भरत, परस्पर तथा दूसरेके द्वारा अज्ञात तीन-तीन गुप्त दूतोंके द्वारा अपने राज्यके पन्द्रह तीर्थ तथा परराज्यके अट्ठारह तीर्थोंका ज्ञान रखते हो न (१ मन्त्री, २ पुरोहित, ३ युवराज, ४ सेनापति, ५ द्वारपाल, ६ रनिवासका अध्यक्ष, ७ जेलका दारोगा, ८ खजाञ्ची, ९ राजाकी आज्ञा सुनानेवाला, १० वकील, ११ न्यायकर्ता, १२ व्यवहार निर्णेता (जूरी) १३, सेनासे तनख्वाह पानेवाला दानाध्यक्ष, १४ ठीकेदार, १५ नगराध्यक्ष, १६ राष्ट्रान्तःपाल, १७ दुष्टोंको दण्ड देनेवाला, १८ जल, गिरि, वन, दुर्गस्थलपालक ये अट्ठारह तीर्थ हैं। मन्त्री, पुरोहित और युवराजके अलग कर देने पर ये पन्द्रह बचते हैं। राजनीतिमें ये ही अट्ठारह, और पन्द्रह तीर्थ कहे जाते हैं) ॥३६॥ हे रिपुसूदन, जिस शत्रुको तुमने निकाल दिया है और वह यदि तुम्हारे यहाँ पुनः चला आता है तो दुर्बल समझकर तुम उसकी उपेक्षा तो नहीं करते ॥३७॥ नास्तिक ब्राह्मणोंका साथ तो तुम नहीं करते, ये अज्ञानी हैं,

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः। बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥३९॥
वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः। सत्यनामां दृढद्वारां हस्त्यश्वरथसंकुलाम् ॥४०॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा। जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्वृतामार्यैः सहस्रशः ॥४१॥
प्रसादैर्विविधाकारैर्वृतां वैद्यजनाकुलाम्। कच्चित्समुदितां स्फीतमयोध्यां परिरक्षसे ॥४२॥
कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः। देवस्थानैः प्रपाभिश्च तटाकैश्चोपशोभितः ॥४३॥
प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः। सुकृष्टसीमापशुमान्हिंसाभिरभिवर्जितः ॥४४॥
अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः। परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः ॥४५॥
विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः। कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥४६॥
कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः। वार्तायां संश्रितं तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥४७॥
तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम्। रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥४८॥
कच्चित्स्त्रियः सान्त्वयसे कच्चित्तास्ते सुरक्षिताः। कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद्गुह्यं न भाषसे ४९
कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः। कच्चिन्न गणिकाश्वानां कुञ्जराणां च तृप्यसि ।५०।
कच्चिद्दर्शयसे नित्यं मानुषाणां विभूषितम्। उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे ॥५१॥

पर अपनेको पण्डित समझते हैं, इनसे बहुतसी बुराई होती है ॥३८॥ ये वैदिक मार्गसे उलटे चलनेवाले, प्रामाणिक धर्मशास्त्रोंके रहते हुए भी शुष्क तार्किक बुद्धिकी सहायतासे अर्थहीन उपदेश करते हैं ॥३९॥ तात, हमलोगोंके वीर पूर्वजोंकी निवासभूमि, यथार्थ नाम और दृढ़ द्वारवाली, हाथी घोड़े और रथसे भरी हुई, अपने-अपने कर्ममें निरत, जितेन्द्रिय उत्साही और श्रेष्ठ हजारों ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंसे युक्त, अनेक आकारवाले प्रासादोंसे युक्त और वैद्योंसे पूर्ण, भरी और विशाल अयोध्याकी रक्षा तो करते हो ॥४०–४१–४२॥ तुम्हारा वह राज्य सुखी तो है, जिसमें सैकड़ों देवस्थान हैं, काफी बस्ती है, देवस्थान, पौसला, और तालाबसे जो शोभित है, जहाँके स्त्री पुरुष प्रसन्न हैं, जहाँ सभाएँ और उत्सव हुआ करते हैं, जहाँ अच्छी खेती होती है, जहाँ अधिक पशु हैं, जहाँ किसी प्रकारकी हिंसा नहीं होती, जहाँके वासी अपनी खेतीके लिए मेघपर अवलम्बित नहीं रहते, जहाँ हिंस्र पशु नहीं हैं, जहाँ किसी भी प्रकारका भय नहीं है, जहाँ खानें हैं, जहाँ पापी मनुष्य नहीं हैं, जिसकी रक्षा हमारे पूर्वजोंने की है, वह सुन्दर राज्य–कोशल देश सुखी तो है ॥४३, ४४, ४५, ४६॥ कृषी और गोरक्षासे जीनेवाले वैश्य तुम्हारे प्रिय तो है ? व्यापारमें लगे हुए तुम्हारे राज्यके वासी सुखी तो हैं ॥४७॥ उनके इष्टकी प्राप्ति और अनिष्ट परिहारके द्वारा तुम उनका पालन तो करते हो, क्योंकि राज्यके समस्त वासियोंका पालन करना राजाका धर्म है ॥४८॥ तुम अपनी स्त्रियोंके अनुकूल तो रहते और उनकी रक्षा तो करते हो, उनकी बातोंपर विश्वास तो नहीं करते, उनसे अपनी गुप्त बातें प्रकाशित तो नहीं करते ॥४९॥ हाथियोंकी उत्पत्तिके वनकी रक्षा तो करते हो, हाथियोंके पकड़नेकी हथिनियाँ सुखी तो हैं ? हथिनी, घोड़े और हाथियोंसे तुम तृप्त तो नहीं होते ॥५०॥ तुम प्रतिदिन सजकर प्रातःकाल नगरवासियोंको

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया। सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमे वात्र कारणम् ॥५२॥
कच्चिद्दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः। यन्त्रैश्च प्रतिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥५३॥
आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः। अपात्रेषु न ते कच्चित्कोषो गच्छति राघव ॥५४॥
देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च। योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद्गच्छति ते व्ययः ॥५५॥
कच्चिदार्योऽपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा। अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचिः ॥५६॥
गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः। कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥५७॥
व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्बलस्य च राघव। अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ॥५८॥
यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव। तानि पुत्रपशून्घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥५९॥
कच्चिद्वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यान्मुख्यांश्च राघव। दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुभूषसे ॥६०॥
कच्चिद्गुरूंश्च वृद्धांश्च तापसान्देवतातिथीन्। चैत्यांश्च सर्वान्सिद्धार्थान्ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ।६१।
कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः। उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥६२॥
कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर। विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्वरद सेवसे ॥६३॥
कच्चित्ते ब्राह्मणाः शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविदः। आशंसते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥६४॥
नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्। अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥६५॥

अपना दरसन तो देते हो ॥५१॥ काम करनेवाले, अशंक होकर सदा तुम्हारे सामने तो नहीं होते, अथवा वे कभी तुम्हारे समाने आतेही नहीं, इनके सम्बन्धमें मध्यम मार्गही अच्छा है, न तो ये अधिक पास रखे जाँय और न बहुत दूर ॥५२॥ तुम्हारे सब किले धन धान्य, अस्त्र, जल, यन्त्र-शिल्पी, तथा धनुर्धारी वीरोंसे भरे तो हैं ॥५३॥ तुम्हारी आमदनी तो अधिक है और खर्च कम, अपात्रोंमें तो तुम्हारा धन खर्च नहीं होता ॥५४॥ देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, वीर और मित्रोंहीके लिए न तुम्हारा धन खर्च होता है ॥५५॥ सदाचारी साधु पर यदि कोई अपराध लगता है तो शास्त्रज्ञाता पुरुषोंके द्वारा बिना विचार कराये ही लोभसे दण्डित तो नहीं कर दिया जाता ॥५६॥ जो चोर पकड़ा गया है, पूछनेमें जिसके चोर होनेका प्रमाण मिल गया है, जो चोरी करते देखा गया है अथवा जिसके पास चोरीका माल मिला है, नरश्रेष्ठ, ऐसा चोर तुम्हारे राज्यमें छोड़ तो नहीं दिया जाता ॥५७॥ धनी हो या गरीब, यदि किसी अपराधका अपराधी हो तो तुम्हारे बहुश्रुत अमात्य धनके लोभसे रहित होकर उसका विचार करते हैं न ॥५८॥ मिथ्या अपराधोंके द्वारा दण्डित मनुष्योंके जो आँसू गिरते हैं, वे अपने भोग-विलासके लिए, राज्य करनेवाले राजाके पुत्र और पशुओंको नष्ट कर देते हैं ॥५९॥ वृद्धोंको दानसे, बालकोंको स्नेहसे और प्रधान वैद्योंको वचनसे सत्कार तो करते हो ॥६०॥ गुरुओं, वृद्धों, देवता, तपस्वियों, अतिथियों, मार्गके पवित्र वृक्षों और तपस्यादिके द्वारा कृतार्थ ब्राह्मणोंको नमस्कार तो करते हो ॥६१॥ धर्मको अर्थसे और अर्थको धर्मसे बाधित तो नहीं करते, अथवा कामसे इन दोनोंको बाधित तो नहीं करते ॥६२॥ समयका विभाग करके अर्थ, धर्म और कामका यथायोग्य अनुष्ठान तो करते हो ॥६३॥ समस्त शास्त्र-ज्ञाता ब्राह्मण प्रजाके साथ मिलकर तुम्हारे कल्याणकी कामना तो करते हैं ? ॥६४॥ राजाके चौदहों

एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम् । निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥६६॥
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः । कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान्राजदोषांश्चतुर्दश ॥६७॥
दशपञ्चचतुर्वर्गान्सप्तवर्गं च तत्त्वतः । अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव ॥६८॥
इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्या षाड्गुण्यं दैवमानुषम् । कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥६९॥
यात्रा दण्डविधानं च द्वियोनी संधिविग्रहौ । कच्चिदेतान्महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥७०॥
मन्त्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टं चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा । कच्चित्समस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे बुध ॥७१॥
कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलाः क्रियाः । कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥७२॥
कच्चिदेषैव ते बुद्धिर्यथोक्ता मम राघव । आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता ॥७३॥
यां वृत्तिं वर्तते तातो यां च नः प्रपितामहः । तां वृत्तिं वर्तसे कच्चिद्या च सत्पथगा शुभा ॥७४॥
कच्चित्स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव । कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः संप्रयच्छसि ॥७५॥

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा महीपतिर्दण्डधरः प्रजानाम् ।
अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथावदितश्च्युतः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥७६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

दोषोंका तुमने त्याग तो किया है ? नास्तिकता, असत्य बोलना, क्रोध करना, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, सज्जनोंसे न मिलना, आलस्य, इन्द्रियोंके अधीन होना, अकेले राज्यकी बातोंका निश्चय करना, मूर्खोंसे सलाह लेना, निश्चित कार्योंका प्रारम्भ न करना, गुप्त बातोंको प्रकाशित करना, कार्यारम्भके पहले मांगलिक कृत्योंको न करना, सब शत्रुओंपर एक ही बार चढ़ाई कर देना, राजाओंके ये चौदह दोष हैं ॥६५-६६-६७॥ दसवर्ग, पञ्चवर्ग, सप्तवर्ग, चतुर्वर्ग, अष्टवर्ग और त्रिवर्ग इनकी ओर ठीक-ठीक तुम्हारा ध्यान तो है, और वार्ता, दण्डनीति, और त्रयी इन विद्याओंकी ओर तुम्हारा ध्यान तो है ॥६८॥ बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंका जय, सन्धि-विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय ये हैं षड्गुण, देवता और मनुष्य-सम्बन्धी आपत्तियाँ, राजाके कर्तव्य, बीसवर्ग, तथा राज्य शत्रुपर चढ़ाई, अपराधीका दण्ड और सन्धि, विग्रह इनकी ओर तुम्हारा ध्यान ठीक-ठीक तो है ॥६९-७०॥ शास्त्रानुसार, चार तीन मन्त्रियोंसे इन सबसे इकट्ठे या अलग-अलग सलाह लेते तो हो ॥७१॥ तुम्हारे वेद सफल तो हैं, अर्थात् उनके अनुसार तुम काम तो करते हो, तुम्हारी क्रियाएँ सफल तो हैं, तुम्हारी स्त्रियाँ और तुम्हारा ज्ञान सफल तो है ॥७२॥ भरत जैसा मैंने कहा है, तुम्हारा निश्चय भी वैसा ही है क्या, क्योंकि यह मार्ग आयु और यश बढ़ानेवाला है, धर्म, अर्थ और कामके अनुकूल है ॥७३॥ पिताका जो व्यवहार है अथवा हमारे प्रपितामहका जो व्यवहार था उसीपर चलते हो न, क्योंकि वही सत्पथ है और कल्याणकारी है ॥७४॥ सुस्वादु भोजन अकेले तो नहीं खाते, अधिक प्रेम होनेके कारण भोजन चाहनेवाले मित्रोंको भोजन तो देते हो न ॥७५॥ इस प्रकार धर्मानुसार दण्ड-धारण करनेवाला राजा प्रजाका पालन करके, समस्त पृथिवीपर अपना आधिपत्य स्थापित करके स्वर्गमें जाता है ॥७६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका सौवाँ सर्ग समाप्त ॥ १०० ॥

एकाधिकशततमः सर्गः १०२

तं तु रामः समाज्ञाय भ्रातरं गुरुवत्सलम् । लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १ ॥
किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं त्वया । यस्मात्त्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी ॥ २ ॥
यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः । हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥
इत्युक्तः कैकेयीपुत्रः काकुत्स्थेन महात्मना । प्रगृह्य बलवद्भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥
आर्यं तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम् । गतः स्वर्गं महाबाहुः पुत्रशोकाभिपीडितः ॥ ५ ॥
स्त्रिया नियुक्तः कैकेय्या मम मात्रा परंतप । चकार सा महत्पापमिदमात्मयशोहरम् ॥ ६ ॥
सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्शिता । पतिष्यति महाघोरे नरके जननी मम ॥ ७ ॥
तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि । अभिषिञ्चस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिव ॥ ८ ॥
इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मातरश्च याः । त्वत्सकाशमनुप्राप्ताः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
तयानुपूर्व्या युक्तश्च युक्तं चात्मनि मानद । राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान्सुहृदः कुरु ॥१०॥
भवत्वविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया । शशिना विमलेनेव शारदी रजनी यथा ॥११॥
एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया । भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥१२॥
तदिदं शाश्वतं पित्र्यं सर्वं सचिवमण्डलम् । पूजितं पुरुषव्याघ्र नातिक्रमितुमर्हसि ॥१३॥

गुरुभक्त भाईको स्वस्थ बैठे जानकर रामचन्द्रने भाई लक्ष्मणके साथ पुनः उनसे पूछा ॥१॥ हमलोग तुम्हारे मुँहसे यह जानना चाहते हैं कि चीर और जटाधारण करके तुम यहाँ बनमें क्यों आये ॥२॥ जिस कारण काला मृगचर्म और जटाधारण कर, राज्य त्यागकर, इस बनमें आये हो, वह सब हमलोगोंसे कहो ॥३॥ महात्मा रामचन्द्रने केकयीपुत्र भरतका आलिंगन करके पुनः ऐसा पूछा । भरतने हाथ जोड़कर कहा ॥४॥ आर्य, स्त्रीके कहनेपर, मेरी माता केकयीके प्रार्थना करनेपर, पिताने वैसा कठोर कर्म किया और वे महाबाहु पुत्रशोकमें पीड़ित होकर हमलोगोंको छोड़कर स्वर्ग चले गये । केकयीने यह बहुत बड़ा पाप किया, जिससे उसका यश नष्ट हो गया ॥५-६॥ केकयीको राज्यफल तो मिला नहीं, वह विधवा होकर दुःखित हो गयी । मेरी माता केकयी भयानक निन्दाके नरकमें पड़ी हुई है ॥७॥ मैं आपका सेवक हूँ । आप मुझपर दया करें और आज ही इन्द्रके समान अपना अभिषेक करावें ॥८॥ यह सब प्रजाएँ, विधवा सब माताएँ, आपके यहाँ आयीं हैं, आप प्रसन्न हों ॥९॥ परम्परानुसार आपका ही राज्याभिषेक उचित है; अतएव अपने लिए प्राप्त राज्य आप धर्मानुसार ग्रहण करें तथा मित्रोंके मनोरथ पूर्ण करें ॥१०॥ आपको स्वामी पाकर राज्यकी भूमि, अविधवा हो, जिस प्रकार निर्मल चन्द्रमाको पाकर शरद ऋतुकी रात्रि ॥११॥ इन अमात्योंके साथ सिर झुकाकर मैं आपसे निवेदन करता हूँ। मैं आपका भाई, शिष्य और दास हूँ । आप मुझपर दया करें ॥१२॥ यह अमात्योंका मण्डल हमलोगोंके परम्परासे चला आया है । ये अमात्य पिताके समयके हैं । आपने इनकी प्रार्थनाएँ पहले मानी हैं; अतएव आज इनकी प्रार्थनाका

एवमुक्त्वा महाबाहुः सबाष्पः कैकेयीसुतः । रामस्य शिरसा पादौ जग्राह भरतः पुनः ॥१४॥
तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनःपुनः । भ्रातरं भरतं रामः परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥१५॥
कुलीनः सत्वसंपन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः । राज्यहेतोः कथं पापमाचरेन्मद्विधो जनः ॥१६॥
न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन । न चापि जननीं बाल्यात्त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥१७॥
कामकारो महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदानघ । उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥१८॥
वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः । भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमपि ज्ञातुमर्हसि ॥१९॥
वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम् । राज्ये वापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः ॥२०॥
यावत्पितरि धर्मज्ञ गौरवं लोकसत्कृते । तावद्धर्मभृतां श्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥२१॥
एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव । मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत्समाचरे ॥२२॥
त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम् । वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा ॥२३॥
एवमुक्त्वा महाराजो विभागं लोकसंनिधौ । व्यादिश्य च महाराजो दिवं दशरथो गतः ॥२४॥
स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव । पित्रा दत्तं यथाभागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥२५॥

उल्लंघन न करें ॥१३॥ महाबाहु केकयीपुत्र भरतने रोते-रोते ऐसा कहा, और रामचन्द्रके चरणोंपर अपना मस्तक पुनः रख दिया ॥१४॥ मतवाले हाथीके समान, बार-बार लम्बी साँस लेते हुए, भाई भरतका आलिंगन करके रामचन्द्र पुनः बोले ॥१५॥ सत्कुलमें उत्पन्न, बल रखनेवाला, तेजस्वी और व्रतोंका अनुष्ठान करनेवाला मेरे समान मनुष्य राज्यके लिए पाप कैसे कर सकता है ॥१६॥ शत्रुसूदन, तुममें भी कुछ दोष मैं नहीं देखता । लड़कपनके कारण माता केकयीकी भी निन्दा तुम मत करो ॥१७॥ बड़ोंका अपने आश्रितों स्त्रियों तथा पुत्रोंपर सदा मनमाना अधिकार होता है । वे चाहे जैसी आज्ञा दे सकते हैं ॥१८॥ सौम्य, स्त्री, पुत्र और शिष्य लोकमें स्वेच्छानुसार नियुक्त करनेके अधिकारी समझे जाते हैं, उसी प्रकार हमलोग भी उन राजाके पुत्र हैं, यह तुमको समझना चाहिए । राजा जैसा चाहे वैसा आज्ञा हम-लोगोंको दे सकते हैं ॥१९॥ सौम्य, महाराज हमको चीर वस्त्र और कृष्णचर्मके साथ वनमें रहनेकी अथवा राज्य करनेकी आज्ञा देनेके लिए समर्थ हैं ॥२०॥ लोकपूजित पितामें जितना आदर है उतना ही आदर मातामें भी रखना चाहिए, यह धर्मशास्त्रकारोंका मत है ॥२१॥ धर्मशील माता और पिताने हमको वन जानेकी आज्ञा दी है मैं उसके विरुद्ध कैसे कर सकता हूँ ॥२२॥ लोकप्रशंसित अयोध्याका राज्य तुम्हें प्राप्त हुआ है और वल्कल वस्त्रके साथ दण्डकारण्यका निवास मुझे मिला है ॥२३॥ महाराज दस-रथने मन्त्री, पुरोहित आदिके सामने ऐसा ही विभाग किया और इसके पालनकी आज्ञा देकर वे स्वर्ग चले गये ॥२४॥ लोकप्रसिद्ध धर्मात्मा राजा तुम्हारे लिए प्रमाण हैं, उनकी आज्ञा तुम्हें माननी चाहिए ।

यदब्रवीन्मां नरलोकसत्कृतः पिता महात्मा विबुधाधिपोपमः ।
तदेव मन्ये परमात्मनो हितं न सर्वलोकेश्वरभावमव्ययम् ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकाधिकशततमः सर्गः ॥१०१॥

द्व्युत्तरशततमः सर्गः १०२

रामस्य वचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ह । किं मे धर्माद्विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति ॥ १ ॥
शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ । ज्येष्ठे पुत्रे स्थिते राजा न कनीयान्भवेन्नृपः ॥ २ ॥
स समृद्धां मया सार्धमयोध्यां गच्छ राघव । अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय नः ॥ ३ ॥
राजानं मानुषं प्राहुर्देवत्वे संमतो मम । यस्य धर्मार्थसहितं वृत्तमाहुरमानुषम् ॥ ४ ॥
केकयस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते । धीमान्स्वर्गं गतो राजा यायजूकः सतां मतः ॥ ५ ॥
निष्क्रान्तमात्रे भवति सहसीते सलक्ष्मणे । दुःखशोकाभिभूतस्तु राजा त्रिदिवमभ्यगात् ॥ ६ ॥
उत्तिष्ठ पुरुषव्याघ्र क्रियतामुदकं पितुः । अहं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकौ ॥ ७ ॥
प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव । अक्षयं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ॥ ८ ॥

पिताके दिए हुए राज्यका उपभोग तुम्हें करना चाहिए ॥२५॥ मर्त्यलोकमें पूजित, देवराजके समान महात्मा पिताने मुझे जो आज्ञा दी है, उसको ही मैं अपने लिए हितकारी समझता हूँ । विनाश-रहित सब लोकोंका भी राजा बनना, पिताकी आज्ञाके विरुद्ध, मैं अपने लिए उचित नहीं समझता ॥२६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ पहला सर्ग समाप्त ॥ १०१ ॥

रामके वचन सुनकर भरत बोले—अपने कुलकी रीतिका हमने त्याग किया है, फिर हमारे लिए धर्मोपदेश निरर्थक है ॥१॥ हमारे कुलमें सदासे यह नियम चला आता है कि ज्येष्ठपुत्रके रहते छोटा पुत्र राजा नहीं होता ॥२॥ अतएव रामचन्द्र, आप इस कुलकी रक्षाके लिये हमारे साथ समृद्ध अयोध्यामें चलें और वहाँ अपना अभिषेक करावें ॥३॥ यद्यपि सब लोग राजाको मनुष्य समझते हैं, पर मेरी समझसे वह देवता है; क्योंकि उसके धर्मार्थयुक्त व्यवहार अमानुष, अलौकिक होते हैं ॥४॥ मैं केकय देशमें था और आप वनमें चले आये थे; उस समय अश्वमेधादि यज्ञके करनेवाले सज्जनोंके प्रिय हमारे पिता स्वर्ग चले गये ॥५॥ सीता और लक्ष्मणके साथ जब आप अयोध्यासे बाहर निकले, उसी समय दुःख शोकसे अभिभूत होकर राजा स्वर्ग चले गये ॥६॥ पुरुषसिंह, उठिए, पिताको जलदान कीजिए । मैं और इस शत्रुघ्नने पहलेही जल दिया है ॥७॥ प्रियके द्वारा दिया हुआ जल आदि पितृलोकमें अक्षय

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सुस्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम् ।
त्वया विहीनस्तव शोकरुग्णस्त्वां संस्मरन्नेव गतः पिता ते ॥ ९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

त्र्युत्तरशततमः सर्गः १०३

तां श्रुत्वा करुणां वाचं पितुर्मरणसंहिताम् । राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः ॥ १ ॥
तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा । वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परंतपः ॥ २ ॥
प्रगृह्य रामो बाहू वै पुष्पिताङ्ग इव द्रुमः । वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह ॥ ३ ॥
तथा हि पतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम् । कूलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥ ४ ॥
भ्रातरस्ते महेष्वासं सर्वतः शोककर्शितम् । रुदन्तः सह वैदेह्या सिषिचुः सलिलेन वै ॥ ५ ॥
स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राभ्यामश्रुमुत्सृजन् । उपक्रामत काकुत्स्थः कृपणं बहु भाषितुम् ॥ ६ ॥
स रामः स्वर्गतं श्रुत्वा पितरं पृथिवीपतिम् । उवाच भरतं वाक्यं धर्मात्मा धर्मसंहितम् ॥ ७ ॥
किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते । कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति ॥ ८ ॥
किं नु तस्या मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः । यो मृतो मम शोकेन स मया न च संस्कृत ॥ ९ ॥

होता है और आप पिताके प्रिय हैं ॥८॥ आपकोही सोचते, आपकाही दर्शन चाहते और आपकाही स्मरण करते, आपमें लगी हुई बुद्धिको न लौटाकर शोकपीड़ित पिता आपके चले आनेपर स्वर्गको चले गये ॥९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ दूसरा सर्ग समाप्त ॥ १०२ ॥

भरतसे पिताके मरनेका शोकमय संवाद सुनकर रामचन्द्र बेहोश हो गये ॥१॥ युद्धमें इन्द्रके द्वारा छोड़े गये वज्रके समान भरतके द्वारा वैसा अप्रियवचन रूपी वज्र सुनकर शत्रुतापी रामचन्द्रने दोनों हाथ सिरपर रख लिया और परशुसे काटे वृक्षके समान पृथिवीपर गिर गये ॥२, ३॥ जगतीपति रामचन्द्र पृथिवीपर गिरे हुए, कुलके नाशमें थके हुए, प्रसुप्त हाथीके समान मालूम होते थे ॥४॥ उन शोकसे पीड़ित महा धनुर्धारी रामचन्द्रपर तीनों भाई जानकीके साथ जलके छींटे देने लगे ॥५॥ होशमें आकर रामचन्द्र आँखोंसे आँसू गिराने लगे और बहुतही दयनीय विलाप करने लगे। धर्मात्मा रामचन्द्र, पृथिवीपति पिताका स्वर्ग-गमन सुनकर भरतसे धर्मयुक्त वचन बोले ॥६॥ पिताके भाग्यानुकूल गति पानेपर (मृत्यु) मैं अयोध्यामें क्या करूँगा। राजश्रेष्ठ, उन राजासे हीन अयोध्याका पालन कौन करेगा ॥८॥ व्यर्थ जन्मा हुआ मैं, उन महात्मा राजाका क्या कर सकता हूँ ? राजाने मेरे शोकसे प्राण त्याग किया

अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयानघ। शत्रुघ्ने च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः ॥१०॥
निष्प्रधानामनेकाग्रां नरेन्द्रेण विना कृताम्। निवृत्तवनवासोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे ॥११॥
समाप्तवनवासं मामयोध्यायां परंतप। कोऽनुशासिष्यति पुनस्ताते लोकान्तरे गते ॥१२॥
पुरा प्रेक्ष्य सुवृत्तं मां पिता यान्याह सान्त्वयन्। वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णसुखान्यहम्॥१३॥
एवमुक्त्वाथ भरतं भार्यामभ्येत्य राघवः। उवाच शोकसंतप्तः पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥१४॥
सीते मृतस्ते श्वसुरः पितृहीनोऽसि लक्ष्मण। भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतिं पृथिवीपतेः ॥१५॥
ततो बहुगुणं तेषां बाष्पं नेत्रेष्वजायत। तथा ब्रुवति काकुत्स्थे कुमाराणां यशस्विनाम्॥१६॥
ततस्ते भ्रातरः सर्वे भृशमाश्वास्य दुःखितम्। अब्रुवञ्जगतीभर्तुः क्रियतामुदकं पितुः ॥१७॥
सा सीता स्वर्गतं श्रुत्वा श्वशुरं तं महानृपम्। नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां न शशाकेक्षितुं प्रियम्॥१८॥
सान्त्वयित्वा तु तां रामो रुदतीं जनकात्मजाम्। उवाच लक्ष्मणं तत्र दुःखितो दुःखितं वचः ॥१९॥
आनयेङ्गुदिपिण्याकं चीरमाहर चोत्तरम्। जलक्रियार्थं तातस्य गमिष्यामि महात्मनः ॥२०॥
सीता पुरस्ताद्व्रजतु त्वमेनामभितो व्रज। अहं पश्चाद्गमिष्यामि गतिर्ह्येषा सुदारुणा ॥२१॥
ततो नित्यानुगस्तेषां विदितात्मा महामतिः। मृदुर्दान्तश्च कान्तश्च रामे च दृढभक्तिमान् ॥२२॥
सुमन्त्रस्तैर्नृपसुतैः सार्धमाश्वास्य राघवम्। अवतारयदालम्ब्य महीं मन्दाकिनीं शिवाम् ॥२३॥

और उस समय में उनका संस्कार भी न कर सका ॥९॥ निष्पाप भरत, तुम्हारे ही मनोरथ पूरे हुए जो तुम और शत्रुघ्नने राजाके समस्त प्रेतकृत्य किये हैं ॥१०॥ मैं वनवासकी अवधि समाप्त होनेपर भी अयोध्या जाना नहीं चाहता, क्योंकि राजाके न रहनेसे अब वहाँका कोई एक धनी धोरी नहीं रह गया। अब वहाँ शांति नहीं रह गयी ॥११॥ पिताके लोकान्तर चले जाने पर अयोध्यामें वनवासकी अवधि समाप्त होनेपर मुझे कौन शिक्षा देगा ॥१२॥ पहले मैं उनकी कही बातोंपर चलता हूँ, यह देखकर पिता मुझे सुखदाई वचन कहते थे, अब उन वचनोंको कहाँ सुनूंगा ॥१३॥ भरतसे ऐसा कहकर शोकसन्तप्त रामचन्द्र पूर्णचन्द्रमुखी अपनी स्त्रीके पास आये और बोले, ॥१४॥ सीते तुम्हारे श्वसुर मर गये, लक्ष्मण तुम पितृहीन हो गये। भरत पिताकी मृत्युका दुःखदायी संवाद कह रहे हैं ॥१५॥ रामचन्द्र के वैसा कहनेपर, इन यशस्वी कुमारोंकी आँखोंसे बहुत अधिक आँसू निकलने लगा ॥१६॥ अत्यन्त दुखी रामचन्द्र-को सब भाइयोंने समझाया और राजाको जल देनेके लिये उनसे कहा ॥१७॥ महाराज श्वसुर स्वर्गगामी हो गये यह सुनकर सीताकी आँखें जलसे भर आयीं और वे अपने प्रिय रामचन्द्रकी ओर देख न सकीं ॥१८॥ रोती हुई सीताको समझाकर दुखी रामचन्द्र, दुखी लक्ष्मणसे बोले ॥१९॥ इंगुदीका फल और पहननेका चीर ले आओ, महात्मा पिताको जल देनेके लिए जाऊँगा ॥२०॥ सीता आगे-आगे चलें और तुम इनके साथ पीछे—पीछे चलो, मैं पीछे चलूँगा। क्योंकि यह अवस्था बड़ी कठोर है ॥२१॥ तदनन्तर रामचन्द्रका स्वभाव जाननेवाले और उनमें भक्ति रखनेवाले, सरल, स्वभाव, नियमी, तेजस्वी और इक्ष्वाकुवंशका कुलक्रमागत अनुचर सुमन्त्रने अन्य राजपुत्रोंके साथ रामचन्द्रको समझाया, और

ते सुतीर्थां ततः कृच्छ्रादुपगम्य यशस्विनः । नदीं मन्दाकिनीं रम्यां सदा पुष्पितकाननाम्॥२४॥
शीघ्रस्रोतसमासाद्य तीर्थं शिवमकर्दमम् । सिषिचुस्तूदकं राज्ञे तत एतद्भवत्विति ॥२५॥
प्रगृह्य तु महीपालो जलापूरितमञ्जलिम् । दिशं याम्यामभिमुखो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥२६॥
एतत्ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम् । पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु ॥२७॥
ततो मन्दाकिनीतीरं प्रत्युत्तीर्य स राघवः । पितुश्चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभिः सह ॥२८॥
ऐङ्गुदं बदरैर्मिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे । न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥२९॥
इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम् । यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥३०॥
ततस्तेनैव मार्गेण प्रत्युत्तीर्य सरित्तटात् । आरुरोह नरव्याघ्रो रम्यसानुं महीधरम् ॥३१॥
ततः पर्णकुटीद्वारमासाद्य जगतीपतिः । परिजग्राह पाणिभ्यामुभौ भरतलक्ष्मणौ ॥३२॥
तेषां तु रुदतां शब्दात्प्रतिशब्दोऽभवद्गिरौ । भ्रातॄणां सह वैदेह्या सिंहानां नदतामिव ॥३३॥
महाबलानां रुदतां कुर्वतामुदकं पितुः । विज्ञाय तुमुलं शब्दं त्रस्ता भरतसैनिकाः ॥३४॥
अब्रुवंश्चापि रामेण भरतः संगतो ध्रुवम् । तेषामेव महाञ्शब्दः शोचतां पितरं मृतम् ॥३५॥
अथ वाहान्परित्यज्य तं सर्वेऽभिमुखाःस्वनम् । अप्येकमनसो जग्मुर्यथास्थानं प्रधाविताः ॥३६॥

हाथ पकड़कर सुन्दर मन्दाकिनी नदीके तीरपर उन्हें ले गये ॥२२, २३॥ वे यशस्वी सुन्दर घाटवाली रमणीय मन्दाकिनी नदीके तीरपर बड़े कष्टसे गये। मन्दाकिनी नदीके पासका वन सदा पुष्पित रहता है। शीघ्र चलनेवाली मन्दाकिनीके सुन्दर और बिना कीचड़के घाटपर जाकर उन लोगोंने पिताको यह कह जलदिया कि यह जल आपको मिले ॥२४, २५॥ रामचन्द्र अपनी अँजलीको जलसे भरकर दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके रोते हुए बोले, ॥२६॥ हे राजसिंह, यह विमल और अक्षय मेरा दिया हुआ जल पितृलोकमें आपको मिले ॥२७॥ पुनः मन्दाकिनी तीरपर उतरकर तेजस्वी रामचन्द्रने अपने भाइयोंके साथ पिताको पिण्डदान दिया ॥२८॥ उसपर इंगुदी और बैरके फल रखकर, दुखी रामचन्द्र बोले ॥२९॥ महाराज प्रसन्नतापूर्वं यह भोजन कीजिए, क्योंकि हम लोगोंका यही भोजन है। मनुष्य जो अन्न खाता है, उसके देवता भी वही अन्न खाते हैं ॥३०॥ तदनन्तर उसी मार्गसे नदीके तीरसे निकलकर, नरव्याघ्र, रामचन्द्र सुन्दर शिखरवाले पर्वतपर चढ़े ॥३१॥ अपनी पर्णकुटीके द्वारपर आकर उन्होंने भरत और लक्ष्मण दोनोंको हाथसे पकड़ लिया ॥३२॥ जानकीके साथ उन चारो भाइयोंके रोनेका प्रतिशब्द उस पर्वतपर फैल गया, जिस प्रकार सिंहके गर्जनकी प्रतिध्वनि फैलती है ॥३३॥ पिताको जलदान करनेवाले उन चारो भाइयोंके रोनेका भयानक शब्द सुनकर, भरतके सैनिक डर गये। किसी नयी विपत्तिकी आशंका उनके मनमें हुई ॥३४॥ पुनः निश्चित कर वे बोले—भरत रामचन्द्रसे मिल गये और मृत पिताके लिए शोक करनेवाले, उन्हीं लोगोंका यह महान् शब्द है ॥३५॥ सवारियोंको वहीं छोड़कर,

हयैरन्ये गजैरन्ये रथैरन्ये स्वलंकृतैः। सुकुमारास्तथैवान्ये पद्भिरेव नरा ययुः ॥३७॥
अचिरप्रोषितं रामं चिरविप्रोषितं यथा। द्रष्टुकामो जनः सर्वो जगाम सहसाश्रमम् ॥३८॥
भ्रातॄणां त्वरितास्ते तु द्रष्टुकामाः समागमम्। ययुर्बहुविधैर्यानैः खुरनेमिसमाकुलैः ॥३९॥
सा भूमिर्बहुभिर्यानै रथनेमिसमाहता। मुमोच तुमुलं शब्दं द्यौरिवाभ्रसमागमे ॥४०॥
तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः। आवासयन्तो गन्धेन जग्मुरन्यद्वनं ततः ॥४१॥
वराहमृगसिंहाश्च महिषाः सृमरास्तथा। व्याघ्रगोकर्णगवया वित्रेसुः पृषतैः सह ॥४२॥
रथाङ्गहंसा नत्यूहाः प्लवाः कारण्डवाः परे। तथा पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः॥४३॥
तेन शब्देन वित्रस्तैराकाशं पक्षिभिर्वृतम्। मनुष्यैरावृता भूमिरुभयं प्रबभौ तदा ॥४४॥
ततस्तं पुरुषव्याघ्रं यशस्विनमकल्मषम्। आसीनं स्थण्डिले रामं ददर्श सहसा जनः ॥४५॥
विगर्हमाणः कैकेयीं मन्थरासहितामपि। अभिगम्य जनो रामं बाष्पपूर्णमुखोऽभवत् ॥४६॥
तान्नरान्बाष्पपूर्णाक्षान्समीक्ष्याथ सुदुःखितान्। पर्यष्वजत धर्मज्ञः पितृवन्मातृवच्च सः ॥४७॥

स तत्र कांश्चित्परिषस्वजे नरान्नराश्च केचित्तु तमभ्यवादयन्।
चकार सर्वान्सवयस्यबान्धवान्यथार्हमासाद्य तदा नृपात्मजः ॥४८॥

जिधरसे शब्द आ रहा था उधरही, एकचित्त होकर दौड़े ॥३६॥ जो लोग सुकुमार थे, पैरसे नहीं चल सकते थे, वे कुछ लोग घोड़ोंपर, कुछ हाथियोंपर और कुछ रथोंपर बैठकर चले, बहुत लोग तो पैदल ही चले। ३७॥ रामचन्द्र थोड़े ही दिनोंसे प्रवासमें आये थे, पर वे लोग इसीको बहुत समझते थे और रामचन्द्रको देखनेके लिए शीघ्रतापूर्वक उनके आश्रममें गये ॥३८॥ भाइयोंका सम्मिलन देखनेके लिए भिन्न-भिन्न सवारियोंपर चढ़कर वे गये। घोड़ोंकी टाप और रथोंके पहियेसे, भूमि आकुल हो गयी ॥३९॥ अनेक सवारियोंके होनेके कारण तथा रथके पहियोंके आघातसे वह भूमि मेघके आगमनके समय, आकाशके समान गर्जन करने लगी ॥४०॥ उस शब्दसे हाथी डर गये और अपनी मन्द गंधसे उस वन को सुगंधित करते हुए हथिनीके साथ दूसरे वनमें चले गये ॥४१॥ सूअर, मृगा, सिंह, भैंसे, बाघ, गोकर्ण, गवय, तथा कृष्णमृग सब उस शब्दसे डर गये ॥४२॥ चक्रवाक, हंस, जलकुक्कुट, स्थलबक, सारस, कोयल, क्रौंच ये सब घबड़ाकर दिशाओंमें भाग गये ॥४३॥ उस शब्दसे डरे हुए पक्षियोंसे आकाश भर गया और मनुष्योंसे पृथिवी भर गयी, इस प्रकार दोनोंकी शोभा हुई ॥४४॥ पुरुषसिंह, यशस्वी, निष्पाप रामचन्द्रको चौतरेपर बैठे हुए उन सब मनुष्योंने देखा ॥४५॥ मन्थरा और कैकयीकी निन्दा करता हुआ वह जनसमुदाय रामचन्द्रके सामने गया और उसका मुँह आँसूसे भर गया ॥४६॥ उन दुःखी मनुष्योंकी आँसू भरी आँखें देखकर धर्मज्ञ रामचन्द्रने पिता और माताके समान उनका आलिंगन किया ॥४७॥ रामचन्द्रने कई मनुष्योंका अलिंगन किया और कई मनुष्योंने रामचन्द्रको प्रणाम किया। उस समय राजकुमार रामचन्द्रने सब मित्र और बान्धवोंका यथायोग्य सम्मान किया

ततः स तेषां रुदतां महात्मनां भुवं च खं चानुविनादयन्स्वनः ।
गुहागिरीणां च दिशश्च संततं मृदङ्गघोषप्रतिमो विशुश्रुवे ॥४९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्र्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

चतुरुत्तरशततमः सर्गः १०४

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान्दशरथस्य च । अभिचक्राम तं देशं रामदर्शनतर्षितः ॥ १ ॥
राजपत्न्यश्च गच्छन्त्यो मन्दं मन्दाकिनीं प्रति । ददृशुस्तत्र तत्तीर्थं रामलक्ष्मणसेवितम् ॥ २ ॥
कौसल्या बाष्पपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता । सुमित्रामब्रवीद्दीना याश्चान्या राजयोषितः ॥ ३ ॥
इदं तेषामनाथानां क्लिष्टमक्लिष्टकर्मणाम् । वने प्राक्कलनं तीर्थं ये ते निर्विषयीकृताः ॥ ४ ॥
इतः सुमित्रे पुत्रस्ते सदा जलमतन्द्रितः । स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणात् ॥ ५ ॥
जघन्यमपि ते पुत्रः कृतवान्न तु गर्हितः । भ्रातुर्यदर्थरहितं सर्वं तद्गर्हितं गुणैः ॥ ६ ॥
अद्यायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतथोचितः । नीचानर्थसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुञ्चतु ॥ ७ ॥
दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सा ददर्श महीतले । पितुरिङ्गुदिपिण्याकं न्यस्तमायतलोचना ॥ ८ ॥
तं भूमौ पितुरार्तेन न्यस्तं रामेण वीक्ष्य सा । उवाच देवी कौसल्या सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ ९ ॥

॥४८॥ उन महात्माओंके रोनेका शब्द आकाश और पृथिवीमें गूँज गया, पर्वतोंकी गुहाओं और दिशाओंमें प्रतिध्वनित हुआ, वह शब्द मृदंग-घोषके समान चारों ओर सुनाई पड़ा ॥४९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ तीसरा सर्ग समाप्त ॥ १०३ ॥

वसिष्ठ भी रामचन्द्रको देखनेके लिए उत्कण्ठित थे। वे दसरथकी महारानियोंको लेकर उस स्थानपर गये ॥१॥ धीरे-धीरे चलकर महारानियाँ मन्दाकिनी नदीके तीरपर गयीं और राम तथा लक्ष्मणके स्नान करनेका, उन लोगोंने घाट देखा ॥२॥ कौसल्याका मुँह आँसूसे भरा हुआ था और वह सूख रहा था, वे दुःखिनी सुमित्रा तथा अन्य रानियोंसे बोलीं ॥३॥ जो रामचन्द्र आदि देशसे निकाल दिये गये हैं, और जो वनमें निवास कर रहे हैं, उन उत्तम कर्म करनेवाले अनाथोंका यह प्रथम परिगृहीत तीर्थ (घाट) देखो ॥४॥ सुमित्रे, निरलस तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण यहाँसे जल मेरे पुत्रके लिए ले जाता है ॥५॥ यह छोटा काम करके भी, तुम्हारा पुत्र निन्दित नहीं हुआ है, जो काम भाईके उपयोगके लिये न हो, उसकी निन्दा गुणी लोग करते हैं ॥६॥ आज तुम्हारा यह पुत्र भी, जो कष्टसहनके लिये योग्य नहीं है, इन छोटे और दुःख देनेवाले कर्मोंका करना छोड़ दे (कौसल्याने रामचन्द्रका अयोध्यामें जाना निश्चित समझकर ऐसा कहा है) ॥७॥ विशालाक्षी कौसल्याने दक्षिणाग्र (जिनका आगेका भाग दक्षिणकी ओर है) कुशापर पृथिवीमें इंगुदीफल रखे देखे ॥८॥ दुःखी रामके द्वारा, पिताके उद्देश्यसे पृथिवीमें रखे हुए उसको

इदमिक्ष्वाकुनाथस्य राघवस्य महात्मनः । राघवेण पितुर्दत्तं पश्यतैतद्यथाविधि ॥१०॥
तस्य देवसमानस्य पार्थिवस्य महात्मनः । नैतदौपयिकं मन्ये भुक्तभोगस्य भोजनम् ॥११॥
चतुरन्तां महीं भुक्त्वा महेन्द्रसदृशो भुवि । कथमिङ्गुदिपिण्याकं स भुङ्क्ते वसुधाधिपः॥१२॥
अतो दुःखतरं लोके न किंचित्प्रतिभाति मे । यत्र रामः पितुर्दद्यादिङ्गुदीक्षोदमृद्धिमान् ॥१३॥
रामेणेङ्गुदिपिण्याकं पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे । कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा ॥१४॥
श्रुतिस्तु खल्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मे । यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥१५॥
एवमार्ताः सपत्न्यस्ताजग्मुराश्वास्य तां तदा । ददृशुश्चाश्रमे रामं स्वर्गच्युतमिवामरम् ॥१६॥
तं भोगैः संपरित्यक्तं रामं संप्रेक्ष्य मातरः । आर्ता मुमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः ॥१७॥
तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणाम्बुजान् । मातॄणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसंगरः ॥१८॥
ताः पाणिभिः सुखस्पर्शैर्मृद्वङ्गुलितलैः शुभैः । प्रममार्जू रजः पृष्ठाद्रामस्यायतलोचनाः ॥१९॥
सौमित्रिरपि ताः सर्वा मातृः संप्रेक्ष्य दुःखितः । अभ्यवादयदासक्तं शनै रामादनन्तरम् ॥२०॥
यथा रामे तथा तस्मिन्सर्वा ववृतिरे स्त्रियः । वृत्तिं दशरथाज्जाते लक्ष्मणे शुभलक्षणे ॥२१॥
सीतापि चरणांस्तासामुपसंगृह्य दुःखिता । श्वश्रूणामश्रुपूर्णाक्षी संबभूवाग्रतः स्थिता ॥२२॥
तां परिष्वज्य दुःखार्ता माता दुहितरं यथा । वनवासकृतां दीनां कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥२३॥

देखकर देवी कौसल्या, दसरथकी समस्त स्त्रियोंसे बोलीं ॥९॥ देखो, इक्ष्वाकुनाथ महात्मा अपने पिताके लिए रामचन्द्रने यह दिया है ॥१०॥ देवताके समान, महात्मा, भुक्तभोग राजाके लिये यह भोजन मैं उचित नहीं समझती ॥११॥ इन्द्रके समान, चारों समुद्रोंसे घिरी पृथिवीका भोग करके महाराज अब इंगुदीका फल खायँगे ॥१२॥ इससे बढ़कर इसलोकमें मुझे दुःखकी बात नहीं मालूम पड़ती कि ऋद्धिमान् राजा रामचन्द्र अपने पिताके लिये इंगुदीके टुकड़े दें ॥१३॥ रामने अपने पिताके लिये इङ्गुदीका फल दिया है, यह देखकर मेरा हृदय दुःखसे हजारों टुकड़े क्यों नहीं फट जाता ॥१४॥ मुझे यह लौकिक श्रुति (किंवदन्ती) सच मालूम पड़ती है कि पुरुष जो अन्न खाता है, उसका देवता भी वही अन्न खाता है ॥१५॥ इस प्रकार दुःखिनी कौसल्याको अन्य सौतें समझाकर आगे ले गयीं, वहाँ उन लोगोंने स्वर्गसे आये हुए देवताके समान आश्रममें रामचन्द्रको देखा ॥१६॥ रामचन्द्रने भोगोंका त्याग कर दिया है, यह देखकर माताएँ बहुत दुःखी हुईं, और शोकसे पीड़ित होकर चिल्लाकर रोने लगीं ॥१७॥ सत्यप्रतिज्ञ, मनुष्यश्रेष्ठ रामचन्द्र उठकर उन समस्त माताओंके चरणकमल छूए ॥१८॥ उन विशालाक्षी माताओंने, सुखस्पर्श कोमल अंगुली और तलुओंवाले सुन्दर हाथोंसे रामचन्द्रकी पीठकी धूल झाड़ी ॥१९॥ दुःखी लक्ष्मणने भी उन माताओंको देखकर रामचन्द्रके अनन्तर प्रेमपूर्वक प्रणाम किया ॥२०॥ उन सब माताओंने जैसा व्यवहार रामचन्द्रके साथ किया था वैसा ही व्यवहार शुभलक्षण, दसरथपुत्र लक्ष्मणके साथ भी किया ॥२१॥ दुःखिनी सीता भी अपनी उन समस्त सासोंको प्रणाम करके उनके आगे खड़ी हो गयीं, उस समय सीताकी आँखें आँसुओंसे भरी थीं ॥२२॥ वनवाससे दुःखिनी सीताका, दुःखिनी कौसल्याने माता जिस प्रकार कन्याका आलिंगन करती हैं उस प्रकार आलिंगन किया, और उनसे बोलीं ॥२३॥

वैदेहराजन्यसुता स्नुषा दशरथस्य च । रामपत्नी कथं दुःखं संप्राप्ता विजने वने ॥२४॥
पद्ममातपसंतप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम् । काञ्चनं रजसा ध्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः ॥२५॥
मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम् । भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसंभवः ॥२६॥
ब्रुवन्त्यामेवमार्तायां जनन्यां भरताग्रजः । पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः ॥२७॥

पुरोहितस्याग्निसमस्य तस्य वै बृहस्पतेरिन्द्र इवामराधिपः ।
प्रगृह्य पादौ सुसमृद्धतेजसः सहैव तेनोपविवेश राघवः ॥२८॥
ततो जघन्यं सहितैः स्वमन्त्रिभिः पुरप्रधानैश्च तथैव सैनिकैः ।
जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवानुपोपविष्टो भरतस्तदाऽग्रजम् ॥२९॥
उपोपविष्टस्तु तदातिवीर्यवांस्तपस्विवेषेण समीक्ष्य राघवम् ।
श्रिया ज्वलन्तं भरतः कृताञ्जलिर्यथा महेन्द्रः प्रयतः प्रजापतिम् ॥३०॥
किमेष वाक्यं भरतोऽद्य राघवं प्रणम्य सत्कृत्य च साधु वक्ष्यति ।
इतीव तस्यार्यजनस्य तत्त्वतो बभूव कौतूहलमुत्तमं तदा ॥३१॥
स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो महानुभावो भरतश्च धार्मिकः ।
वृताः सुहृद्भिश्च विरेजिरेऽध्वरे यथा सदस्यैः सहितास्त्रयोऽग्नयः ॥३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुरुत्तरशततमः सर्गः ॥१०४॥

बिदेहराजकी कन्या, राजा दसरथकी पतोहू, रामचन्द्रकी स्त्री, सीता इस निर्जन वनमें क्यों कष्ट उठा रही है ॥२४॥ घामसे सूखा हुआ कमलके समान और मसला हुआ रक्तकमलके समान, धूलसे लिपटा हुआ सोनाके समान, मेघसे छिपाए हुए चन्द्रमाके समान तुम्हारा यह मुख देखकर दुःखरूपी अरणी (आग निकालनेकी लकड़ी) से उत्पन्न यह शोक जो मेरे मनमें वर्तमान है, मुझे जला रहा है। जिस प्रकार अग्नि अपने आश्रयको, जिससे उत्पन्न होती है उसको जला देती है ॥२५, २६॥ दुःखिनी माता जिस समय यह कह रही थी, उस समय जाकर रामचन्द्रने वसिष्ठको प्रणाम किया ॥२७॥ अग्निके समान तेजस्वी बृहस्पतिको जिस प्रकार इन्द्र प्रणाम करते हैं, उसी प्रकार रामचन्द्रने समृद्धतेजा वसिष्ठको प्रणाम किया और उनके साथ बैठे ॥२८॥ तदनन्तर, धर्मात्मा भरत अपने बड़े भाईके बैठ जानेके बाद, मन्त्रियों नगरके मुखियों, सैनिकों और धर्मात्माओंके साथ नीची जगह देखकर बैठे (अर्थात रामचन्द्रके आसनसे नीचे आसनपर बैठे) ॥२९॥ रामचन्द्रके पासही बैठे हुए वीर्यवान् भरतने शोभासे प्रकाशित रामचन्द्रको तपस्विवेषमें देखकर हाथ जोड़े, जिस प्रकार इन्द्र ब्रह्माको हाथ जोड़ते हैं ॥३१॥ यह भरत रामचन्द्रको प्रणाम कर, तथा उनका सत्कार कर क्या कहेंगे, यही कौतुक उस एकत्र हुई समस्त जनताके मनमें उत्पन्न हो रहा था ॥३१॥ रामचन्द्र, सत्यधृति लक्ष्मण और धार्मिक महानुभाव भरत अपने मित्रोंसे घिरकर यज्ञमें सदस्योंके साथसे तीन अग्नियोंके समान शोभित होने लगे ॥३२॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ चौथा सर्ग समाप्त ॥ १०४ ॥

पञ्चोत्तरशततमः सर्गः १०५

ततः पुरुषसिंहानां वृतानां तैः सुहृद्गणैः। शोचतामेव रजनी दुःखेन व्यत्यवर्तत ॥ १ ॥
रजन्यां सुप्रभातायां भ्रातरस्ते सुहृद्वृताः। मन्दाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमन् ॥ २ ॥
तूष्णीं ते समुपासीना न कश्चित्किंचिदब्रवीत्। भरतस्तु सुहृन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
सान्त्विता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम। तद्ददामि तवैवाहं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ॥ ४ ॥
महतेवाम्बुवेगेन भिन्नः सेतुर्जलागमे। दुरावरं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत् ॥ ५ ॥
गतिं खर इवाश्वस्य तार्क्ष्यस्येव पतत्रिणः। अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तव महीपते ॥ ६ ॥
सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते। राम तेन तु दुर्जीवं यः परानुपजीवति ॥ ७ ॥
यथा तु रोपितो वृक्षः पुरुषेण विवर्धितः। ह्रस्वकेन दुरारोहो रूढस्कन्धो महाद्रुमः ॥ ८ ॥
स यदा पुष्पितो भूत्वा फलानि न विदर्शयेत्। स तां नानुभवेत्प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः ॥ ९ ॥
एषोपमा महाबाहो तदर्थं वेत्तुमर्हसि। यदि त्वमस्मान्वृषभो भर्ता भृत्यान्न शाधि हि ॥१०॥
श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्त्वग्र्याश्च सर्वशः। प्रतपन्तमिवादित्यं राज्यस्थितमरिंदमम् ॥११॥
तथानुयाने काकुत्स्थ मत्ता नर्दन्तु कुञ्जराः। अन्तःपुरगता नार्यो नन्दन्तु सुसमाहिताः ॥१२॥

इस प्रकार मित्रोंके साथ रामचन्द्रको लौटा ले जानेका उपाय सोचते-सोचते भरत आदि पुरुषसिंहोंकी, वह रात दुःखसे बीत गयी ॥१॥ रात्रिके बीतनेपर वे भाई मित्रोंके साथ मन्दाकिनी तीरपर स्नान हवन जप करके रामचन्द्रके पास आये ॥२॥ वहाँ आकर वे सब मित्र चुप रहे, किसीने कुछ नहीं कहा, तब भरत रामचन्द्रसे बोले, ॥३॥ राजा दसरथने यह राज्य देकर मेरी माताने सम्मानित किया, माताने वह राज्य मुझे दिया। मैं वही राज्य आपको देता हूँ, क्योंकि मैं आपका ही हूँ। इस शत्रुहीन राज्य का आप उपभोग करें ॥४॥ जलके बढ़नेपर बहुत बड़े जल-वेगसे टूटे हुए पुलके समान इस विशाल अयोध्या राज्यका पालन आपके अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है ॥५॥ जिस प्रकार गदहा घोड़ेकी चाल चल नहीं सकता, अन्य पक्षी गरुड़की चाल नहीं चल सकते, उसी प्रकार आपके अनुकरण करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है ॥६॥ जो दूसरोंके द्वारा सेवित होता है उसका जीवन उत्तम जीवन है, और जिसको दूसरोंके आश्रयसे जीना पड़ता है उसका जीवन दुःखमय है ॥७॥ जिस प्रकार कोई मनुष्य वृक्ष रोपता है, उसे बढ़ाता है, उसमें शाखाएँ निकलती हैं, वह छोटा वृक्ष बड़ा हो जाता है, लोग उसपर चढ़ नहीं सकते, उसमें फूल लगते हैं, पर यदि वह वृक्ष फल नहीं दे तो उस रोपनेवालेको प्रसन्नता नहीं होती; क्योंकि उसने उसे फलके ही लिए रोपा है ॥८,९॥ महाबाहो, अपने सम्बन्धमें भी आप इसी उपमाको समझें आप हम लोगोंके स्वामी हैं, पालन करनेकी शक्ति रखनेवाले हैं, पर हम अनुयायियोंका आप पालन नहीं करते ॥१०॥ सब श्रेणियोंके अगुआ, सूर्यके समान तेजस्वी, शत्रुतापी आपको, राजासनपर बैठे देखें ॥११॥ काकुत्स्थ, ये मतवाले हाथी,

तस्य साध्वनुमन्यन्त नागरा विविधा जनाः । भरतस्य वचः श्रुत्वा रामं प्रत्यनुयाचतः ॥१३॥
तमेवं दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम् । रामः कृतात्मा भरतं समाश्वासयदात्मवान् ॥१४॥
नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरम् । इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति ॥१५॥
सर्वे क्षयान्ता निचयाःपतनान्ताः समुच्छ्रयाः । संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥१६॥
यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम् । एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम् ॥१७॥
यथाऽऽगारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वोपसीदति । तथावसीदन्ति नरा जरामृत्युवंशगताः ॥१८॥
अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते । यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकार्णवम् ॥१९॥
अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह । आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः ॥२०॥
आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि । आयुस्तु हीयते यस्य स्थितस्यास्य गतस्य च॥२१॥
सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति । गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते ॥२२॥
गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः । जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत् ॥२३॥
नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमितेऽहनि । आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम् ॥२४॥
हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिवागतम् । ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः ॥२५॥

अयोध्या जानेके आपके निश्चयमें गर्जन करें, अन्तःपुरकी स्त्रियाँ प्रसन्न हों ॥१२॥ रामके प्रति प्रार्थना करनेवाले भरतकी बातें सुनकर सभी नगरवासियोंने उनका अनुमोदन किया ॥१३॥ यशस्वी भरत इस प्रकार विलाप कर रहहे हैं यह देखकर धीर, और शुद्धचेता रामचन्द्रने उन्हें समझाया ॥१४॥ यह सब अपने इच्छाकी बात नहीं है, मनुष्य असमर्थ है, भाग्य ही उसे इधर-से-उधर खींचा करता है ॥१५॥ जो निश्चय है, अर्थात् संगृहीत है, उसका अन्त क्षय है। जो ऊँचा है उसका अन्त पतन है। संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है॥१६॥ जिस प्रकार पके फलोंके लिए नीचे गिरनेके अतिरिक्त दूसरा भय नहीं है, उसी प्रकार उत्पन्न मनुष्यके लिए मृत्युके सिवा दूसरा भय नहीं है ॥१७॥ जिस प्रकार मजबूत खम्भेवाला मकान भी पुराना होनेपर गिर जाता है, उसी प्रकार जरा और मृत्युके वश होकर मनुष्य भी मर जाता है॥१८॥ जो रात बीत जाती है वह लौटकर नहीं आती। यमुनापूर्ण समुद्रमें जाती ही है, लौटती नहीं ॥१९॥ सब प्राणियोंके दिन रात बीतते हैं और इससे उनकी आयु नष्ट होती है, जिस प्रकार गर्मीके दिनोंमें सूर्यकी किरणें जलको नष्ट करती है॥२०॥ तुम अपनी चिन्ता करो, दूसरोंकी चिन्ता क्यों करते हो, सबकी आयु कम हो रही है, जो वर्तमान है या चला गया है ॥२१॥ मृत्यु साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है, और बहुत दूर तक मार्गमें साथ जाकर पुनः लौट आती है ॥२२॥ शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं, बाल सफेद हो गये, जरासे मनुष्य जर्जर हो गया, अब किस बलपर वह अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकता है॥२३॥ सूर्योदयपर मनुष्य प्रसन्न होता है, सूर्यास्तपर मनुष्य प्रसन्न होता है, पर इनसे उसके जीवनका नाश हो रहा है, वह यह नहीं समझता ॥२४॥ आयी हुई नयी-नयी ऋतुओंको देखकर मनुष्य प्रसन्न होता है, पर

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे । समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन ॥२६॥
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च । समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः ॥२७॥
नात्र कश्चिद्यथाभावं प्राणी समतिवर्तते । तेन तस्मिन्न सामर्थ्यं प्रेतस्याप्स्यनुशोचतः ॥२८॥
यथा हि सार्थं गच्छन्तं ब्रूयात्कश्चित्पथि स्थितः । अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति ॥२९॥
एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पितृपैतामहैर्ध्रुवः । तमापन्नः कथं शोचेद्यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥३०॥
वयसः पतमानस्य स्रोतसो वानिवर्तिनः । आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः॥३१॥
धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः । न स शोच्यः पिता तात स्वर्गतः सत्कृतः सताम्॥३२॥
स जीर्णं मानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः । दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥३३॥
तं तु नैवंविधः कश्चित्प्राज्ञः शोचितुमर्हति । त्वद्विधो मद्विधश्चापि श्रुतवान्बुद्धिमत्तरः ॥३४॥
एते बहुविधाः शोका विलापरुदिते तदा । वर्जनीया हि धीरेण सर्वावस्थासु धीमता ॥३५॥
स स्वस्थो भव मा शोको यात्वा चावसतां पुरीम् । तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना वदतां वर ॥३६॥
यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा । तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम् ॥३७॥
न मया शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिंदम । स त्वयापि सदा मान्यः स वै बन्धुः स नः पिता॥३८॥

इस ऋतु-परिवर्तनसे मनुष्योंके प्राणका नाश होता है ॥२५॥ जिस प्रकार समुद्रमें लकड़ी-से-लकड़ी मिल जाती है और कुछ समयतक मिली रहती है, पुनः समयपर अलग हो जाती है ॥२६॥ इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, ज्ञाति और धन मिल जाते हैं और पुनः अलग हो जाते हैं । इनका वियोग निश्चित है ॥२७॥ इस संसारमें कोई भी प्राणी जन्म और मृत्युके नियमोंका उलंघन नहीं कर सकता । मृत पुरुषोंके लिए सोच करनेवालोंमें यह सामर्थ्य नहीं है कि उसका प्रेतत्व दूर करें ॥२८॥ जिस प्रकार मार्गमें जाते हुए बनियोंके दलसे मार्गमें स्थित मनुष्य कहे कि मैं भी आप लोगोंके पीछे आ रहा हूँ, इसी प्रकार पिता पितामह आदि पूर्वपुरुष जिस निश्चित मार्गसे गये हैं उसीमें हमको भी जाना है, फिर इसमें सोच क्यों किया जाय, जिसका कोई उपाय नहीं है ॥२९-३०॥ नहीं लौटनेवाली धाराके समान, नहीं लौटनेवाले और दिन-दिन गिरते हुए वयको देखकर मनुष्यको चाहिए कि वह अपनी आत्माको सुखके साधन धर्ममें लगावे, क्योंकि मनुष्य-जन्मका फल धर्मके द्वारा सुख प्राप्त करना ही है ॥३१॥ महाराज दसरथ धर्मात्मा थे, उनके सभी कर्म पुण्यमय थे, दक्षिणा देकर उन्होंने यज्ञ किये थे और सज्जनोंके द्वारा सम्मानित थे । हम लोगोंके वे स्वर्गीय पिता शोक करने योग्य नहीं है ॥३२॥ हम लोगोंके पिताने पुराना मनुष्य-देह त्याग करके दैवी संपत्ति पायी है, जिससे वे ब्रह्मलोकमें विहार कर रहे हैं ॥३३॥ कोई भी बुद्धिमान जो तुम्हारे और हमारे समान शास्त्रोंका ज्ञाता है, वह राजा दसरथके लिए शोक नहीं कर सकता ॥३४॥ ये अनेक प्रकारके शोक, विलाप और रोना धीर बुद्धिमानको छोड़ देना चाहिए ॥३५॥ स्वस्थ हो जाओ, शोक मत करो और जाकर अयोध्यामें निवास करो, क्योंकि वशी पिताकी तुम्हारे लिए यही आज्ञा है ॥३६॥ उन्हीं पुण्यकर्मा पिताके द्वारा जहाँ मैं नियुक्त हूँ, वहीं अपने श्रेष्ठ पिताके शासनका मैं पालन करूँगा ॥३७॥ पिताकी आज्ञाका त्याग करना मेरे लिए उचित नहीं है । वे तुम्हारे भी सदा मान्य हैं । वे हम-

तद्वचः पितुरेवाहं संमतं धर्मचारिणाम् । कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघव ॥३९॥
धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना । भवितव्यं नरव्याघ्र परलोकं जिगीषता ॥४०॥
आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ । निशाम्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः ॥४१॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा पितुर्निदेशप्रतिपालनार्थम् ।
यवीयसं भ्रातरमर्थवच्च प्रभुर्मुहूर्ताद्विरराम रामः ॥४२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥१०५॥

षडुत्तरशततमः सर्गः १०६

एवमुक्त्वा तु विरते रामे वचनमर्थवत् । ततो मन्दाकिनीतीरे रामं प्रकृतिवत्सलम् ॥ १ ॥
उवाच भरतश्चित्रं धार्मिको धार्मिकं वचः । को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिंदम ॥ २ ॥
न त्वां प्रव्यथयेद्दुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत् । संमतश्चापि वृद्धानां तांश्च पृच्छसि संशयान् ॥ ३ ॥
यथा मृतस्तथा जीवन्यथासति तथा सति । यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः ॥ ४ ॥
परावरज्ञो यश्च स्याद्यथा त्वं मनुजाधिप । स एव व्यसनं प्राप्य न विषीदितुमर्हति ॥ ५ ॥
अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः । सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चापि राघव ॥ ६ ॥

लोगोंके हितचिन्तक पिता हैं ॥३८॥ उन्हीं पिताका वचन जो धर्मात्माओंको सम्मत है, वनमें निवासकर मैं पालन करूँगा ॥३९॥ परलोकको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको धार्मिक दयालु और बड़ोंकी आज्ञा माननेवाला होना चाहिए ॥४०॥ राजा दसरथके आचरणोंका विचारकर तुम अपने धार्मिक स्वभावके द्वारा आत्मसम्बन्धी उन्नतिके लिए प्रयत्न करो ॥४१॥ महात्मा रामचन्द्र पिताकी आज्ञाके पालन-सम्बन्धमें अपने छोटे भाईसे अर्थयुक्त वचन कहकर चुप हो गये ॥४२॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥१०५॥

इस प्रकार अर्थयुक्त वचन कहकर, रामचन्द्रके चुप हो जानेपर, धार्मिक भरत, प्रजाप्रिय और धर्मात्मा रामसे युक्तियुक्त वचन इस प्रकार बोले—शत्रुतापी रामचन्द्र, इस लोकमें कौन ऐसा है जो आपके समान हो ॥१-२॥ कोई दुख आपको व्यथित नहीं कर सकता और न कोई प्रसन्नता आपको प्रसन्न ही कर सकती है । फिर भी वृद्धोंके प्रिय आप, सन्देहकी बातें उनसे पूछा करते हैं ॥३॥ जिस प्रकार मृत्यु है उसी प्रकार जीवन है और जिस प्रकार अभाव है उसी प्रकार भाव है, जो इस प्रकारकी बुद्धि रखता है, उसके दुःखी होनेका कारण ही क्या है ॥४॥ जिसको समस्त तत्वोंका ज्ञान होगा, जैसे कि आप, वही दुःख होनेपर विषाद नहीं कर सकता ॥५॥ हे देवसमान रामचन्द्र, आप सत्वगुण युक्त,

न त्वामेवंगुणैर्युक्तं प्रभवाभवकोविदम् । अविषह्यतमं दुःखमासादयितुमर्हति ॥ ७ ॥
प्रोषिते मयि यत्पापं मात्रा मत्कारणात्कृतम् । क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान्मम ॥ ८ ॥
धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम् । हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम्॥ ६ ॥
कथं दशरथाज्जातः शुभाभिजनकर्मणः । जानन्धर्ममधर्मं च कुर्यां कर्म जुगुप्सितम् ॥१०॥
गुरुः क्रियावान्वृद्धश्च राजा प्रेतः पितेति च । तातं न परिगर्हेऽहं दैवतं चेति संसदि ॥११॥
को हि धर्मार्थयोर्हीनमीदृशं कर्म किल्बिषम् । स्त्रियः प्रियचिकीर्षुः सन्कुर्याद्धर्मज्ञ धर्मवित् ॥१२॥
अन्तकाले हि भूतानि मुह्यन्तीति पुरा श्रुतिः । राज्ञैवं कुर्वता लोके प्रत्यक्षा सा श्रुतिः कृता ॥१३॥
साध्वर्थमभिसंधाय क्रोधान्मोहाच्च साहसात् । तातस्य यदतिक्रान्तं प्रत्याहरतु तद्भवान् ॥१४॥
पितुर्हि समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते । तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोऽन्यथा ॥१५॥
तदपत्यं भवानस्तु मा भवान्दुष्कृतं पितुः । अति यत्तत्कृतं कर्म लोके धीरविगर्हितम् ॥१६॥
कैकेयीं मां च तातं च सुहृदो बान्धवांश्च नः । पौरजानपदान्सर्वांस्त्रातुं सर्वमिदं भवान् ॥१७॥
क चारण्यं क च क्षात्रं क जटाः क च पालनम् । ईदृशं व्याहतं कर्म न भवान्कर्तुमर्हति ॥१८॥
एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम् । येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम् ॥१६॥

महात्मा, सत्यप्रतिज्ञ, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता और बुद्धिमान हैं ॥६॥ ऐसे गुणोंसे युक्त, जन्म मृत्युके रहस्य जाननेवाले आपको, औरोंके द्वारा न सहने योग्य दुःख नहीं होता ॥७॥ बाहर रहनेपर मेरे लिए मेरी क्षुद्र माताने जो मेरा अनिष्ट किया है, उसके लिए मुझे आप क्षमा करें ॥८॥ मैं धर्मबन्धनसे बँधा हूँ, इसी कारण इस माताको—पाप करनेवाली, अतएव दण्ड पानेकी अधिकारिणी माताको कठोर दण्डसे नहीं मारता ॥९॥ उत्तमकुल और पुण्यकर्म करनेवाले दसरथसे उत्पन्न और धर्माधर्मका जाननेवाला मैं ऐसा निन्दित कर्म कैसे करूँगा ॥१०॥ वे हमारे गुरु, यज्ञ आदि करनेवाले राजा और पिता दसरथ इस समय परलोकवासी हो गये हैं । इस सभामें उनकी निन्दा नहीं करता, क्योंकि वे हमारे देवता हैं ॥११॥ स्त्रीको प्रसन्न करनेके लिए, इस प्रकारका पाप और निन्दित कर्म, धर्म और अर्थसे हीन, कौन धर्म जाननेवाला मनुष्य कर सकता है ॥१२॥ अन्तकालमें मनुष्यकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, यह बात प्राचीन श्रुति कहती है, इस प्रकारका काम करके राजाने उस श्रुतिको सत्य बना दिया ॥१३॥ केकयीके भयसे, चित्तके चांचल्यसे अथवा अज्ञानसे, उचित समझकर जो पिताने धर्मका अतिक्रम किया है, आप उसका संशोधन करें ॥१४॥ पिताकी गलतियोंका संशोधन जो पुत्र करता है, वही पुत्र, पुत्र है । इसके विपरीत करनेवाला पुत्र अच्छा नहीं समझा जाता ॥१५॥ आप पिताके उत्तम पुत्र बनें, आप पिताके पापोंका समर्थन न करें । पिताने जो यह कर्म किया है, वह धर्म और लोकसे निन्दित है ॥१६॥ केकयी मैं, पिता, मित्रों, बान्धवों, और पुरवासियों इन सबकी रक्षा आप ही कर सकते हैं ॥१७॥ कहाँ अरण्यका वास और कहाँ क्षात्रधर्म, कहाँ जटा धारण और कहाँ राज्य पालन, इस प्रकार परस्पर विरोधी बातें आपको नहीं करनी चाहिएँ ॥१८॥ महाप्राज्ञ, क्षत्रियका यह पहला धर्म है कि उसका अभिषेक हो जिससे वह प्रजाका पालन

कथं प्रत्यक्षमुत्सृज्य संशयस्थमलक्षणम् । आयतिस्थं चरेद्धर्मं क्षत्रबन्धुरनिश्चितम् ॥२०॥
अथ क्लेशजमेव त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि । धर्मेण चतुरो वर्णान्पालयन्क्लेशमाप्नुहि ॥२१॥
चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम् । आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमिच्छसि ॥२२॥
श्रुतेन बालः स्थानेन जन्मना भवतो ह्यहम् । स कथं पालयिष्यामि भूमिं भवति तिष्ठति ॥२३॥
हीनबुद्धिगुणो बालो हीनस्थानेन चाप्यहम् । भवता च विनाभूतो न वर्तयितुमुत्सहे ॥२४॥
इदं निखिलमप्यग्र्यं राज्यं पित्र्यमकण्टकम् । अनुसाधि स्वधर्मेण धर्मज्ञः सह बान्धवैः ॥२५॥
इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह । ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रविन्मन्त्रकोविदाः ॥२६॥
अभिषिक्तस्त्वमस्माभिरयोध्यां पालने व्रज । विजित्य तरसा लोकान्मरुद्भिरिव वासवः ॥२७॥
ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन्दुर्हृदः साधु निर्दहन् । सुहृदस्तर्पयन्कामैस्त्वमेवात्रानुशाधि माम् ॥२८॥
अद्यार्य मुदिताः सन्तु सुहृदस्तेऽभिषेचने । अद्य भीताः पलायन्तु दुष्प्रदास्ते दिशो दश ॥२९॥
आक्रोशं मम मातुश्च प्रमृज्य पुरुषर्षभः । अद्य तत्रभवन्तं च पितरं रक्ष किल्बिषात् ॥३०॥
शिरसा त्वाभियाचेऽहं कुरुष्व करुणां मयि । बान्धवेषु च सर्वेषु भूतेष्विव महेश्वरः ॥३१॥
अथवा पृष्ठतः कृत्वा वनमेव भवानितः । गमिष्यति गमिष्यामि भवता सार्धमप्यहम् ॥३२॥

कर सके ॥१९॥ लोक और धर्मसे सम्मत इस प्रजापालनरूप प्रत्यक्ष धर्मको छोड़कर कौन क्षत्रिय उत्तर-कालमें होनेवाले, सन्देहास्पद, लक्षणहीन, अतएव अनिश्चित धर्मका पालन करेगा ॥२०॥ यदि आप कष्ट करके ही धर्मका पालन करना चाहते हों, तो चारों वर्णोंका पालन करके कष्ट उठाइए ॥२१॥ हे धर्मज्ञ धर्म जाननेवाले, चारों आश्रमोंमें गृहस्थ आश्रमको ही श्रेष्ठ कहते हैं, फिर आप उसका त्याग करना क्यों चाहते हैं ॥२२॥ मैं ज्ञानसे, स्थानसे आपसे छोटा हूँ, आपके रहते मैं पृथिवीका पालन कैसे करूँगा ॥२३॥ मैं हीनबुद्धि और छोटे स्थानपर स्थित, अतएव बालक, आपके बिना जी भी नहीं सकता ॥२४॥ पिताका इस शत्रुहीन और श्रेष्ठ राज्यका अपने बान्धवोंके साथ आप धर्मपूर्वक पालन करें ॥२५॥ मन्त्र जाननेवाले वसिष्ठ आदि सभी ऋत्विज तथा सब प्रजा यहीं आपका अभिषेक करें ॥२६॥ हम लोगोंके द्वारा अभिषिक्त होनेपर शीघ्रतापूर्वक लोकको जीतकर देवसहित इन्द्रके समान पालन करनेके लिए आप अयोध्या चलें ॥२७॥ देवता, ऋषि और पितर, इनके ऋणोंको दूर करते हुए, दुष्टोंका शासन करते हुए और मित्रोंका मनोरथ पूर्ण करते हुए, अयोध्यामें आप मुझे शिक्षा दें ॥२८॥ आर्य, आपके अभिषेक करनेके लिए आप अपने मित्रोंको प्रसन्न होने दीजिए और दुःख देनेकी इच्छा रखनेवाले डरकर दिशाओंमें भाग जायँ ॥२९॥ मेरा और मेरी माताका लोकापवाद दूर कीजिए और पूज्य पिताकी भी पापसे रक्षा कीजिए ॥३०॥ मैं सिर झुकाकर आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझपर और समस्त बान्धवोंपर कृपा करें, जिस प्रकार विष्णु प्राणियोंपर कृपा करते हैं ॥३१॥ यदि आप मेरी प्रार्थना न मानकर यहाँसे भी

तथाभिरामो भरतेन ताभ्यता प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः ।
न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्मतिं पितुस्तद्वचने प्रतिष्ठितः ॥३३॥
तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे समं जनो हर्षमवाप दुःखितः ।
न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ॥३४॥
तमृत्विजो नैगमयूथवल्लभास्तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः ।
तथा ब्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः प्रणम्य रामं च ययाचिरे सह ॥३५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडुत्तरशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

सप्तोत्तरशततमः सर्गः १०७

पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः । प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्ज्ञातिमध्ये सुसत्कृतः ॥ १ ॥
उपपन्नमिदं वाक्यं यत्त्वमेवमभाषथाः । जातः पुत्रो दशरथात्कैकेय्यां राजसत्तमात् ॥ २ ॥
पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन् । मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥ ३ ॥
देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः । संप्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः ॥ ४ ॥
ततः सा संप्रतिश्राव्य तव माता यशस्विनी । अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौ वरौ वरवर्णिनी ॥ ५ ॥
तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा । तच्च राजा तथा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरम् ॥ ६ ॥

वनमें ही जायँगे तो मैं भी आपके साथ वनमें चलूँगा ॥३२॥ इस प्रकार व्याकुल भरतने सिर झुका रामचन्द्रको प्रसन्न करना चाहा । फिर भी पिताकी आज्ञापालन करनेके लिए निश्चितबुद्धि रखनेवाले और सत्यवान् रामचन्द्रने जानेकी इच्छा नहीं की ॥३३॥ रामचन्द्रका वह अद्भुत स्थैर्य देखकर, वह दुःखी जनसमूह प्रसन्न हुआ । रामचन्द्र अयोध्या नहीं जा रहे हैं इस कारण दुखी हुआ, अपनी प्रतिज्ञापर अटल हैं इस कारण प्रसन्न हुआ ॥३४॥ ऋत्विक्, नगरवासी, मन्त्री, गणके प्रतिनिधि तथा संज्ञाहीन और रोती हुई माताओंने इस प्रकार बोलनेवाले भरतकी प्रशंसा की और रामचन्द्रको प्रणामकर तथा आशीर्वाद देकर अयोध्या चलनेकी प्रार्थना की ॥३५॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ छठवाँ सर्ग समाप्त ॥ १०६ ॥

ज्ञातिमें सम्मानित रामचन्द्र, भरतके इस प्रकार कहनेके अनन्तर, पुनः इस प्रकार बोले ॥१॥ राजश्रेष्ठ, दसरथसे उत्पन्न तुम केकयीके पुत्र हो । जो बातें तुमने कहीं हैं, उचित हैं ॥२॥ भाई, पहले मेरे पिताने जब तुम्हारी मातासे विवाह किया, उस समय उन्होंने तुम्हारे नानासे राज्य देनेकी प्रतिज्ञा की, अर्थात् तुम्हारी कन्याके जो पुत्र होगा वही राज्य पावेगा ॥३॥ देवासुर संग्राममें तुम्हारी माताके द्वारा आराधित होकर प्रसन्न राजा दसरथने इन्हें वर दिया था ॥४॥ इस बातका स्मरण कराकर तुम्हारी यशस्विनी माताने नरश्रेष्ठ राजासे दो वर माँगे ॥५॥ तुम्हारे लिए राज्य और मेरे लिए वनवास ।

तेन पित्रहमप्यत्र नियुक्तः पुरुषर्षभ । चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम् ॥ ७ ॥
सोऽहं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः । सीतया चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः ॥ ८ ॥
भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम् । कर्तुमर्हसि राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषिञ्चनात् ॥ ९ ॥
ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम् । पितरं त्राहि धर्मज्ञ मातरं चाभिनन्दय ॥१०॥
श्रूयते धीमता तात श्रुतिर्गीता यशस्विना । गयेन यजमानेन गयेष्वेव पितॄन्प्रति ॥११॥
पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन्यः पाति सर्वतः ॥१२॥
एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः । तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्गयां व्रजेत् ॥१३॥
एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता रघुनन्दन । तस्मात्त्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात्प्रभो ॥१४॥
अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरुपरञ्जय । शत्रुघ्नसहितो वीर सह सर्वैर्द्विजातिभिः ॥१५॥
प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यविलम्बयन् । आभ्यां तु सहितो वीर वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥१६॥

त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां वन्यानामहमपि राजराण्मृगाणाम् ।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य संप्रहृष्टः संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान्प्रवेक्ष्ये ॥१७॥
छायान्ते दिनकरभाः प्रबाधमानं वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम् ।
एतेषामहमपि काननद्रुमाणां छायां तामतिशयनीं शनैः श्रयिष्ये ॥१८॥

राजाने इन्हें दो वर दिये, क्योंकि वे प्रतिज्ञासे बद्ध थे ॥६॥ उस पिताने उसी वरके अनुसार चौदह वर्षोंतक वनवास करनेके लिए मुझे यहाँ भेजा ॥७॥ इसी कारण लक्ष्मण और सीताके साथ मैं निर्जन वनमें आया हूँ, मैं पिताके सत्यपर स्थित हूँ। और शोक-मोह, सर्दी-गर्मी आदिका मुझे कोई कष्ट नहीं है ॥८॥ आप भी इसी प्रकार शीघ्र राज्याभिषेक कराकर पिताको सत्यवादी बनावें ॥९॥ भरत, मेरे लिए तुम राजाको ऋणमुक्त करो, पिताकी रक्षा करो और माताको प्रसन्न ॥१०॥ गया प्रदेशमें यशस्वी और बुद्धिमान गयने यज्ञ करते हुए एक श्रुति अपने पितरोंसे कही है ॥११॥ पुंनामक नरकसे पितरोंकी वह रक्षा करता है, इसी कारण वह पुत्र कहा जाता है। क्योंकि पितरोंकी सब प्रकारसे वह रक्षा करता है ॥१२॥ गुणी और ज्ञानी बहुत पुत्र प्राप्त होनेकी इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि सम्भव है कि उनमेंसे कोई एक गया चला जाय ॥१३॥ सभी राजर्षि इस विषयमें विश्वास रखते हैं, अतएव हे नरश्रेष्ठ, रघुनन्दन, तुम नरकसे—लोकापवादसे, पिताकी रक्षा करो ॥१४॥ हे वीर शत्रुघ्न तथा सब द्विजातियोंके साथ तुम अयोध्या जाओ और प्रजाका पालन करो ॥१५॥ मैं इन लक्ष्मण और सीताके साथ दण्डकारण्यमें प्रवेश करूँगा ॥१६॥ भरत, तुम स्वयं मनुष्योंके राजा बनो, मैं जङ्गली पशुओंका राजा हूँ। तुम प्रसन्न होकर शीघ्र अयोध्या जाओ और मैं भी प्रसन्नतापूर्वक दण्डकारण्यमें प्रवेश करता हूँ ॥१७॥ सूर्यकी किरणोंको छिपा देनेवाला, राजछत्र तुम्हारे ऊपर ठण्ढी छाया करे, इन जङ्गली वृक्षोंकी

शत्रुघ्नस्त्वतुलमतिस्तु ते सहायः सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम् ।
चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं सत्यस्थं भरत चराम मा विषीद ॥१९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥१०७॥

अष्टोत्तरशततमः सर्गः १०८

आश्वासयन्तं भरतं जाबालिर्ब्राह्मणोत्तमः । उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मापेतमिदं वचः ॥ १ ॥
साधु राघव मा भूत्ते बुद्धिरेवं निरर्थिका । प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेस्तपस्विनः ॥ २ ॥
कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित् । एको हि जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ॥ ३ ॥
तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः । उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित् ॥ ४ ॥
यथा ग्रामान्तरं गच्छन्नरः कश्चिद्बहिर्वसेत् । उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि ॥ ५ ॥
एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु । आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः ॥ ६ ॥
पित्र्यं राज्यं समुत्सृज्य स नार्हसि नरोत्तम । आस्थातुं कापथं दुःखं विषमं बहुकण्टकम् ॥ ७ ॥
समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिषेचय । एकवेणीधरा हि त्वां नगरी संप्रतीक्षते ॥ ८ ॥
राजभोगाननुभवन्महार्हान्पार्थिवात्मज । विहर त्वमयोध्यायां यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥
न ते कश्चिद्दशरथस्त्वं च तस्य न कश्चन । अन्यो राजा त्वमन्यस्तु तस्मात्कुरु यदुच्यते ॥१०॥

अतिसघन छायाका मैं भी आश्रय करूँगा ॥१८॥ अतुलमति शत्रुघ्न तुम्हारा सहायक है और लक्ष्मण मेरे प्रधान मित्र प्रसिद्ध ही हैं. हम चारों पुत्र राजाके सत्यकी रक्षा करें । भरत, तुम दुःख मत करो ॥१९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ १०७ ॥

ब्राह्मणश्रेष्ठ जाबालि भरतको समझाते हुए, धर्मज्ञ रामचन्द्रसे धर्मविरुद्ध यह वचन बोले ॥१॥ रामचन्द्र आप श्रेष्ठ बुद्धिवाले तपस्वी हैं । अतएव ऐसी अर्थहीन बुद्धि आपकी नहीं होनी चाहिए ॥२॥ कौन किसका बन्धु है, किसको किससे क्या पाना है ? मनुष्य अकेला उत्पन्न होता है और अकेला नष्ट होता है ॥३॥ अतएव माता-पिता समझकर जो मनुष्य व्यक्ति विशेषमें प्रेम करता है, उसे उन्मत्त ही समझना चाहिए, क्योंकि कोई किसीका नहीं है ॥४॥ जिस प्रकार दूसरे गाँवमें जाता हुआ कोई मनुष्य बाहर थोड़ी देर विश्राम करता है और दूसरे दिन उस स्थानको छोड़कर चला जाता है, इसी प्रकार मनुष्योंके पिता, माता, घर, धन केवल रहनेके स्थान हैं, इनमें सज्जन लोग अनुराग नहीं करते ॥५-६॥ पिताका राज्य छोड़कर कटीला, विषम, दुखदायी इस कुपथका आश्रय ग्रहण तुम्हें नहीं करना चाहिए ॥७॥ समृद्ध अयोध्याके राज्यपर अपना अभिषेक कराओ । तुम्हारे अभावमें विरहिणीका धर्म पालन करती हुई अयोध्या नगरी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है ॥८॥ श्रेष्ठ राजभोगोंका अनुभव करते हुए तुम अयोध्यामें विहार करो, जिस प्रकार इन्द्र स्वर्गमें विहार करता है ॥९॥ दसरथ तुम्हारे कोई नहीं थे और

बीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्रं शोणितमेव च । संयुक्तमृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत् ॥११॥
गतः सनृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै । प्रवृत्तिरेषा भूतानां त्वं तु मिथ्या विहन्यसे ॥१२॥
अर्थधर्मपरा ये ये तांस्ताञ्शोचामि नेतरान् । ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य लेभिरे ॥१३॥
अष्टकापितृदेवत्यमित्ययं प्रसृतो जनः । अन्नस्योपद्रवं पश्य मृतो हि किमशिष्यति ॥१४॥
यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्येन गच्छति । दद्यात्प्रवसतां श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत् ॥१५॥
दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः कृताः । यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व संत्यज ॥१६॥
स नास्ति परमित्येतत्कुरु बुद्धिं महामते । प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥१७॥
सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम् । राज्यं स त्वं निगृह्णीष्व भरतेन प्रसादितः ॥१८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०८ ॥

नवोत्तरशततमः सर्गः १०९

जाबालेस्तु वचः श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः । उवाच परया सूक्त्या बुद्ध्या विप्रतिपन्नया ॥ १ ॥
भवान्मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान् । अकार्यं कार्यसंकाशमपथ्यं पथ्यसंनिभम् ॥ २ ॥

तुम भी दसरथके कोई नहीं थे। राजा दूसरे थे और तुम भी दूसरे हो। इस कारण जो मैं कहता हूँ वह तुम करो ॥१०॥ पिता प्राणियोंका केवल निमित्त कारण है, ऋतुमती माताके गर्भमें शुक्र और शोणितके मिलनेसे पुरुषका जन्म होता है ॥११॥ जहाँ राजा गये हैं, वहीं तुमको भी जाना पड़ेगा, यही प्राणियोंका स्वभाव है, तुम व्यर्थ ही राजधर्मके पालनरूप पुरुषार्थको छोड़ रहे हो ॥१२॥ प्रत्यक्ष अर्थको छोड़कर जो लोग धर्मका आश्रय करते हैं, मैं उन्हींके लिए शोक करता हूँ, दूसरोंके लिए नहीं, क्योंकि वे इस लोकमें दुःख उठाकर परलोकमें नष्ट हो जाते हैं ॥१३॥ पितरोंके उद्देश्यसे लोकमें श्राद्ध करनेका जो विधान प्रचलित है, उसमें केवल अन्नका नाश किया जाता है; क्योंकि मरा हुआ मनुष्य कैसे खा सकता है ॥१४॥ यदि दूसरेका खाया हुआ अन्न दूसरेके शरीरमें जाता हो तो प्रवासमें जानेवालोंका भी श्राद्ध किया जाय, जिसमें उन्हें रास्तेमें भोजन मिले ॥१५॥ यज्ञ करो, दान दो, यज्ञके लिए दीक्षा लो, तपस्या करो, संन्यास लो इत्यादि बतलानेवाले ग्रन्थ बुद्धिमानोंने दान करानेके लिये बनाए हैं ॥१६॥ महामते, इस लोकके अतिरिक्त दूसरा लोक नहीं है यह तुम समझो। जो प्रत्यक्ष है उसीका तुम समझो और जो परोक्ष है उसका त्याग करो ॥१७॥ सज्जनोंकी सलाह मानकर तुम राज्य ग्रहण करो। भरत तुम्हें मना रहा है। यही सबको इष्ट है ॥१८॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एकसौ आठवाँ सर्ग समाप्त ॥ १०८ ॥

जाबालिके वचन सुनकर सत्यानुरागी रामचन्द्रने उनके विरोधमें वेदानुसार ये वचन कहे ॥१॥ मेरे प्रिय करनेकी इच्छासे जो बातें आपने कहीं हैं वे अकार्य हैं—करनेके अयोग्य हैं, पर कार्यके करने योग्यके

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः। मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥ ३ ॥
कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम्। चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम्॥४॥
अनार्यस्त्वार्यसंस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः। लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव ॥ ५ ॥
अधर्मं धर्मवेषेण यद्यहं लोकसंकरम्। अभिपत्स्ये शुभं हित्वा क्रियां विधिविवर्जिताम्॥६॥
कश्चेतयानः पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः। बहु मन्येत मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम् ॥ ७ ॥
कस्य यास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम्। अनया वर्तमानोऽहं वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥ ८ ॥
कामवृत्तोऽन्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते। यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ९
सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्। तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकःप्रतिष्ठितः।१०।
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे। सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन्परं गच्छति चाक्षयम्।११।
उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः। धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ॥१२॥
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः। सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥१३॥

समान मालूम होती हैं। वे अहितकारी हैं पर हितकारीके समान मालूम पड़ती हैं ॥२॥ जिस पुरुषने वेद-मार्गका त्याग कर दिया है और वेद बहिर्भूत मार्गका अवलम्बन किया है, वह पापी है और सज्जनोंमें उसकी प्रतिष्ठा नहीं होती ॥३॥ चरित्र ही—वेद मर्यादाका पालन ही, मनुष्यकी कुलीनता और अकुलीनता, पवित्रता और अपवित्रता, वीरता और कायरता बतलाता है ॥४॥ आपके बतलाये मार्गसे चलनेवाला मनुष्य, अनार्य होकर भी आर्यके समान मालूम हो सकता है शुद्धिसे हीन होकर भी शुद्धके समान, लक्षणोंसे हीन होकर भी लक्षणयुक्तके समान, दुःशील होकर भी सुशीलके समान मालूम हो सकता है ॥५॥ लोकमें संकर उत्पन्न करनेवाले, इस धर्मविरुद्ध आपके उपदेशको, यदि धर्म समझकर हम ग्रहण करें तो वेदबोधित मङ्गल कर्मोंको छोड़कर, वेदविरुद्ध क्रियाओंके करनेवाले हम होंगे ॥६॥ कार्याकार्यका ज्ञान रखनेवाला कौन चेतन पुरुष, वेदविरुद्ध कार्य करनेवाले और लोकको दूषित करनेवाले मुझको अच्छा समझेगा ॥७॥ आपके बतलाये इस मार्गसे—जिसमें प्रतिज्ञाका कोई मूल्य नहीं, चलने-पर मैं किन साधनोंके द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर सकूँगा अथवा किसके आचरणका अनुकरण करूँगा, क्योंकि मेरे पूर्व पुरुषोंमें ऐसा आचरण किसीका भी नहीं था ॥८॥ आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेपर मैं स्वयं यथेच्छाचारी हो जाऊँगा। तदनन्तर यह समस्त लोक यथेच्छाचारी हो जायगा क्योंकि राजाका जैसा व्यवहार होता है, वैसा ही प्रजाका व्यवहार हो जाता है ॥९॥ प्राणियोंपर दया करनेवाला, सनातन राजधर्म सत्य ही है। इसलिए राज्य सत्यस्वरूप कहा जाता है और लोक भी सत्यकी प्राप्तिमें प्रयत्नशील रहते हैं ॥१०॥ ऋषि और देवता सत्यको ही कल्याणप्रद समझते हैं, सत्य इसी लोकमें मनुष्यको अक्षय ब्रह्मलोक प्राप्त कराता है ॥११॥ झूठे मनुष्यसे लोग वैसे ही भयभीत होते हैं, जैसे सर्पसे। लोकमें धर्मकी पूर्ति सत्यसे ही होती है। अतएव सत्य सबका मूल कहा जाता है ॥१२॥ सत्य ही ईश्वर है, सज्जनोंके द्वारा आश्रित धर्म सत्य—(ईश्वर) में वर्तमान है। यह समस्त संसारका मूल—ईश्वर ही है, अतएव सत्यसे बढ़कर दूसरा श्रेष्ठ

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च । वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत् ॥१४॥
एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् । मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते ॥१५॥
सोऽहं पितुर्निदेशं तु किमर्थं नानुपालये । सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतम् ॥१६॥
नैव लोभान्न मोहाद्वा न चाज्ञानात्तमोन्वितः । सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः ॥१७॥
असत्यसंधस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः । नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ॥१८॥
प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम् । भारः सत्पुरुषैश्चीर्णस्तदर्थमभिनन्द्यते ॥१९॥
क्षात्रं धर्ममहं त्यक्ष्ये ह्यधर्मं धर्मसंहितम् । क्षुद्रैर्नृशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः ॥२०॥
कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य तत् । अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम् ॥२१॥
भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि । सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत्ततः ॥२२॥
श्रेष्ठं ह्यनार्यमेव स्याद्यद्भवानवधार्य माम् । आह युक्तिकरैर्वाक्यैरिदं भद्रं कुरुष्व ह ॥२३॥
कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरोः । भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः ॥२४॥
स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसंनिधौ । प्रहृष्टमानसा देवी कैकेयी चाभवत्तदा ॥२५॥

पद नहीं है ॥१३॥ दान, यज्ञ, हवन, तपस्या, वेद, इन सबोंका मूल सत्य ही है, अतएव मनुष्यको सत्यपरायण होना चाहिये ॥१४॥ कोई राजा राज्यका पालन करता है, और कोई अपने ही कुलका पालन करता है, एक नरकमें डूबता और दूसरा स्वर्गमें पूजित होता है ॥१५॥ फिर मैं अपने पिताका आज्ञा-पालन क्यों न करूँ, क्योंकि मेरे पिता सत्यप्रतिज्ञ थे । वे सदाचारी थे, अतएव सत्य परिपालनके द्वारा सत्यकी ही मुझे उन्होंने आज्ञा दी है ॥१६॥ लोभ, मोह या अज्ञान रूप तुम्हारे द्वारा प्रेरित होनेपर भी सेतुके समान पिताके सत्यका त्याग नहीं करूँगा, क्योंकि मैं सत्यप्रतिज्ञ हूँ ॥१७॥ मैंने सुना है कि जो मनुष्य अपनी प्रतिज्ञाका पालन नहीं करता है, वह धर्मच्युत चंचल मनुष्य, यदि देवता और पितरको हव्य कव्य दे तो वे ग्रहण नहीं करते ॥१८॥ जीवके लिए प्रवृत्त इस सत्यरूप धर्मको मैं सब धर्मोंमें श्रेष्ठ समझता हूँ । सज्जनोंने जटा आदिका धारण किया है, अतएव मैं भी धारण करता हूँ ॥१९॥ धर्मके समान मालूम होनेवाला—वस्तुतः अधर्म, क्षुद्र, क्रूर, लोभी, और पापियोंके द्वारा सेवित ऐसे क्षात्रधर्मका भी मैं त्याग करूँगा ॥२०॥ मनुष्य मनमें पाप करनेका विचार करता है, पुनः उस पाप कर्मको कर्तव्य समझकर जिह्वासे कहता है, तदनन्तर शरीरसे करता है । अतएव पाप कर्म तीन प्रकारके होते हैं ॥२१॥ भूमि, कीर्ति, यश, और लक्ष्मी, सत्यवादी पुरुषको प्राप्त करनेकी प्रार्थना करते हैं । महान् पुरुष सत्यकी ही सेवा करते हैं, इस कारण सत्यका ही आश्रय करना चाहिए ॥२२॥ युक्तिप्रधान वाक्योंसे 'यह राज्य तुम्हारे लिए कल्याण-कारी है, इसका पालन करो,' यह आपने उत्तम समझकर जो मेरे लिए उपदेश दिया है वह अनार्य है, निन्दित है ॥२३॥ पिताके सामने वनवासकी प्रतिज्ञा करके कैसे मैं भरतकी बात मानूँ ॥२४॥ मैंने पिताके समीप जो प्रतिज्ञा की है वह दृढ़ प्रतिज्ञा है । उस समय देवि केकयी, मेरी प्रतिज्ञासे प्रसन्न हुई थीं ॥२५॥

वनवासं वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः । मूलपुष्पफलैः पुण्यैः पितृन्देवांश्च तर्पयन् ॥२६॥
संतुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां प्रवाहये । अकुहः श्रद्दधानः सन्कार्याकार्यविचक्षणः ॥२७॥
कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम् । अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः ॥२८॥
शतं क्रतूनामाहृत्य देवराट् त्रिदिवं गतः । तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं प्राप्ता महर्षयः ॥२९॥

अमृष्यमाणः पुनरुग्रतेजा निशम्य तन्नास्तिकवाक्यहेतुम् ।
अथाब्रवीत्तं नृपतेस्तनूजो विगर्हमाणो वचनानि तस्य ॥३०॥
सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥३१॥
तेनैवमाज्ञाय यथावदर्थमेकोदयं संप्रतिपद्य विप्राः ।
धर्मं चरन्तः सकलं यथावत्काङ्क्षन्ति लोकागममप्रमत्ताः ॥३२॥
निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्यस्त्वामगृह्णाद्विषमस्थबुद्धिम् ।
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ॥३३॥
यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि ।
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां स नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात् ॥३४॥
त्वत्तो जनाः पूर्वतरे द्विजाश्च शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः ।
छित्वा सदेमं च परं च लोकं तस्माद्द्विजाः स्वस्ति कृतं हुतं च ॥३५॥

मैं वनवास करूँगा, शुद्धतापूर्वक नियमित भोजन करूँगा, पवित्र मूल, पुष्प, फलोंसे पितरों और देवताओंको तृप्त करूँगा ॥२६॥ इस प्रकार अपनी पाँचों इन्द्रियोंको सन्तुष्ट रखता हुआ समय बिताऊँगा। कपट छोड़कर श्रद्धापूर्वक कर्तव्याकर्तव्यका निश्चय करके अपने कुलकी मर्यादाका पालन करूँगा ॥२७॥ इस कर्मभूमिमें आकर जो पुण्य कर्म हैं, उनका अनुष्ठान करना चाहिए। अग्नि, वायु और चन्द्रमा उन कर्मोंके फलभागी होते हैं ॥२८॥ सौ यज्ञोंको करके देवराज स्वर्ग गये। कठोर तपस्या करके महर्षियोंने स्वर्ग प्राप्त किया ॥२९॥ उग्रतेजा राजपुत्र राम जाबालिके नास्तिक हेतुवादको सुनकर उसे नहीं सह सके। उसके वचनोंकी निन्दा करते हुए वे पुनः उससे बोले ॥३०॥ सत्य, धर्म, पराक्रम, प्राणियोंपर, दया, प्रियवादिता द्विजाति, देवता और अतिथियोंका पूजन, इनको सज्जन स्वर्गका मार्ग बतलाते हैं ॥३१॥ इस कारण ब्राह्मण इस अभिप्रायको ठीक-ठीक समझकर एक मत होकर अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुकूल, धर्मका पालन करते हैं और इससे अपने स्वर्गलोककी प्राप्तिकी कामना करते हैं ॥३२॥ इस प्रकार चार्वाक मतके अनुकूल बुद्धि रखकर संसारके नाशके लिए भ्रमण करनेवाले और वेद-विरुद्ध मार्गमें श्रद्धा रखनेवाले, नास्तिक आपको जो मेरे पिताने याजक बनाया, मैं पिताके इस कार्यकी निन्दा करता हूँ; क्योंकि आप वैदिक धर्मसे च्युत हैं ॥३३॥ जैसा चोर दण्डनीय है वैसा ही यह बुद्ध भी। लोकायतिक और नास्तिकको भी वैसा ही समझो। प्रजाओंमें जो समर्थ हो अर्थात् इनको दण्ड न दे सके, वही विद्वान् इन नास्तिकोंके सामने जाय ॥३४॥ पहलेके ब्राह्मण तुमसे श्रेष्ठ थे, उन लोगोंने अनेक पुण्य कर्म किये, इस

धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥३६॥
इति ब्रुवतं वचनं सदोषं रामं महात्मानमदीनसत्वम् ।
उवाच पथ्यं पुनरास्तिकं च सत्यं वचः सानुनयं च विप्रः ॥३७॥
न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं न नास्तिकोऽहं न चास्ति किंचन ।
समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽभवं भवेय काले पुनरेव नास्तिकः ॥३८॥
स चापि कालोऽयमुपागतः शनैर्यथा मया नास्तिकवागुदीरिता ।
निवर्तनार्थं तव राम कारणात्प्रसादनार्थं च मयैतदीरितम् ॥३९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

दशोत्तरशततमः सर्गः ११०

क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह । जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम् ॥ १ ॥
निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद्वाक्यमब्रवीत् । इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे ॥ २ ॥
सर्वं सलिलमेवासीत्पृथिवी तत्र निर्मिता । ततः समभवद्ब्रह्मा स्वयंभूर्दैवतैः सह ॥ ३ ॥

लोक परलोककी कामना छोड़कर उन ब्राह्मणोंने जो अहिंसा, सत्य, तप, दान, उपकार आदि किये वह सब वेदकी आज्ञा होनेके ही कारण ॥३५॥ धर्माचरण करनेवाले, सज्जनोंके साथ रहनेवाले, दानी, अहिंसक तथा निष्पाप मुनि लोकमें पूजित होते हैं और वे प्रधान समझे जाते हैं ॥३६॥ दीनताशून्य, महात्मा रामचन्द्रके क्रोधपूर्वक ऐसा वचन बोलनेपर वे ब्राह्मण पुनः अनुनयपूर्वक आस्तिक और सत्य वचन बोले ॥३७॥ मैं नास्तिकोंकी बात बोल रहा हूँ, मैं नास्तिक नहीं हूँ, क्योंकि परलोकादिक नहीं है यह बात नहीं है । समय देखकर मैं पुनः आस्तिक हो गया और समयपर फिर नास्तिक हो जाऊँगा ॥३८॥ वह समय भी आया जब मैंने नास्तिकोंके समान बात कही, तुम्हारे लौटा ले जानेके लिए मैंने वह बात कही थी और अब तुमको प्रसन्न करनेके लिए आस्तिक वचन कह रहा हूँ ॥३९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ नवाँ सर्ग समाप्त ॥ १०९ ॥

रामचन्द्रको क्रुद्ध जानकर वसिष्ठ बोले—जाबालि भी इस लोकके जन्म-मरणकी बात जानते हैं ॥१॥ आपको लौटानेके लिए वह बात कही थी । हे लोकनाथ, मुझसे लोककी उत्पत्तिकी यह बात सुनो ॥२॥ पहले यह सब जल था, उसमें पृथिवी उत्पन्न हुई, तदनन्तर, इन्द्र आदि अधिष्ठाता देवताओंके साथ स्वयंभू

स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुंधराम् । असृजच्च जगत्सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥
आकाशप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः । तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः कश्यपः सुतः ॥ ५ ॥
विवस्वान्कश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्वयम् । सतु प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुस्तु मनोः सुतः ॥ ६ ॥
यस्येयं प्रथमं दत्ता समृद्धा मनुना मही । तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ ७ ॥
इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान्कुक्षिरित्येव विश्रुतः । कुक्षेरथात्मजो वीर विकुक्षिरुदपद्यत ॥ ८ ॥
विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान् । बाणस्य च महाबाहु नरण्यो महातपाः ॥ ९ ॥
नाऽनावृष्टिर्बभूवास्मिन्न दुर्भिक्षः सतां वरे । अनारण्ये महाराजे तस्करो वापि कश्चन ॥१०॥
अनरण्यान्महाराज पृथू राजा बभूव ह । तस्मात्पृथोर्महातेजास्त्रिशङ्कुरुदपद्यत ॥११॥
स सत्यवचनाद्वीरः सशरीरो दिवं गतः । त्रिशङ्कोरभवत्सूनुर्धुंधुमारो महायशाः ॥१२॥
धुंधुमारान्महातेजा युवनाश्वो व्यजायत । युवनाश्वसुतः श्रीमान्मांधाता समपद्यत ॥१३॥
मांधातुस्तु महातेजाः सुसंधिरुदपद्यत । सुसंधेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसंधिः प्रसेनजित् ॥१४॥
यशस्वी ध्रुवसंधेस्तु भरतो रिपुसूदनः । भरतात्तु महाबाहोरसितो नाम जायत ॥१५॥
यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः । हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशबिन्दवः ॥१६॥
तांस्तु सर्वान्प्रतिव्यूह्य युद्धे राजा प्रवासितः । स च शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥१७॥
द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः । तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥१८॥

ब्रह्मा उत्पन्न हुए ॥३॥ तदनन्तर, वे परब्रह्म वराहका रूप धरकर जलसे पृथिवीको निकाल लाये और प्रयत्नशील पुत्रोंके साथ इस जगतका निर्माण किया ॥४॥ आकाश-स्वरूप परब्रह्मसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए जो सदा वर्तमान रहनेवाले अविनाशी और सदा नित्य हैं। उनसे मरीचि उत्पन्न हुए और मरीचीके पुत्र कश्यप हुए ॥५॥ कश्यपसे विवस्वान् और विवस्वानसे मनु हुए। ये मनु पहले प्रजापति थे। मनुके पुत्र इक्ष्वाकु हुए ॥६॥ मनुने इक्ष्वाकुको यह धनपूर्ण पृथिवी दी। इक्ष्वाकु अयोध्याके पहले राजा हुए ॥७॥ इक्ष्वाकुके पुत्र प्रसिद्ध श्रीमान् कुक्षि हुए, कुक्षिके पुत्र वीर विकुक्षि हुए। विकुक्षिके पुत्र महातेजस्वी प्रतापी बाण हुए। बाणके पुत्र महातपस्वी अनरण्य हुए ॥८–९॥ अनरण्यके राज्यकालमें अवर्षण नहीं हुआ, दुर्भिक्ष नहीं हुआ और कोई चोर नहीं हुआ ॥१०॥ अनरण्यसे राजा पृथु उत्पन्न हुए और उनसे महातेजस्वी त्रिशंकु ॥११॥ विश्वामित्रकी सत्यप्रतिज्ञाके कारण इसी शरीरसे वे स्वर्गमें गये। त्रिशंकुके पुत्र महायशस्वी धुंधुमार हुए ॥१२॥ धुंधुमारसे महातेजस्वी युवनाश्व हुए और युवनाश्वके पुत्र श्रीमान् मान्धाता हुए ॥१३॥ मान्धाताके पुत्र महातेजस्वी सुसंधि उत्पन्न हुए, सुसंधिके दो पुत्र हुए ध्रुवसन्धि और प्रसेनजित् ॥१४॥ ध्रुवसन्धिके पुत्र रिपुसूदन भरत हुए और महाबाहु भरतसे असित उत्पन्न हुए ॥१५॥ असितसे हैहय, तालजंघ, सूर और ससविंदु ये चार राजा शत्रु उत्पन्न हुए ॥१६॥ असितने अपनी सेनासे उन राजाओंको युद्धमें घेर लिया, तो भी पराजयकी आशंकासे पिताने इन्हें वन भेज दिया। वे रमणीय पर्वतपर तत्पर होकर परमात्मचिंतन करने लगे ॥१७॥ सुना जाता है कि उनकी दो रानियाँ गर्भवती थीं। उनमें एकने,

ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षिणी पुत्रमुत्तमम् । एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै गरलं ददौ ॥१९॥
भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः । तमृषिं साभ्युपागम्य कालिंदी त्वभ्यवादयत् ॥२०॥
स तामभ्यवदत्प्रीतो वरेप्सुं पुत्रजन्मनि । पुत्रस्ते भविता देवि महात्मा लोकविश्रुतः ॥२१॥
धार्मिकश्च सुभीमश्च वंशकर्तारिसूदनः । श्रुत्वा प्रदक्षिणं कृत्वा मुनिं तमनुमान्य च ॥२२॥
पद्मपत्रसमानाक्षं पद्मगर्भसमप्रभम् । ततः सा गृहमागम्य पत्नी पुत्रमजायत ॥२३॥
सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया । गरेण सह तेनैव तस्मात्स सगरोऽभवत् ॥२४॥
स राजा सगरो नाम यः समुद्रामखानयत् । इष्ट्वा पर्वणि वेगेन त्रासयान इमाः प्रजाः ॥२५॥
असमञ्जस्तु पुत्रोऽभूत्सगरस्येति नः श्रुतम् । जीवन्नेव स पित्रा तु निरस्तः पापकर्मकृत् ॥२६॥
अंशुमानपि पुत्रोऽभूदसमञ्जस्य वीर्यवान् । दिलीपोंऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥२७॥
भगीरथात्ककुत्स्थश्च काकुत्स्था येन तु स्मृताः । काकुत्स्थस्य तु पुत्रोऽभूद्रघुर्येन तु राघवाः ॥२८॥
रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः । कल्माषपादः सौदास इत्येवं प्रथितो भुवि ॥२९॥
कल्माषपादपुत्रोऽभूच्छङ्खणस्त्विति नः श्रुतम् । यस्तु तद्वीर्यमासाद्य सहसैन्यो व्यनीनशत् ॥३०॥
शङ्खणस्य तु पुत्रोऽभूच्छूरः श्रीमान्सुदर्शनः । सुदर्शनस्याग्निवर्ण अग्निवर्णस्य शीघ्रगः ॥३१॥
शीघ्रगस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रशुश्रुवः । प्रशुश्रुवस्य पुत्रोऽभूदम्बरीषो महामतिः ॥३२॥

जो उत्तम पुत्र चाहती थी, देवताके समान तेजस्वी भार्गवच्यवनको प्रणाम किया, एकने गर्भनाश होनेके लिए अपनी सौतको विष दे दिया ॥१८, १९॥ भार्गवच्यवन, हिमवान् पर्वतपर वर्तमान थे, वहाँ जाकर कालिन्दीने उन्हें प्रणाम किया ॥१०॥ पुत्रजन्मका वर चाहनेवाली उससे प्रसन्न होकर मुनि बोले—देवि तुम्हारा पुत्र महात्मा लोकप्रसिद्ध होगा ॥२१॥ वह धार्मिक वंश बढ़ानेवाला, शत्रुओंको नष्ट करनेवाला होगा, यह सुनकर मुनिकी प्रदक्षिणा कर तथा उनसे आज्ञा लेकर वह राजपत्नी घर आयी और पद्मपत्रोंके समान विशालाक्ष पद्मगर्भके समान सुन्दर पुत्र उसने उत्पन्न किया ॥२२, २३॥ सपत्नीने उसके गर्भ नष्ट करनेके लिए उसे गर (विष) दिया था और उसी गर अर्थात् विषके साथ उत्पन्न हुआ इसी कारण उसका नाम सगर पड़ा ॥२४॥ ये वे ही राजा सगर हैं जिन्होंने समुद्र खुदवाए थे। ये अमावस्याके दिन यज्ञदीक्षा लेकर शीघ्रताजनितवेगसे प्रजाको भयभीत कर देते थे ॥२५॥ हम लगोंने सुना है कि सगरका पुत्र असमंज हुआ जो पापी था, अतएव जीते ही जी पिताने उसे निकाल दिया ॥२६॥ असमंजका पुत्र अंशुमान् हुआ जो पराक्रमी था। अंशुमानके पुत्र दिलीप और दिलीपके पुत्र भगीरथ हुए ॥२७॥ भगीरथके पुत्र ककुत्स्थ हुए, जिनसे तुम लोग काकुत्स्थ कहलाते हो। काकुत्स्थके पुत्र रघु हुए, जिनसे तुमलोग राघव कहे जाते हो ॥२८॥ रघुका पुत्र बड़ा तेजस्वी हुआ। जो प्रवृद्ध, पुरुषादक, कल्माषपाद और सौदास इन चार नामोंसे प्रसिद्ध हुआ ॥२९॥ कल्माषपादके पुत्र शंखण हुए, ऐसा हम लोगोंने सुना है कि जो वशिष्ठके शापसे राक्षस होकर अपनी सेनाके साथ नष्ट हो गया ॥३०॥ शंखणके पुत्र श्रीमान सुदर्शन हुए, सुदर्शन शूर थे। सुदर्शनके पुत्र अग्निवर्ण और अग्निवर्णके पुत्र शीघ्रग हुए ॥३१॥ शीघ्रगके पुत्र

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषः सत्यविक्रमः । नहुष्य च नाभागः पुत्रः परमधार्मिकः ॥३३॥
अजश्च सुव्रतश्चैव नाभागस्य सुतावुभौ । अजस्य चैव धर्मात्मा राजा दशरथः सुतः ॥३४॥
तस्य ज्येष्ठोऽसि दायादो राम इत्यभिविश्रुतः । तद्गृहाण स्वकं राज्यमवेक्षस्व जगन्नृप ॥३५॥
इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः । पूर्वजे नावरःपुत्रो ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ॥३६॥
स राघवाणां कुलधर्ममात्मनः सनातनं नाद्य विहन्तुमर्हसि ।
प्रभूतरत्नामनुशाधि मेदिनीं प्रभूतराष्ट्रां पितृवन्महायशाः ॥३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे दशोत्तरशततमः सर्गः ॥११०॥

एकादशोत्तरशततमः सर्गः १११

वसिष्ठः स तदा राममुक्त्वा राजपुरोहितः । अब्रवीद्धर्मसंयुक्तं पुनरेवापरं वचः ॥ १ ॥
पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवः सदा । आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव ॥ २ ॥
पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ । प्रज्ञां ददाति चचार्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते ॥ ३ ॥
स तेऽहं पितुराचार्यस्तव चैव परंतप । मम त्वं वचनं कुर्वन्नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ४ ॥
इमा हि ते परिषदो ज्ञातयश्च नृपास्तथा । एषु तात चरन्धर्मं नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ५ ॥
वृद्धाया धर्मशीलाया मातुर्नार्हस्यवर्तितुम् । अस्या हि वचनं कुर्वन्नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ६ ॥

मरु और मरुके पुत्र पशुश्रव हुये । और प्रशुश्रवके पुत्र महामति अम्बरीष हुए ॥३२॥ अम्बरीषके पुत्र सत्यपराक्रम नहुष हुए । नहुषके पुत्र परम धार्मिक नाभाग हुए ॥३३॥ अज और सुव्रत ये दो पुत्र नाभागके हुए । अजके पुत्र दशरथ थे ॥३४॥ तुम उनके ज्येष्ठ पुत्र हो और उनके धन अधिकारी हो । तुम अपना राज्य ग्रहण करो और जगतका पालन करो ॥३५॥ समस्त इक्ष्वाकुओंमें बड़ा ही पुत्र राजा होता है । बड़के रहते छोटा नहीं होता । बड़ेका ही राज्याभिषेक किया जाता है ॥३६॥ तुम अपने रघुवंशियोंके सनातन कुलधर्मका विनाश मत करो । पिताके समान यशस्वी होकर अनेक राज्यों और प्रचुर रत्नोंवाली इसी पृथिवीका पालन करो ॥३७॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११० ॥

राजपुरोहित वसिष्ठ रामचन्द्रसे ऐसा कहकर धर्मयुक्त दूसरी बात इस प्रकार बोले ॥१॥ जो पुरुष इस संसारमें उत्पन्न होता है उसके गुरु, आचार्य, माता और पिता होते हैं ॥२॥ हे पुरुषश्रेष्ठ, पिता इसको उत्पन्न करता है और आचार्य इसे ज्ञान देता है, इसलिए ये गुरु कहे जाते हैं ॥३॥ मैं तुम्हारे पिताका आचार्य हूँ और तुम्हारा भी । मेरी बात माननेसे तुम सज्जनोंके मार्गको नहीं छोड़ोगे ॥४॥ ये सभासद्, ज्ञाति, राजा आये हैं, उनके साथ धर्माचरण करनेसे, अर्थात् इनकी प्रार्थना मान लेनेसे तुम सज्जनोंके मार्गको नहीं छोड़ोगे ॥५॥ धर्मशील, वृद्धा माताकी बात तुम नहीं उठाओगे, उनकी आज्ञा

भरतस्य वचः कुर्वन्याचमानस्य राघव । आत्मानं नातिवर्तेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम ॥ ७ ॥
एवं मधुरमुक्तः स गुरुणा राघवः स्वयम् । प्रत्युवाच समासीनं वसिष्ठं पुरुषर्षभः ॥ ८ ॥
यन्मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा । न सुप्रतिकरं तत्तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम् ॥ ९ ॥
यथाशक्तिप्रदानेन स्वापनोच्छादनेन च । नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च ॥१०॥
स हि राजा दशरथः पिता जनयिता मम । आज्ञापयन्मां यत्तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति ॥११॥
एवमुक्तेन रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम् । उवाच विपुलोरस्कः सूतं परमदुर्मनाः ॥१२॥
इह तु स्थण्डिले शीघ्रं कुशानास्तर सारथे । आर्यं प्रत्युपवेक्ष्यामि यावन्मे संप्रसीदति ॥१३॥
निराहारो निरालोको धनहीनो यथा द्विजः । शये पुरस्ताच्छालायां यावन्मां प्रतियास्यति ॥१४॥
स तु राममवेक्षन्तं सुमन्त्रं प्रेक्ष्य दुर्मनाः । कुशोत्तरमुपस्थाप्य भूमावेवास्थितः स्वयम् ॥१५॥
तमुवाच महातेजा रामो राजर्षिसत्तमः । किं मां भरत कुर्वाणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसे ॥१६॥
ब्राह्मणो ह्येकपार्श्वेन नरान्रोद्धुमिहार्हति । न तु मूर्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने ॥१७॥
उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद्दारुणं व्रतम् । पुरवर्यामितः क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव ॥१८॥
आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम् । उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यं नानुशासथ ॥१९॥
ते तदोचुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः । काकुत्स्थमभिजानीमः सम्यग्वदति राघवः ॥२०॥

माननेसे तुम सज्जनोंका मार्ग नहीं छोड़ोगे ॥६॥ हे सत्यधर्म और सत्यपराक्रम रामचन्द्र, भरत तुमसे प्रार्थना कर रहे हैं । ये तुम्हारे आत्मस्वरूप हैं । इनकी बात तुम नहीं उठाओगे ॥७॥ इस प्रकार गुरुके द्वारा मधुर वचन कहे जानेपर पुरुषश्रेष्ठ बैठे हुए वसिष्ठसे बोले ॥८॥ माता और पिता पुत्रके प्रति जो उत्तम व्यवहार करते हैं, उसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता है । माता और पिताने जो किया है उसके बदलेकी कोई वस्तु नहीं है ॥९॥ यथाशक्ति भोजन आदि देकर, सोनेकी व्यवस्थाकर, तेल आदि लगाकर, प्रिय वचन बोलकर तथा पालन करके पिता-माता जो करते हैं, उसका प्रत्युपकार नहीं किया जा सकता ॥१०॥ राजा दसरथ मुझे उत्पन्न करनेवाले पिता थे, उन्होंने जो आज्ञा मुझे दी है, वह झूठी नहीं हो सकती ॥११॥ रामचन्द्रके ऐसा कहनेपर चौड़ी छातीवाले भरत बहुत ही दुःखित होकर पास बैठे सूतसे बोले ॥१२॥ सारथि, इस चौतरेपर कुश बिछा दो । मैं आर्यके प्रति उपवेशन (धन्ना) करूँगा और तबतक करूँगा जबतक ये प्रसन्न न होंगे ॥१३॥ बिना खाए, बिना आँख खोले, दरिद्र ब्राह्मणके समान इस पर्णशालाके आगे मैं सोऊँगा । जबतक ये हमारे साथ अयोध्या न जायँगे ॥१४॥ सुमन्त्र, रामचन्द्रकी ओर देख रहे हैं, यह देखकर दुःखी भरत स्वयं कुशाकी चटाई लाकर पृथिवीमें बिछाकर बैठ गये ॥१५॥ राजर्षिश्रेष्ठ महातेजस्वी रामचन्द्र भरतसे बोले—भरत, मैं कौनसी बुराई कर रहा हूँ, जिससे तुम मुझपर धन्ना दे रहे हो ॥१६॥ ब्राह्मण, एक करवटसे धन्ना देकर मनुष्योंको अन्याय मार्गसे रोक सकता है । पर क्षत्रियोंके लिए धन्ना देनेका विधान नहीं है ॥१७॥ नरश्रेष्ठ, इस भयानक व्रतको छोड़कर उठो । यहाँसे शीघ्र अपने श्रेष्ठ नगर अयोध्यामें जाओ ॥१८॥ बैठे-ही-बैठे भरत नगरवासियोंसे बोले, चारों ओर विचारकर, आप लोग आर्यको कहते नहीं हैं, इन्हें समझाते नहीं हैं ॥१९॥ भरतके कहनेपर पुर-

एषोऽपि हि महाभागः पितुर्वचसि तिष्ठति । अत एव न शक्ताः स्म व्यावर्तयितुमञ्जसा ॥२१॥
तेषामाज्ञाय वचनं रामो वचनमब्रवीत् । एवं निबोध वचनं सुहृदां धर्मचक्षुषाम् ॥२२॥
एतच्चैवोभयं श्रुत्वा सम्यक्संपश्य राघव । उत्तिष्ठ त्वं महाबाहो मां च स्पृश तथोदकम् ॥२३॥
अथोत्थाय जलं स्पृष्ट्वा भरतो वाक्यमब्रवीत् । शृण्वन्तु मे परिषदो मन्त्रिणः शृणुयुस्तथा ॥२४॥
न याचे पितरं राज्यं नानुशासामि मातरम् । एवं परमधर्मज्ञं नानुजानामि राघवम् ॥२५॥
यदि त्ववश्यं वस्तव्यं कर्तव्यं च पितुर्वचः । अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश वने समाः ॥२६॥
धर्मात्मा तस्य सत्येन भ्रातुर्वाक्येन विस्मितः । उवाच रामः संप्रेक्ष्य पौरजानपदं जनम् ॥२७॥
विक्रीतमाहितं क्रीतं यत्पित्रा जीवता मम । न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा ॥२८॥
उपाधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः । युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥२९॥
जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम् । सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसंधे महात्मनि ॥३०॥
अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः । भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥३१॥
वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम् । अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥१११॥

वासियोंने महात्मा भरतसे कहा कि आप रामचन्द्रसे जो कह रहे हैं, वह ठीक है, यह हमलोग जानते हैं ।२०॥ ये महाभाग रामचन्द्र भी पिताकी आज्ञापालन करनेके लिये दृढ़ हैं, अतएव हमलोग इन्हें जबरदस्ती लौटा नहीं सकते ॥२१॥ उनके वचन सुनकर रामचन्द्र बोले—धर्मकी दृष्टि रखनेवाले मित्रोंकी बात सुनो ॥२२॥ ये दोनों, मेरी और अपनी, बातें सुनकर विचार करो । उठो और पुनः ऐसा न करनेके लिए मुझको तथा जलको छूकर इस बातकी प्रतिज्ञा करो ॥२३॥ उठकर और जल छूकर भरत बोले—मेरे सभासद सुनें, तथा मन्त्री भी सुनें ॥२४॥ मैंने पितासे राज्य नहीं माँगा था, और न माताको ही ऐसा करनेके लिए कहा था और रामचन्द्रको वन भेजनेके लिए भी मैंने सम्मति नहीं दी थी ॥२५॥ रामचन्द्रको अवश्य ही वनमें रहना है, यदि इन्हें पिताकी आज्ञा पालन करना है, तो मैं ही चौदह वर्षोंतक वनवास करूँगा ॥२६॥ धर्मात्मा रामचन्द्र भाई भरतके वचन सुनकर विस्मित हुए और निश्चय करके पुरवासियोंसे बोले ॥२७॥ जीते हुए पिताने जो चीज किसीको दे दी है, या जो चीज खरीद ली है, उसको हम या भरत कोई भी उलट नहीं सकता ॥२८॥ वनवासके लिए मैं प्रतिनिधि बनाना नहीं चाहता; क्योंकि यह निन्दित है । केकयीने मेरे लिए वनवास माँगा था और पिताने उसे ही स्वीकार किया था ॥२९॥ मैं जानता हूँ, भरत क्षमाशील तथा बड़ोंके सत्कार करनेवाले हैं, इस सत्यसन्ध महात्मामें सभी श्रेष्ठगुण वर्तमान हैं ॥३०॥ वनसे लौटनेपर इस धर्मशील भाईके साथ मैं पृथिवीका श्रेष्ठ राजा होऊँगा ॥३१॥ केकयीने राजासे वर माँगा, मैंने राजाकी आज्ञाका पालन किया । भरत, उन राजा पिताको असत्यसे मुक्त करो ॥३२॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एकसौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमः सर्गः ११२

तमप्रतिमतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम् । विस्मिताः संगमं प्रेक्ष्य समुपेता महर्षयः ॥ १ ॥
अन्तर्हिता मुनिगणाः स्थिताश्च परमर्षयः । तौ भ्रातरौ महाभागौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे ॥ २ ॥
सदार्यौ राजपुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ । श्रुत्वा वयं हि संभाषामुभयोः स्पृहयामहे ॥ ३ ॥
ततस्त्वृषिगणाः क्षिप्रं दशग्रीववधैषिणः । भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः संगता वचः ॥ ४ ॥
कुले जात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः । ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे ॥ ५ ॥
सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः । अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः ॥ ६ ॥
एतावदुक्त्वा वचनं गन्धर्वाः समहर्षयः । राजर्षयश्चैव तथा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः ॥ ७ ॥
ह्लादितस्तेन वाक्येन शुशुभे शुभदर्शनः । रामः संहृष्टवदनस्तानृषीनभ्यपूजयत् ॥ ८ ॥
त्रस्तगात्रस्तु भरतः स वाचा सज्जमानया । कृताञ्जलिरिदं वाक्यं राघवं पुनरब्रवीत् ॥ ९ ॥
राम धर्मामिमं प्रेक्ष्य कुलधर्मानुसंततम् । कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ मम मातुश्च याचनाम् ॥१०॥
रक्षितुं सुमहद्राज्यमहमेकस्तु नोत्सहे । पौरजानपदांश्चापि रक्तान्रञ्जयितुं सदा ॥११॥
ज्ञातयश्चापि योद्धाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः । त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ॥१२॥
इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय प्रतिपद्य हि । शक्तिमान्स हि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने ।१३।

अप्रतिम तेजस्वी उन दोनों भाइयोंका रोंगटे खड़ा कर देनेवाला सम्मिलन देखकर, आए हुए महर्षि विस्मित हुए ॥१॥ अदृश्यरूपमें वर्तमान मुनिगण तथा प्रत्यक्ष वर्तमान परमर्षियोंने काकुत्स्थवंशी उन दोनों भाइयोंकी प्रशंसा की ॥२॥ दोनों ही राजपुत्र सदाचार पालन करनेवाले हैं, दोनों धर्मज्ञ और धर्मके प्रवर्तन करनेवाले हैं। दोनोंकी बातचीत सुनकर हमलोग उन बातोंको पुनः सुननेकी इच्छा रखते हैं ॥३॥ शीघ्र ही रावणके वध चाहनेवाले वे ऋषि राजश्रेष्ठ भरतसे मिलकर यह वचन बोले, ॥४॥ महायशस्वी, महाचरित्रवान, महाबुद्धिमान् भरत, तुम श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न हुए हो। पिताको यदि सुखी रखना चाहते हो तो रामचन्द्रका वचन मानो ॥५॥ हमलोग चाहते हैं, कि रामचन्द्र अपने पितासे सदा अनृण रहें। राजा दसरथने कैकयीका ऋण चुका दिया है, इसीसे उन्हें स्वर्ग मिला है ॥६॥ गन्धर्व, महर्षि ये वचन कहकर अपने-अपने रास्ते गये ॥७॥ जिनके दर्शनसे पुण्य होता है, ऐसे प्रसन्न वदन रामचन्द्र मुनियोंके वे वचन सुनकर आह्लादित हुए और उन मुनियोंकी प्रशंसा की ॥८॥ वनवासमें प्रेम प्रकट करनेवाले रामचन्द्रके वचनोंसे भरत उद्विग्न हो गये और रामचन्द्रसे हाथ जोड़कर पुनः बोले ॥९॥ हे रामचन्द्र, कुलक्रमसे आया हुआ, इस प्रजा पालनरूपधर्मकी ओर देखकर आप मेरी और मेरी माताकी प्रार्थना स्वीकार करें ॥१०॥ इस बहुत बड़े राज्यका शासन मैं अकेले नहीं कर सकता हूँ। हम दोनोंमें अनुराग रखनेवाले पुरवासियों और जनपदवासियोंको भी मैं प्रसन्न नहीं रख सकता ॥११॥ ज्ञाति, योद्धा, मित्र, सुहृद, सब तुम्हारी ही प्रतीक्षा करते हैं, जिस प्रकार किसान मेघकी प्रतीक्षा करते हैं ॥१२॥ हे महाप्राज्ञ, आप लोकके पालन करनेकी शक्ति रखते हैं आप अयोध्याका राज्य ग्रहण करें और उसकी रक्षा करें ॥१३॥

एवमुक्त्वापतद्भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा । भृशं संप्रार्थयामास राघवेऽतिप्रियं वदन् ॥१४॥
तमङ्के भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत् । श्यामं नलिनपत्राक्षं मत्तहंसस्वरः स्वयम् ॥१५॥
आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या । भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि ॥१६॥
अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः । सर्वकार्याणि संमन्त्र्य महान्त्यपि हि कारय ॥१७॥
लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत् । अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥१८॥
कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम् । न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत् ॥१९॥
एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत् । तेजसादित्यसंकाशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम् ॥२०॥
अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते । एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥२१॥
सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च । प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने ॥२२॥
स्वपादुके संप्रणम्य रामं वचनमब्रवीत् । चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥२३॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन । तवागमनमाकाङ्क्षन्वसन्वै नगराद्बहिः ॥२४॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप । चतुर्दशे हि संपूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥२५॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् । तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥२६॥
शत्रुघ्नं च परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत् । मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥२७॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन । इत्युक्त्वाश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह ॥२८॥

ऐसा कहकर भरत भाईके चरणोंपर गिर पड़े और अत्यन्त प्रिय वचन बोलते हुए पुनः उनकी प्रार्थना करने लगे १४॥ रामचन्द्र कमलपत्राक्ष, श्यामवर्ण भाई भरतको गोदमें लेकर मत्तहंसके स्वरमें उनसे यह बोले ॥१५॥ विनय तथा स्वयं तुममें यह बुद्धि वर्तमान है, जिससे तुम खूब पृथिवीका पालन कर सकते हो ॥१६॥ अमात्यों, मित्रों, तथा बुद्धिमान मन्त्रियोंसे परामर्श करके बड़े कार्योंको सम्पादित करो ॥१७॥ लक्ष्मी चन्द्रमाको छोड़ दे, हिमवान हिमको छोड़ दे, सागर अपनी मर्यादा छोड़ दे, पर मैं पिताकी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता ॥१८॥ इच्छासे अथवा लोभसे तुम्हारी माताने जो यह अर्थात् मुझे बनवास देना निश्चित किया है उससे मनमें कष्ट न करना और माताके समान इनके प्रति व्यवहार करना ॥१९॥ प्रतिपदके चन्द्रके समान सुन्दर और सूर्यके समान तेजस्वी कौसल्याके पुत्रके ऐसा कहनेपर भरत उनसे बोले ॥२०॥ आर्य, सुवर्णमण्डित यह पादुका (खड़ाऊँ) आप पैरोंमें पहनें, ये ही सब लोगके योगक्षेम करेंगे ॥२१॥ नरश्रेष्ठ रामचन्द्रने खड़ाऊँ पहन लीं और उतारकर महात्मा भरतको दी ॥२२॥ पादुकाको प्रणामकर, भरत रामचन्द्रसे बोले—चौदह वर्षोंतक मैं जटा और चीर धारण करूँगा ॥२३॥ वीर रघुनन्दन, फल मूल खाऊँगा, नगरके बाहर रहूँगा, इस प्रकार तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा करूँगा ॥२४॥ हे रघूत्तम, चौदह वर्षके पूर्ण होनेपर पहले दिन यदि तुमको न देखूँगा तो मैं अग्निप्रवेश करूँगा । रामचन्द्रने वैसा करनेकी प्रतीक्षा की और उनका आलिंगन किया ॥२५–२६॥ शत्रुघ्नका आलिंगन करके उनसे बोले—माता केकयीकी रक्षा करो, इनपर क्रोध मत करो ॥२७॥ मेरी और सीताकी तुम्हें शपथ

स पादुके ते भरतः स्वलंकृते महोज्ज्वले संपरिगृह्य धर्मवित् ।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि ॥२९॥
अथानुपूर्व्या प्रतिपूज्य तं जनं गुरूंश्च मन्त्रीन्प्रकृतीस्तथानुजौ ।
व्यसर्जयद्राघववंशवर्धनः स्थितः स्वधर्मे हिमवानिवाचलः ॥३०॥
तं मातरो बाष्पगृहीतकंठ्यो दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः ।
स चैव मातृरभिवाद्य सर्वा रुदन्कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥११२॥

त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ११३

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा । आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा ॥ १ ॥
वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रतः । अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥
मन्दाकिनीं नदीं रम्यां प्राङ्मुखास्ते ययुस्तदा । प्रदक्षिणं च कुर्वाणाश्चित्रकूटं महागिरिम् ॥ ३ ॥
पश्यन्धातुसहस्राणि रम्याणि विविधानि च । प्रययौ तस्य पार्श्वेन ससैन्यो भरतस्तदा ॥ ४ ॥
अदूराच्चित्रकूटस्य ददर्श भरतस्तदा । आश्रमं यत्र स मुनिर्भरद्वाजः कृतालयः ॥ ५ ॥
स तमाश्रममागम्य भरद्वाजस्य वीर्यवान् । अवतीर्य रथात्पादौ ववन्दे कुलनन्दनः ॥ ६ ॥
ततो हृष्टो भरद्वाजो भरतं वाक्यमब्रवीत् । अपि कृत्यं कृतं तात रामेण च समागतम् ॥ ७ ॥

है । ऐसा कहकर और आँखोंमें आँसू भरकर भाईको बिदा किया ॥२८॥ धर्मात्मा भरतने सुन्दर चमकीली, रामचन्द्रकी पादुका लेकर, उनकी प्रदक्षिणा की और वह श्रेष्ठ पादुका हाथीपर रखी ॥२९॥ क्रमानुसार गुरु, मन्त्री, प्रजा तथा भाइयोंको, यथोचित सत्कारसे अपने धर्ममें हिमवानके समान अचल, रघुवंशको प्रकाशित करनेवाले रामचन्द्रने बिदा किया ॥३०॥ माताओंका दुःखसे गला भर आया था, अतएव जानेके समय वे रामचन्द्रसे पूछ न सकीं। रामचन्द्र सब माताओंको प्रणाम कर रोते-रोते अपनी कुटी में गये ॥३१॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११२ ॥

तदनन्तर रामचन्द्रकी पादुका सिरपर रखकर प्रसन्न भरत शत्रुघ्नके साथ रथपर बैठे ॥१॥ वशिष्ठ, वामदेव और दृढ़व्रत जाबालि तथा सब मन्त्री आगे-आगे चले । ये मन्त्री मन्त्रसे पूजित थे, अर्थात् इनकी सलाह कभी निष्फल नहीं होती थी ॥२॥ रमणीय मन्दाकिनी नदीके तीर आकर महापर्वत चित्रकूटकी प्रदक्षिणा करते हुए वे पूर्वकी ओर चले ॥३॥ अनेक प्रकारकी मनोहर भिन्न-भिन्न धातुओंको देखते हुए भरत अपनी सेनाके साथ उस पर्वतके पाससे चले ॥४॥ चित्रकूटके पासही भरतने उस आश्रमको देखा, जहाँ भरद्वाज मुनि निवास करते हैं ॥५॥ वीर्यवान् भरत भरद्वाजके आश्रमपर आकर रथसे उतरे और उनके चरणोंको उन्होंने प्रणाम किया ॥६॥ प्रसन्न भरद्वाज भरतसे बोले—कार्य सिद्ध

एवमुक्तः स तु ततो भरद्वाजेन धीमता । प्रत्युवाच भरद्वाजं भरतो धर्मवत्सलः ॥ ८ ॥
स याच्यमानो गुरुणा मया च दृढविक्रमः । राघवः परमप्रीतो वसिष्ठं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥
पितुः प्रतिज्ञां तामेव पालयिष्यामि तत्त्वतः । चतुर्दश हि वर्षाणि या प्रतिज्ञा पितुर्मम ॥१०॥
एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह । वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं राघवं वचनं महत् ॥११॥
एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेमभूषिते । अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरो भव ॥१२॥
एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः । पादुके हेमविकृते मम राज्याय ते ददौ ॥१३॥
निवृत्तोऽहमनुज्ञातो रामेण सुमहात्मना । अयोध्यामेव गच्छामि गृहीत्वा पादुके शुभे ॥१४॥
एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः । भरद्वाजः शुभतरं मुनिर्वाक्यमुदाहरत् ॥१५॥
नैतच्चित्रं नरव्याघ्रे शीलवृत्तविदां वरे । यदार्यं त्वयि तिष्ठेत्तु निम्नोत्सृष्टमिवोदकम् ॥१६॥
अनृणः स महाबाहुः पिता दशरथस्तव । यस्य त्वमीदृशः पुत्रो धर्मात्मा धर्मवत्सलः ॥१७॥
तमृषिं तु महाप्राज्ञमुक्तवाक्यं कृताञ्जलिः । आमन्त्रयितुमारेभे चरणावुपगृह्य च ॥१८॥
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भरद्वाजं पुनः पुनः । भरतस्तु ययौ श्रीमानयोध्यां सह मन्त्रिभिः ॥१९॥
यानैश्च शकटैश्चैव हयैर्नागैश्च सा चमूः । पुनर्निवृत्ता विस्तीर्णा भरतस्यानुयायिनी ॥२०॥
ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम् । ददृशुस्तां पुनः सर्वे गङ्गां शिवजलां नदीम् ॥२१॥
तां रम्यजलसंपूर्णां संतीर्य सहबान्धवः । शृङ्गवेरपुरं रम्यं प्रविवेश ससैनिकः ॥२२॥

हुआ ? रामचन्द्रसे तुम मिले ? ॥७॥ बुद्धिमान भरद्वाजके ऐसा कहनेपर धर्मप्रेमी भरत उनसे बोले ॥८॥ दृढ़विक्रम रामचन्द्रसे गुरुने और मैंने प्रार्थना की । अत्यन्त प्रसन्न होकर रामचन्द्र वशिष्ठसे बोले ॥९॥ चौदह वर्षोंतक वनवास करनेकी मेरे पिताकी जो प्रतिज्ञा है, मैं पिताकी उस प्रतिज्ञाका यथावत पालन करूँगा ॥१०॥ ऐसा कहनेपर महाप्राज्ञ, वचनके अर्थ समझनेवाले वसिष्ठ, बोलनेमें निपुण रामचन्द्रसे ऐसा बोले ॥११॥ प्रसन्नतापूर्वक सुवर्णमण्डित यह पादुका भरतको दो और इसके द्वारा महाप्राज्ञ तुम अयोध्यामें योगक्षेम करो ॥१२॥ वसिष्ठके ऐसा कहनेपर पूर्वमुँह बैठे हुए रामचन्द्रने सुवर्णमण्डित यह पादुका राज्यके लिए मुझे दी ॥१३॥ महात्मा रामचन्द्रकी आज्ञासे मैं लौट आया हूँ । उनकी पवित्र पादुका लेकर अयोध्या जा रहा हूँ ॥१४॥ महात्मा भरतके ये शुभ वचन सुनकर भरद्वाज अत्यन्त शुभ वचन बोले ॥१५॥ उत्तम चरित्र रखनेवाले नरश्रेष्ठ तुम्हारे लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, जिसप्रकार नीची जगह में गिरा हुआ जल एकत्र हुआ करता है, उसी प्रकार बड़े भाईका अनुवर्तन तुममें वर्तमान रहेगा ॥१६॥ महाबाहु तुम्हारे पिता राजा दसरथ आज अनृण हुए, जिनके तुम्हारे जैसा धर्मात्मा और धर्मप्रेमी पुत्र है ॥१७॥ महाप्राज्ञ उन ऋषिके ऐसा कहनेपर हाथ जोड़कर भरतने प्रणाम किया और जानेकी आज्ञा माँगी ॥१८॥ भरद्वाज मुनिकी बार-बार प्रदक्षिणा करके भरत मन्त्रियोंके साथ अयोध्या चले ॥१९॥ घोड़ा-गाड़ी, बैलगाड़ी, घोड़ा, हाथीके कारण विशाल और भरतके पीछे आनेवाली वह सेना पुनः लौटी ॥२०॥ तरंगोंवाली दिव्य यमुना नदीको पारकर उन लोगोंने पवित्र जलवाली गंगानदीको पुनः देखा ॥२१॥ मनोहर जलसे भरी हुई गंगाको अपने बान्धवोंके साथ पार करके भरतने सैनिकोंके साथ रमणीय शृङ्गवेर-

शृङ्गवेरपुराद् भूय अयोध्यां संददर्श ह । अयोध्यां तु तदा दृष्ट्वा पित्रा भ्रात्रा विवर्जिताम् ।२३।
भरतो दुःखसंतप्तः सारथिं चेदमब्रवीत् । सारथे पश्य विध्वस्ता अयोध्या न प्रकाशते ॥२४॥
निराकारा निरानन्दा दीना प्रतिहतस्वना ॥२५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥११३॥

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ११४

स्निग्धगम्भीरघोषेण स्यन्दनेनोपयान्प्रभुः । अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविवेश महायशाः ॥ १ ॥
बिडालोलूकचरितामालीननरवारणाम् । तिमिराभ्याहतां कालीमप्रकाशां निशामिव ॥ २ ॥
राहुशत्रोः प्रियां पत्नीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम् । ग्रहेणाभ्युदितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम् ॥ ३ ॥
अल्पोष्णक्षुब्धसलिलां घर्मतप्तविहंगमाम् । लीनमीनझषग्राहां कृशां गिरिनदीमिव ॥ ४ ॥
विधूमामिव हेमाभां शिखामग्नेः समुत्थिताम् । हविरभ्युक्षितां पश्चाच्छिखां विप्रलयं गताम् ॥ ५ ॥
विध्वस्तकवचां रुग्णगजवाजिरथध्वजाम् । हतप्रवीरामापन्नां चमूमिव महाहवे ॥ ६ ॥

पुरमें प्रवेश किया ॥२२॥ पुनः शृङ्गवेरपुरसे उन्होंने अयोध्या देखी । भाई और पितासे रहित अयोध्याको देखकर बहुत दुखी हुए और वे सारथिसे यह बोले—देखो, अयोध्या लुट गयी, अब इसकी शोभा नहीं ॥२३, २४॥ न तो इसका वह सुन्दर आकार है और न आनन्द । यह दीन और मूक हो गयी है ॥२५॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११३ ॥

कानोंको प्रिय तथा गम्भीर शब्दवाले रथपर चढ़कर महायशस्वी प्रभु भरत अयोध्या आये और उन्होंने शीघ्र नगरमें प्रवेश किया ॥१॥ उस अयोध्यामें बिल्ली और उल्लू विचर रहे थे । घरोंके किवाड़ बन्द थे । अन्धकारसे वह बिलकुल अलक्ष्य हो गयी थी । प्रकाशहीन निशाके समान उस अयोध्या नगरीमें भरतने प्रवेश किया ॥२॥ चन्द्रमाकी प्रियपत्नी और शोभासे प्रकाशयुक्त, रोहिणी, अपने पतिके राहूके द्वारा गृहीत होनेपर, जिस प्रकार असहाय हो जाती है, अयोध्या नगरी भी वैसी ही असहाय हो गयी थी ॥३॥ वह नगरी दुबली गिरिनदीके समान हो गयी थी, जिसका जल सूर्यकी किरणोंसे थोड़ा गरम हो जाता है और गन्दा हो जाता है, जहाँके पक्षी धूपसे तप जाते हैं और मछलियाँ, ग्राह आदि छिप जाते हैं ॥४॥ जो नगरी रामचन्द्रके समय धूमहीन, सुवर्णके समान प्रकाशमान, अग्निशिखा जैसी थी, वही रामचन्द्रके वन जानेके समय, उस अग्निके समान हो गयी है, जिसकी शिखा हवि डालनेके कारण बुझ गयी हो ॥५॥ नगरी उस सेनाके समान मालूम होती है जिसके कवच टूट गये हों हाथी, घोड़े, रथ आदि बीमार और नष्ट-भ्रष्ट हो गये हों जिसके वीर मारे गये हों और जो आपत्तिमें फँसी हो ॥६॥

सफेनां सस्वनां भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम् । प्रशान्तमारुतोद्धूतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम् ॥७॥
त्यक्तां यज्ञायुधैः सर्वैरभिरूपैश्च याजकैः । सुत्याकाले सुनिर्वृत्ते वेदिं गतरवामिव ॥ ८ ॥
गोष्ठमध्ये स्थितामार्तामचरन्तीं नवं तृणम् । गोवृषेण परित्यक्तां गवां पत्नीमिवोत्सुकाम् ॥ ६ ॥
प्रभाकराद्यैः सुस्निग्धैः प्रज्वलद्भिरिवोत्तमैः । वियुक्तां मणिभिर्जात्यैर्नवां मुक्तावलीमिव ॥१०॥
सहसाचरितां स्थानान्महीं पुण्यक्षयोद्गताम् । संहृतद्युतिविस्तारां तारामिव दिवश्च्युताम् ॥११॥
पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तभ्रमरशालिनीम् । द्रुतदावाग्निविप्लुष्टां क्लान्तां वनलतामिव ॥१२॥
संमूढनिगमां सर्वां संक्षिप्तविपणापणाम् । प्रच्छन्नशशिनक्षत्रां द्यामिवाम्बुधरैर्वृताम् ॥१३॥
क्षीणपानोत्तमैर्भग्नैः शरावैरभिसंवृताम् । हतशौण्डामिव ध्वस्तां पानभूमिमसंस्कृताम् ॥१४॥
वृक्णभूमितलां निम्नां वृक्णपात्रैः समावृताम् । उपयुक्तोदकां भग्नां प्रपां निपतितामिव ॥१५॥
विपुलां विततां चैव युक्तपाशां तरस्विनाम् । भूमौ बाणैर्विनिकृत्तां पतितां ज्यामिवायुधात् ॥१६॥
सहसा युद्धशौण्डेन हयारोहेण वाहिताम् । निहतां प्रतिसैन्येन बडवामिव पातिताम् ॥१७॥

वह नगरी समुद्रकी उस तरंगके समान मालूम होती है जो पहले वायुके द्वारा उठायी गयी हो, जिसमें खूब फेन हों और शब्द होते हों, पुनः वायुके शान्त होनेपर जो धीमी पड़ गयी हो और जिसका शब्द नष्ट हो गया हो ॥७॥ वह नगरी उस यज्ञवेदीके समान शब्दहीन मालूम होती है, जहाँसे यज्ञ समाप्त होनेपर; प्रशंसनीय याजक, यज्ञकी सामग्री लेकर उस वेदीको छोड़ गये हों ॥८॥ वह नगरी उस गायके समान मालूम होती है जिसके पाससे साँड़ हटा लिया गया है और वह गोष्ठमें बँधी हुई दुःखित हो रही है तथा हरी घास नहीं चरती ॥९॥ यह नगरी उस मुक्तामालाके समान मालूम होती है, जिसमेंसे उत्तम जातिसे चिकने और चमकीले, श्रेष्ठ पद्मराग आदि मणि निकाल लिये गये हों ॥१०॥ पुण्यके नष्ट होनेसे अपने स्थानसे चलित और पृथिवीमें गिरी हुई, द्युतिहीन, और दिवस-च्युत ताराके समान यह नगरी मालूम होती है ॥११॥ वसन्तऋतुमें जो सुन्दर वनलता फूलोंसे भरी हुई थी तथा जिसपर मतवाले भ्रमर गूँज रहे थे, वही सहसा दावाग्निसे जल गयी, अयोध्या नगरीकी शोभा उसी वनलताके समान हो गयी थी ॥१२॥ अयोध्याके बनियें ज्ञानहीन हो गये थे, बाजार बहुत छोटा हो गया था। मेघके कारण चन्द्रमा और नक्षत्रोंसे ढक जानेपर आकाशकी जो दशा होती है वही दशा अयोध्याकी हो गयी थी ॥१३॥ अयोध्या असंस्कृत (बिना झाड़ी-बुहारी) पानभूमि (कलवरिया, शराबकी दूकान) के समान हो गयी थी। जहाँ शराबसे खाली और टूटे प्याले इधर-उधर पड़े रहते हैं और उन्हीं प्यालोंसे जहाँ मतवाले शराबी मारे जाते हैं, इस प्रकार जो शोभाहीन हो गयी है ॥१४॥ अयोध्या नगरी उस पौसालके समान हो गयी थी जिसकी फर्श टूट-फूट गयी हो, गहरी हो गयी है, टूटे वर्तमान पड़े हों, जल समाप्त हो गया हो और प्यासे आदमी आकर जहाँ गिर पड़े हों ॥१५॥ अयोध्या नगरी धनुषके उस विशाल रोदाके समान हो गयी थी जिसके दोनों ओर धनुषमें लगानेके लिए फंदे बने हों और जो धनुषपर चढ़ी हुई हो, उसे कोई वीर अपने बाणोंसे काटकर जमीनमें गिरा दे ॥१६॥ युद्धमें निपुण सवारके द्वारा हाँकी गयी घोड़ी जिस प्रकार शत्रुके द्वारा मारकर गिरा दीजाय, वैसी ही दशा अयोध्याकी हो गयी थी ॥१७॥

भरतस्तु रथस्थः सञ्श्रीमान्दशरथात्मजः । वाहयन्तं रथश्रेष्ठं सारथिं वाक्यमब्रवीत् ॥१८॥
किं नु खल्वद्य गम्भीरो मूर्च्छितो न निशाम्यते। यथापुरमयोध्यायां गीतवादित्रनिःस्वनः ॥१९॥
वारुणीमदगन्धश्च माल्यगन्धश्च मूर्च्छितः । चन्दनागुरुगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः ॥२०॥
यानप्रवरघोषश्च सुस्निग्धहयनिःस्वनः । प्रमत्तगजनादश्च महांश्च रथनिःस्वनः ॥२१॥
नेदानीं श्रूयते पुर्यामस्यां रामे विवासिते । चन्दनागुरुगन्धांश्च महार्हाश्च वनस्रजः ॥२२॥
गते रामे हि तरुणाः संतप्ता नोपभुञ्जते । बहिर्यात्रां न गच्छन्ति चित्रमाल्यधरा नराः ॥२३॥
नोत्सवाः संप्रवर्तन्ते रामशोकार्दिते पुरे । सा हि नूनं मम भ्रात्रा पुरस्याय द्युतिर्गता ॥२४॥
नहि राजत्ययोध्येयं सासारेवार्जुनी क्षपा । कदा नु खलु मे भ्राता महोत्सव इवागतः ॥२५॥
जनयिष्यत्ययोध्यायां हर्षं ग्रीष्म इवाम्बुदः । तरुणैश्चारुवेषैश्च नरैरुन्नतगामिभिः ॥२६॥
संपतद्भिरयोध्यायां नाभिभान्ति महापथाः । इति ब्रुवन्सारथिना दुःखितो भरतस्तदा ॥२७॥
अयोध्यां संप्रविश्यैव विवेश वसतिं पितुः । तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव ॥२८॥

तदा तदन्तःपुरमुज्झितप्रभं सुरैरिवोत्कृष्टमभास्करं दिनम् ।
निरीक्ष्य सर्वत्र विभक्तमात्मवान्मुमोच बाष्पं भरतः सुदुःखितः ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

रथपर बैठे हुए दसरथपुत्र श्रीमान् भरत सारथिसे इस प्रकार बोले ॥१८॥ पहलेके समान गाने-बजानेका गम्भीर और प्रवृद्ध शब्द, इस समय अयोध्यामें क्यों नहीं सुनाई देता ॥१९॥ शराबकी गन्ध, मालाओंकी प्रवृद्ध गन्ध, चन्दन और अगस्तकी गन्ध नहीं मालूम पड़ती ॥२०॥ उत्तम गाड़ियोंके शब्द, घोड़ोंकी मीठी हिनहिनाहट, हाथियोंका गर्जन और रथोंकी घड़घड़ाहट नहीं सुनाई पड़ती ॥२१॥ इसका कारण रामचन्द्रका वनमें निर्वासित होना है । चन्दन और अगुरुकी गन्ध उत्तम फूलकी मालाएँ इस समय युवकगण रामचन्द्रके वन जानेके कारण धारण नहीं करते । अन्य मनुष्य भी सुन्दर वस्त्र पहनकर बाहर नहीं निकलते ॥२२, २३॥ रामशोकसे पीड़ित नगरमें उत्सव नहीं होते, निश्चित ही इस नगरीकी शोभा मेरे भाईके साथ चली गयी ॥२४॥ यह अयोध्या, उस शुक्लपक्षकी रात्रिके समान नहीं शोभती जिसमें खूब पानी पड़ा हो, महोत्सवके समान कब मेरे भाई आवेंगे ॥२५॥ और मेघके आनेसे ग्रीष्म ऋतुमें जैसा आनन्द होता है वैसा आनन्द करेंगे । सुन्दर वेशवाले युवकों तथा अहंकारसे चलनेवाले अन्य मनुष्योंसे जो–अयोध्यामें आते हैं, सड़कोंकी शोभा नहीं होती । इस प्रकार कहते हुए दुःखी भरत सारथिके साथ अयोध्यामें जाकर सिंहसे हीन गुहाके समान राजा दसरथसे रहित उनके घरमें गये ॥२६, २७, २८॥ भरतने उस अन्तःपुरको देखा, उसकी शोभा नष्ट हो गयी थी, जिस प्रकार सूर्यहीन दिनकी शोभा नष्ट हो जाती है और उसके लिए देवता विलाप करते हैं, उस घरकी सफाई नहीं की गयी थी । उसे देखकर धीर भरत भी दुःखी होकर रोने लगे ॥२९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ११५

ततो निक्षिप्य मातृस्ता अयोध्यायां दृढव्रतः । भरतः शोकसंतप्तो गुरूनिदमथाब्रवीत् ॥ १ ॥
नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽत्र वः । तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना ॥ २ ॥
गतश्चाहो दिवं राजा वनस्थः स गुरुर्मम । रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः ॥ ३ ॥
एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः । अब्रुवन्मन्त्रिणः सर्वे वसिष्ठश्च पुरोहितः ॥ ४ ॥
सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया । वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत् ॥ ५ ॥
नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे । मार्गमार्यं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान् ॥ ६ ॥
मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा यथाभिलषितं प्रियम् । अब्रवीत्सारथिं वाक्यं रथो मे युज्यतामिति ॥ ७ ॥
प्रहृष्टवदनः सर्वा मातृः समभिभाष्य च । आरुरोह रथं श्रीमाञ्शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ ८ ॥
आरुह्य तु रथं क्षिप्रं शत्रुघ्नभरतावुभौ । ययतुः परमप्रीतौ वृतौ मन्त्रिपुरोहितैः ॥ ९ ॥
अग्रतो गुरवः सर्वे वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः । प्रययुः प्राङ्मुखाः सर्वे नन्दिग्रामो यतो भवेत् ॥१०॥
बलं च तदनाहूतं गजाश्वरथसंकुलम् । प्रययौ भरते याते सर्वे च पुरवासिनः ॥११॥
रथस्थः स तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः । नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं शिरस्यादाय पादुके ॥१२॥
भरतस्तु ततः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः । अवतीर्य रथात्तूर्णं गुरूनिदमभाषत ॥१३॥
एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम् । योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥१४॥

माताओंको अयोध्यामें रखकर दृढ़व्रत भरत शोकसे सन्तप्त होकर गुरुओंसे इस प्रकार बोले ॥१॥ मैं नन्दिग्राममें जा रहा हूँ। आप सब लोगोंकी आज्ञा चाहता हूँ। वहाँ रामचन्द्रके न रहनेके समस्त दुःखोंका मैं अनुभव करूँगा ॥२॥ राजा स्वर्गगामी हुए, मेरे गुरु वनवास कर रहे हैं, राज्यके लिए रामचन्द्रकी प्रतिक्षा करूँगा, क्योंकि वे ही महायशस्वी राम राजा हैं ॥३॥ महात्मा भरतके ये वचन सुनकर सब मन्त्री और पुरोहित वसिष्ठ बोले ॥४॥ भरत तुम्हारा वचन बहुत ही प्रशंसनीय है। भातृप्रेमके अनुकूल जैसे तुमको कहना चाहिये वैसा ही तुमने कहा है ॥५॥ सदा अपने बान्धवोंके पालन करनेमें तुम दत्तचित्त रहे हो। भातृप्रेम प्राप्त करनेके लिए सदा तुमने प्रयत्न किया है। तुम उत्तम मार्गपर जा रहे हो। फिर कौन मनुष्य तुम्हारा अनुमादन नहीं करेगा ॥६॥ अपनी इच्छाके अनुकूल और प्रिय मन्त्रियोंके वचन सुनकर भरत सारथिसे बोले--मेरे रथ तैयार करो ॥७॥ प्रसन्नवदन भरत सब माताओंसे आज्ञा लेकर शत्रुघ्नके साथ रथपर बैठे ॥८॥ रथपर बैठकर भरत और शत्रुघ्न दोनों मन्त्री और पुरोहितके साथ बड़ी प्रसन्नताके साथ चले ॥९॥ आगे वसिष्ठ आदि सब ब्राह्मण गुरु पूर्वकी ओर चले, जिधर जानेसे नन्दिग्राम मिलता है ॥१०॥ बिना बुलाये ही गज, घोड़ा, रथ आदिसे युक्त सेना तथा सब पुरवासी भरतके जानेपर वहाँके लिए चले ॥११॥ भ्रातृप्रेमी धर्मात्मा भरत सिरपर पादुका रखकर शीघ्रतापूर्वक रथपर चले ॥१२॥ शीघ्र ही नन्दिग्राममें जाकर और रथसे उतरकर भरत गुरुओंसे इस प्रकार बोले ॥१३॥ मेरे भाईने मुझे यह राज्य न्यस (थाती) के समान दिया है और इस राज्यके चलानेके लिये यह पादुका दी है ॥१४॥

भरतः शिरसा कृत्वा संन्यासं पादुके ततः । अब्रवीद्दुःखसंतप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम् ॥१५॥
छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ । आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम॥१६।
भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम् । तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥१७॥
क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् । चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ ॥१८॥
ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः । निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम् ॥१९॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके । राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम् ॥२०॥
स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः । नन्दिग्रामेऽवसद्धीरःससैन्यो भरतस्तदा ॥२१॥
सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम् । भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन् ॥२२॥
ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके । तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा ॥२३॥

तदा हि यत्कार्यमुपैति किंचिदुपायनं चोपहृतं महार्हम् ।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य चकार पश्चाद्भरतो यथावत् ॥२४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

पादुका रूप थाती को माथेपर रखकर दुःखसन्तप्त भरत प्रजाओंसे बोले ॥१५॥ यह पादुका रामचन्द्रके चरणके प्रतिनिधि हैं, अतएव इनपर छत्ता करो । मेरे गुरु रामचन्द्रकी इन पादुकाओंसे ही राज्यमें धर्म स्थापित होगा ॥१६॥ प्रेमके कारण मेरे भाईने यह न्यास मुझे दिया है, जब तक रामचन्द्र लौट न आवेंगे तब तक मैं इसकी रक्षा करूँगा ॥१७॥ शीघ्र ही रामचन्द्रके चरणोंमें ये पादुका पहनाकर, पादुकायुक्त उनके चरणोंका दर्शन करूँगा ॥१८॥ रामचन्द्रका दर्शन करके (वनसे लौटने पर) यह राज्य मैं उनको दे दूँगा, मेरा भार हलका हो जायगा और मैं उनकी आज्ञाके अनुसार उनकी सेवा करूँगा ॥१९॥ रामचन्द्रके थातीरूप यह पादुका, राज्य तथा अयोध्या उनको लौटकर मैं कलंकमुक्त हो जाऊँगा ॥२०॥ वल्कल, जटा धारण करके भरतने मुनिवेष बनाया । धीर भरत अपनी सेनाके साथ वहीं नन्दिग्राममें रहने लगे ॥२१॥ भरत राज्यका समस्त शासनसम्बन्धी कार्य पादुकाको निवेदित कर देते थे और उन्होंने स्वयं उसपर छत्र और चँवर धारण किया ॥२२॥ रामचन्द्रकी पादुकाका अभिषेक करके और स्वयं उसके अधीन होकर भरत राज्य पालन करने लगे ॥२२॥ जो कोई कार्य उपस्थित होता था, अथवा जो कुछ श्रेष्ठ भेंट आती थी, वह सब पहले भरत पादुकाको निवेदित करते थे, पुनः यथोचित उसका प्रबन्ध कर देते थे ॥२४॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमः सर्गः ११६

प्रतियाते तु भरते वसन्रामस्तदा वने । लक्षयामास सोद्वेगमथौत्सुक्यं तपस्विनाम् ॥ १ ॥
ये तत्र चित्रकूटस्य पुरस्तात्तापसाश्रमे । राममाश्रित्य निरतांस्तानलक्षयदुत्सुकान् ॥ २ ॥
नयनैर्भ्रुकुटीभिश्च रामं निर्दिश्य शङ्किताः । अन्योन्यमुपजल्पन्तः शनैश्चक्रुर्मिथः कथाः ॥ ३ ॥
तेषामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्त्वात्मनि शङ्कितः । कृताञ्जलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं ततः ॥ ४ ॥
न कच्चिद्भगवन्किंचित्पूर्ववृत्तमिदं मयि । दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्विनः ॥ ५ ॥
प्रमादाच्चरितं किंचित्कच्चिन्नावरजस्य मे । लक्ष्मणस्यर्षिभिर्दृष्टं नानुरूपं महात्मनः ॥ ६ ॥
कच्चिच्छुश्रूषमाणा वः शुश्रूषणपरा मयि । प्रमदाभ्युचितां वृत्तिं सीता युक्तां न वर्तते ॥ ७ ॥
अथर्षिर्जरया वृद्धस्तपसा च जरां गतः । वेपमान इवोवाच रामं भूतदयापरम् ॥ ८ ॥
कुतः कल्याणसत्त्वायाः कल्याणाभिरतेः सदा । चलनं तात वैदेह्यास्तपस्विषु विशेषतः ॥ ९ ॥
त्वन्निमित्तमिदं तावत्तापसान्प्रतिवर्तते । रक्षोभ्यस्तेन संविग्नाः कथयन्ति मिथः कथाः ॥ १० ॥
रावणावरजः कश्चित्खरो नामेह राक्षसः । उत्पाट्य तापसान्सर्वाञ्जनस्थाननिवासिनः ॥ ११ ॥
धृष्टश्च जितकाशी च नृशंसः पुरुषादकः । अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तात न मृष्यते ॥ १२ ॥

भरतके लौट जानेपर रामचन्द्र वनमें निवास कर रहे थे, उस समय उन्होंने तपस्वियोंकी भययुक्त उत्सुकता देखी ॥१॥ चित्रकूटके तापस आश्रममें जो पहले रामचन्द्रपर बहुत प्रसन्न थे उन्हें कुछ कहनेके लिए रामचन्द्रने उत्सुक देखा ॥२॥ आँखों और भौहोंके इशारेसे शंकित वे मुनि आपसमें कुछ कहते थे और धीरे-धीरे बातें करते थे ॥३॥ इन तपस्वियोंकी इस प्रकारकी उत्सुकता देखकर रामचन्द्रको अपने विषयमें शंका उत्पन्न हुई और वे हाथ जोड़कर कुलपतिसे इस प्रकार बोले ॥४॥ भगवन्, मेरा व्यवहार क्या अब पहलेके समान नहीं रहा, क्या उसमें कुछ विकृति उत्पन्न हो गयी, जिससे ये तपस्वी मुझसे, फिरे हुएसे मालूम होते हैं ॥५॥ अथवा मेरे छोटे भाई लक्ष्मणने प्रमादसे कुछ अनुचित आचरण किया है, और ऋषियोंने उसे देखा है ॥६॥ अथवा अर्घ्य पाद्य आदिके द्वारा आप लोगोंकी सेवा करनेवाली सीताने इस समय मेरी सेवामें रत रहनेके कारण आप लोगोंके प्रति स्त्रियोचित व्यवहार नहीं किया है क्या, अर्थात् स्त्रियोंको आप लोगोंके प्रति जैसा व्यवहार करना चाहिये, वैसा व्यवहार नहीं किया है क्या ? ॥७॥ एक तपस्वी जो उमरसे बूढ़े थे और तपस्याके कारण अधिक बूढ़े हो गये थे, काँपते हुए, प्राणियोंपर दया करनेवाले रामचन्द्रसे बोले ।८॥ तात, सीताका स्वभाव पुण्यमय है, उसका मन सदा पुण्यकी ओर जाता है, उसके द्वारा तपस्वियोंके प्रति अनुचित व्यवाहार कैसे हो सकता है ॥९॥ तुम्हारे कारण ऋषियोंको राक्षसोंसे भय उत्पन्न हो गया है, अतएव व्याकुल होकर आपसमें इस प्रकार बातें कर रहे हैं ॥१०॥ रावणका छोटा भाई खर नामक कोई राक्षस है, जनस्थानमें रहनेवाले सब तपस्वियोंको उसने मार डाला । वह बड़ा ही क्रूर, ढीठ और निर्भय है, पुरुषोंको खानेवाला और अहंकारी है । वह

त्वं यदा प्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे । तदा प्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् ॥१३॥
दर्शयन्ति हि बीभत्सैः क्रूरैर्भीषणकैरपि । नानारूपैर्विरूपैश्च रूपैरसुखदर्शनैः ॥१४॥
अप्रशस्तैरशुचिभिः संप्रयुज्य च तापसान् । प्रतिघ्नन्त्यपरान् क्षिप्रमनार्याः पुरतः स्थितान् ।१५।
तेषु तेष्वाश्रमस्थानेष्वबुद्धमवलीय च । रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः ॥१६॥
अवक्षिपन्ति स्रुग्भाण्डानग्नीन्सिञ्चन्ति वारिणा । कलशांश्च प्रमर्दन्ति हवने समुपस्थिते ॥१७॥
तैर्दुरात्मभिराविष्टानाश्रमान्प्रजिघांसवः । गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्यृषयोऽद्य माम् ॥१८॥
तत्पुरा राम शारीरीमुपहिंसां तपस्विषु । दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्ष्याम इममाश्रमम् ॥१९॥
बहुमूलफलं चित्रमविदूरादितो वनम् । अश्वस्याश्रममेवाहं श्रयिष्ये सगणः पुनः ॥२०॥
खरस्त्वय्यपि चायुक्तं पुरा राम प्रवर्तते । सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते ॥२१॥
सकलत्रस्य संदेहो नित्यं युक्तस्य राघव । समर्थस्यापि सहितो वासो दुःखमिहाद्य ते ॥२२॥
इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम् । न शशाकोत्तरैर्वाक्यैरवबद्धुं समुत्सुकम् ॥२३॥
अभिनन्द्य समापृच्छ्य समाधाय च राघवम् । स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह ॥२४॥

रामः संसाध्य ऋषिगणमनुगमनाद्देशात्तस्मात्कुलपतिमभिवाद्य ऋषिम् ।
सम्यक्प्रीतैस्तैरनुमत उपदिष्टार्थः पुण्यं वासाय स्वनिलयमुपसंपेदे ॥२५॥

तुमको दुःख देना चाहता है ॥११, १२॥ तात, जबसे तुम इस आश्रममें आये हो, तबसे राक्षसलोग तपस्वियोंको बहुत दुख देते हैं ॥१३॥ बीभत्स, क्रूर, भयानक अनेक प्रकारके अद्भुत, देखनेमें बुरे रूप बनाकर ऋषियोंको डराया करते हैं, ॥१४॥ अनार्य राक्षस पाप उत्पन्न करनेवाले, अशुद्ध पदार्थों से, अपने आगे वर्तमान तपस्वियोंको छुआकर, उन्हें मार डालते हैं ॥१५॥ वे भिन्न-भिन्न आश्रमोंमें अज्ञातरूपसे जाकर छिप जाते हैं और अल्पज्ञ महर्षियोंको मारकर प्रसन्न होते हैं ॥१६॥ स्रुवा और अन्य यज्ञके पात्रोंको फेंक देते हैं, आगपर जल डाल देते हैं, घड़े फोड़ देते हैं और यह सब हवनके समयमें वे करते हैं ॥१७॥ उन दुरात्माओंसे ये आश्रम दूषित हो गये हैं। अतएव इन आश्रमोंको छोड़कर ऋषि दूसरे आश्रमोंमें जानेके लिए ऋषि मुझसे कह रहे हैं ॥१८॥ अब वे तपस्वियोंका वध करनेवाले हैं, अतएव, हम लोग इस आश्रमको छोड़ देना चाहते हैं ॥१९॥ यहाँसे थोड़ीही दूर पर एक सुन्दर वन है, जहाँ खूब फल और मूल है। वहाँ अश्वऋषिका आश्रम है, मैं अपने साथियोंके साथ वहीं जाऊँगा ॥२०॥ रामचन्द्र, खर तुम्हारे प्रति भी बुरा व्यवहार करेगा, अतएव तुम भी हम लोगोंके साथ इस वनसे चलो, यदि यह सलाह तुम्हें उचित जान पड़े ॥२१॥ रामचन्द्र यद्यपि आप सदा सावधान रहते हैं और समर्थ भी हैं, रामचन्द्र, फिर भी स्त्रीके साथ आपको यहाँ रहने में बुराई हो सकती है ॥२२॥ तपस्वीके ऐसा कहने पर अपने उत्तरके वचनोंसे उन्हें रोक न सके, क्योंकि वे जानेके लिए बहुतही उत्सुक थे ॥२३॥ रामचन्द्रकी स्तुति करके उन्हें समझाकर और उन्हें न घबड़ानेके लिए कहकर कुलपति आश्रम छोड़कर अपने विद्यार्थियों के साथ चले गये ॥२४॥ वहाँसे जानेवाले ऋषियोंको पहुँचाकर कुलपति ऋषिको प्रणाम कर,

आश्रममृषिविरहितं प्रभुः क्षणमपि न जहौ स राघवः।
राघवं हि सततमनुगतास्तापसाश्चार्षचरिते धृतगुणाः ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥११६॥

सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ११७

राघवस्त्वपयातेषु सर्वेष्वनु विचिन्तयन्। न तत्रारोचयद्वासं कारणैर्बहुभिस्तदा ॥ १ ॥
इह मे भरतो दृष्टो मातरश्च सनागराः। सा च मे स्मृतिरन्वेति तान्नित्यमनुशोचतः ॥ २ ॥
स्कन्धावारनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः। हयहस्तिकरीषैश्च उपमर्दः कृतो भृशम् ॥ ३ ॥
तस्मादन्यत्र गच्छाम इति संचिन्त्य राघवः। प्रातिष्ठत स वैदेह्या लक्ष्मणेन च संगतः ॥ ४ ॥
सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं ववन्दे महायशाः। तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत्प्रत्यपद्यत ॥ ५ ॥
स्वयमातिथ्यमादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम्। सौमित्रिं च महाभागं सीतां च समसान्त्वयत् ॥ ६ ॥
पत्नीं च तमनुप्राप्तां वृद्धामामन्त्र्य सत्कृताम्। सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥
अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम्। प्रतिगृह्णीष्व वैदेहीमब्रवीदृषिसत्तमः ॥ ८ ॥
रामाय चाचचक्षे तां तापसीं धर्मचारिणीम्। दश वर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम् ॥ ९ ॥

प्रसन्नतापूर्वक उनकी दी हुई आज्ञा तथा उपदेश लेकर, विश्राम करनेके लिए अपने पवित्र आश्रममें रामचन्द्र आये ॥२५॥ ऋषियोंसे विरहित उस आश्रमको रामचन्द्रने एक क्षणके लिए भी नहीं छोड़ा। ऋषिके समान आचरण करनेवाले, रामचन्द्रपर विश्वास करके बहुतसे ऋषि रह गये, दूसरे आश्रमोंमें नहीं गये ॥२६॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥११६॥

अनेक ऋषियोंके वहाँसे चले जानेपर रामचन्द्र विचार करने लगे और अनेक कारणोंसे उन्होंने वहाँ रहना पसन्द नहीं किया ॥१॥ यहीं भरत, माताएँ तथा नगरवासी मुझसे मिले थे। इनकी स्मृतिसे, उनके सम्बन्धकी बातें मैं सोचता हूँ और वह सदा बनी रहती है ॥२॥ महात्मा भरतकी सेनाके ठहरनेसे हाथी और घोड़ोंकी लीदसे यह स्थान बहुतही अशुद्ध हो गया ॥३॥ अतएव, यहाँसे दूसरी जगह चलें ऐसा सोचकर लक्ष्मण और सीताके साथ रामचन्द्रने प्रस्थान किया ॥४॥ अत्रिके आश्रममें जाकर, महायशस्वी रामचन्द्रने उन्हें प्रणाम किया और भगवान अत्रिने भी उनके साथ पुत्रकासा व्यवहार किया ॥५॥ स्वयं उनका अतिथि-सत्कार करके सीता और लक्ष्मणकी ओर प्रेमपूर्वक उन्होंने देखा ॥६॥ समीप आयी हुई वृद्धा अपनी स्त्रीको सब प्राणियोंके हितकारी, धर्मज्ञ उन ऋषिने सत्कारपूर्वक उत्तम वचनोंसे सन्तुष्ट किया ॥७॥ तपस्विनी धर्मचारिणी अनुसूयासे वे ऋषिश्रेष्ठ बोले—सीताका आलिंगन करो ॥८॥ मुनिने धर्मचारिणी तापसीका परिचय रामचन्द्रको देते हुए कहा—दस वर्षों तक वृष्टि नहीं हुई थी। संसार जलने

यया मूलफले सृष्टे जान्हवी च प्रवर्तिता । उग्रेण तपसा युक्ता नियमैश्चाप्यलंकृता ॥१०॥
दश वर्षसहस्राणि यया तप्तं महत्तपः । अनसूया व्रतैस्तात प्रत्यूहाश्च निवर्हिताः ॥११॥
देवकार्यनिमित्तं च यया संत्वरमाणया । दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ ॥१२॥
तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां तपस्विनीम् । अभिगच्छतु वैदेही वृद्धामक्रोधनां सदा ॥१३॥
एवं ब्रुवाणं तमृषिं तथेत्युक्त्वा स राघवः । सीतामालोक्य धर्मज्ञामिदं वचनमब्रवीत् ॥१४॥
राजपुत्रि श्रुतं त्वेतन्मुनेरस्य समीरितम् । श्रेयोऽर्थमात्मनः शीघ्रमभिगच्छ तपस्विनीम् ॥१५॥
अनसूयेति या लोके कर्मभिः ख्यातिमागता । तां शीघ्रमभिगच्छ त्वमभिगम्यां तपस्विनीम् ॥१६॥
सीता त्वेतद्वचः श्रुत्वा राघवस्य यशस्विनी । तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली ॥१७॥
शिथिलां वलितां वृद्धां जरापाण्डुरमूर्धजाम् । सततं वेपमानाङ्गीं प्रवाते कदलीमिव ॥१८॥
तां तु सीता महाभागामनसूयां पतिव्रताम् । अभ्यवादयदव्यग्रा स्वं नाम समुदाहरत् ॥१९॥
अभिवाद्य च वैदेही तापसीं तां दमान्विताम् । बद्धाञ्जलिपुटा हृष्टा पर्यपृच्छदनामयम् ॥२०॥
ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम् । सान्त्वयन्त्यब्रवीद्वृद्धा दिष्ट्या धर्ममवेक्षसे ॥२१॥
त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते मानवृद्धिं च मानिनि । अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि ॥२२॥
नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः । यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः २३

लगा था, उस समय इसने फल मूल उत्पन्न किया, गंगाको यहां बहवाया, दस हजार वर्षों तक जिसने कठोर तपस्या की, जिसकी तपस्या उग्र है और जो उत्तम नियमोंसे सुशोभित है, अनुसूयाके व्रतोंके प्रभावसेही ऋषियोंके विघ्न दूर हुए थे, देवकार्यके लिए त्वरा रखनेवाली जिसने दस रातकी एक रात बनाई, वे ये अनुसूया तुम्हारी माताके समान पूज्य हैं ॥९,१०,११,१२॥ सब प्राणियोंके नमस्करणीय इन तपस्विनीके पास वैदेही जाय, ये वृद्धा क्रोध-रहित हैं ॥१३॥ ऋषिके ऐसा कहनेपर रामचन्द्रने उनकी बात स्वीकार की, पुनः वे धर्म जाननेवाली सीताकी ओर देखकर बोले ॥१४॥ राजपुत्री, इन मुनिने जो कहा है, वह तो तुमने सुना ही। तुम शीघ्रही अपने कल्याणके लिए इन तपस्विनीके पास जाओ ॥१५। अपने कर्मोंसे जो अनुसूया नामसे प्रसिद्ध हुई है और जो जानेके योग्य हैं, उन तपस्विनीके पास तुम शीघ्र जाओ ॥१६॥ रामचन्द्रके ये वचन सुनकर यशस्विनी सीता, धर्म जाननेवाली उन अत्रिपत्नीके पास गयीं ॥१७। उनके अंग शिथिल हो गये थे, झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। वृद्धावस्थाके कारण बाल सफेद हो गये थे। हवामें कदलीके समान सदा वे काँप रही थीं ॥१८॥ पतिव्रता अनुसूयाको सीताने सावधान होकर प्रणाम किया और अपना नाम बतलाया ॥१९॥ उन तापसीको प्रणाम करके सीताने हाथ जोड़कर उनका आरोग्य पूछा ॥२०॥ महाभागा, धर्मचरिणी सीताको देखकर उनको सन्तुष्ट करती हुई अनुसूया बोलीं—प्रसन्नताकी बात है, तुम धर्मका विचार रखती हो ॥२१॥ अपने ज्ञातिके लोगोंको छोड़कर तथा अपने राजपुत्री होनेका अहंकार छोड़कर तुम वन भेजे गये अपने पतिके साथ वनमें आयी हो, यह प्रसन्नताकी बात है ॥२२॥ नगरमें, वनमें अच्छा

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः। स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥२४॥
नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम्। सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम् ॥२५॥
न त्वेवमनुगच्छन्ति गुणदोषमसत्स्त्रियः। कामवक्तव्यहृदया भर्तृनाथाश्चरन्ति याः ॥२६॥
प्राप्नुवन्त्ययशश्चैव धर्मभ्रंशं च मैथिलि। अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो याः खलु तद्विधाः ॥२७॥
त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः। स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा पुण्यकृतस्तथा ॥२८॥

तदेवमेतं त्वमनुव्रता सती पतिप्रधाना समयानुवर्तिनी।
भव स्वभर्तुः सह धर्मचारिणी यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥११७॥

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः ११८

सा त्वेवमुक्ता वैदेही त्वनसूयानसूयया। प्रतिपूज्य वचो मन्दं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥
नैतदाश्चर्यमार्यायां यन्मां त्वमनुभाषसे। विदितं तु ममाप्येतद्यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ २ ॥
यद्यप्येष भवेद्भर्ता अनार्यो वृत्तिवर्जितः। अद्वैधमत्र वर्तव्यं तथाप्येष मया भवेत् ॥ ३ ॥

या बुरा जैसा भी हो पति जिन स्त्रियोंको प्रिय होता है उन्हींको श्रेष्ठ लोक मिलता है ॥२३॥ दुःशील हो मनमाना व्यवहार करनेवाला हो, अथवा दरिद्र हो, श्रेष्ठ स्वभाव रखनेवाली स्त्रियोंके लिए पतिही देवता है ॥२४॥ बहुत विचार करनेपर भी पतिके समान हितकारी बन्धु मैं दूसरेको नहीं पाती। यह इस लोक और परलोकमें हितकारी है। यह तपस्याका अविनाशी फल है ॥२५॥ जिनका हृदय कामके अधीन है, जो अपने पतिपर शासन करती हैं, वे बुरी स्त्रियाँ, पतिका अनुगमन नहीं करतीं। वे इन गुण दोषोंको नहीं जानतीं ॥२६॥ कामके वशमें रहनेवाली उस प्रकारकी स्त्रियाँ कलंकित होती हैं और धर्मसे भ्रष्ट होती हैं ॥२७॥ तुम्हारे समान स्त्रियाँ, जिन लोगोंने लोकके उत्तम, मध्यम धर्मोंको जाना है और जो पतिका अनुवर्तन करती हैं, वे पुण्यात्माओंके समान स्वर्गमें विचरण करती हैं ॥२८॥ इसी प्रकार पतिको सर्वस्व समझती हुई, यथासमय पतिका अनुवर्तन करती हुई, इस पतिसेवाको अपना धर्म समझती हुई तुम इसी प्रकार अपने पतिके साथ धर्माचरण करो, इससे तुम्हारा यश बढ़ेगा और धर्मप्राप्त होगा ॥२९॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११७ ॥

अनुसूयाके ऐसा कहने पर क्रोधरहित जानकीने उनके वचनोंकी प्रशंसा की और पुनः वे धीरे-धीरे बोलीं ॥१॥ आपने जो मुझे उपदेश दिया है, वह आपके लिए आश्चर्यकी कोई बात नहीं है, क्योंकि आप आर्या हैं। स्त्रीका गुरु पति है यह बात मुझे भी मालूम है ॥२॥ यदि मेरे ये पति हीनचरित्रके होते,

किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः । स्थिरानुरागो धर्मात्मा मातृवत्पितृवत्प्रियः ॥ ४ ॥
यां वृत्तिं वर्तते रामः कौसल्यायां महाबलः । तामेव नृपनारीणामन्यासामपि वर्तते ॥ ५ ॥
सकृद्दृष्टास्वपि स्त्रीषु नृपेण नृपवत्सलः । मातृवद्वर्तते वीरो मानमुत्सृज्य धर्मवित् ॥ ६ ॥
आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम् । समाहितं हि मे श्वश्र्वा हृदये यत्स्थिरं मम ॥ ७ ॥
पाणिप्रदानकाले च यत्पुरा त्वग्निसंनिधौ । अनुशिष्टं जनन्या मे वाक्यं तदपि मे धृतम् ॥ ८ ॥
न विस्मृतं तु मे सर्वं वाक्यैः स्वैर्धर्मचारिणी । पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद्विधीयते ॥ ९ ॥
सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते । तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥१०॥
वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता । रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते ॥११॥
एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः । देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥१२॥
ततोऽनसूया संहृष्टा श्रुत्वोक्तं सीतया वचः । शिरसाघ्राय चोवाच मैथिलीं हर्षयन्त्युत ॥१३॥
नियमैर्विविधैराप्तं तपो हि महदस्ति मे । तत्संश्रित्य बलं सीते छन्दये त्वां शुचिव्रते ॥१४॥
उपपन्नं च युक्तं च वचनं तव मैथिलि । प्रीता चास्म्युचितं सीते करवाणि प्रियं च किम्॥१५॥
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा विस्मिता मन्दविस्मया । कृतमित्यब्रवीत्सीता तपोबलसमन्विताम् ॥१६॥

जीविकारहित होते, फिर भी मैं बिना द्विविधाके इनकी सेवा करती ॥३॥ फिर ये मेरे पति तो श्लाघनीय गुणोंसे युक्त हैं, दयालु हैं, जितेन्द्रिय हैं, दृढ़ानुरागी और धर्मात्मा हैं तथा माता पिताके समान मुझमें प्रेम रखनेवाले हैं ॥४॥ महाबली रामचन्द्र कौसल्याके प्रति जैसा व्यवहार करते हैं वैसाही व्यवहार राजाकी अन्य स्त्रियोंके प्रति करते हैं ॥५॥ राजा दसरथने एक बार किसी स्त्रीकी ओर आँख उठाकर देख लिया हो, उस स्त्रीके प्रति राजामें प्रेम रखनेवाले धर्मात्मा रामचन्द्र माताके समान व्यवहार करते हैं ॥६॥ भयदायी निर्जन वनमें जब मैं आ रही थी, तब मेरे सासने मुझे उहदेश दिया था, वह मेरे हृदयमें वर्तमान है ॥७॥ कन्यादानके सययमें अग्निके समीप मेरी माताने जो वाक्य मुझसे कहे थे, वे भी स्मरण हैं ॥८॥ धर्मचारिणी, तुम्हारे वचनोंसे वे सब बातें पुनः नयी हो गयी हैं । पति सुश्रूषाके अतिरिक्त स्त्रियोंके लिये दूसरा तप नहीं है ॥९॥ पति-सुश्रूषासे ही सावित्री स्वर्गमें पूजित होती है । सावित्री समान आचरण करनेवाली तुम भी पति सुश्रूषासेही स्वर्गकी अधिकारिणी हुई हो ॥१०॥ सब स्त्रियोंमें श्रेष्ठ रोहिणी भी अपने पति चन्द्रमाके बिना एक मुहूर्त्त भी नहीं रहती ॥११॥ इस प्रकार पतिमें दृढ़ प्रेम रखनेवाली उत्तम स्त्रियाँ अपने पवित्र कर्मोंसे देवलोकमें पूजित होती हैं ॥१२॥ तब सीताके वचन सुनकर प्रसन्न अनुसूया उनका मस्तक सूँघकर और उन्हें प्रसन्न करती हुई बोलीं ॥१३॥ अनेक प्रकारके नियमोंके पालन करनेसे मैंने बहुतसी तपस्या की है । उस तपस्याका बल मुझे है, उसीके कारण मैं तुमसे कहती हूँ कि हे पवित्रव्रतवाली, वर माँगो ॥१४॥ मैथिली, ये तुम्हारे वचन उचित हैं, मैं प्रसन्न हुई हूँ । अतएव, तुम कहो, तुम्हारा कौनसा प्रिय काम करूँ ॥१५॥ अनुसूयाके वे वचन सुनकर सीताको आश्चर्य हुआ, वे हँसती हुई तपस्याका बल रखनेवाली अनुसूयासे बोली—आपकी दयासे सभी है, कोई और फल न

सा त्वेवमुक्ता धर्मज्ञा तया प्रीततराभवत् । सफलं च प्रहर्षं ते हन्त सीते करोम्यहम् ॥१७॥
इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च । अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम् ॥१८॥
मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत् । अनुरूपमसंक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति ॥१९॥
अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे । शोभयिष्यसि भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम् ॥२०॥
सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि स्रजस्तथा । मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥२१॥
प्रतिगृह्य च तत्सीता प्रीतिदानं यशस्विनी । श्लिष्टाञ्जलिपुटा धीरा समुपास्त तपोधनाम् ॥२२॥
तथा सीतामुपासीनामनसूया दृढव्रता । वचनं प्रष्टुमारेभे कथां कांचिदनुप्रियाम् ॥२३॥
स्वयंवरे किल प्राप्ता त्वमनेन यशस्विना । राघवेणेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥२४॥
तां कथां श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण च मैथिली । यथाभूतं च कार्त्स्न्येन तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥२५॥
एवमुक्ता तु सा सीता तापसीं धर्मचारिणीम् । श्रूयतामिति चोक्त्वा वै कथयामास तां कथाम् ॥२६॥
मिथिलाधिपतिर्वीरो जनको नाम धर्मवित् । क्षत्रकर्मण्यभिरतो न्यायतः शास्ति मेदिनीम् ॥२७॥
तस्य लाङ्गलहस्तस्य कृषतः क्षेत्रमण्डलम् । अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता ॥२८॥
स मां दृष्ट्वा नरपतिर्मुष्टिविक्षेपतत्परः । पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विस्मितो जनकोऽभवत् ॥२९॥
अनपत्येन च स्नेहादङ्कमारोप्य च स्वयम् । ममेयं तनयेत्युक्त्वा स्नेहो मयि निपातितः ॥३०॥
अन्तरिक्षे च वागुक्ता प्रतिमामानुषी किल । एवमेतन्नरपते धर्मेण तनया तव ॥३१॥

चाहिए ॥१६॥ सीताके ऐसा कहनेपर धर्मज्ञा अनुसूया अत्यन्त प्रसन्न हुई। उन्होंने कहा—तुम्हारे इस आनन्दको मैं सफल बनाऊँगी। तुम्हारी इस लोभहीनताका फल मैं तुम्हें दूँगी ॥१७॥ यह दिव्य और श्रेष्ठ माला, वस्त्र और आभरण, श्रेष्ठ अंगराज (उबटन) मैं सीते, तुम्हें देती हूँ। इनसे तुम्हारे अंगोंकी शोभा होगी और उपयोग करनेपर भी ये खराब न होंगे ॥१८, १९॥ जानकी दिव्य अंगराग अपने शरीरमें लेपकर तुम अपने पतिको सुशोभित करोगी, जिस प्रकार लक्ष्मी विष्णुको शोभित करती हैं ॥२०॥ जानकीने वस्त्र, अंगराग, भूषण और माला अनुसूयाके श्रेष्ठ प्रीतिदान स्वरूप लीं ॥२१॥ यशस्विनी सीता वह प्रीतिदान लेकर और हाथ जोड़कर धीरा सीता, तपस्विनी अनुसूयाके पास खड़ी होगयी ॥२२॥ उस प्रकार सीताको खड़ी देखकर दृढ़तापूर्वक व्रतपालन करनेवाली अनुसूया कोई प्रिय कथा सुननेकी इच्छासे सीतासे पूछने लगी ॥२३॥ यशस्वी रामचन्द्रने स्वयंवरमें तुम्हें पाया है, यह बात मैंने सुनी है ॥२४॥ वह कथा विस्तारपूर्वक मैं सुनना चाहती हूँ, जो सब हुआ था मुझसे वह सब कहो ॥२५॥ ऐसा कहनेपर सीता तपस्विनी धर्मचारिणीसे बोली—सुनिये, और वह कथा कहने लगीं ॥२६॥ मिथिलाके महाराज जनक वीर और धर्मात्मा हैं, वे क्षत्रियधर्ममें अनुराग रखते हैं और न्यायपूर्वक पृथिवीका शासन करते हैं ॥२७॥ हाथमें हल लेकर जनकके खेत जोतते समय पृथिवी फोड़कर राजाकी कन्या उत्पन्न हुई ॥२८॥ राजा जनक मुट्ठीका बीज पृथिवीमें डाल रहे थे, उस समय धूलिसे सर्वांग सनी मुझको देखकर वे विस्मित हुए ॥२९॥ राजाके कोई सन्तान न थी, अतएव स्नेहपूर्वक मुझे गोदमें उठाकर उन्होंने कहा—यह मेरी पुत्री है और मुझपर प्रेम करने लगे ॥३०॥ उस समय आकाशसे अमानुषी वाणी हुई—राजन्,

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा पिता मे मिथिलाधिपः । अवाप्तो विपुलामृद्धिं मामवाप्य नराधिपः ॥३२॥
दत्ता चास्मीष्टवद्देव्यै ज्येष्ठायै पुण्यकर्मणे । तया संभाविता चास्मि स्निग्धया मातृसौहृदात् ३३
पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता । चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्तनाशादिवाधनः ॥३४॥
सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात् । प्रधर्षणमवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि ॥३५॥
तां धर्षणामदूरस्थां संदृश्यात्मनि पार्थिवः । चिन्तार्णवगतः पारं नाससादाप्लवो यथा ॥३६॥
अयोनिजां हि मां ज्ञात्वा नाध्यगच्छत्सचिन्तयन् । सदृशं चाभिरूपं च महीपालः पतिं मम ॥३७॥
तस्य बुद्धिरियं जाता चिन्तयानस्य संततम् । स्वयंवरं तनूजायाः करिष्यामीति धर्मतः ॥३८॥
महायज्ञे तदा तस्य वरुणेन महात्मना । दत्तं धनुर्वरं प्रीत्या तूणी चाक्षय्यसायकौ ॥३९॥
असंचाल्यं मनुष्यैश्च यत्नेनापि च गौरवात् । तन्न शक्ता नमयितुं स्वप्नेष्वपि नराधिपाः ॥४०॥
तद्धनुः प्राप्य मे पित्रा व्याहृतं सत्यवादिना । समवाये नरेन्द्राणां पूर्वमामन्त्र्य पार्थिवान् ॥४१॥
इदं च धनुरुद्यम्य सज्यं यः कुरुते नरः । तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशयः ॥४२॥
तच्च दृष्ट्वा धनुः श्रेष्ठं गौरवाद्गिरिसंनिभम् । अभिवाद्य नृपा जग्मुरशक्तास्तस्य तोलने ॥४३॥
सुदीर्घस्य तु कालस्य राघवोऽयं महाद्युतिः । विश्वामित्रेण सहितो यज्ञं द्रष्टुं समागतः ॥४४॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामः सत्यपराक्रमः । विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा मम पित्रा सुपूजितः ॥४५॥

ठीक है, धर्मसे यह तुम्हारी कन्या ही है ॥३१॥ तदनन्तर धर्मात्मा मेरे पिता, मिथिलाधीश बड़े प्रसन्न हुए और मुझे पानेके पश्चात् उन्होंने बहुत बड़ी समृद्धि पायी ॥३२॥ राजाने अपनी प्रिय और पुण्यात्मा बड़ी रानीको मुझे सौंप दिया । मातृप्रेमसे, स्नेहसे उन्होंने मेरा पालन किया ॥३३॥ पतिके साथ रहनेकी मेरी अवस्था देखकर मेरे पिता बहुत ही दुखी और चिन्तित हुए, जिस प्रकार दरिद्र धनके नाशसे चिन्तित और दुखी होता है ॥३४॥ बराबरीके तथा अपनेसे छोटे मनुष्योंसे भी कन्याके पिताको चाहे वह इन्द्रके समान ही क्यों न हो, उसे अपमानित होना पड़ता है ॥३५॥ उस अपमानको अपने पास आये देखकर वे चिन्तासमुद्रके पार नहीं जा सके, जिस प्रकार नौकाहीन मनुष्य ॥३६॥ मैं मानवीके गर्भसे उत्पन्न नहीं हूँ, अतएव कैसा पति मेरे योग्य होगा, राजा बहुत सोचनेपर भी इसका निर्णय नहीं कर सके ॥३७॥ बहुत सोचनेपर राजाने यह निश्चय किया कि मैं कन्याका धर्मपूर्वक स्वयंवर करूँगा ॥३८॥ दक्ष-यज्ञके समय महात्मा वरुणने मेरे पिताको एक उत्तम धनुष और अक्षय्यसायक (जिसके बाण कभी न घटें) दो तरकस दिये ॥३९॥ भारी होनेके कारण प्रयत्न करनेपर भी मनुष्य उस धनुषको नहीं उठा सकता था । राजा लोग स्वप्नमें भी उस धनुष को नहीं नवा सकते थे ॥४०॥ उस धनुषको पाकर सत्यवादी मेरे पिताने पहले राजाओंको निमंत्रित किया और उन्हीं राजाओंके बीचमें कहा ॥४१॥ जो मनुष्य इस धनुषको उठाकर इसपर रौंदा चढ़ा देगा, मेरी कन्या उसकी स्त्री होगी, इसमें सन्देह नहीं ॥४२॥ उस उत्तम धनुषको देखकर, जो पर्वतके समान भारी था, उसको उठानेमें असमर्थ राजा प्रणाम करके चले गये ॥४३॥ बहुत दिनोंके बाद महाद्युति रामचन्द्र विश्वामित्रके साथ यज्ञ देखनेके लिए गये ॥४४॥ धर्मात्मा विश्वामित्र तथा सत्यपराक्रम राम और लक्ष्मणकी मेरे पिताने पूजा की ॥४५॥ विश्वामित्रने

प्रोवाच पितरं तत्र राघवौ रामलक्ष्मणौ । सुता दशरथस्येमौ धनुर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ॥४६॥
इत्युक्तस्तेन विप्रेण तद्धनुः समुपानयत् । तद्धनुर्दर्शयामास राजपुत्राय दैविकम् ॥४७॥
निमेषान्तरमात्रेण तदानम्य महाबलः । ज्यां समारोप्य झटिति पूरयामास वीर्यवान् ॥४८॥
तेनापूरयता वेगान्मध्ये भग्नं द्विधा धनुः । तस्य शब्दोऽभवद्भीमः पतितस्याशनेर्यथा ॥४९॥
ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्याभिसंधिना । उद्यता दातुमुद्यम्य जलभाजनमुत्तमम् ॥५०॥
दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः । अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥५१॥
ततः श्वशुरमामन्त्र्य वृद्धं दशरथं नृपम् । मम पित्रा त्वहं दत्ता रामाय विदितात्मने ॥५२॥
मम चैवानुजा साध्वी ऊर्मिला शुभदर्शना । भार्यार्थे लक्ष्मणस्यापि दत्ता पित्रा मम स्वयम् ॥५३॥
एवं दत्तास्मि रामाय तथा तस्मिन्स्वयंवरे । अनुरक्तास्मि धर्मेण पतिं वीर्यवतां वरम् ॥५४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टादशाधिकशततमः सर्गः ॥११८॥

एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः ११९

अनसूया तु धर्मज्ञा श्रुत्वा तां महतीं कथाम् । पर्यष्वजत दाहुभ्यां शिरस्याघ्राय मैथिलीम् ॥ १ ॥
व्यक्ताक्षरपदं चित्रं भाषितं मधुरं त्वया । यथा स्वयंवरं वृत्तं तत्सर्वं च श्रुतं मया ॥ २ ॥
रमेयं कथया ते तु दृढं मधुरभाषिणि । रविरस्तंगतः श्रीमानुपोह्य रजनीं शुभाम् ॥ ३ ॥

मेरे पितासे कहा—ये राम और लक्ष्मण रघुवंशी दसरथके पुत्र हैं और धनुष देखना चाहते हैं ॥४६॥ विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर वह धनुष वहाँ मंगाया गया और राजपुत्र रामचन्द्रको देवताका वह धनुष दिखलाया गया ॥४७॥ पलक मारते ही महाबली रामचन्द्रने उस धनुषको उठा लिया और रौदा चढ़ा दिया तदनन्तर, उसे खींचा ॥४८॥ बलपूर्वक खींचनेके कारण वह बीचही से दो टुकड़े हो गया और उसके टूटनेका वज्र गिरनेके समान शब्द हुआ ॥४९॥ तदनन्तर, सत्यप्रतिज्ञ मेरे पिता उत्तम जलपात्र लेकर रामचन्द्रको मुझे देनेके लिये उद्यत हुए ॥५०॥ पर अयोध्याधिपति अपने पिताके बिना अभिप्राय जाने, रामचन्द्रने मेरा दान लेना स्वीकार न किया ॥५१॥ तब मेरे पिताने वृद्ध मेरे ससुर राजाको निमंत्रित किया और पिताने परिचित पराक्रम रामचन्द्रको मेरा दान किया ॥५२॥ मेरी छोटी बहिन साध्वी और सुंदरी उर्मिलाको स्त्री बनानेके लिए लक्ष्मणको स्वयं दी ॥५३॥ इस प्रकार उस स्वयंवरमें रामचन्द्रको मैं दी गयी । प्रभावशालियोंमें श्रेष्ठ अपने पतिपर मैं धर्मतः अनुराग रखती हूँ ॥५४॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥११८॥

धर्मज्ञा अनुसूयाने यह लम्बी कथा सुनकर जानकीका मस्तक सूंघा और उनका आलिंगन किया ॥१॥ वे बोलीं, तुमने बड़ा ही मधुर भाषण किया । तुम्हारे अक्षर और पद स्पष्ट थे । जिस प्रकार वह स्वयम्बर हुआ, वह सब मैंने सुना लिया ॥२॥ मधुरभाषिणी, तुम्हारे बातोंसे मुझे बड़ा आनन्द आता

दिवसं परिकीर्णानामाहारार्थं पतत्रिणाम् । संध्याकाले निलीनानां निद्रार्थं श्रूयते ध्वनिः ॥ ४ ॥
एते चाप्यभिषेकार्द्रा मुनयः कलशोद्यताः । सहिता उपवर्तन्ते सलिलाप्लुतवल्कलाः ॥ ५ ॥
अग्निहोत्रे च ऋषिणा हुते च विधिपूर्वकम् । कपोताङ्गारुणो धूमो दृश्यते पवनोद्धतः ॥ ६ ॥
अल्पवर्णा हि तरवो घनीभूताः समन्ततः । विप्रकृष्टेन्द्रिये देशे न प्रकाशन्ति वै दिशः ॥ ७ ॥
रजनीचरसत्त्वानि प्रचरन्ति समन्ततः । तपोवनमृगा ह्येते वेदितीर्थेषु शेरते ॥ ८ ॥
संप्रवृत्ता निशा सीते नक्षत्रसमलंकृता । ज्योत्स्नाप्रावरणश्चन्द्रो दृश्यतेऽभ्युदितोऽम्बरे॥ ९ ॥
गम्यतामनुजानामि रामस्यानुचरी भव । कथयन्त्या हि मधुरं त्वयाहमपि तोषिता ॥१०॥
अलंकुरु च तावत्त्वं प्रत्यक्षं मम मैथिलि । प्रीतिं जनय मे वत्से दिव्यालंकारशोभिनी ॥११॥
सा तदा समलंकृत्य सीता सुरसुतोपमा । प्रणम्य शिरसा पादौ रामं त्वभिमुखी ययौ ॥१२॥
तथा तु भूषितां सीतां ददर्श वदतां वरः । राघवः प्रीतिदानेन तपस्विन्या जहर्ष च ॥१३॥
न्यवेदयत्ततः सर्वं सीता रामाय मैथिली । प्रीतिदानं तपस्विन्या वसनाभरणस्रजाम् ॥१४॥
प्रहृष्टस्त्वभवद्रामो लक्ष्मणश्च महारथः । मैथिल्याः सत्क्रियां दृष्ट्वा मानुषेषु सुदुर्लभाम् ॥१५॥
ततः स शर्वरीं प्रीतः पुण्यां शशिनिभाननाम् । अर्चितस्तापसैः सर्वैरुवास रघुनन्दनः ॥१६॥

है, पर रात्रिको बुलाकर सूर्य अस्ताचल चले गये ॥३॥ दिनमें आहारके लिए चारों ओर गए हुए और संध्याके समय निद्राके लिए इकत्र हुए पक्षियोंकी ध्वनि सुन पड़ती है ॥४॥ हाथमें घड़ा लिए हुए, स्नान करनेके कारण भींगे हुए, ये मुनि, जिनके वल्कल वस्त्र जलसे भींग गये हैं, साथ ही लौट रहे हैं ॥५॥ ऋषिने विधिपूर्वक अग्निहोत्रमें हवन किया है, जिससे वायुके द्वारा उड़ाये, कबूतरके शरीरके समान धूम दिखायी पड़ता है ॥६॥ इन्द्रियोंसे दूर वर्तमान स्थानोंके थोड़े पत्तेवाले भी वृक्ष बहुत सघन मालूम पड़ते हैं और दिशाएँ प्रकाशित नहीं होतीं ॥७॥ रातमें घूमनेवाले प्राणी (राक्षस आदि) इधर-उधर घूम रहे हैं। ये तपोवनके मृग पवित्र वेदियोंपर सो रहे हैं ॥८॥ सीते, रात होगयी, नक्षत्र निकल आये, ज्योत्स्नाकी चादर ओढ़कर चन्द्रमा आकाशमें उदित हुआ दीख पड़ता है ॥९॥ जाओ, मैं आज्ञा देती हूँ, रामकी सेवा करो। मधुर बातें कहकर तुमने मुझे बहुत प्रसन्न किया ॥१०॥ सीते, मेरे ही सामने तुम गहने, वस्त्र, माला और अंगरागसे अपनेको अलंकृत करो। बेटी ! दिव्य अलंकारोंसे शोभित होकर मुझे प्रसन्न करो ॥११॥ अलंकारों से अलंकृत होकर सीता देवकन्याके समान हो गयीं, अनुसूयाके चरणोंको इन्होंने प्रणाम किया और वे सामने गयीं ॥१२॥ तपस्विनीके प्रीतिदानसे अलंकृत सीताको रामचन्द्रने देखा और वे प्रसन्न हुए ॥१३॥ तदनन्तर, वस्त्र, आभरण, और मालाका प्रीतिदान, जो तपस्विनीने दिया था, उसका सब वृत्तान्त सीताने रामचन्द्रसे निवेदित किया ॥१४॥ रामचन्द्र और महारथ लक्ष्मण, मनुष्योंके लिए दुर्लभ, जानकीका वैसा सत्कार देखकर प्रसन्न हुए ॥१५॥ तदनन्तर, तपस्वियोंके द्वारा सत्कृत रामचन्द्रने चन्द्रानना

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायमभिषिच्य हुताग्निकान् । आपृच्छेतां नरव्याघ्रौ तापसान्वनगोचरान् ॥१७॥
तावूचुस्ते वनचरास्तापसा धर्मचारिणः । वनस्य तस्य संचारं राक्षसैःसमभिप्लुतम् ॥१८॥
रक्षांसि पुरुषादानि नानारूपाणि राघव । वसन्त्यस्मिन्महारण्ये व्यालाश्च रुधिराशनाः॥१९॥
उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वा तापसं ब्रह्मचारिणम् । अदन्त्यस्मिन्महारण्ये तान्निवारय राघव ॥२०॥
एष पन्था महर्षीणां फलान्याहरतां वने । अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम् ॥२१॥
इतीरितः प्राञ्जलिभिस्तपस्विभिर्द्विजैः कृतस्वस्त्ययनः परंतपः ।
वनं सभार्यःप्रविवेश राघवः सलक्ष्मणःसूर्य इवाभ्रमण्डलम् ॥२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽएकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥११९॥

सीताको अलंकृत देखकर उस रातको वहाँ निवास किया ॥१६॥ उस रात्रिके व्यतीत होनेपर स्नान करके नरश्रेष्ठ राम और लक्ष्मणने हवन करनेके पश्चात् वनवासी तपस्वियोंसे दूसरे वनमें जानेकी आज्ञा माँगी ॥१७॥ धर्मात्मा वनवासी तपस्वी उनसे बोले—वनके मार्गमें राक्षसोंका उपद्रव है ॥१८॥ मनुष्योंको खानेवाले अनेक प्रकारके राक्षस इस वनमें रहते हैं और खून पीनेवाले साँप भी रहते हैं ॥१९॥ जो ब्रह्मचारी या तपस्वी अशुद्ध अथवा असावधान रहता है, उसको वे इस वनमें खा जाते हैं । रामचन्द्र, उन्हें तुम रोको ॥२०॥ यही मार्ग है जिससे महर्षि लोग वनसे फल ले आते हैं, इसी मार्गसे इस दुर्गम वनमें तुमको जाना चाहिये ॥२१॥ तपस्वी ब्राह्मणोंने हाथ जोड़कर रामचन्द्रसे ऐसा कहा और उनके लिए स्वस्त्ययन किया । रामचन्द्रने सीता और लक्ष्मणके साथ वनमें प्रवेश किया, जिस प्रकार सूर्य मेघमें प्रवेश करते हैं ॥२२॥

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डका एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११९ ॥

अयोध्याकाण्ड समाप्त

कुल पृष्ठ संख्या ३७०+१२=३८२
साधारण साइज के ७६४